१०८ उपनिषद्

[सरल हिन्दी भावार्थ सहित]

ज्ञानखण्ड

*

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

२००५

मूल्य : 126 रुपये

- प्रकाशक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

- लेखक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

- मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

ओ३म्

भूर्भुवः स्वः

तत्सवितुर्वरेण्यं

भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(त्रि० ता० १.१; त्रि० म०; महाना०)

***

उस प्राण स्वरूप, दुःख नाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप, परमात्मा को हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे।

*

मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान् ज्ञान है ? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें।

–स्वामी विवेकानन्द

मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है; लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है। उसी श्रद्धा से मेरा उपनिषदों का मनन, निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है।

– आचार्य विनोबा भावे

मनुष्य की आत्मिक, मानसिक और सामाजिक गुत्थियाँ किस प्रकार सुलझ सकती हैं, इसका ज्ञान उपनिषदों से ही मिल सकता है। यह शिक्षा इतनी सत्य, शिव और सुन्दर है कि अन्तरात्मा की गहराई तक उसका प्रवेश होता है। जब मनुष्य सांसारिक दुःखों और चिन्ताओं से घिरा हो, तो उसे शान्ति और सहारा देने के अमोघ साधन के रूप में उपनिषद् ही सहायक हो सकती है।

– प्रो० जी० आर्क

सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि कितने दार्शनिकों के ग्रन्थ मैंने ध्यान पूर्वक पढ़े हैं, पर जैसी शान्तिमयी आत्मविद्या मैंने उपनिषदों में पायी, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।

– प्रो०ह्यूम

मैंने कुरान, तौरेत, इञ्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शान्ति तथा सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। हजरत नवी ने भी एक आयत में इन्हीं प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।

–दाराशिकोह

विषयानुक्रमणिका

संकेत विवरण

संकेत		विवरण
अक्षि०	-	अक्ष्युपनिषद्
अथर्व०	-	अथर्ववेद
अध्या०	-	अध्यात्मोपनिषद्
अ०पू०	-	अन्नपूर्णोपनिषद्
अमृ०	-	अमृतनादोपनिषद्
अव्य०	-	अव्यक्तोपनिषद्
अ०शिर०	-	अथर्वशिरोपनिषद्
अष्टा०	-	अष्टाध्यायी
आत्मो०	-	आत्मोपनिषद्
आ०बो०	-	आत्मबोधोपनिषद्
आरु०	-	आरुणिकोपनिषद्
आश्र०	-	आश्रमोपनिषद्
आ०श्रौ०	-	आश्वलायन श्रौतसूत्र
ईश०	-	ईशावास्योपनिषद्
ऋ०	-	ऋग्वेद
एका०	-	एकाक्षरोपनिषद्
ऐत०	-	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ०ब्रा०	-	ऐतरेय ब्राह्मण
कठ०	-	कठोपनिषद्
क०रु०	-	कठरुद्रोपनिषद्
कलिसं०	-	कलिसंतरणोपनिषद्
काठ०सं०	-	काठक संहिता
का०श्रौ०	-	कात्यायन श्रौतसूत्र
कु०सं०	-	कुमार संभव
कृष्ण०	-	कृष्णोपनिषद्
केन०	-	केनोपनिषद्
कौ०ब्रा०	-	कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
गाय०	-	गायत्र्युपनिषद्
गी०	-	श्रीमद्भगवद्गीता
गो०उ०	-	गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
गो० ब्रा०	-	गोपथ ब्राह्मण
चा०नी०	-	चाणक्य नीति
छान्दो०	-	छान्दोग्योपनिषद्
जाबा०	-	जाबालोपनिषद्
जैमि०	-	जैमिनीयोपनिषद्
जै० ब्रा०	-	जैमिनीय ब्राह्मण
ते०बि०	-	तेजोबिन्दूपनिषद्
तै०आ०	-	तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्ति०	-	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै०ब्रा०	-	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	-	तैत्तिरीय संहिता
त्रि०म०	-	त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद्
त्रि०ता०	-	त्रिपुरा तापिन्युपनिषद्
दे०भा०	-	देवी भागवत
द्र०	-	द्रष्टव्य
ध्या० बि०	-	ध्यानबिन्दूपनिषद्
ना०प०	-	नारदपरिव्राजकोपनिषद्
ना०पु०	-	नारदीय पुराण
ना०बि०	-	नादबिन्दूपनिषद्
नारा०	-	नारायणोपनिषद्
निरा०	-	निरालम्बोपनिषद्
निरु०	-	निरुक्त
नृ०उ०	-	नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
न्या०द०	-	न्याय दर्शन
पंच०	-	पंचदशी
पं० ब्र०	-	पंच ब्रह्मोपनिषद्
प०प०	-	परमहंस-परिव्राजकोपनिषद्
प०पु०	-	पद्मपुराण
पैंग०	-	पैंगलोपनिषद्
प्रण०	-	प्रणवोपनिषद्
प्रश्न०	-	प्रश्नोपनिषद्
बह्व०	-	बह्वृचोपनिषद्
बृह०	-	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र०बि०	-	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्र०वै०पु०	-	ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्र०सू०	-	ब्रह्मसूत्र
ब्रह्म०	-	ब्रह्मोपनिषद्
ब्रह्मा०पु०	-	ब्रह्माण्ड पुराण
भा० पु०	-	भागवत पुराण
मन्त्रि०	-	मन्त्रिकोपनिषद्
म०स्मृ०	-	मनु स्मृति
महा०	-	महाभारत
महाना०	-	महानारायणोपनिषद्
महो०	-	महोपनिषद्
माण्डू०	-	माण्डूक्योपनिषद्
मी० द०	-	मीमांसा दर्शन
मुक्ति०	-	मुक्तिकोपनिषद्
मुण्ड०	-	मुण्डकोपनिषद्
मुद्ग०	-	मुद्गलोपनिषद्
मैत्रा०	-	मैत्रायण्युपनिषद्
मैत्रे०	-	मैत्रेय्युपनिषद्
मै०ब्रा०	-	मैत्रायणी ब्राह्मण
यजु०	-	यजुर्वेद
या० स्मृ०	-	याज्ञवल्क्य स्मृति
यो०कु०	-	योगकुण्डल्युपनिषद्
यो० चू०	-	योगचूडामण्युपनिषद्
यो० त०	-	योगतत्त्वोपनिषद्
यो०द०	-	योगदर्शन
यो०शि०	-	योगशिखोपनिषद्
रा०उ०	-	रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
रा०मा०	-	रामचरित मानस
रा०र०	-	राम रहस्योपनिषद्
वाच०	-	वाचस्पत्यम्
वा०रा०	-	वाल्मीकि रामायण
वि०चू०	-	विवेक चूडामणि
वे०परि०	-	वेदान्त परिभाषा
वे०सा०	-	वेदान्त सार
वै०द०	-	वैशेषिक दर्शन
शत०ब्रा०	-	शतपथ ब्राह्मण
शब्द०	-	शब्दकल्पद्रुम
शां० प०	-	शांतिपर्व
शि०सं०	-	शिवसंकल्पोपनिषद्
शु०र०	-	शुकरहस्योपनिषद्
श्वेता०	-	श्वेताश्वतरोपनिषद्
षड्०ब्रा०	-	षड्विंश ब्राह्मण
संन्या०	-	संन्यासोपनिषद्
संहि०	-	संहितोपनिषद्
स०सा०	-	सर्वसारोपनिषद्
सां०द०	-	सांख्यदर्शन
सुं० कां०	-	सुंदरकांड
सूर्यो०	-	सूर्योपनिषद्
स्कं०	-	स्कंदोपनिषद्
स्कं० पु०	-	स्कन्दपुराण
ह०को०	-	हलायुध कोश
ह० प्र०	-	हठयोग प्रदीपिका

भूमिका

'वेद' का अर्थ 'बोध' या 'ज्ञान' है। विद्वानों ने संहिता,ब्राह्मण,आरण्यक तथा उपनिषद् इन चारों के संयोग को समग्र वेद कहा है। उपनिषद् को वेद का शीर्ष भाग कहा गया है, वेदान्त कहा गया है; क्योंकि यह वेदों का अन्तिम(सर्वश्रेष्ठ) भाग है। भारतीय दर्शन जगत् में प्रसिद्ध 'प्रस्थान-त्रयी' के उपनिषद् आदिम ग्रन्थ हैं तथा अन्य दोनों गीता और ब्रह्मसूत्र के उपजीव्य(आश्रयीभूत)। इसे आध्यात्मिक मानसरोवर कहा जा सकता है, जिससे विनि:सृत ज्ञान की सरिताएँ इस पुण्य भूमि में मानव मात्र केअभ्युदय(भौतिक उन्नति) एवं नि:श्रेयस (आध्यात्मिक कल्याण) के लिए प्रवहमान हैं।

'उपनिषद्' का भाव- इसमें 'उप' और 'नि' उपसर्ग हैं। 'सद्' धातु 'गति' के अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'गति' शब्द का उपयोग ज्ञान, गमन और प्राप्ति इन तीन संदर्भों में होता है। यहाँ प्राप्ति अर्थ अधिक उपयुक्त है। "**उप सामीप्येन, नि- नितरां, प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्।**" अर्थात् जिस विद्या के द्वारा परब्रह्म का सामीप्य एवं तादात्म्य प्राप्त किया जाता है, वह 'उपनिषद्' है।

दूसरे शब्दों में 'उप' + 'नि' इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के प्रयोग से 'उपनिषद्' शब्द बना है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ मान्य हैं- (१)विशरण (विनाश) (२) गति (ज्ञान और प्राप्ति) (३) अवसादन (शिथिल करना), इस आधार पर 'उपनिषद्' का अर्थ हुआ-"जो पाप-ताप का नाश करे, सच्चा ज्ञान प्रदान करे, आत्मा की प्राप्ति कराये और अज्ञान- अविद्या को शिथिल करे, वह उपनिषद् है।"

अष्टाध्यायी(१.४.७९)में **जीविकोपनिषदा-वौपम्ये** सूत्रानुसार उपनिषद् शब्द परोक्ष या रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में युद्ध काल के गुप्त प्रयोगों की चर्चा में औपनिषद प्रयोग शब्द व्यवहृत हुआ है। इससे यह प्रकट होता है कि उपनिषद् का तात्पर्य रहस्य भी है।

अमरकोष (३. ९९) में भी आता है- "**धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्**" अर्थात् उपनिषद् शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस आधार पर उपनिषद् को परोक्ष या रहस्यमय ज्ञान के स्रोत भी कह सकते हैं।

विद्वानों ने 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी मानी है-उप (सामीप्य अथवा व्यवधान रहित), नि (विशिष्ट या सम्पूर्ण), सद् (ज्ञान या बोध) अर्थात् 'सामीप्य द्वारा प्राप्त विशिष्ट बोध अथवा व्यवधान रहित सम्पूर्ण ज्ञान।' उपनिषदों में जिस ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है,उसे निश्चित रूप से उक्त विशेषणों से युक्त कहा जा सकता है।

एक मत यह भी है-'**उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।**' जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके, वह उपनिषद् है। तात्पर्य यह है कि उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का ही प्रधानता से विवेचन हुआ है, जिससे उपनिषदों को अध्यात्म विद्या भी कहा जाता हैं। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मविद्या-ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषदों की महत्ता मुक्त कंठ से स्वीकार की है।

उपनिषदों की महत्ता

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक प्रवचन में कहा था –''मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान् ज्ञान है ? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें। हमें शक्ति चाहिए। शक्ति के बिना काम न चलेगा। यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हो ? उपनिषदें ही शक्ति की खानें हैं, उनमें ऐसी शक्ति भरी पड़ी है, जो सम्पूर्ण विश्व को बल, शौर्य एवं नवजीवन प्रदान कर सकें। उपनिषदें किसी भी देश, जाति, मत, सम्प्रदाय का भेद किये बिना हर दीन, दुर्बल, दु:खी और दलित प्राणी को पुकार–पुकार कर कहती हैं- उठो, अपने पैरों खड़े हो जाओ और बन्धनों को काट डालो। शारीरिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता, यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।''

स्वामी विवेकानन्द जी ने उपनिषद्–ज्ञान की आवश्यकता को न केवल ब्रह्म प्राप्ति के लिए ही, अपितु दैनिक जीवन के लिए भी उपयोगी बतलाया है। उनका कथन है कि उपनिषदें वह शक्ति प्रदान करती हैं, जिसके द्वारा मनुष्य जीवन–संग्राम का धैर्य तथा साहस से मुकाबला करता है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक दोनों में उपनिषदें अत्यन्त आवश्यक हैं।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ जी ने कहा है- 'चक्षु सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है। प्रात: कालीन सूर्य की अरुणिम किरणों से पूर्व–दिशा आलोकित होने लगी है; परन्तु जब वह सूर्य मध्याह्न गगन में प्रकाशित होगा, तब उस समय उसकी दीप्ति से समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।'

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन का कथन है- 'उपनिषदों को जो भी मूल संस्कृत में पढ़ता है, वह मानव–आत्मा और परम सत्य के गुह्य और पवित्र सम्बन्धों को उजागर करने वाले उनके बहुत से उद्गारों के उत्कर्ष काव्य और प्रबल सम्मोहन से मुग्ध हो जाता है और उसमें बहने लगता है'।

अपनी 'उपनिषद् एक अध्ययन' पुस्तक की प्रस्तावना में सन्त विनोबा ने लिखा है- ''उपनिषदों की महिमा अनेकों ने गायी है। कवि ने कहा है कि 'हिमालय जैसा पर्वत नहीं और उपनिषदों जैसी कोई पुस्तक नहीं।' परन्तु मेरी दृष्टि में उपनिषद् पुस्तक है ही नहीं, वह तो एक दर्शन है। उस दर्शन को यद्यपि शब्दों में अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी शब्दों के कदम लड़खड़ा गये हैं; सिर्फ निष्ठा के चिह्न उभरे हैं। उस निष्ठा को शब्दों की सहायता से हृदय में भरकर शब्दों को दूर हटाकर अनुभव किया जाए, तभी उपनिषदों का बोध हो सकता है। मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है; लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है। उसी श्रद्धा से मेरा उपनिषदों का मनन, निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है।''

इन मन्त्रों में प्रयुक्त हुए कठिन शब्दों को देखकर ऐसा लगता है कि यह ज्ञान केवल एकान्त सेवी सन्त–महात्माओं के लिए ही व्यवहार में आने योग्य है। साधारण स्थिति के गृहस्थ अपनी विषम परिस्थितियों के कारण इसे जीवन में उतार न सकेंगे, पर वस्तुत: ऐसी बात नहीं है। जितना यह ज्ञान कठिन है, उतना ही सरल भी है। जिस प्रकार पानी में तैरना कठिन दिखाई पड़ता है, उसमें दुर्घटना की आशंका भी प्रतीत होती है; किन्तु जब सच्ची लगन होती है और प्रयत्न पूर्वक अभ्यास किया जाता है, तो वह कठिन कार्य सरल बन जाता है। इसी प्रकार उपनिषदों में जिस ब्रह्मविद्या का उल्लेख हुआ है, वह भी सरल है, कठिन तो वह उन्हें ही दीखती है,

जो उससे दूर रहते हैं, दूर से देखते हैं। भीतर प्रवेश करने का साहस करने पर वह सरल ही है। जितनी सरल है, उतनी ही कल्याणकारक भी है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में - 'भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न सरितायें निकलकर इस पुण्य भूमि में मानव मात्र के ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल के लिए प्रवाहित होती हैं। वैदिक धर्म की मूल-तत्त्व-प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य उपनिषद् ही हैं। अन्य प्रस्थान-गीता तथा ब्रह्मसूत्र- उसी के ऊपर आश्रित हैं।' भारतवर्ष में उदय होने वाले समस्त दर्शनों का - सांख्य तथा वेदान्त आदि का ही यह मूल ग्रन्थ नहीं है, अपितु जैन तथा बौद्ध दर्शनों के भी मौलिक तथ्यों की आधारशिला यही है। उपनिषद् का इसीलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें उपलब्ध होता है। इसीलिए जब से किसी विदेशी विद्वान् को इसके पढ़ने तथा मनन करने का अवसर मिला है, तब से वह इनकी समुन्नत विचारधारा, उदात्त चिंतन, धार्मिक अनुभूति तथा आध्यात्मिक जगत् की रहस्यमयी अभिव्यक्तियों की शतमुख से प्रशंसा करता आया है।'

पाश्चात्य विद्वानों पर प्रभाव

वेदान्त दर्शन की महिमा पर मुग्ध होने वाले विदेशी विद्वानों में सबसे पहले अरबदेशीय विद्वान् अलबरूनी थे। वे ११वीं (ग्यारहवीं) शताब्दी में भारत आये थे। यहाँ आकर उन्होंने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और उपनिषदों की सारस्वरूपा गीता पर वे लट्टू हो गये। यह ज्ञात नहीं है कि इन्होंने उपनिषदों का अध्ययन किया था या नहीं, लेकिन गीता की जो प्रशंसा उन्होंने की है, उसे उपनिषदों की ही प्रशंसा समझनी चाहिए।

वैदिक साहित्य के साथ पाश्चात्य विद्वानों का प्रथम परिचय उपनिषदों के माध्यम से ही हुआ। सम्राट् शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपनी धर्म सम्बन्धी उदारता के लिए भारत के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। सन् १६४० ईस्वी में जब दारा कश्मीर में थे, तब उन्हें सर्वप्रथम उपनिषदों की महिमा का पता लगा। उन्होंने काशी से पण्डितों को बुलाया और उनकी सहायता से पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया। १६५७ ईस्वी में यह अनुवाद पूरा हुआ। इसके प्रायः तीन वर्ष के बाद सन् १६५९ ईस्वी में औरंगजेब के द्वारा दाराशिकोह मारे गये।

अकबर के समय में भी (१५५६-१५८५) कुछ उपनिषदों का अनुवाद हुआ था; परन्तु अकबर अथवा दारा द्वारा सम्पादित इन अनुवादों के प्रति सन् १७७५ ईस्वी से पहले तक किन्हीं भी पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि आकर्षित नहीं हुई। अयोध्या के नवाब सुजाउद्दौला की राजसभा के फारसी रेजीडेंट श्री एम० गेंटिल ने सन् १७७५ में प्रसिद्ध यात्री एंक्वेटिल डुपेरॅन (Anquetil Duperron) को दाराशिकोह के द्वारा सम्पादित उक्त फारसी अनुवाद की एक पाण्डुलिपि भेजी। एंक्वेटिल डुपेरॅन ने कहीं से एक दूसरी पाण्डुलिपि प्राप्त की और दोनों को मिलाकर फ्रेंच तथा लैटिन भाषा में उस फारसी अनुवाद का पुनः अनुवाद किया। लैटिन अनुवाद सन् १८०१-१८०२ में 'औपनेखत' (OUPNE KHAT) नाम से प्रकाशित हुआ। फ्रेंच अनुवाद नहीं छपा।

उक्त लैटिन अनुवाद के प्रकाशित होने पर पाश्चात्य पण्डितों की दृष्टि इधर कुछ आकर्षित तो हुई, किन्तु अनुवाद का अनुवाद होने के कारण वह इतना अस्पष्ट और दुर्बोध हो गया था कि उसका मर्म समझकर रसास्वादन करना सहज नहीं था। जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री अर्थर शोपेन हॉवर ने (सन् १७८८-१८६०) बहुत कठिन परिश्रम करके

उक्त अनुवाद का अध्ययन किया और मुक्त कण्ठ से यह घोषणा की, कि 'मेरा अपना दार्शनिक मत उपनिषद् के मूल तत्त्वों के द्वारा विशेष रूप से प्रभावित है।' इस प्रसंग में मनीषी शोपेन हॉवर ने उपनिषद् के महत्त्व और प्रभाव के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है-

'मैं समझता हूँ कि उपनिषद् के द्वारा वैदिक साहित्य के साथ परिचय लाभ होना वर्तमान शताब्दी (१८१८) का सबसे अधिक परम लाभ है, जो इसके पहले किन्हीं भी शताब्दियों को नहीं मिला। मुझे आशा है, १४ वीं शताब्दी में ग्रीक साहित्य के पुनरभ्युदय से यूरोपीय साहित्य की जो उन्नति हुई थी, संस्कृत साहित्य का प्रभाव उसकी अपेक्षा कम फल उत्पन्न करने वाला नहीं होगा। यदि पाठक प्राचीन भारतीय विद्या में दीक्षित हो सके और गम्भीर उदारता के साथ उसे ग्रहण कर सके, तो मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे वे अच्छी तरह समझ सकेंगे। उपनिषद् में सर्वत्र कितनी सुन्दरता के साथ वेदों के भाव प्रकाशित हैं, जो कोई भी उक्त फारसी-लैटिन अनुवाद का, ध्यान देकर अध्ययन करके उपनिषद् की अनुपम भावधारा से परिचित होगा, उसी की आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश तक में एक हलचल मच जाएगी। एक-एक पंक्ति कितना दृढ़, सुनिर्दिष्ट और सुसमञ्जस अर्थ प्रकट कर रही है। प्रत्येक वाक्य से कितना गम्भीरता पूर्ण विचार समूह प्रकट हो रहा है, सम्पूर्ण ग्रन्थ कैसे उच्च, पवित्र और ऐकान्तिक भावों से ओतप्रोत है। सारे पृथ्वी मण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरण में भी यह शान्ति देगा।'

शोपेन हॉवर ने अन्यत्र कहा था- ''भारत में हमारे धर्म की जड़ें कभी नहीं गड़ेंगी। मानव जाति की 'पुराणी प्रज्ञा' गैलीलियो की घटनाओं से कभी निराकृत नहीं होगी। वरन् भारतीय प्रज्ञा की धारा यूरोप में प्रवाहित होगी एवं हमारे ज्ञान और विचार में आमूल परिवर्तन ला देगी।'' उनकी यह भविष्यवाणी सफल हुई। स्वामी विवेकानन्द की अमेरिकन शिष्या ''साराबुल'' ने अपने एक पत्र में लिखा था कि ''जर्मनी का दार्शनिक सम्प्रदाय, इंग्लैण्ड के प्राच्य पण्डित और हमारे अपने देश के एमरसन आदि साक्षी दे रहे हैं कि पाश्चात्य विचार आजकल सचमुच ही वेदान्त के द्वारा अनुप्राणित हैं।'' कहते हैं कि शोपेन हॉवर की मेज पर उपनिषदों की एक लैटिन प्रति हमेशा रहती थी और वे सोने से पहले उसमें से ही अपनी प्रार्थनाएँ किया करते थे। शोपेन हॉवर ने उपनिषदों के सम्बन्ध में लिखा है -''उपनिषदों के प्रत्येक वाक्य में से गहन, मौलिक और उदात्त विचार फूटते हैं और सभी कुछ एक उच्च, पवित्र और एकाग्र भावना से व्याप्त हो जाता है। समस्त संसार में उपनिषदों जैसा कल्याणकारी और आत्मा को उन्नत करने वाला कोई और ग्रन्थ नहीं है। ये सर्वोच्च प्रतिभा के प्रसून हैं। देर-सबेर ये लोगों की आस्था का आधार बनकर रहेंगे।''

सन् १८४४ में बर्लिन में श्री शेलिंग महोदय की उपनिषद् सम्बन्धी व्याख्यान माला को सुनकर प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित मैक्समूलर का ध्यान सबसे पहले संस्कृत साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। उपनिषदों के सम्बन्ध में विचार आरम्भ करते ही उन्होंने अनुभव किया कि उपनिषदों का यथार्थ मर्म समझने के लिए पहले उनसे पूर्व रचित वेद-मन्त्र और ब्राह्मण भाग पर विचार करना आवश्यक है। इस प्रकार उपनिषदों से उन्होंने वेद चर्चा के लिए प्रेरणा प्राप्त की।

शोपेन हॉवर के बाद अनेकों पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषद् पर विचार करके विभिन्न प्रकार से उसकी महिमा गायी है। किसी- किसी ने तो उपनिषद् को 'मानव चेतना का सर्वोच्च फल' बतलाया है। स्वनामधन्य वेदज्ञ मैक्समूलर ने एक स्थान पर लिखा है कि 'यदि शोपेन हॉवर के इन (उपनिषद् सम्बन्धी)

शब्दों के लिए किसी समर्थन की आवश्यकता हो, तो मैं अपने जीवन भर के अध्ययन के आधार पर प्रसन्नता पूर्वक अपना समर्थन दूँगा। उन्होंने अपनी पुस्तक "India what can it teach us" में लिखा है-

"मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूरी शक्ति से तैयारी करने और सत्य को जानने के इच्छुक जिज्ञासु के लिए उपनिषदों के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ मार्ग मेरी दृष्टि में नहीं है। उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में भारी सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूँ। ये उपनिषदें आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्मानास्पद रही हैं और आगे सदा रहेंगी। यह ज्ञान, महान् मनीषियों की महान् प्रज्ञा का परिणाम है। एक न एक दिन भारत की यह श्रेष्ठ विद्या यूरोप में प्रकाशित होगी और तब हमारे ज्ञान एवं विचारों में महान् परिवर्तन उपस्थित होगा।"

"Dogmas of Budhism" नामक ग्रन्थ के लेखक श्रीह्यूम ने लिखा है- सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि कितने दार्शनिकों के ग्रन्थ मैंने ध्यान पूर्वक पढ़े हैं, पर जैसी शान्तिमयी आत्मविद्या मैंने उपनिषदों में पायी, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।

"Is God knowoble" नामक ग्रन्थ में उसके रचयिता प्रो० जी० आर्क ने लिखा है- "मनुष्य की आत्मिक, मानसिक और सामाजिक गुत्थियाँ किस प्रकार सुलझ सकती हैं, इसका ज्ञान उपनिषदों से ही मिल सकता है। यह शिक्षा इतनी सत्य, शिव और सुन्दर है कि अन्तरात्मा की गहराई तक उसका प्रवेश होता है। जब मनुष्य सांसारिक दु:खों और चिन्ताओं से घिरा हो, तो उसे शान्ति और सहारा देने के अमोघ साधन के रूप में उपनिषद् ही सहायक हो सकती है।"

दाराशिकोह ने अपने फारसी उपनिषद् अनुवाद की भूमिका में लिखा है-" आत्मविद्या के मैंने बहुत ग्रन्थ पढ़े,पर परमात्मा के खोज की प्यास कहीं न बुझी। हृदय में ऐसी अनेकों शंकाएँ और समस्याएँ उठती थीं, जिनका समाधान ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव न था। मैंने कुरान, तौरेत, इञ्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शान्ति तथा सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। हजरत नवी ने भी एक आयत में इन्हीं प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।"

उपनिषद्-दर्शन अथवा मौलिक वेदान्त के विख्यात व्याख्याता पॉल डायसन के अनुसार 'वेदान्त (अर्थात् उपनिषद्-दर्शन) अपने अविकृत रूप में शुद्ध नैतिकता का सशक्ततम आधार है, जीवन और मृत्यु की पीड़ाओं में सबसे बड़ी सान्त्वना है। भारतीयो! इसमें निष्ठा रखो।'

भारतीय आचार, विचार और साहित्य संस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा रखने वाली विदुषी महिला डॉ० एनीबेसेंट ने उपनिषद् विद्या की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'भारत का ज्ञान मानव चेतना की सर्वोच्च देन है।'

उपनिषद्-ज्ञान के प्रचार-प्रसार में संस्कृतज्ञ विद्वान् बेवर साहब का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने जर्मन भाषा में एक पुस्तक सत्रह भागों में लिखी है, जिसका नाम है 'इण्डिशे स्टूडियन'। उसका प्रथम भाग १८५० ईस्वी में बर्लिन से प्रकाशित हुआ था। इस भाग में बेवर महोदय ने 'सिर्र-ए-अकबर' (ले० दाराशिकोह) की चौदह उपनिषदों को शुद्धता से सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इसका दूसरा भाग बर्लिन से ही १८५३ ई० में प्रकाशित हुआ। उसमें १४ से ३९ संख्या तक के उपनिषद् प्रकाशित किये गये हैं।

उपनिषदों के स्रोत एवं उनकी संख्या

उपनिषदों की प्राप्ति के स्रोत के बारे में कोई एक बात कही जा सकती है, तो वह यही है कि उनका उद्भव ऋषियों-द्रष्टाओं के अनुभूति जन्य ज्ञान से हुआ है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि उपनिषदों को 'वेद' के ब्राह्मण आरण्यक प्रभाग के अन्तर्गत माना जाता है। कुछ उपनिषदें संहिता (मन्त्र भाग),ब्राह्मण एवं आरण्यक की अंगभूता-अंशभूता हैं, जबकि अधिकांश वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल के ऋषियों के प्रातिभ चक्षु से दृष्ट हैं, जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व है 'ऐतरेयोपनिषद्' ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक का भाग (२ ४ ६) है तथा 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक का भाग (प्रपाठक ७ ८) है इसी आरण्यक का अन्तिम प्रपाठक (क्र १०) 'नारायणोपनिषद्' कहलाता है जो अथर्ववेदीय महानारायणोपनिषद् से भिन्न है।

शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम (१४वें)काण्ड के अन्तिम छः अध्याय को 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ का यह भाग आरण्यक भी है और उपनिषद् भी है इसी प्रकार 'ईशावास्योपनिषद्' भी यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व संहिताओं का ४० वाँ अध्याय है।

सामवेद की कौथुमी शाखा के तलवकार ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्तिम भागों (२३ से ४० अध्यायों) को छान्दोग्योपनिषद् कहा गया है। ऋग्वेदीय 'कौषीतकि' या 'शाङ्खायन आरण्यक' के अध्याय ३-६ को 'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' कहते हैं।

मुक्तिकोपनिषद् (श्लोक क्र ३० से ३९) में १०८ उपनिषदों की सूची प्राप्त है। इन १०८ में से ऋग्वेद की १०, शुक्ल यजुर्वेद की १९, कृष्ण यजुर्वेद की ३२,सामवेद की १६ तथा अथर्ववेद की ३१उपनिषदें कही गयी हैं। मुक्तिकोपनिषद् में चारों वेदों की शाखाओं की संख्या देते हुए प्रत्येक शाखा की एक-एक उपनिषद् होने की बात भी कही गयी है

ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा॥
ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशति संख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पंचाशद्भेदतो हरे॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।

–मुक्तिकोपनिषद् ११-१४

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद भेद से वेद चार कहे गये हैं। उन चारों की अनेक शाखाएँ हैं तथा उनकी उपनिषदें भी अनेक हैं ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ, सामवेद की एक हजार शाखाएँ तथा अथर्ववेद की पचास शाखाएँ मानी जाती हैं। एक-एक शाखा की एक एक उपनिषद् मानी गयी है। इस उक्ति के अनुसार ११८० उपनिषदें होनी चाहिए, किन्तु आगे (श्लोक ३० से ३९ तक) जो नाम गिनाये गये हैं, वे केवल १०८ ही हैं।

मुक्तिकोपनिषद् में जिन एक सौ आठ उपनिषदों के नाम आते हैं, वे सभी 'निर्णय सागर प्रेस' बम्बई से मूल गुटका के रूप में प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त 'अड्यार लाइब्रेरी' मद्रास से भी उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है,जिसमें लगभग १७९ उपनिषदों का प्रकाशन है। 'गुजराती प्रिंटिंग प्रेस' बम्बई से मुद्रित उपनिषद् वाक्य महाकोश में २२३ उपनिषदों की नामावली दी गई है। इनमें दो उपनिषद् (१) उपनिषत्स्तुति तथा (२) देव्युपनिषद् नं० २ की चर्चा शिव रहस्य नामक ग्रन्थ में की गई है। ये दोनों अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। शेष २२१ उपनिषदों के वाक्यांश इस महाकोश में संकलित हुए हैं इनमें भी माण्डूक्यकारिका के चार प्रकरण चार जगह गिने गये हैं। इन सबकी

एक संख्या मानें, तो २१८ ही संख्या होती है। कई उपनिषदें एक ही नाम की दो तीन जगह आयी हैं, पर वे स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इस प्रकार सब पर दृष्टिपात करने से यह निश्चित होता है कि अब तक लगभग २२० उपनिषदें प्रकाश में आ चुकी हैं। सम्भवत कहीं और भी कुछ उपनिषदें प्रकाशित हुई हों? कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हो सकती हैं, भारतवर्ष की अथाह ज्ञान सम्पदा के गर्भ में और कितने रत्न छिपे पड़े हैं, यह कहा नहीं जा सकता। यहाँ उपर्युक्त २२० उपनिषदों की नामावली अकारादि क्रम से दी जा रही है-

(१) अक्षमालिकोपनिषद् (अक्षमालोपनिषद्)
(२) अक्षि- उपनिषद्
(३) अथर्वशिखोपनिषद्
(४) अथर्वशिर उपनिषद्
(५) अद्वयतारकोपनिषद्
(६) अद्वैतभावनोपनिषद्
(७) अद्वैतोपनिषद्
(८) अध्यात्मोपनिषद्
(९) अनुभवसारोपनिषद्
(१०) अन्नपूर्णोपनिषद्
(११) अमनस्कोपनिषद्
(१२) अमृतनादोपनिषद्
(१३) अरुणोपनिषद्
(१४) अल्लोपनिषद्
(१५) अवधूतोपनिषद्(वाक्यात्मक और पद्यात्मक)
(१६) अवधूतोपनिषद्(पद्यात्मक)
(१७) अव्यक्तोपनिषद्
(१८) आचमनोपनिषद्
(१९) आत्मपूजोपनिषद्
(२०) आत्म प्रबोधोपनिषद्(आत्मबोधोपनिषद्)
(२१) आत्मोपनिषद्(वाक्यात्मक)
(२२) आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)
(२३) आथर्वण द्वितीयोपनिषद्
(वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
(२४) आयुर्वेदोपनिषद्
(२५) आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)
(२६) आर्षेयोपनिषद्
(२७) आश्रमोपनिषद्
(२८) इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
(२९) ईशावास्योपनिषद्
उपनिषत्स्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभी तक अनुपलब्ध है)
(३०) ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
(३१) एकाक्षरोपनिषद्
(३२) ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
(३३) ऐतरेयोपनिषद् (खण्डात्मक)
(३४) ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
(३५) कठरुद्रोपनिषद् (कण्ठरुद्रोपनिषद्)
(३६) कठोपनिषद्
(३७) कठश्रुत्युपनिषद्
(३८) कलिसंतरणोपनिषद् (हरिनामोपनिषद्)
(३९) कात्यायनोपनिषद्
(४०) कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्
(४१) कालाग्निरुद्रोपनिषद्
(४२) कालिकोपनिषद्
(४३) कालीमेधा दीक्षितोपनिषद्
(४४) कुण्डिकोपनिषद्
(४५) कृष्णोपनिषद्
(४६) केनोपनिषद्
(४७) कैवल्योपनिषद्
(४८) कौलोपनिषद्
(४९) कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
(५०) क्षुरिकोपनिषद्
(५१) गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्
(५२) गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युप०)
(५३) गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्यु०)
(५४) गर्भोपनिषद्
(५५) गान्धर्वोपनिषद्
(५६) गायत्र्युपनिषद् (गोपथ ब्राह्मणान्तर्गत)

(गायत्र्युपनिषद्-शतपथ ब्राह्मणान्तर्गत)
(५७) गायत्री रहस्योपनिषद्
(५८) गरुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
(५९) गुह्यकाल्युपनिषद्
(६०) गुह्यषोढान्यासोपनिषद्
(६१) गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
(६२) गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
(६३) गोपीचन्दनोपनिषद्
(६४) चतुर्वेदोपनिषद्
(६५) चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्, चक्षुरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)
(६६) चित्त्युपनिषद्
(६७) छागलेयोपनिषद्
(६८) छान्दोग्योपनिषद्
(६९) जाबालदर्शनोपनिषद्
(७०) जाबालोपनिषद्
(७१) जाबाल्युपनिषद्
(७२) तारसारोपनिषद्
(७३) तारोपनिषद्
(७४) तुरीयातीतोपनिषद्(तीतावधूतोपनिषद्)
(७५) तुरीयोपनिषद्
(७६) तुलस्युपनिषद्
(७७) तेजोबिन्दूपनिषद्
(७८) तैत्तिरीयोपनिषद्
(७९) त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
(८०) त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
(८१) त्रिपुरोपनिषद्
(८२) त्रिपुरामहोपनिषद्
(८३) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
(८४) त्रिसुपर्णोपनिषद्
(८५) दक्षिणामूर्त्युपनिषद्
(८६) दत्तात्रेयोपनिषद्
(८७) दत्तोपनिषद्
(८८) दुर्वासोपनिषद्
(८९) १ देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मंत्रात्मक)
२ देव्युपनिषद् (शिवरहस्यान्तर्गत-अनुपलब्ध)
(९०) द्वयोपनिषद्
(९१) ध्यानबिन्दूपनिषद्
(९२) नादबिन्दूपनिषद्
(९३) नारदपरिव्राजकोपनिषद्
(९४) नारदोपनिषद्
(९५) नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्
(९६) नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्
(९७) नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)
(९८) निरालम्बोपनिषद्
(९९) निरुक्तोपनिषद्
(१००) निर्वाणोपनिषद्
(१०१) नीलरुद्रोपनिषद्
(१०२) नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
(१०३) नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्
(१०४) नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
(१०५) पञ्चब्रह्मोपनिषद्
(१०६) परब्रह्मोपनिषद्
(१०७) परमहंस परिव्राजकोपनिषद्
(१०८) परमहंसोपनिषद्
(१०९) परमात्मिकोपनिषद्
(११०) पारायणोपनिषद्
(१११) पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
(११२) पिण्डोपनिषद्
(११३) पीताम्बरोपनिषद्
(११४) पुरुषसूक्तोपनिषद्
(११५) पैङ्गलोपनिषद्
(११६) प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)
(११७) प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)
(११८) प्रश्नोपनिषद्
(११९) प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
(१२०) बटुकोपनिषद् (वटुकोपनिषद्)
(१२१) बह्वृचोपनिषद्
(१२२) बाष्कलमन्त्रोपनिषद्
(१२३) बिल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)

(१२४) भिल्वोपनिषद् (वाक्यात्मक)
(१२५) बृहज्जाबालोपनिषद्
(१२६) बृहदारण्यकोपनिषद्
(१२७) ब्रह्मविद्योपनिषद्
(१२८) ब्रह्मबिन्दूपनिषद् (अमृतबिन्दूपनिषद्)
(१२९) ब्रह्मोपनिषद्
(१३०) भगवद्गीतोपनिषद्
(१३१) भवसंतरणोपनिषद्
(१३२) भस्मजाबालोपनिषद्
(१३३) भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)
(१३४) भिक्षुकोपनिषद्
(१३५) मठाम्नायोपनिषद्
(१३६) मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
(१३७) मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)
(१३८) मल्लायुपनिषद्
(१३९) महानारायणोपनिषद् (बृहन्नारायणोपनिषद्, उत्तर नारायणोपनिषद्)
(१४०) महावाक्योपनिषद्
(१४१) महोपनिषद्
(१४२) माण्डूक्योपनिषद्
(१४३) माण्डूक्योपनिषत्कारिका
क. आगम
ख. अलातशान्ति
ग. वैतथ्य
घ. अद्वैत
(१४४) मुक्तिकोपनिषद्
(१४५) मुण्डकोपनिषद्
(१४६) मुद्गलोपनिषद्
(१४७) मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्
(१४८) मैत्रायण्युपनिषद्
(१४९) मैत्रेय्युपनिषद्
(१५०) यज्ञोपवीतोपनिषद्
(१५१) याज्ञवल्क्योपनिषद्
(१५२) योगकुण्डल्युपनिषद्
(१५३) योगचूडामण्युपनिषद्
(१५४)१ योगतत्त्वोपनिषद्
(१५५)२ योगतत्त्वोपनिषद्
(१५६) योगराजोपनिषद्
(१५७) योगशिखोपनिषद्
(१५८) योगोपनिषद्
(१५९) राजश्यामलारहस्योपनिषद्
(१६०) राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)
(१६१) राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)
(१६२) रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
(१६३) रामरहस्योपनिषद्
(१६४) रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
(१६५) रुद्रहृदयोपनिषद्
(१६६) रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
(१६७) रुद्रोपनिषद्
(१६८) लक्ष्म्युपनिषद्
(१६९) लाङ्गूलोपनिषद्
(१७०) लिङ्गोपनिषद्
(१७१) वज्रपञ्जरोपनिषद्
(१७२) वज्रसूचिकोपनिषद्
(१७३) वनदुर्गोपनिषद्
(१७४) वराहोपनिषद्
(१७५) वासुदेवोपनिषद्
(१७६) विश्रामोपनिषद्
(१७७) विष्णुहृदयोपनिषद्
(१७८) शरभोपनिषद्
(१७९) शाट्यायनीयोपनिषद्
(१८०) शाण्डिल्योपनिषद्
(१८१) शारीरकोपनिषद्
(१८२) १ शिवसङ्कल्पोपनिषद्
(१८३) २. शिवसङ्कल्पोपनिषद्
(१८४) शिवोपनिषद्
(१८५) शुकरहस्योपनिषद्
(१८६) शौनकोपनिषद्
(१८७) श्यामोपनिषद्
(१८८) श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्

(१८९) श्रीचक्रोपनिषद्
(१९०) श्रीविद्यातारकोपनिषद्
(१९१) श्री सूक्तम्
(१९२) श्वेताश्वतरोपनिषद्
(१९३) षोढोपनिषद्
(१९४) सङ्कर्षणोपनिषद्
(१९५) सदानन्दोपनिषद्
(१९६) सन्ध्योपनिषद्
(१९७) सन्यासोपनिषद् (अध्यायात्मक)
(१९८) संन्यासोपनिषद् (वाक्यात्मक)
(१९९) सरस्वतीरहस्योपनिषद्
(२००) सर्वसारोपनिषद् (सर्वोपनिषद्)
(२०१) सहवै उपनिषद्
(२०२) संहितोपनिषद्
(२०३) सामरहस्योपनिषद्
(२०४) सावित्र्युपनिषद्
(२०५) सिद्धान्तविट्ठलोपनिषद्
(२०६) सिद्धान्तशिखोपनिषद्
(२०७) सिद्धान्तसारोपनिषद्
(२०८) सीतोपनिषद्
(२०९) सुदर्शनोपनिषद्
(२१०) सुबालोपनिषद्
(२११) सुमुख्युपनिषद्
(२१२) सूर्यतापिन्युपनिषद्
(२१३) सूर्योपनिषद्
(२१४) सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
(२१५) स्कन्दोपनिषद्
(२१६) स्वसंवेद्योपनिषद्
(२१७) हयग्रीवोपनिषद्
(२१८) हंसषोढोपनिषद्
(२१९) हंसोपनिषद्
(२२०) हेरम्बोपनिषद

भाष्य एवं अनुवाद

आचार्य शंकर ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतर, इन ११ उपनिषदों के भाष्य किये हैं। इसके पूर्व उपनिषदों के स्वतन्त्र भाष्य गिने-चुने ही किये गये हैं।

शाहजादा दाराशिकोह द्वारा किए गये फारसी अनुवाद संग्रह में लगभग ५० उपनिषदें शामिल थीं। कोलब्रुक के संग्रह में उपनिषदों की संख्या ५२ थी। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने आचार्य शंकर द्वारा चुनी गयी ११ उपनिषदों के साथ 'मैत्रायणीय' उपनिषद् सहित १२ उपनिषदों का अनुवाद किया था।

उपनिषदों के अँग्रेजी अनुवाद इस क्रम से प्रकाशित हुए हैं राजाराममोहनराय (१८३२), रोअर (१८५३) मैक्समूलर (१८७९-१८८४ सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट), मीड और चट्टोपाध्याय (१८९६), लदन थियोसोफिकल सोसाइटी, सीताराम शास्त्री और गंगानाथ झा (१८९८ १९०१), जी० ए० नटसेन, मद्रास, सीतानाथ तत्त्वभूषण (१९००) एस० सी० वसु (१९११), आर० ह्यूम (१९२१) ई० बी० कोवेल, हिरियन्ना, द्विवेदी महादेव शास्त्री और श्री अरविन्द ने भी कुछ उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये हैं

मुख्य उपनिषदों पर शंकर के भाष्यों के अँग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। उनकी व्याख्याओं में अद्वैत का दृष्टिकोण है। रंगरामानुज ने उपनिषदों के अपने भाष्यों में रामानुज का दृष्टिकोण अपनाया है। मध्व के भाष्यों में द्वैत दृष्टिकोण है। उनके भाष्यों के उद्धरण पाणिनि आफिस इलाहाबाद से प्रकाशित उपनिषदों के संस्करण में मिलते हैं।

उक्त उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों के भाष्य या भावार्थ छिट पुट रूप से कहीं कहीं मिलते हैं। गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'कल्याण' के विशेषांक 'उपनिषद् अंक' (१९४९) में एक ही स्थान पर ५४ उपनिषदों के भावार्थ प्राप्त होते हैं।

रचनाकाल

उपनिषदों के रचना काल के सम्बन्ध में कोई एक मत स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कुछ उपनिषदें वेद की मूल संहिताओं की अंश है, उन्हें सबसे प्राचीन माना जाता है। कुछ उपनिषदें ब्राह्मण, आरण्यक आदि के अंश हैं, उनका रचनाकाल निश्चित रूप से संहिता काल के बाद का ही सिद्ध होगा। कुछ उपनिषदें स्वतंत्र हैं, वे सब बाद में क्रमशः अस्तित्व में आयीं।

काल निर्णय के सन्दर्भ में मंत्रों-श्लोकों में प्राप्त विभिन्न विवरणों का सहारा लिया जाता है। मंत्रों में जो संदर्भ मिलते हैं, उनमें (१) भौगोलिक परिस्थितियाँ (२) सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी राजाओं राजाओं या ऋषियों के नाम (३) खगोलीय योगों के विवरण हैं।

इनमें भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर गंगा, सरस्वती, सिन्धु आदि नदियों के नाम आदि के आधार पर केवल यही संकेत मिलते हैं कि इनका रचनाकाल संदर्भित नदी आदि के उद्‌भव के बाद का ही है। इसलिए कोई सुनिश्चित काल निर्धारण इस आधार पर नहीं हो पाता। राजाओं-ऋषियों के नामों को आधार बनाने में भी उक्त समस्या बनी रहती है। फिर एक ही नाम के अनेक राजा एवं ऋषि पाये जाते हैं जिनके बीच अनेक पीढ़ियों के अंतर होते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकाल का निर्णय भी ठीक प्रकार नहीं हो पाता।

जहाँ खगोलीय योगों का वर्णन मिल जाता है, वहाँ ज्योतिष गणित के आधार पर बहुत कुछ सुनिश्चित गणना की जा सकती है। संहिताओं, ब्राह्मणों एवं स्वतंत्र उपनिषदों के काल निर्णय के संदर्भ में भी इसी विद्या का उपयोग अधिकांश विद्वानों ने किया है। इस विधि से किये गये काल निर्णयों को समझने में सहायक हो सकने वाली मोटी जानकारी यहाँ दी जा रही है।

अयनभोग सिद्धान्त

मान्य तथ्य है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर लगातार घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। पृथ्वीवासियों को सूर्य ही चलायमान प्रतीत होता है। आकाश में सूर्य के भासित पथ (एपरैन्ट पाथ) को क्रान्ति वृत्त कहते हैं। क्रान्ति वृत्त पर चलता हुआ सूर्य कभी पृथ्वी के उत्तरगोल में कभी दक्षिण गोल में पहुँचा हुआ अनुभव होता है। इस क्रम में सूर्य जिस बिन्दु पर विषुवत् रेखा के दक्षिण भाग में प्रवेश करता है, उसे शरत् संपात बिन्दु कहते हैं। तथा इससे ठीक १८० अंश पर दूसरा बिन्दु बनता है, जहाँ से सूर्य उत्तरी गोलार्ध में प्रवेश करता है, उसे वसन्त सम्पात कहते हैं।

ये सम्पात बिन्दु स्थिर नहीं हैं। वे प्रति वर्ष पूर्व से पश्चिम की ओर ५० विकला खिसकते रहते हैं। कोणीय माप में एक अंश (डिग्री) में ६० कला (मिनट) तथा एक कला में ६० विकला (सेकेन्ड) होते हैं। इस प्रकार एक अंश में ६०×६०=३६०० विकला होती है। संपात बिन्दु एक वर्ष में ५० विकला खिसकते हैं, तो एक अंश खिसकने में ३६००/ ५०=७२ वर्ष लगते हैं। इन बिन्दुओं के खिसकने की गति को अयन गति कहते हैं। इस अयन गति के आधार पर काल निर्णय किया जाता है।

आकाश में २७ नक्षत्रों, १२ राशियों की मान्यता प्रसिद्ध है। किसी काल में यह सम्पात बिन्दु किस नक्षत्र पर थे, यह पता लगने पर वर्तमान समय में उनकी स्थिति के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि इस बीच वे कितने अंश, कला, विकला खिसके हैं। इतना चलने में उन्हें कितना समय लगा, यह अयनगति के आधार पर आसानी से निकल आता है।

ज्योतिष के उक्त सूत्रों के आधार पर विद्वानों ने विभिन्न आर्ष ग्रन्थों के रचनाकाल निकालने के प्रयास किये हैं। श्री रजनी कान्त शास्त्री ने अपने

शोध ग्रन्थ 'वैदिक साहित्य- परिशीलन' में इसी गणना के आधार पर संहिताओं का रचनाकाल लगभग ४५३३ वर्ष ईसापूर्व निकाला है। अनेक अन्य विद्वानों की गणनाएँ भी इसी के आस-पास हैं। इस आधार पर संहिताओं से निकाले गये उपनिषदों (ईशावास्य, शिवसंकल्प उपनिषद् आदि) तथा शतपथ ब्राह्मण से लिए गये उपनिषद् (बृहदारण्यक, गायत्री आदि) का रचनाकाल भी उक्तानुसार ही माना जा सकता है।

मैत्रेय्युपनिषद् (६.१४) में प्राप्त ऋतु परिवर्तन काल का जो उल्लेख मिलता है,उसके आधार पर लोकमान्य तिलक ने उक्त उपनिषद् का रचनाकाल ई०पू०१८८०-१६८० के बीच माना है। अन्य विद्वानों के गणितीय निष्कर्ष भी इसी के आसपास हैं।

लेकिन यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। सम्पात बिन्दुओं को आकाश में एक चक्र ३६० अंश(डिग्री) पार करने में ३६०×७२=२५९२० वर्ष अर्थात् लगभग २६००० वर्ष का समय लगता है। इस हिसाब से संहिताओं के रचनाकाल में जो अयन स्थिति थी, वह २६००० वर्ष पूर्व भी रही होगी; किन्तु यह सुनिश्चत रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस काल से अब तक २६००० वर्ष के कितने चक्र पूरे किये जा चुके हैं ?

ईसाई मतावलम्बी लोग सृष्टि की उत्पत्ति का समय ईसा से मात्र ५००० या ७००० वर्ष पूर्व ही मानते रहे हैं। इस मान्यता के आधार पर उपनिषदों का रचनाकाल ४००० वर्ष ईसा पूर्व तक मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने माना है; किन्तु अब तो वैज्ञानिक ऐसे प्रमाण देने लगे हैं, जिनके आधार पर सृष्टि का उद्‌भव लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व हुआ माना जाने लगा है। भारतीय वैदिक धर्म वाले तो सृष्टि की उत्पत्ति करोड़ों वर्ष पूर्व की मानते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि संपात बिन्दुओं की किसी भी स्थिति के लिए निर्धारित समय के साथ २६००० वर्ष के कितने चक्र और जोड़े जाएँ ?

इसलिए उपनिषदों के रचनाकाल के बारे में तमाम अनुमानों और गणितीय प्रयोगों के बाद भी कोई साधिकार निर्णय दिया जाना संभव नहीं दिखता।

उपनिषदों के वर्ण्य विषय

उपनिषदों का मूल विषय 'ब्रह्मविद्या' को माना गया है। 'ब्रह्मविद्या' का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। विद्वानों ने विभिन्न उपनिषदों में वर्णित विषयों के आधार पर 'ब्रह्मविद्या' के अन्तर्गत ३२ विद्याओं को समाविष्ट माना है। जो इस प्रकार हैं -
(१) सद्विद्या (छान्दो०),(२) आनन्दविद्या (तैत्ति०), (३) अन्तरादित्यविद्या(छान्दो०),(४)आकाश विद्या (छान्दो०),(५)प्राण विद्या (छान्दो०),(६) गायत्री-ज्योतिर्विद्या (छान्दो०), (७) इन्द्रप्राणविद्या (छान्दो०, कौ०ब्रा०),(८)शाण्डिल्यविद्या (छान्दो०),(९) नाचिकेतसविद्या (कठ०),(१०) उपकोसलविद्या (छान्दो०),(११)अन्तर्यामिविद्या(बृह०),(१२) अक्षरविद्या(मुण्ड०),(१३)वैश्वानरविद्या (छान्दो०), (१४)भूमाविद्या(छान्दो०),(१५)गार्ग्यक्षरविद्या (बृह०),(१६)प्रणवोपास्य परमपुरुष विद्या (प्रश्न०), (१७) दहर विद्या (छान्दो०, बृह०, तैत्ति०),(१८) अंगुष्ठप्रमितविद्या (कठ०,श्वेता०),(१९) देवोपास्यज्योतिर्विद्या(बृह०),(२०)मधुविद्या (छान्दो०),(२१) संवर्गविद्या (छान्दो०), (२२) अजाशरीरकविद्या (श्वेता०, तैत्ति०),(२३) बालाकिविद्या (कौ०ब्रा०, बृह०), (२४) मैत्रेयी विद्या (बृह०),(२५) द्रुहिणरुद्रादिशरीरक विद्या, (२६) पञ्चाग्निविद्या (छान्दो०, बृह०),(२७) आदित्यस्थाहर्नामक विद्या (बृह०), (२८) अक्षिस्थाहन्नामक विद्या (बृह०), (२९) पुरुषविद्या (छान्दो०, तैत्ति०), (३०) ईशावास्यविद्या (ईश०), (३१) उषस्ति कहोल विद्या (बृह०) और (३२) व्याहृति-शरीरक विद्या।

ये विद्याएँ क्रमशः स्पष्ट करती हैं कि- (१) परब्रह्म अपने सङ्कल्पानुसार सबके कारण हैं, (२) वे कल्याणगुणाकर वैभवसम्पन्न आनन्दमय हैं, (३) उनका रूप दिव्य है, (४) उपाधि रहित होकर वे सबके प्रकाशक हैं, (५) वे चराचर के प्राण हैं, (६) वे प्रकाशमान हैं, (७) वे इन्द्र, प्राण आदि चेतनाचेतनों के आत्मा हैं, (८) प्रत्येक पदार्थ की सत्ता, स्थिति एवं यत्न उनके अधीन हैं, (९) समस्त संसार को लीन कर लेने की सामर्थ्य उनमें है, (१०) उनकी नित्य स्थिति नेत्र में है, (११) जगत् उनका शरीर है, (१२) उनके विराट् रूप की कल्पना में अग्नि आदि अङ्ग बनकर रहते हैं, (१३) स्वर्लोक, आदित्य आदि के अङ्गी बने हुए वे वैश्वानर हैं, (१४) वे अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, (१५) वे नियन्ता हैं, (१६) वे मुक्त पुरुषों के भोग्य हैं, (१७) वे सबके आधार हैं, (१८) वे अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय में विराजमान हैं, (१९) वे सभी देवताओं के उपास्य हैं,(२०) वे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्यों के आत्मा के रूप में उपास्य हैं (२१) अधिकारानुसार वे सभी के उपासनीय हैं, (२२) वे प्रकृतितत्त्व के नियन्ता हैं, (२३) समस्त जगत् उनका कार्य है, (२४) उनका साक्षात्कार कर लेना मोक्ष का साधन है, (२५) ब्रह्मा, रुद्र आदि- आदि देवताओं के अन्तर्यामी होने के कारण उन उन देवताओं की उपासना के द्वारा वे प्राप्त होते हैं, (२६) संसार के बन्धन से मुक्ति उनके अधीन है, (२७) वे आदित्यमण्डलस्थ हैं, (२८) वे पुण्डरीकाक्ष हैं (२९) वे परम पुरुष (पुरुषोत्तम) हैं, (३०) वे कर्म सहित उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने वाले हैं, (३१) उनके प्राप्त करने में अनिवार्य होते हैं, अन्य भोजनादि विषयक नियम भी और (३२) व्याहृतियों की आत्मा बनकर वे मंत्रमय हैं।

यह विषय विभाजन का एक क्रम है। विद्वानों ने और भी विभिन्न दृष्टियों से उपनिषदों के विषयों की विवेचनाएँ की हैं। जीवन की अगणित विविधताएँ एवं उनके रहस्यों का वर्णन उपनिषदों में मिलता है। इनमें विशुद्ध ज्ञान भी है तथा उसके अनुरूप साधना विज्ञान- योगविद्या की विभिन्न धाराएँ भी हैं। लौकिक और अलौकिक विभूतियों की प्राप्ति के उपायों के साथ उनके सुनियोजन-सदुपयोग के सूत्र भी हैं। ब्रह्म से प्रकृति एवं जीव की उत्पत्ति, जीव से जीव के विकास का क्रम तथा जीव का काया छोड़कर विभिन्न मार्गों से होकर पुनः ब्राह्मी चेतना में विलीन हो जाना, यह सभी पक्ष उपनिषदों में मिल जाते हैं।

उक्त तथ्यों को विषयानुसार वर्गीकृत करें, तो सूची बहुत लम्बी हो सकती है। फिर भी चूँकि यह सब विश्व वैचित्र्य ब्राह्मी संकल्प से ही उभरा है और उसी में पुनः समाहित हो जाता है, इसलिए उपनिषदों का मूल विषय ब्रह्म विद्या को ही कहा जाये, तो यह उचित ही है।

अनोखी शैली

उपनिषद् की अपनी शैली अद्भुत है। गूढ़ रहस्यों को समझने की तीव्र उत्कण्ठा, अनुभूति की गहन क्षमता तथा अभिव्यक्ति की सहजता का दर्शन जगह-जगह होता ही रहता है।

कठोपनिषद् में नचिकेता अपनी जिज्ञासा को लेकर यम के सामने इतने अविचल भाव से डटे रहते हैं कि यम को द्रवित होना ही पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु सहित जिज्ञासु भाव से क्षत्रिय राजा प्रवाहण से उपदेश प्राप्त करने में कोई संकोच नहीं करते। ऐतरेय उपनिषद् में ऋषि वामदेव प्रजनन चक्र समझने के लिए स्वयं अपनी चेतना को उस चक्र में घुमाकर अनुभव प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्राप्त अनुभूतिजन्य ज्ञान को जनहितार्थ बड़ी सहजता से व्यक्त किया जाता है।

गूढ़ ज्ञान प्रकट करने वालों में जहाँ अपने

अनुभव के प्रति पूर्ण आत्मविश्वास मिलता है, वहीं ज्ञानी की निरहंकारिता भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। बालक नचिकेता को यम के द्वार पर तीन दिन प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तो यमदेव स्वयं उसके लिए पश्चात्ताप प्रकट करते हैं। जनक की सभा में याज्ञवल्क्य शिष्यों को गौएँ ले जाने की आज्ञा देते हैं, तो अन्य विद्वान् उनसे पूछते हैं कि क्या आप स्वयं को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता मानते हैं ? तब वे नम्रतापूर्वक कहते हैं -

"ब्रह्मवेत्ताओं को मेरा नमस्कार है, मुझे तो गौओं की आवश्यकता थी, इसलिए उन्हें स्वीकार कर लिया"। अपनी बात समझाने के लिए ऋषि विविध ढंग अपनाते हैं। केनोपनिषद् में पहले ब्रह्म के विषय में विवेचनात्मक शैली अपनायी गयी है। बाद में यक्ष प्रसंग द्वारा कथा शैली से उसे समझाया गया है।

प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को जन सामान्य के लिए सुलभ उपमाओं के माध्यम से व्यक्त करने का बड़ा सुन्दर प्रयास किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के १.४ में विश्व व्यवस्था को एक विशिष्ट पहिये की उपमा से समझाने का प्रयास किया गया है, तो १.५ में विश्व के जीवन प्रवाह को एक नदी के प्रसंग से व्यक्त करने का कौशल दिखाया गया है।

ब्राह्मी चेतना किस प्रकार विभिन्न चरणों को पूरा करती हुई 'जीव' रूप में व्यक्त होती है, यह तथ्य मात्र विवेचनात्मक ढंग से समझना-समझाना बड़ा दुष्कर है; किन्तु छान्दोग्योपनिषद् (५.४-८) में ऋषि उसे क्रमशः पाँच प्रकार की अग्नियों में पाँच आहुतियों के उदाहरण से बहुत सहज रूप से समझाते हैं। प्रत्येक अग्नि में एक हव्य की आहुति होती है, उससे नये चरण में पदार्थ की उत्पत्ति होती है। ऋषि समझाते हैं कि प्रथम चरण में द्युलोकरूपी अग्नि में श्रद्धा की आहुति से सोम, दूसरे में पर्जन्यरूपी अग्नि में सोम की आहुति से वर्षा, तीसरे चरण में पृथ्वीरूपी अग्नि में वर्षा की आहुति से अन्न, चतुर्थ चरण में पुरुष में अन्न की आहुति से शुक्राणु तथा पाँचवें चरण में नारीरूपी अग्नि में शुक्राणु की आहुति से व्यक्ति वाचक 'जीव' का उद्भव होता है। आज का विज्ञान अपने समस्त संसाधनों के साथ भी चेतना और पदार्थ के इस सुसंगत संयोजन का अध्ययन नहीं कर पा रहा है।

उपनिषद् में केवल बौद्धिक जानकारियों को अपर्याप्त माना है, ज्ञान की सभी धाराओं के मूल में स्थित आत्मतत्त्व का अनुभव करना अभीष्ट माना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु स्वीकार करते हैं कि वे वेदादि का अध्ययन तो कर चुके हैं; लेकिन अभी उस अनुभूति को नहीं पा सके हैं, जिसके आधार पर अनसुना-अनजाना भी सुना और समझा जा सकता है। स्वयं देवर्षि नारद भी सनत्कुमार जी से कहते हैं कि उन्हें वेद विद्या से लेकर नागविद्या तक सभी तरह की विद्याएँ तो प्राप्त हैं; किन्तु अभी आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ है।

उपनिषद् के ऋषि आत्मबोध को तो परमेश्वर के लिए भी आवश्यक मानते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१० में कहा गया है कि ब्रह्मा ने अपने को जाना तो वह 'सर्व' हो गया। देवता, ऋषि, मनुष्यों में से जिन्होंने भी उसे जाना, वे तद्रूप हो गये। महर्षि वामदेव उसी अनुभव के आधार पर कहते हैं, 'मैं ही मनु और सूर्य हुआ हूँ ....आदि। ईशोपनिषद् में भी ऋषि यही अनुभव करते हुए कहते हैं- "**तेजो यत्ते रूपम् कल्याणतमं तत्ते पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।**" सर्वत्र एक ही चेतना को सक्रिय देखने वाले ऋषि किसी जाति भेद, वर्गभेद में बँधना स्वीकार नहीं करते। सत्यकाम जाबाल अपने पिता का परिचय नहीं जानते; किन्तु उनकी प्रखर जिज्ञासा के आधार पर उन्हें अध्यात्म की उच्च कक्षा में प्रवेश दिया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.११-१५ में ऋषि स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य के चारों वर्ण ब्रह्म के ही रूप हैं। यह रूप उसके द्वारा विभिन्न विभूतियुक्त कर्म करने के लिए विकसित किये हैं। देवताओं में भी उनके कर्मविभाग के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र संज्ञकदेवों का उल्लेख किया जाता है। वर्णभेद के बहाने जातिभेद के विषयों के लिए उपनिषदों में कोई स्थान नहीं है। वे तो आत्मा की सर्वव्यापकता

के आधार पर मनुष्य मात्र के लिए विकास के समान अवसर उपलब्ध कराना चाहते हैं।

उपनिषदों में कर्मकाण्ड का तथा उनकी फलश्रुतियों का उल्लेख भी जहाँ-तहाँ मिलता है; लेकिन वे वहीं तक सीमित नहीं रह जाते। कर्मकाण्ड के स्थूल स्वरूप को भेदकर उसके मर्म तक पहुँचते हैं, वे सामगान की व्याख्या करते हैं, तो उसे यज्ञीय कर्मकाण्ड में कुछ मन्त्रों के गायन तक ही सीमित नहीं रहने देते। छान्दोग्योपनिषद् प्रथम अध्याय के तेरहवें खण्ड में तथा अध्याय-२ के दूसरे खण्ड में प्रकृति चक्र में अनेक प्रकार के साम प्रवाह (सन्तुलित प्रवाहों) का स्वरूप समझाते हैं। उपनिषद् में पुरुषमेध-सर्वमेध आदि यज्ञ आत्म निग्रह के विधान बन जाते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अश्वमेध प्रकरण में अश्वमेध, व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण विश्व को समर्पित करने की समाधि जैसी प्रक्रिया के रूप में परिलक्षित होने लगता है।

भाव और भाषा

उपनिषद् में भाव और भाषा की सहजता का बड़ा सुन्दर तालमेल मिलता है। अनुभूति से उपजे सहज भावों को सहज भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। अपने भाषा ज्ञान को व्यक्त करने में आडम्बर पूर्ण, क्लिष्ट भाषा को थोपने का प्रयास नहीं किया गया है। इसके लिए तर्क, समीक्षा,कथोपकथन, उदाहरण, उपाख्यान आदि विभिन्न शैलियों का समयानुकूल उपयोग करते हुए भावों को सहज ग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया है।

यह सब होते हुए भी रहस्यात्मकता जगह-जगह परिलक्षित होती है। उसके कई कारण हैं। जैसे गूढ़ ज्ञान- विज्ञान को कितना भी सुगम बनाया जाये, उन्हें समझने के लिए अध्येता का अपना भी कुछ सार होना चाहिए। द्रष्टा ने जो देखा उसे पूरी तरह भाषा में बाँधना तो कभी सम्भव होता नहीं। भाषा में संकेतात्मक अभिव्यक्ति भर होती है। कोई संगीत विशेषज्ञ सुन्दर राग में मुधर भावों को गाकर व्यक्त करे, तो सुनने वाला उसके अन्दर के भाव प्रवाह की एक झलक भर ही पा सकता है। वह भी गायन स्वर संकेतों के साथ लिपिबद्ध किया जाए, तब तो उसके भावों को समझने के लिए और भी अधिक साधना चाहिए।

आज पदार्थ विज्ञान को समझने के लिए केवल भाषा की समीक्षा करके तथ्य जानने की परिपाटी चल पड़ी है। पदार्थ विज्ञान के सन्दर्भ में यह पद्धति चल भी जाती है। लेकिन भाव विज्ञान के क्रम में तो केवल भाषा की समीक्षा से काम चल नहीं सकता। गूढ़ भावों को अनुभव करने के लिए सूक्ष्म संवेदनात्मक क्षमताएँ चाहिए। आज उनका बड़ा अभाव हो गया है। इसीलिए उपनिषदादि द्वारा सहज भाषा में प्रस्तुत भाव भी रहस्यात्मक प्रतीत होते हैं। ऋषि, देवता एवं छन्द को समझे बिना वेदमन्त्रों का भाव स्पष्ट नहीं होता। उसी प्रकार उपनिषदों के अध्ययन में भी द्रष्टा-उपदेष्टा के स्तर, उसके लक्ष्य और अभिव्यक्ति की शैली पर गहराई से ध्यान देने पर ही उनके भावों के कथन का ठीक-ठीक लाभ उठाया जा सकता है।

ऋषि का दृष्टिकोण

उपनिषद्कारों-ऋषियों ने जनकल्याण की दृष्टि से अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को बड़े सहज ढंग से व्यक्त करने का कौशल दिखाया है। उनकी मेधा का कमाल कहें या संस्कृत भाषा की विशेषता। आश्चर्य होता है कि कैसे इतने गूढ़ एवं विविधतापूर्ण तथ्यों को थोड़े शब्दों में एवं सहज भाषा में समाहित करके 'गागर में सागर' भरने की उक्ति चरितार्थ की गयी है।

औपनिषदीय सूत्रों का भावार्थ करने में जहाँ भाषा को सहज बोधगम्य बनाना आवश्यक लगता

है, वहीं द्रष्टा के दृष्टिकोण तथा उसके गूढ़ संकेतों को भी उभारना उचित प्रतीत होता है। ऋषि चेतना के समर्थ संरक्षण एवं मार्गदर्शन में हुए इस भाषार्थ में उक्त दोनों पक्षों के निर्वाह का प्रयास किया गया है। इसके लिए सहज भाषार्थ के आगे-पीछे पूर्वापर टिप्पणियों का सहारा लेकर विशिष्ट भावों-संकेतों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उसके लिए वर्तमान समय में जन-मानस में बैठे हुए ज्ञान-विज्ञान के उदाहरणों के माध्यम से बात समझाने का प्रयास किया गया है। इससे ऋषि मेधा एवं जन-जिज्ञासा का सुसंयोग बन सकेगा, ऐसा विश्वास है। ऋषि की दृष्टि का दिङ्निर्देश हो जाने से विज्ञजन उस दिशा में अपनी चिन्तन शक्ति का उपयोग करके समुचित लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

उदाहरणार्थ-सामान्यरूप से उद्गीथ का अर्थ 'ॐकार' या 'साम' मन्त्रों का गायन ही लिया जाता है; किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् १.३.६ में ऋषि ने उसे त्रिविध प्राण-प्रवाहों के संयोग से साध्य बतलाया है। इस ओर ध्यान दिलाए बिना जन मान्यता का परिशोधन कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार छान्दोग्य २.२.१ की टिप्पणी में स्थूल सामगान के पाँच विभागों या भक्तियों के माध्यम से प्रकृति के विभिन्न क्रिया-कलापों में चलने वाली प्राण-प्रक्रिया को ऋषि ने आलंकारिक ढंग से व्यक्त किया है। यह क्रम अध्याय २ के द्वितीय से सप्तम खण्ड तक चलता है। अस्तु, द्वितीय खण्ड के प्रारम्भ में ही टिप्पणी देकर पाठक को वह भाव समझने के लिए प्रेरित किया गया है।

इसी उपनिषद् में पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'उद्गीथ' ही साम है तथा साम का भाव 'साधु' श्रेष्ठ-सदाशयता पूर्ण होता है। उद्गीथ में प्राणों को उद्देश्य विशेष के लिए तरंगित-प्रेरित किया जाता है। श्रेष्ठ सन्दर्भों में प्राणों को तरंगित करने का क्रम स्थूल-सूक्ष्म प्रकृति में विभिन्न रूपों में चल रहा है। यज्ञीय गान में साम के पाँच विभाग या भक्ति कहे गये हैं। ऋषि ने विराट् प्रकृति यज्ञ में साम के विभिन्न रूपों और उसके विभागों का वर्णन सप्तम खण्ड तक किया है। कहा गया है कि प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं में होने वाले प्राणों के साम प्रयोगों से जो साधक तादात्म्य बिठा लेता है, उस साधक में उस चक्र को नियन्त्रित करने की क्षमता आ जाती है।

इसी प्रकार छान्दोग्य ३.५.२ के पूर्व पदार्थ कणों के अनुशासित प्रक्रिया के पीछे चेतन संकल्प की उपस्थिति का भाव समझाने की दृष्टि से टिप्पणी की गयी है-

'पदार्थ विज्ञान आदित्यादि की सक्रियता के पीछे पदार्थ कणों की सक्रियता को कारण मानता है। ऋषि कहते हैं कि आदित्यादि की जो दृश्य प्रक्रिया चल रही है, उसके पीछे चेतन का संकल्प या आदेश कार्य कर रहा है। कम्प्यूटर सारे कार्य करता दिखता है; किन्तु कम्प्यूटर वैज्ञानिक जानता है कि उस सारी प्रक्रिया के मूल में कम्प्यूटर को दिया गया निर्देश (कमाण्ड) ही उसकी सक्रियता का मुख्य कारण है। उसी प्रकार ऋषि इस विश्व ब्रह्माण्ड के पीछे कोई गुप्त निर्देश होना मानते हैं। उसे ही उन्होंने दृश्य रसों का भी रस कहा है।'

ऐतरेय उपनिषद् में ऋषि ने एक उपाख्यान से यह समझाया है कि विराट् पुरुष परब्रह्म से उत्पन्न हुई देव शक्तियाँ मनुष्य शरीर के विभिन्न अंग- अवयवों में स्थापित हैं। उस क्रम में भूख-प्यास के लिए कोई स्थान विशेष नहीं बतलाया गया है। इस रहस्यात्मक उक्ति को आज के शरीर विज्ञान के क्रम में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

'ऋषि स्पष्ट करते हैं कि भूख-प्यास का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। वह विभिन्न अंग-अवयवों में संव्याप्त देवशक्तियों के साथ संयुक्त है। शरीर विज्ञान के वर्तमान शोध निष्कर्ष भी यही कहते हैं। भूख-प्यास शरीर के प्रत्येक कोश में होती है। जब तक पेट में अन्न-जल का भण्डार होता है; तब तक

भूख-प्यास की अनुभूति नहीं होती। रोगों की स्थिति में 'ड्रिप' द्वारा जल एवं पोषण पहुँचाने से भी भूख-प्यास सताती नहीं है। स्पष्ट है कि भूख-प्यास प्रत्येक जीवित कोष के साथ संयुक्त है।'

इसी प्रकार पुरुष के गर्भ में पुरुष के परिपाक की बात भी जेनेटिक साइन्स के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है-

'वर्तमान प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) भी वीर्य में गुण सूत्रों (क्रोमोजोमों) तथा जीन्स (जीवाणुओं) में व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं का समावेश मानता है। पुरुष के गर्भ में पुरुष का परिपाक यह उपनिषद् की अपनी दृष्टि है। पदार्थ विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं, ऋषि उसमें चेतना का संकल्पयुक्त तंत्र देखते हैं।'

कठोपनिषद् में नाचिकेताग्नि तथा उसकी 'इष्टिकाओं' की अवधारणा जिज्ञासुओं को दी जानी आवश्यक प्रतीत होती है, उसके लिए १.१.१५ एवं १.१.१६ की टिप्पणियाँ ध्यान देने योग्य हैं-

वेद में 'इष्टका' शब्द स्थूल ईंटों के अतिरिक्त 'इष्ट' वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त सूक्ष्म इकाइयों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ स्थूल ईंटों के स्थान पर अग्नि की सूक्ष्म इकाइयों का भाव ही ग्राह्य है। लौकिक अग्नि में भी विभिन्न इकाइयाँ शामिल होती हैं। इनमें ताप (कैलोरी), प्रकाश (ल्यूमेन) तथा रंग (कलर स्पेक्ट्रम) आदि सबको पता है। स्थूल अग्नि के अनेक अन्य गुण भी उसके घटक (इकाई) कहे जा सकते हैं। यहाँ स्वर्ग प्रदायिनी दिव्य अग्नि की इकाइयों तथा उनके चयन की बात कही गयी है। गुहा-अन्तःकरण में स्थित ऊर्जा की इकाइयाँ बीज रूप में स्थित दिव्य प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। उन्हीं के जागरण एवं संयोजन से व्यक्ति विद्वान्, कलाकार, वैज्ञानिक आदि स्तरों तक पहुँच जाता है। यमदेव ने नचिकेता को स्वर्ग तक पहुँचाने वाली दिव्य अग्नि-ऊर्जा के लिए आवश्यक सूक्ष्म इकाइयों तथा उनके संयोजन का रहस्य बतलाया है।'

इसी प्रकार विभिन्न प्रकरणों में जिज्ञासु अध्येताओं के चिन्तन को दिशा देने वाली टिप्पणियाँ स्थान-स्थान पर की गयी हैं।

पूर्वाग्रह रहित शोध दृष्टि

ऋषियों के कथन का सही भाव प्राप्त करने के लिए परम्परा या पूर्वाग्रह से हटकर शोध दृष्टि का उपयोग आवश्यक हो जाता है। ऋषि निर्देशों के अनुरूप चलते हुए प्रस्तुत प्रयास में अनेक विवादास्पद प्रसंगों के युक्ति संगत स्पष्टीकरण सम्भव हो सके हैं।

उदाहरण के लिए ऊपर वर्णित कठ० १.१.१५ की व्याख्या को लें। यज्ञीय कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ईंटों से वेदिकाओं के निर्माण की बात ध्यान में आ जाती है। उसी को ध्यान में रखकर पूर्व आचार्यों ने नाचिकेताग्नि के अन्तर्गत इष्टका चयन सम्बन्धी मन्त्रों के अर्थ ईंटों से वेदी का निर्माण प्रसंग के संदर्भ में ही करने का प्रयास किया है; किन्तु इस आधार पर मंत्रों के भावों और उनकी फलश्रुतियों की सिद्धि नहीं होती। वेद में भी जिन मन्त्रों के देवता 'इष्टका' हैं, उन प्रसंगों के अर्थ उन्हें प्रकृति की सूक्ष्म इकाइयों के रूप में स्वीकार करने से ही स्पष्ट होते हैं। इस छोटी-सी अवधारणा के साथ मन्त्रों के सहज स्वाभाविक अर्थ और महत्त्व स्पष्ट होने लगते हैं।

ऐसा ही एक प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् ३.६.४ की टिप्पणी में स्पष्ट किया गया है, वहाँ ऋषि सूर्य के विभिन्न दिशाओं से उदय और अस्त होने के प्रभावों का वर्णन कर रहे हैं। सभी जानते हैं कि सूर्य का उदय सदैव पृथ्वी के पूर्व से तथा अस्त पश्चिम दिशा में होता है। मेरु पर्वत के आस-पास सूर्य के भ्रमण जैसी परिकल्पनाओं के आधार पर उस प्रसंग का विवेक मान्य समाधान नहीं निकलता। उक्त प्रकरण के समाधान हेतु उक्त टिप्पणी का भाव ध्यान देने योग्य है-

छठवें से दसवें खण्ड तक सूर्य के उदय

एवं अस्त की प्रक्रिया में विभिन्न दिशाओं का उल्लेख किया गया है, अधिकांश आचार्यों ने उन दिशाओं को पृथ्वी की दिशाएँ मानकर अर्थ करने के प्रयास किये हैं, जो विवेक को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। ये दिशाएँ पृथ्वी की दिशाएँ नहीं हैं। जैसा कि इसी अध्याय के खण्ड २ से ५ में स्पष्ट लिखा है कि विशिष्ट दिव्य प्रवाहों की स्थापना सूर्य के विशिष्ट(पूर्वादि नामक) भागों में हुई है। यहाँ सूर्य के उन्हीं भागों से विशिष्ट अमृत प्रवाहों के प्रकट होने की बात कही गयी है। आदित्य के पूर्व से उदय का भाव यह लिया जाना चाहिए कि जब आदित्य का पूर्ववाला भाग दृश्य होता है उस समय तक वसुगणों का तथा उनसे सम्बद्ध अमृत का प्रवाह वातावरण एवं साधक पर रहता है। आगे के खण्डों में भी इसी प्रकार सूर्य के अन्य दक्षिण, पश्चिम आदि भागों के उदय-अस्त (दृश्यादृश्य) का भाव लिया जाना उचित है।

इसी प्रकार ऐतरेय १.१.२ में पृथ्वी के नीचे पुनः आपः (अधस्तात् ता आपः) का भाव भी अधिकांश भाष्यों में खुल नहीं सका है। यहाँ आपः को सामान्य जल मानने से बात नहीं बनती। इस संदर्भ में ऐत० १.१.२ तथा १.१.४ की टिप्पणियों द्वारा अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि आपः प्रकृति का मूल क्रियाशील प्रवाह है, अवलोकन करें-

यहाँ लोकों के नाम और उनकी स्थितियाँ विचारणीय हैं। पृथ्वी को 'मर' - मृत्युलोक कहा जाता है। अन्तरिक्ष-मरीचि अर्थात् प्रकाश किरणों वाला लोक माना जाता है। मरीचि का अर्थ शब्द कल्पद्रुम के अनुसार पापों, क्षुद्र जीवों या तमस् को मारने वाला कहा गया है। अन्तरिक्ष में ऐसे तेजस्वी मारक प्रवाह होने की पुष्टि वर्तमान विज्ञान भी करता है। अम्भ=अम् (प्राण) तथा भः (भरणकर्त्ता) से बना है। द्युलोक से परे यह अव्यक्त रूप से सूक्ष्म प्राण का भरण करने वाला लोक है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा के रूप में द्युलोक है। पृथ्वी के नीचे आपः
लोक का भाव अनेक आचार्यों ने माना है, जो समीचीन नहीं लगता। वेद के सन्दर्भ से यह भाव स्पष्ट होता है।

ऋग्वेद ने आपः को सृष्टि के मूल क्रियाशील प्रवाह के रूप में व्यक्त किया है। आपः सृष्टि का आधारभूत द्रव्य है; इसलिए ऋषि ने उसे **'या अधस्तात् ता आपः'** जो आधार रूप है, वह आपः है, ऐसा कहा है। वही हिरण्यगर्भ रूप है, जिसे वेद ने **स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां** (पृथ्वी और द्युलोक का आधार वही है) कहा है। आपः जल को भी कहते हैं; किन्तु वह अर्थ लेने से मन्त्र का भाव सिद्ध नहीं होता है। अस्तु, आपः को वेद की अवधारणा के आधार पर ही स्वीकार करना उचित है। इसे 'ताः' स्त्रीलिंग बहुवचन का सम्बोधन दिया गया है। इसी आपः तत्त्व के गर्भ में ब्रह्म का संकल्प बीज रूप में पककर विश्वरूप बनता है। यह गुण मातृसत्ता का होने से आपः को 'देवी आपः' या 'ता आपः' कहना उचित है। इस उपनिषद् में भी अगले मंत्रों में आपः का उत्पादक प्रयोग बार-बार परिलक्षित होता है।

यहाँ वीर्य से पुनः 'आपः' की उत्पत्ति कही गयी है। यह बड़ा वैज्ञानिक-मार्मिक कथन है। आपः सृष्टिकर्त्ता आधारभूत प्रवाह है। वीर्य में ही पुनः सृष्टि करने में समर्थ बीज तैयार होता है, वीर्य उस सूक्ष्म आपः प्रवाह के चक्र को पुनः प्रयुक्त करने में सक्षम है, ऐसा ऋषि का अनुभव है। उसी आपः तत्त्व में चेतना पुनः रूप ग्रहण करने लगती है। ऋषियों ने सृष्टि के विकास के क्रम में प्रयुक्त हर विधा का उल्लेख एक आवश्यक श्रेष्ठ प्रक्रिया के रूप में किया है। अमैथुनी और मैथुनी सृष्टि दोनों के रहस्यों और उनसे सम्बंधित मर्यादाओं का वर्णन है। ऐतरेय ५.८.२ में उन्होंने प्रजनन प्रक्रिया को नारी रूपी अग्नि में सम्पन्न यज्ञ के रूप में किया है।

ऐतरेय २.१३.१ में वे उस प्रक्रिया को 'वामदेव्य साम' के रूप में प्रतिपादित करते हैं। वहाँ ऋषि के अभिमत को टिप्पणी द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

'ऋषि ने दाम्पत्य और उनके माध्यम से चलने वाले प्रजनन चक्र को वामदेव्य साम के अन्तर्गत कहा है। कुछ लोग इस प्रसंग पर अश्लीलता का आरोप लगाते हैं, किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ऋषि प्रकृति प्रवाह के अन्तर्गत चलने वाले प्राण प्रवाह के विभिन्न चक्रों की व्याख्या विभिन्न साम साधनाओं के रूप में कर रहे हैं। पुरुष नारी द्वारा संचालित प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) को छोड़ा कैसे जा सकता था। वे तो इसे एक विशिष्ट साम (प्राणों से प्राणी के विकास की श्रेष्ठ साधना) का स्वरूप देते हैं। अस्तु, इस ज्ञान विज्ञान के प्रसंग में कहीं अश्लीलता की गंध लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए।'

इस प्रकार वेद के शीर्ष कहे जाने वाले उपनिषदों के मन्त्रों के भावों को ऋषियों की मूल अवधारणा पर ध्यान देते हुए समझा एवं समझाया जाना चाहिए। इस प्रस्तुति में अपनी सीमा मर्यादा के बीच जो प्रयास किये गये हैं, उनके पीछे क्या मन्तव्य रहा है, वह विज्ञजनों के सामने सहज भाव से विनम्रता पूर्वक रख दिया गया है। आशा है कि इससे अध्येताओं को ज्ञानामृत के अवगाहन में समुचित सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

प्रकाशकीय

इस प्रस्तुति के सन्दर्भ में जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता **परम पूज्य, युगऋषि, वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी** ने अनुभव की। तदनुसार सन् १९६१ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्तिकुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार **शक्ति स्वरूपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा** के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषदें तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कतिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। जैसे पूर्व प्रकाशित उपनिषदों में बृहदारण्यक उपनिषद् को उसके बड़े कलेवर के कारण अलग से प्रकाशित किया गया था, किन्तु इस संग्रह में उसे साथ में ही रखना उचित समझा गया। पहले उपनिषदों के पौर्वापर्य का कोई विशेष क्रम नहीं था, इसमें उपनिषदों को अकारादि क्रम से रखा गया है। इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी।

पूर्व प्रकाशन में प्रथम (ज्ञान खण्ड) में ३५ उपनिषदों का समावेश था। इस संग्रह में बृहदारण्यक० शामिल हो जाने के कारण इसमें कुल २४ उपनिषदों को ही लिया गया है। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया।

अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं- १. मन्त्रों का

प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अड्यार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान, उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई','अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-खोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का नूतन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है,उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे,क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

— प्रकाशक

ॐ

॥ अमृतनादोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् में प्रणवोपासना के साथ योग के छः अंगों- प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, प्राणायाम, तर्क (समीक्षा) एवं समाधि आदि का वर्णन किया गया है। प्राणायाम की विधि, ॐकार की मात्राओं का ध्यान, पाँचों प्राणों के स्थान एवं रंगों का उल्लेख भी किया गया है। योग साधक को भय, क्रोधादि मानसिक विकारों से मुक्त रहकर आहार विहार, चेष्टा-कर्म, सोने- जागने आदि कर्मों को संतुलित बनाए रखने का निर्देश है। साधना के फलस्वरूप देवतुल्य जीवन की प्राप्ति से लेकर ब्रह्म निर्वाण तक की उपलब्धि का मार्गदर्शन दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें हम दोनों का साथ साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक-दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या द्वेष न करें। हे शक्ति-सम्पन्न! (हमारे) त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥ १॥

परम ज्ञानवान् मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह शास्त्रादि का अध्ययन करके बारम्बार उनका अभ्यास करते हुए ब्रह्म विद्या की प्राप्ति करे विद्युत् की कान्ति के समान क्षण-भङ्गुर इस जीवन को (आलस्य-प्रमाद में) नष्ट न करे॥ १॥

ओंकाररथमारुह्य विष्णुं कृत्वाथ सारथिम्।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः॥ २॥

ॐकार रूपी रथ में आरूढ़ होकर तथा भगवान् विष्णु को अपना सारथि बनाकर ब्रह्मलोक के परमपद का चिन्तन करता हुआ ज्ञानी पुरुष देवाधिदेव भगवान् रुद्र की उपासना में तल्लीन रहे॥ २॥

[प्राण यदि लौकिक सुखोपभोगों पर आरूढ़ हो जाता है, तो क्षीण होता है। जब रेडियो तरंगों पर ध्वनि को आरोपित (सुपर इम्पोज) करते हैं, तो रेडियो तरंगें कैरियर-रथ बनकर उस ध्वनि को विश्व भर में पहुँचा देती हैं। उसी प्रकार ॐकार पर आरोपित प्राण परब्रह्म तक पहुँच जाता है।]

तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः।
स्थित्वा रथपतिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति॥ ३॥

उस (प्रणवरूपी) रथ के द्वारा तब तक चलना चाहिए, जब तक कि रथ द्वारा चलने योग्य मार्ग पूर्ण न हो जाये। जब वह मार्ग (लक्ष्य) पूर्ण हो जाता है, तब उस रथ को छोड़ कर मनुष्य स्वतः ही प्रस्थान कर जाता है॥ ३॥

[जब ध्वनि तरंगें रेडियो तरंगों के साथ अपने लक्ष्य-ट्रांजिस्टर तक पहुँच जाती हैं, तो वे उन्हें छोड़कर अपने वास्तविक रूप में पुनः प्रकट हो जाती हैं। इसी प्रकार प्राणी को चाहिए कि वह अपने इष्ट लक्ष्य तक पहुँच कर वाहक-रथ (कैरियर) को छोड़कर अपने को इष्ट के साथ संयुक्त कर दे, यह परामर्श ऋषि दे रहे हैं।]

मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति॥ ४॥

प्रणव की अकारादि जो मात्राएँ हैं तथा उन (मात्राओं) में जो लिङ्गभूत पद हैं, उन सभी के आश्रयभूत संसार का चिन्तन करते हुए उसका त्याग कर, स्वरहीन 'मकार' वाची ईश्वर का ध्यान करने से साधक की क्रमशः उस सूक्ष्म पद में प्रविष्टि हो जाती है। वह परम तत्त्व ('अकार' आदि स्वरों तथा 'ककारादि' व्यजनों रूपी) सभी प्रपंचों से पूर्णतया दूर है॥ ४॥

शब्दादि विषयान्पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहारः स उच्यते॥ ५॥

शब्द, स्पर्श आदि पाँचों विषय तथा इनको ग्रहण करने वाली समस्त इन्द्रियाँ एवं अति चंचल मन· इनको सूर्य के सदृश अपनी आत्मा की रश्मियों के रूप में देखें अर्थात् आत्मा के प्रकाश से ही मन की सत्ता है और उसी प्रकाश स्वरूप आत्मा की बाह्य सत्ता से शब्द आदि विषय भी सत्तावान् हैं। इस प्रकार से आत्म चिन्तन को ही प्रत्याहार कहते हैं॥ ५॥

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ६॥

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि इन छः अंगों से युक्त साधना को योग कहा गया है॥ ६॥

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात्॥ ७॥

जिस प्रकार पर्वतों में उत्पन्न स्वर्ण आदि धातुओं का मैल अग्नि में तपाने से भस्म हो जाता है। उसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के द्वारा किये गये दोष प्राणों को रोकने अर्थात् प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा भस्म हो जाते हैं॥ ७॥

[प्राण शक्ति का भोगों की ओर भटकना ही पापों को जन्म देता है, उसके नियमन से पाप की संभावना समाप्त होने लगती है।]

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥ ८॥
किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत्॥ ९॥

प्राणायाम के माध्यम से दोषों (अर्थात् इन्द्रियों में एकत्रित विकारों) को तथा धारणा के माध्यम से पापों को (अर्थात् कुसंस्कारों को) जलाकर भस्म कर डालें। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय के संसर्ग से उत्पन्न

दोष तथा ध्यान के द्वारा अनीश्वरीय गुणों का नाश होता है। इस प्रकार संचित पापों एवं उन इन्द्रियों के कुसंस्कारों का शमन करते हुए अपने इष्ट के मनोहारी रूप का चिन्तन करना चाहिए॥ ८-९॥

[प्राणायाम के साथ इष्ट के मनमोहक रूप के स्मरण से मन सहज ही उस ओर लग जाता है, अतः प्राण-प्रक्रिया तेजस्वी हो जाती है।]

रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा।

प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः॥ १०॥

इस प्रकार अपने इष्ट के सुन्दर रूप का ध्यान करते हुए वायु को अन्तःकरण में स्थिर रखना (अर्थात् कुम्भक करना) रेचक (अर्थात् श्वास को निःसृत करना) और पूरक (अर्थात् वायु को अन्दर खींचना)। इस प्रकार रेचक, पूरक एवं अन्तः बाह्य कुम्भक के रूप में तीन तरह के प्राणायाम कहे गये हैं॥ १०॥

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।

त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥ ११॥

प्राण शक्ति की वृद्धि करने वाला साधक व्याहृतियों एवं प्रणव सहित सम्पूर्ण गायत्री महामन्त्र का उसके शीर्ष भाग सहित तीन बार मानस-पाठ करते हुए पूरक, कुम्भक तथा रेचक करे। इस प्रकार की प्रक्रिया को एक 'प्राणायाम' कहा गया है॥ ११॥

उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।

शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम्॥ १२॥

(नासिका द्वारा) प्राणवायु को आकाश में निकालकर हृदय को वायु से रहित एवं चिन्तन से रिक्त करते हुए शून्यभाव में मन को स्थिर करने की प्रक्रिया ही 'रेचक' है। यही 'रेचक प्राणायाम' का लक्षण है॥ १२॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।

एवं वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम्॥ १३॥

जिस प्रकार पुरुष मुख के माध्यम से कमल-नाल द्वारा शनैः-शनैः जल को ग्रहण करता है, उसी प्रकार मन्द गति से प्राण वायु को अपने अन्तःकरण में धारण करना चाहिए यही प्राणायाम के अन्तर्गत 'पूरक' का लक्षण है॥ १३॥

नोच्छ्वसेन्न च निश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत्।

एवं भावं नियुञ्जीयात्कुम्भकस्येति लक्षणम्॥ १४॥

श्वास को न तो अन्तःकरण में आकृष्ट करे और न ही बहिर्गमन करे तथा शरीर में कोई हलचल भी न करे। इस तरह से प्राण वायु को रोकने की प्रक्रिया को 'कुम्भक' प्राणायाम का लक्षण कहा गया है॥ १४॥

अन्धवत्पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु।

काष्ठवत्पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम्॥ १५॥

जिस भाँति अन्धे को कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी भाँति साधक नाम रूपात्मक अन्य कुछ भी न देखे। शब्द को बधिर की भाँति श्रवण करे और शरीर को काष्ठ की तरह जाने। यही प्रशान्त का लक्षण है॥ १५॥

[आँख-कान आदि प्राण के संयोग से ही देखते-सुनते हैं। जब प्राण-प्रणव की ओर लग जाते हैं, तो इन्द्रियों से प्रकाश पूर्ण ध्वनि तरंगें टकराती भर हैं। उनका बोध करने वाला (प्राण) वहाँ न होने से अंधे-बहरे जैसी ही स्थिति हो जाती है।]

मनःसंकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥ १६ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य मन को संकल्प के रूप में जानकर, उसे आत्मा (बुद्धि) में लय कर दे। तत्पश्चात् उस आत्मारूपी सद्बुद्धि को भी परमात्म सत्ता के ध्यान में स्थिर कर दे। इस तरह की क्रिया को ही 'धारणा की स्थिति' के रूप में जाना जाता है॥ १६॥

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।
समं मन्येत यल्लब्ध्वा स समाधिः प्रकीर्तितः॥ १७॥

शास्त्रानुकूल 'ऊहा' अर्थात् विचार करना 'तर्क' कहा जाता है। ऐसे 'तर्क' को प्राप्त करके दूसरे अन्य सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को तुच्छ (निकृष्ट) मान लिया जाता है। इस प्रकार की स्थिति को ही 'समाधि' की अवस्था कहा जाता है॥ १७॥

[भौतिक पदार्थ वरेण्य नहीं-इष्ट ही वरेण्य है, यह तर्क अन्तःकरण में बैठते ही प्राणों को इष्ट में समाहित कर देता है।]

भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते।
कृत्वा मनोमयीं रक्षां जप्त्वा वै रथमण्डले॥ १८॥

भूमि को स्वच्छ, समतल करके रमणीय तथा (अशुद्ध, विषय एवं कीट आदि) सभी दोषों से रहित क्षेत्र में मानसिक रक्षा (दिग्बन्धादि) करता हुआ रथ मण्डल (ॐकार) का जप करे॥ १८॥

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः ॥ १९॥

पद्मासन, स्वस्तिकासन और भद्रासन में से किसी एक योगासन में आसीन होकर उत्तराभिमुख हो करके बैठना चाहिए॥ १९॥

नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम्।
आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेव विचिन्तयेत्॥ २०॥

तत्पश्चात् नासिका के एक छिद्र (दायें) को एक अँगुली से बन्द करके , दूसरे खुले छिद्र (बायें) से वायु को खींचे। फिर दोनों नासापुटों को बन्द करके उस प्राण वायु को धारण करे। उस समय तेजःस्वरूप शब्द (ओंकार) का ही चिन्तन करे॥ २०॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतन्न रेचयेत्।
दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यादामलमुक्तये॥ २१॥

वह शब्द रूप एकाक्षर प्रणव (ॐ) ही ब्रह्म है। तदनन्तर इसी एकाक्षर ब्रह्म ॐकार का ही ध्यान करता हुआ रेचक क्रिया सम्पन्न करे अर्थात् वायु का शनैः-शनैः निष्कासन करे। इस तरह से कई बार इस 'ओंकार' रूपी दिव्य मन्त्र से (प्राणायाम की क्रिया द्वारा) अपने चित्त के प्रमादादि मल (विकारों) को दूर करना चाहिए। २१॥

पश्चाद्ध्यायीत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्रविद्बुधः।
स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरूर्ध्वमुपक्रमः॥ २२॥

इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा सभी दोषों का शमन करते हुए पूर्व निर्दिष्ट क्रम (अकार, उकार, मकार) के अनुसार 'ओंकार' का ध्यान करते हुए प्राणायाम करे। इस तरह का 'प्रणव गर्भ' प्राणायाम नाभि के ऊर्ध्व भाग अर्थात् हृदय में (विराट् आदि का) ध्यान करते हुए स्थूलातिस्थूल मात्रा में सम्पन्न करे॥ २२॥

[प्राणायाम की अस्सी आवृत्ति-स्थूल मात्रा तथा एक श्वास में अस्सी प्रणव मन्त्र का जप-अति स्थूल मात्रा कहलाती है।]

तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः।
स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समभ्यसेत्॥ २३॥

अपनी दृष्टि को ऊपर अथवा नीचे की ओर तिरछा घुमाकर केन्द्रित करते हुए बुद्धिमान् साधक स्थिरता पूर्वक निष्कम्प भाव से स्थित होकर योग का अभ्यास करे॥ २३॥

तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा।
द्वादशमात्रो योगस्तु कालतो नियमः स्मृतः॥ २४॥

योगाभ्यास की यह क्रिया तालवृक्ष की भाँति कुछ ही काल में फल प्रदान करने वाली है। इसका अभ्यास पहले से सुनिश्चित योजनानुसार ही करने योग्य है अर्थात् बीच में उसे घटाना, बढ़ाना या रोकना नहीं चाहिए। द्वादश मात्राओं की आवृत्ति भी समान समय में ही पूर्ण करनी चाहिए॥ २४॥

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च अतालुकण्ठोष्ठमनासिकं च यत्।
अरेफजातमुभयोष्मवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कथंचित्॥ २५॥

इस प्रणव नाम से प्रसिद्ध घोष का उच्चारण बाह्य प्रयत्नों से नहीं होता है। यह व्यञ्जन एवं स्वर भी नहीं है। इसका उच्चारण कण्ठ, तालु, ओष्ठ एवं नासिका आदि (सानुनासिक) से भी नहीं होता। इसका दोनों ओष्ठों के अन्तः में स्थित दन्त नामक क्षेत्र से भी उच्चारण नहीं होता। 'प्रणव' वह श्रेष्ठ अक्षर है, जो कभी भी च्युत नहीं होता। ओंकार का प्राणायाम के रूप में अभ्यास करना चाहिए तथा मन गुञ्जायमान घोष में सदैव लगाए रहना चाहिए॥ २५॥

[ॐकार को 'उद्गीथ' कहा गया है। इसे उद्=प्राणों के माध्यम से ही झंकृत किया जाता है।]

येनासौ गच्छते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति।
अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै॥ २६॥

योगी पुरुष जिस मार्ग का अवलोकन करता है अर्थात् मन के माध्यम से जिस स्थान को प्रवेश करने योग्य मानता है, उसी मार्ग (द्वार) से प्राण और मन के साथ गमन कर जाता है। प्राण श्रेष्ठ मार्ग (द्वार) से गमन करे, इस हेतु साधक को नित्य- नियमित अभ्यास करते रहना चाहिए॥ २६॥

हृद्द्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारमथापरम्।
मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः॥ २७॥

वायु के प्रवेश का मार्ग हृदय ही है। इससे ही प्राण सुषुम्णा के मार्ग में प्रवेश करता है। इससे ऊपर ऊर्ध्वगमन करने पर सबसे ऊपर मोक्ष का द्वार ब्रह्मरन्ध्र है। योगी लोग इसे सूर्यमण्डल के रूप में जानते हैं। इसी सूर्यमण्डल अथवा ब्रह्मरन्ध्र का बेधन करके प्राण का परित्याग करने से मुक्ति प्राप्त होती है॥ २७॥

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम्।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्॥ २८॥

भय, क्रोध, आलस्य, अधिक शयन, अत्यधिक जागरण करना, अधिक भोजन करना या फिर बिल्कुल निराहार रहना आदि समस्त दुर्गुणों को योगी सदैव के लिए परित्याग कर दे॥ २८॥

[गीता (६.१७) में यही भाव 'युक्ताहार विहारस्य........................' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।]

अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यते क्रमात्।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥ २९॥

इस प्रकार नियम पूर्वक जो भी साधक क्रमशः उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ नियमित अभ्यास करता है, उसे तीन मास में ही स्वयमेव ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ २९॥

चतुर्भिः पश्यते देवान्पञ्चभिर्विततःक्रमः।
इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः॥ ३०॥

वह योगी-साधक नित्य-नियमित अभ्यास करता हुआ चार मास में ही देव दर्शन की सामर्थ्य,प्राप्त कर लेता है। पाँच माह में देव-गणों के समान शक्ति-सामर्थ्य से युक्त हो जाता है तथा छः मास में अपनी इच्छानुसार निःसन्देह कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है॥ ३०॥

पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः।
आग्नेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः॥ ३१॥

पृथिवी तत्त्व की धारणा के समय में ओंकार रूप प्रणव की पाँच मात्राओं का, वरुण अर्थात् (जल तत्त्व) की धारणा के समय में (प्रणव की) चार मात्राओं का, अग्नि तत्त्व की धारणा के समय में (प्रणव की) तीन मात्राओं का तथा वायु तत्त्व की धारणा के समय में (प्रणव की) दो मात्राओं के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए॥ ३१॥

एकमात्रस्तथाकाशो ह्यर्धमात्रं तु चिन्तयेत्।
संधिं कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनात्मनि॥ ३२॥

(इसके पश्चात्) आकाश तत्त्व की धारणा करते समय प्रणव की एक मात्रा का तथा स्वयं ओंकार रूप प्रणव की धारणा करते समय उसकी अर्द्धमात्रा का चिन्तन करे। अपने शरीर में ही मानसिक धारणा के माध्यम से पंचभूतों (पृथिवी आदि तत्त्व) की सिद्धि प्राप्त करे और उनका ध्यान करे। इस तरह के कृत्य से प्रणव की धारणा द्वारा पञ्चभूतों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है॥ ३२॥

त्रिंशत्सार्धाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणैः प्रतिष्ठितः।
एष प्राण इति ख्यातो बाह्यप्राणस्य गोचरः॥ ३३॥

साढ़े तीस अङ्गुल लम्बा प्राण श्वास के रूप में जिसमें प्रतिष्ठित है, वही इस प्राण वायु का वास्तविक आश्रय है। यही कारण है कि इसे प्राण के रूप में जाना जाता है। जो बाह्य प्राण है, उसे इन्द्रियों के द्वारा देखा जाता है॥ ३३॥

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश।
लक्षश्चैको विनिश्वास अहोरात्रप्रमाणतः॥ ३४॥

इस बाह्य प्राण में एक लाख तेरह सहस्र छः सौ अस्सी निःश्वासों (श्वास-प्रश्वास) का आवागमन एक दिन एवं रात्रि में होता है॥ ३४॥

[प्रायः दिन-रात्रि में श्वासों की संख्या इक्कीस हजार छः सौ मानी जाती है। जो प्रति मिनट पन्द्रह निःश्वास के हिसाब से ठीक बैठती है, यहाँ इतनी संख्या का उल्लेख शोध का विषय है।]

प्राण आद्यो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे।

समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः॥ ३५॥

आदि प्राण का निवास हृदय क्षेत्र में, अपान का निवास गुदा स्थान में, समान का नाभि प्रदेश में एवं उदान का निवास कण्ठ प्रदेश में है॥ ३५॥

व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा।

अथ वर्णास्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात्॥ ३६॥

व्यान समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में व्यापक होकर सदैव प्रतिष्ठित रहता है। अब इसके पश्चात् समस्त प्राण आदि पाँचों वायुओं के रंग का क्रमानुसार वर्णन किया जाता है॥ ३६॥

रक्तवर्णो मणिप्रख्यः प्राणवायुः प्रकीर्तितः।

अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रगोपसमप्रभः॥ ३७॥

इस प्राण वायु को लाल रंग की मणि के सदृश लोहित वर्ण की संज्ञा प्रदान की गई है। अपान वायु को गुदा के बीचो-बीच इन्द्रगोप-बीर बहूटी नामक गहरे लाल (रंग वाले एक बरसाती कीड़े के) रंग का माना गया है॥ ३७॥

समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः।

आपाण्डुर उदानश्च व्यानो ह्यर्चिःसमप्रभः॥ ३८॥

नाभि के मध्य क्षेत्र में समान वायु स्थिर है। यह गो-दुग्ध या स्फटिक मणि की भाँति शुभ्र कान्तियुक्त है। उदान वायु का रंग धूसर अर्थात् मटमैला है और व्यान वायु का रंग अग्निशिखा की भाँति तेजस्वी है॥ ३८॥

यस्येदं मण्डलं भित्त्वा मारुतो याति मूर्धनि।

यत्र कुत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते न स भूयोऽभिजायत इत्युपनिषत्॥ ३९॥

जिस श्रेष्ठ योगी अथवा साधक का प्राण इस मण्डल (पञ्चतत्त्वात्मक शरीर-क्षेत्र, वायु स्थान एवं हृदय प्रदेश) का बेधन कर मस्तिष्क के क्षेत्र में प्रविष्ट कर जाता है, वह अपने शरीर का जहाँ कहीं भी परित्याग करे, पुनः जन्म नहीं लेता अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है, यही उपनिषद् (रहस्य) है॥ ३९॥

॥ शान्तिपाठः॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः॥

॥ इति अमृतनादोपनिषत्समाप्ता॥

॥ ईशावास्योपनिषद् ॥

यजुर्वेद के ४० वें अध्याय को ईशावास्योपनिषद् कहा गया है। इसे उपनिषद् शृंखला में प्रथम स्थान प्राप्त है। इसमें इस विराट् सृष्टि के अन्तर्गत दृश्य जगत् और जीवन को 'ईश्वर का आवास' कह कर ईश्वर के सर्वव्यापी सर्वसमर्थ स्वरूप का बोध कराते हुए, जीवन को उसी के अनुशासन में गरिमामय ढंग से सुख-सन्तोषपूर्वक जीते हुए उसी के साथ एकरूप हो जाने का निर्देश दिया गया है। इसके १८ मन्त्र गीता के १८ अध्यायों की तरह महत्त्वपूर्ण कहे गये हैं।

प्रथम मंत्र में जीवन और जगत् को ईश्वर का आवास कहकर जीवन सम्पदा का उपभोग मर्यादापूर्वक करने का निर्देश है। ' यह धन किसका है ?' प्रश्न करके ऋषि ने मनुष्य को विभूतियों और सम्पदाओं के अभिमान से मुक्त होने का अमोघ सूत्र दे दिया है। दूसरे मन्त्र में लम्बी आयु और बन्धन मुक्त रहकर कर्मरत रहने के सूत्र हैं, तो तीसरे मन्त्र में अनुशासन उल्लंघन के दुष्परिणामों का संकेत है। मन्त्र क्रमांक ४,५ एवं ८ में परब्रह्म के स्वरूप का बोध है, तो ६,७ में उसकी अनुभूति करने वालों के लक्षण दर्शाये गये हैं। क्रमांक ९ से १४ में विद्या-अविद्या तथा सृजन एवं विनाश के बीच सन्तुलन स्थापित करने का रहस्य दिया गया है। क्रमांक १५ एवं १६ में परमात्मा से अपने स्वरूप का बोध कराने की प्रार्थना तथा बोध होने की मनःस्थिति का वर्णन है। क्रमांक १७,१८ में शरीर की नश्वरता का बोध कराते हुए अग्निदेव से श्रेष्ठ मार्ग द्वारा जीवन लक्ष्य तक ले चलने की प्रार्थना की गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

'ॐ' रूप में जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, वह परब्रह्म स्वयं में सब प्रकार से पूर्ण है और यह सृष्टि भी स्वयं में पूर्ण है। उस पूर्ण तत्त्व में से इस पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई है। उस पूर्ण में से यह पूर्ण निकाल लेने पर भी वह शेष भी पूर्ण ही रहता है । आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ताप-सन्ताप शान्त हों।

[पूर्ण में से पूर्ण निकाल लेने पर पूर्ण ही शेष रहने की ऋषि की अनुभूति अनोखी है । वर्तमान विज्ञान भी इस अवधारणा का साक्षात्कार नहीं कर सका है ।]

ॐ ईशावास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १ ॥

इस सृष्टि में जो कुछ भी (जड़ अथवा चेतन) है, वह सब ईश द्वारा आवृत-आच्छादित है (उसी के अधिकार में है)। केवल उसके द्वारा (उपयोगार्थ) छोड़े गये (सौंपे गये) का ही उपभोग करो। (अधिक का) लालच मत करो, (क्योंकि यह) धन किसका है ? (अर्थात् किसी व्यक्ति का नहीं-केवल 'ईश' का ही है)॥ १॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २॥

यहाँ (ईश्वर से अनुशासित इस जगत् में) कर्म करते हुए सौ वर्ष (पूर्णायु) तक जीने की कामना करें। (इस प्रकार अनुशासित रहने से) कर्म मनुष्य को लिप्त (विकारग्रस्त) नहीं करते । (विकार मुक्त जीवन के निमित्त) यह (मार्गदर्शन) तुम्हारे लिए है , इसके अतिरिक्त परम कल्याण का और कोई अन्य मार्ग नहीं है ॥ २॥

[ऋषियों ने जीवन के ऐसे अनुशासन बतलाये हैं, जिनका अनुपालन करके मनुष्य लम्बी आयु भी पा सकता है और कर्मबन्धनों से मुक्त भी हो सकता है।]

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३॥

वे (इस अनुशासन का उल्लंघन करने वाले) लोग 'असुर्य' (केवल शरीर एवं इन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर-सद्विवेक की उपेक्षा करने वाले) नाम से जाने जाते हैं। वे (जीवन भर) गहन अन्धकार (अज्ञान) से घिरे रहते हैं। वे आत्मा (आत्म चेतना के निर्देशों) का हनन करने वाले लोग, प्रेत रूप में (शरीर छूटने पर) भी वैसे ही (अन्धकार युक्त) लोकों में जाते हैं॥ ३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

अविचल वह ईश एक ही है, जो मन से भी अधिक वेगवान् है। वह सबसे पुरातन एवं स्फूर्तिवान् है, उसे देवगण (देवता अथवा इन्द्रिय समूह) प्राप्त नहीं कर पाते । वह स्थिर रहते हुए भी दौड़कर अन्य (गतिशीलों) से आगे निकल जाता है । उसके अन्तर्गत (अनुशासन में रहकर) गतिशील वायु- अप् (सृष्टि के मूल घटक) को धारण किये रहता है ॥ ४॥

[वर्तमान विज्ञान अभी प्रकाश से अधिक गतिशील तत्त्वों को खोज ही रहा है, मन की गति का तो मापन ही नहीं किया जा सका है। ऋषियों ने अविचल, किन्तु मन से भी अधिक गतिमान् का साक्षात्कार किया था।]

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५॥

वह (परमात्मतत्त्व) गतिशील भी है और स्थिर (भी) है। वह दूर से दूर भी है और निकट से निकट भी है। वह इन सब (जड़-चेतन जगत्) के अंदर भी है तथा सबके बाहर (उसे आवृत किये हुए) भी है॥ ५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

व्यक्ति (जब) सभी भूतों (जड़-चेतन सृष्टि) को (इस) आत्म तत्त्व में ही स्थित अनुभव करता है तथा सभी भूतों के अन्दर इस आत्म तत्त्व को समाहित अनुभव करता है, तब वह किसी प्रकार भ्रमित नहीं होता ॥ ६॥

[केवल पढ़े हुए ज्ञान से भ्रमों का निवारण संभव नहीं है, उसके लिए अनुभूति परक ज्ञान अनिवार्य है।]

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

जिस स्थिति में (व्यक्ति) यह (मर्म) जान लेता है कि यह आत्म तत्त्व ही समस्त भूतों के रूप में प्रकट हुआ है, (तो) उस एकत्व की अनुभूति की स्थिति में मोह अथवा शोक कहाँ टिक सकते हैं ? अर्थात् ऐसी स्थिति में व्यक्ति मोह एवं शोक से परे हो जाता है ॥ ७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी
परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

वह (परमात्मा) सर्वव्यापी है, तेजस्वी है । वह देहरहित, स्नायुरहित एवं छिद्र (वर्ण) रहित है । वह शुद्ध और निष्पाप है । वह कवि (क्रान्तदर्शी), मनीषी (मन पर शासन करने वाला), सर्वजयी और स्वयं ही उत्पन्न होने वाला है । उसने अनादि काल से ही सबके लिए यथायोग्य अर्थों (साधनों) की व्यवस्था बनायी है ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥ ९॥

जो केवल अविद्या (पदार्थपरक विद्या) की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में घिर जाते हैं और जो केवल विद्या (चेतनापरक विद्या) की ही उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार के अन्धकार में फँस जाते हैं ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १०॥

जिन देवपुरुषों ने हमारे लिए (इन विषयों को) विशेष रूप से कहा है, हमने उन धीर पुरुषों से सुना है कि विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) का प्रभाव भिन्न है तथा अविद्या (भौतिक ज्ञान) का प्रभाव उससे भिन्न है ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ११॥

(अतएव) विद्या और अविद्या- इन दोनों को एक साथ जानो। (इनमें से) अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति की जा सकती है ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳरताः॥ १२॥

जो लोग केवल 'असम्भूति' (बिखराव-विनाश) की उपासना करते हैं (उन्हीं प्रवृत्तियों में रमे रहते हैं) ,वे घोर अन्धकार (अज्ञान) में घिर जाते हैं और जो केवल सम्भूति (संगठन-सृजन) की ही उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार के अंधकार में फँस जाते हैं ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १३॥

जिन देवपुरुषों ने हमारे लिए (इन विषयों को) विशेष रूप से कहा है, हमने उन धीर पुरुषों से सुना है कि सम्भूति योग का प्रभाव भिन्न है तथा असम्भूति योग का प्रभाव उससे भिन्न है ॥ १३ ॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते॥ १४॥

(इसलिए) सम्भूति (समय के अनुरूप नया सृजन) तथा असम्भूति विनाश (अवाञ्छनीय को समाप्त करना) इन दोनों कलाओं को एक साथ जानो । विनाश की कला से मृत्यु को पार करके (अनिष्टकारी को नष्ट करके मृत्यु भय से मुक्ति पाकर) तथा सम्भूति (उपयुक्त निर्माण) की कला से अमृतत्व की प्राप्ति की जाती है ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५ ॥

सोने के (चमकदार लुभावने) पात्र से सत्य (आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म)का मुख ढँका हुआ है । हे पूषन्! मुझ सत्यान्वेषण करने वाले के लिए (आत्मावलोकन के इच्छुक के लिए) उसे (उस आवरण को) अपावृत करें- हटा दें ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं
कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥ १६ ॥

हे पूषन् (जगत्पोषक)!, हे एकाकी गमन करने वाले!, हे यम (नियन्त्रण करने वाले)!, हे सूर्य (सर्वप्रेरक)!, हे प्राजापत्य (सृजनशील)! आप अपनी किरणों (चकाचौंध) को हटा लें, आपका जो अतिशय कल्याणकारी स्वरूप है, उसे मैं देख रहा हूँ (उसका ध्यान कर रहा हूँ) । यह जो पुरुष (आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म) है, वही मैं हूँ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर॥ १७ ॥

यह जीवन (अस्तित्व) वायु-अग्नि आदि (पंचभूतों) तथा अमृत (सनातन आत्मचेतना) के संयोग से बना है । शरीर तो अन्ततः भस्म हो जाने वाला है । (इसलिए) हे संकल्प कर्ता ! तुम परमात्मा का स्मरण करो, अपनी सामर्थ्य का स्मरण करो और जो कर्म कर चुके हो, उसका पुनः - पुनः स्मरण करो ॥ १७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १८ ॥

हे अग्ने (यज्ञ प्रभु) ! आप हमें श्रेष्ठ मार्ग से ऐश्वर्य की ओर ले चलें हे विश्व के अधिष्ठातादेव ! आप कर्म मार्गों के श्रेष्ठ ज्ञाता हैं । हमें कुटिल पाप कर्मों से बचाएँ । हम पुनः- पुनः (भूयिष्ठ) नमन करते हुए आप से विनय करते हैं ॥ १८ ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं .... इति शान्तिः

॥ इति ईशावास्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ एकाक्षरोपनिषद् ॥

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ऋषि एक ही अक्षर (अविनाशी) परमात्मा को अन्तरिक्ष में प्रवाहित सोम, सुषुम्रा में संचरित प्राण तथा पूरे विश्व में संचरित जीवन तत्त्व के रूप में अनुभव करते हैं। उन्हें ही विघ्ननाशक अरिष्टनेमि से लेकर कुमार कार्तिकेय के रूप में सक्रिय देखते हैं। उसी परमात्म तत्त्व को इन्द्र, रुद्र, सूर्य आदि की विशेषताओं के रूप में तीनों गुणों, चारों वेदों तथा चराचर जगत् में संव्याप्त देखते हुए, साधकों को उसी एक मात्र अविनाशी की उपासना द्वारा अविद्याजन्य भ्रमों का उच्छेदन करके जीवन मुक्त-ज्योति स्वरूप हो जाने का उपदेश दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद्)

एकाक्षरं त्वक्षरेऽत्रास्ति सोमे सुषुम्रायां चेह दृढी स एकः।
त्वं विश्वभूर्भूतपतिः पुराणः पर्जन्य एको भुवनस्य गोप्ता॥ १॥

हे भगवन्! आप अक्षर (अर्थात् शाश्वत), सोम, परब्रह्म के रूप में तथा सुषुम्ना (मार्ग से सहस्रार चक्र) में अपनी सत्ता सहित प्रतिष्ठित एक ही अविनाशी तत्त्व एकाक्षर में स्थित रहते हैं। आप ही विश्व के कारणरूप, प्राणिमात्र के स्वामी, पुराण पुरुष एवं सभी रूपों में विद्यमान हैं। (आप ही) पर्जन्य (वर्षा आदि) के द्वारा सभी लोकों की रक्षा करने वाले हैं॥ १॥

विश्वे निमग्नपदवीः कवीनां त्वं जातवेदो भुवनस्य नाथः।
अजातमग्रे स हिरण्यरेता यज्ञस्त्वमेवैकविभुः पुराणः॥ २॥

(हे सर्वशक्तिमान्!) आप ही समस्त विश्व -वसुधा के कण-कण में जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान हैं। आप कवियों (मन्त्रद्रष्टा ऋषियों) के आश्रयभूत हैं, समस्त लोकों की रक्षा करने वाले हैं। आप ही हिरण्यरेता (अग्नि) रूप और यज्ञ रूप भी हैं। आप ही एक मात्र विराट् एवं पूर्ण पुरुष हैं॥ २॥

[सृष्टि के संकल्प का बीज जब ब्रह्म के तेजस् में पकता है, तब उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं तथा जब परब्रह्म संकल्प-बीज का आधान करता है, तो उसे हिरण्यरेता कहते हैं।]

प्राणः प्रसूतिर्भुवनस्य योनिर्व्याप्तं त्वया एकपदेन विश्वम्।
त्वं विश्वभूर्योनिपारः स्वगर्भे कुमार एको विशिखः सुधन्वा॥ ३॥

जिस प्रकार माला के प्रत्येक दाने (मनके) में सूत्र (धागा) रहता है, उसी प्रकार आप ही प्रमुख (सूत्र) रूप से समस्त विश्व में प्राण रूप में संव्याप्त एवं उसके उत्पत्ति के कारण स्वरूप हैं। आपने ही समस्त विश्व को एक पग से माप लिया है, अतः आप ही इस विश्व संरचना के उत्पत्ति स्थल भी हैं। आप ही प्राण रूप में सर्वत्र व्याप्त (विष्णु की तरह) संसार के रक्षक रूप तथा श्रेष्ठ धनुष को धारण करने वाले कुमार (कार्तिकेय) स्वरूप हैं॥ ३॥

वितत्य बाणं तरुणार्कवर्णं व्योमान्तरे भासि हिरण्यगर्भः।

भासा त्वया व्योम्नि कृतः सुताक्ष्यर्स्त्वं वै कुमारस्त्वमरिष्टनेमिः॥ ४॥

हे परमात्मन्! आप ही मध्याह्नकालीन सूर्य के तेज की भाँति बाण को अपनी ओर आकृष्ट करके, माया द्वारा रचित इन समस्त प्राणियों के हृदयरूप आकाश में प्रकाशमान हिरण्यगर्भ रूप हैं। आपके ही दिव्य प्रकाश से भगवान् भास्कर आकाश में प्रकाशित होते हैं। आप ही देवताओं के सेनापति 'कार्तिकेय' के रूप में प्रतिष्ठित हैं और गरुड़ की तरह सभी अरिष्टों (विघ्नों) का भली-भाँति नियमन करने वाले हैं॥ ४॥

त्वं वज्रभृद्भूतपतिस्त्वमेव कामः प्रजानां निहितोऽसि सोमे।

स्वाहा स्वधा यच्च वषट् करोति रुद्रः पशूनां गुहया निमग्नः॥ ५॥

(हे परमात्मन् !) आप ही वज्र को धारण करने वाले इन्द्र के रूप में तथा (भवरोग नाशक) रुद्र रूप में समस्त प्रजाओं के स्वामी हैं। आप ही अभीष्ट फलदायी पितरों के रूप में चन्द्रलोक में स्थित हैं तथा देवों एवं पितरों की तृप्ति हेतु सम्पन्न होने वाले यज्ञ और श्राद्ध अर्थात् स्वाहा, स्वधा एवं वषट्कार रूप हैं। आप ही समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हैं॥ ५॥

धाता विधाता पवनः सुपर्णो विष्णुर्वराहो रजनी रहश्च।

भूतं भविष्यत्प्रभवः क्रियाश्च कालः क्रमस्त्वं परमाक्षरं च ॥ ६॥

(हे भगवन्!) आप ही (प्राण रूप में) धाता (धारण करने वाले) तथा (सृष्टि-संरचना के रूप में) विधाता, पवन, गरुड़, विष्णु, वाराह, रात एवं दिन हैं। आप ही भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान भी हैं। सभी क्रियाएँ, कालगति और परमाक्षर (अर्थात् परम अविनाशी तत्त्व ॐकार) रूप में आप ही विद्यमान हैं॥ ६॥

ऋचो यजूंषि प्रसवन्ति वक्त्रात्सामानि सम्राड्वसुरन्तरिक्षम्।

त्वं यज्ञनेता हुतभुग्विभुश्च रुद्रास्तथा दैत्यगणा वसुश्च॥ ७॥

जिसके मुख से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आदि उत्पन्न (प्रकट) होते हैं, वे आप ही हैं। आप ही सम्राट् (राजा अथवा सर्वत्र प्रकाशित) वसु, अन्तरिक्ष, यज्ञीय प्रक्रिया सम्पन्न करने वाले, यज्ञीय भाग ग्रहण करने वाले एवं सर्वशक्तिमान् हैं। आप ही एकादश रुद्र, (दिति की सन्तान) दैत्यरूप एवं सर्वत्र व्याप्त होने वाले (वसुरूप) हैं॥ ७॥

स एष देवोऽम्बरगश्च चक्रे अन्येऽभ्यधिष्ठेत तमो निरुन्ध्यः।

हिरण्मयं यस्य विभाति सर्वं व्योमान्तरे रश्मिमिमंसुनाभिः॥ ८॥

(हे परमात्मन्!) विभिन्न रूपों वाले आप ही सूर्य मण्डल में विद्यमान तथा अन्यत्र (अन्य स्थान एवं जीव के हृदय में स्थित) अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हुए प्रतिष्ठित हैं। जिस विराट् स्वरूप के हृदयरूपी आकाश में 'ब्रह्माण्ड गर्भिणी' (ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण करने वाली) 'सुनाभि'(श्रेष्ठ नाभि-केन्द्र या माया) स्थित है, वह भी आप ही हैं। सूर्यादि (ग्रह-नक्षत्रों) में जो प्रकाशमान रश्मियाँ हैं, वे आपकी ही प्रकाश किरणें हैं॥ ८॥

स सर्ववेत्ता भुवनस्य गोप्ता नाभिः प्रजानां निहिता जनानाम्।

प्रोता त्वमोता विचितिः क्रमाणां प्रजापतिश्छन्दमयो विगर्भः॥ ९॥

वही (विराट्-ब्रह्म) सब कुछ जानने वाला, समस्त भुवनों का रक्षक एवं समस्त प्राणि-समुदाय का आधार स्वरूप नाभि (केन्द्र) है। अन्तर्यामी रूप में आप ही सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। आप ही विविध प्रकार की गतियों के विश्रान्ति रूप हैं। आप की विष्णु के गर्भ (कमलनाल) में प्रजापति के रूप में स्थित हैं एवं वेद (छन्द) भी आप ही हैं॥ ९॥

सामैश्छिदन्तो विरजश्च बाहुं हिरण्मयं वेदविदां वरिष्ठम्।
यमध्वरे ब्रह्मविदः स्तुवन्ति सामैर्यजुर्भिः क्रतुभिस्त्वमेव ॥ १०॥

वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ज्ञानीजन रजोगुण से परे, स्वर्ण कान्ति वाले (विराट् पुरुष) के अन्त को साम आदि वेदों से भी नहीं जान पाते। ब्रह्मवेत्ताजन यज्ञों में यजुर्वेद के मन्त्रों से तथा सामवेदी जन साम मन्त्रों से जिसकी स्तुति करते हैं, वे आप ही हैं॥ १०॥

त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च कुमार एकस्त्वं वै कुमारी ह्यथ भूस्त्वमेव।
त्वमेव धाता वरुणश्च राजा त्वं वत्सरोऽग्न्यर्यम एव सर्वम्॥ ११॥

(हे परमात्मन्!) आप अकेले ही स्त्री, पुरुष, कुमार एवं कुमारी हैं। आप ही पृथिवी हैं। आप ही धाता, वरुण, सम्राट्, संवत्सर, अग्नि और अर्यमा (सूर्य) हैं। आप ही सब कुछ हैं॥ ११॥

मित्रः सुपर्णश्चन्द्र इन्द्रो वरुणो रुद्रस्त्वष्टा विष्णुः सविता गोपतिस्त्वम्।
त्वं विष्णुर्भूतानि तु त्रासि दैत्यांस्त्वयावृतं जगदुद्भवगर्भः॥ १२॥

(हे परम पुरुष!) सूर्य, गरुड़, चन्द्र, वरुण, रुद्र, प्रजापति, विष्णु, सविता, गोपति (इन्द्रियों या गौओं के स्वामी) जो कि वागादि इन्द्रियों के स्वामी कहे जाते हैं, वे आप ही हैं। आप ही विष्णु बन कर समस्त मानव जाति को दैत्यों के भय से त्राण दिलाने वाले हैं। आप ही जगत् के जनक भूगर्भरूप हैं। आपके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आवृत है॥ १२॥

त्वं भूर्भुवः स्वस्त्वं हि स्वयंभूरथ विश्वतोमुखः।
य एवं नित्यं वेदयते गुहाशयं प्रभुं पुराणं सर्वभूतं हिरण्मयम्।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान्बुद्धिमतीत्य तिष्ठतीत्युपनिषत् ॥ १३॥

आप ही स्वयम्भू (स्वयं प्रकट होने वाले) एवं विश्वतोमुख (सर्वत्र मुख वाले) हैं। आप ही भूः, भुवः, स्वः आदि (लोकों) में प्रतिष्ठित हैं। जो भी मनुष्य अपने गुहारूप हृदय क्षेत्र में स्थित पुराण पुरुषोत्तम आदिपुरुष को 'प्राणस्वरूप' एवं 'प्रकाश स्वरूप' जानता है। वह (पुरुष) ब्रह्मज्ञानियों की परमगति को , अज्ञानग्रस्त भ्रम बुद्धि का अतिक्रमण करके प्राप्त कर लेता है। यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ १३॥

॥ शान्तिपाठः॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः॥

॥ इति एकाक्षरोपनिषत्समाप्ता॥

॥ ऐतरेयोपनिषद्✪ ॥

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक के दूसरे आरण्यक के चौथे, पाँचवें एवं छठवें अध्याय ब्रह्मविद्या प्रधान हैं, अस्तु, इन्हें ऐतरेयोपनिषद् की मान्यता दी गयी है। प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं तथा शेष (दूसरे, तीसरे) अध्यायों में एक-एक खण्ड ही हैं।

प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में परमात्मा द्वारा सृष्टि रचना का संकल्प तथा लोकों- लोकपालों की रचना का प्रसंग है। हिरण्यगर्भ से विराट् पुरुष एवं उसकी इन्द्रियों से देवताओं की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। दूसरे खण्ड में देवताओं के लिए आवास रूप मनुष्य शरीर तथा क्षुधा-पिपासा की शान्ति हेतु अन्नादि की रचना का प्रसंग है। तीसरे खण्ड में प्राणों द्वारा अन्न को ग्रहण करने के उपाख्यान के साथ स्वयं परमात्मा द्वारा मूर्धा मार्ग से प्रवेश करने का प्रकरण दिया गया है। व्यक्ति रूप में उत्पन्न पुरुष की जिज्ञासा और परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार से उसके कृतकृत्य होने का भी उल्लेख है। दूसरे अध्याय में ऋषि वामदेव द्वारा जीवन चक्र का अनुभव प्राप्त करने का वर्णन है। माता के गर्भ में जीव प्रवेश उसका प्रथम जन्म, बालक रूप में बाहर आना द्वितीय जन्म तथा मरणोत्तर योनियों में जाना तीसरा जन्म कहा गया है। तीसरे अध्याय में उपास्य कौन है, यह प्रश्न खड़ा करके प्रज्ञान रूप परमात्मा को ही उपास्य सिद्ध किया गया है। उसे प्राप्त करके काया त्याग के बाद परमधाम अमरपद प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

इस उपनिषद् में ब्रह्म से लोकों, लोकपालों सहित मानवी सृष्टि, उसके विकास तथा मोक्ष सहित विराट् जीवन चक्र का उल्लेख है। ऋषि ने हर चरण को स्पष्ट एवं सरल ढंग से व्यक्त किया है। आवश्यकतानुसार अव्यक्त भावों को पाद टिप्पणियों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है-

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ १॥

सृष्टि के आरम्भ में एक मात्र आत्मा (परमात्म तत्त्व) ही था, उसके अतिरिक्त और कुछ भी सचेष्ट न था। (तब) उस (परमात्मा) ने विचार किया कि 'मैं लोकों का सृजन करूँ' ॥ १॥

✪ अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित दशोपनिषद् (१९३५) संग्रह के ऐतरेयोपनिषद् में प्रारम्भिक तीन अध्याय और प्रकाशित हैं, जिनका समावेश अन्य किसी उपनिषत्संग्रह में न होने से यहाँ भी नहीं ग्रहण किया गया है।

[मंत्र में 'नान्यत् किंचन मिषत्' वाक्य है, मिषत् शब्द पलक हिलाने के भाव में भी प्रयुक्त होता है, जो सबसे कम प्रयास में होने वाली दृश्य चेष्टा है। इसलिए पद का भाव यही लेना उचित है कि अन्य कुछ भी नहीं था तथा जो था वह किंचित् भी सचेष्ट नहीं था। पहली चेष्टा उस ब्रह्म के संकल्प के रूप में ही हुई।]

स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः॥ २॥

उस (परमात्मा) ने अम्भ, मरीचि, मर और आपः लोकों की रचना की। द्युलोक से परे और स्वर्ग की प्रतिष्ठा वाले लोकों को अम्भ अन्तरिक्ष (प्रकाश लोक) को मरीचि, पृथिवीलोक को मर्त्यलोक और पृथिवी के नीचे (परे) आपः लोक है॥ २॥

[यहाँ लोकों के नाम और उनकी स्थितियाँ विचारणीय हैं। पृथ्वी को 'मर' मृत्युलोक कहा ही जाता है। अन्तरिक्ष मरीचि अर्थात् प्रकाश किरणों से युक्त लोक मान्य है। मरीचि का अर्थ शब्द कल्पद्रुम के अनुसार पापों, क्षुद्र जीवों या तमस् को मारने वाला कहा गया है। अन्तरिक्ष में ऐसे तेजस्वी मारक प्रवाह होने की पुष्टि वर्तमान विज्ञान भी करता है। अम्भ=अम् (प्राण) तथा भः (भरणकर्ता) से बना है। द्युलोक से परे यह अव्यक्त रूप से सूक्ष्म प्राण का भरण करने वाला लोक है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा के रूप में द्युलोक है। पृथ्वी के नीचे आपः लोक का भाव अनेक आचार्यों ने माना है। जो अधिक उचित प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतः ऋग्वेद ने आपः को सृष्टि के मूल क्रियाशील प्रवाह के रूप में व्यक्त किया है। आपः सृष्टि का आधारभूत द्रव्य है, इसलिए ऋषि ने उसे 'या अधस्तात् ता आपः' जो आधाररूप है वह आपः है, ऐसा कहा है। वही हिरण्यगर्भ रूप है, जिसे वेद ने 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां' (पृथ्वी और द्युलोक का आधार वही है) कहा है। आपः जल को भी कहते हैं; किन्तु वह अर्थ लेने से मंत्र का भाव सिद्ध नहीं होता। अस्तु, आपः को वेद की अवधारणा के आधार पर ही स्वीकार करना उचित है। इसे 'ताः' स्त्रीलिंग बहुवचन का संबोधन दिया गया है। इसी आपः तत्त्व के गर्भ में ब्रह्म का संकल्प बीज रूप में पककर विश्वरूप बनता है, यह गुण मातृसत्ता का होने से आपः को 'देवी आपः' या 'ताः आपः' कहना उचित है। इस उपनिषद् में भी अगले मंत्रों में आपः का उत्पादक प्रयोग बार-बार परिलक्षित होता है।]

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्॥

(लोकों का निर्माण करने के बाद) उसने विचार किया कि लोकों का निर्माण तो हो गया, अब मुझे लोकपालों की भी रचना करनी चाहिए। ऐसा चिन्तन करके उसने आपः (तरल प्रवाह) में से ही एक पुरुष को समुद्धृत करके (निकालकर) उसे मूर्त्तिमान् बनाया॥ ३॥

[पुरुष संबोधन सृजनात्मक पुरुषार्थ करने में समर्थ के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रह्म ने उस मूल प्रवाह में से विराट् पुरुष को मूर्तरूप दिया अर्थात् विराट् संरचना की सामर्थ्य को जाग्रत् किया। ऋषि ने उसे 'अद्भ्य एव समुद्धृत्य' कहा है। अद्भ्यः का सीधा अर्थ जल होता है; किन्तु यहाँ भी उसका प्रयोग (आपः) विश्व सृजनशील प्रवाह ही है।]

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४॥

उस विराट् पुरुष को देखकर ईश्वर ने सङ्कल्पपूर्वक तप किया। उस तप के प्रभाव से (उस हिरण्यगर्भ स्वरूप) पुरुष के शरीर से सर्वप्रथम अण्डे की तरह एक मुख छिद्र प्रकट हुआ। मुख से वाक् इन्द्रिय और

वाक् से अग्नि प्रकट हुई। (तदुपरान्त) नाक के छिद्र प्रकट हुए। नाक के छिद्रों से प्राण और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। (फिर) नेत्र उत्पन्न हुए। नेत्रों से चक्षु (अर्थात् देखने की शक्ति) और चक्षु से आदित्य प्रकट हुआ। (तत्पश्चात्) कान प्रकट हुए, कानों से श्रोत्र (श्रवण की शक्ति) और श्रोत्रों से दिशाओं का प्रादुर्भाव हुआ। (फिर) त्वचा प्रकट हुई, त्वचा से रोम और रोमों से वनस्पति रूप ओषधियों का प्राकट्य हुआ। (इसके अनन्तर) हृदय, हृदय से मन, मन से चन्द्रमा उदित हुआ। तदुपरान्त नाभि, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु प्रादुर्भूत हुई। (फिर) जननेन्द्रिय, जननेन्द्रिय से वीर्य और वीर्य से आप: (जल या सृजनशीलता) की उत्पत्ति हुई॥ ४॥

[यहाँ वीर्य से पुन: 'आप:' की उत्पत्ति कही गयी है। यह बड़ा वैज्ञानिक-मार्मिक कथन है। आप: सृष्टि कर्त्ता आधारभूत प्रवाह है। वीर्य में ही पुन: सृष्टि करने में समर्थ 'बीज' तैयार होता है। वीर्य उस सूक्ष्म आप: प्रवाह के चक्र को पुन: प्रयुक्त करने में सक्षम है-ऐसा ऋषि का अनुभव है। उसी आप: तत्त्व में चेतना पुन: रूप ग्रहण करने लगती है।]

॥ द्वितीय: खण्ड: ॥

ता एता देवता: सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं न: प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति॥ १॥

परमेश्वर द्वारा रचे गये वे (अग्नि आदि) देवता इस (पूर्व वर्णित विश्व नियामक) महासमर में आ गिरे। उन्हें उन परमात्मा ने क्षुधा-पिपासा से युक्त कर दिया, तब उन देवों ने परमेश्वर से याचना की कि हमारे लिए कोई आश्रय स्थल विनिर्मित कीजिए (शरीरों का निर्माण कीजिए), जिससे हम अपना-अपना आहार ग्रहण कर सकें॥ १॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति॥ २॥

(देवताओं द्वारा ऐसा कहने पर) ईश्वर ने उनके लिए गो शरीर का निर्माण किया। उन्होंने कहा यह हमारे लिए पर्याप्त (उपयुक्त) नहीं है, तब ईश्वर ने अश्व शरीर बनाया। उसे देखकर वे बोले- यह भी हमारे लिए पर्याप्त नहीं है॥ २॥

ताभ्य: पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति॥ ३॥

तब परमेश्वर ने उनके लिए मनुष्य शरीर की रचना करके उन्हें (देवताओं को) दिखाया, तब वे सभी देवगण बोले बस यह बहुत सुन्दर रचना है। सचमुच ही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। परमेश्वर ने उन देवताओं से कहा (इस मानव शरीर में) आप लोग अपने-अपने आयतन अर्थात् आश्रय स्थलों में प्रवेश करें॥ ३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायु: प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिश: श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥ ४॥

(परमात्मा की आज्ञा पाकर) अग्निदेव वाणी का रूप धारण कर मुख में प्रविष्ट हुए, वायुदेव प्राण बनकर नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट हुए, सूर्यदेव चक्षु बनकर नेत्रों के गोलकों में प्रविष्ट हुए, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कर्ण छिद्रों में प्रविष्ट हुईं, वनस्पतियाँ रोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रदेव मन बनकर हृदयक्षेत्र में प्रविष्ट हुए, मृत्युदेव अपान बनकर नाभि प्रदेश में प्रविष्ट हुए और आपः देवता वीर्य बनकर उपस्थ क्षेत्र में प्रविष्ट हुए ॥ ४ ॥

[यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि देवता विराट् पुरुष के जिन अंगों से जिस माध्यम से प्रकट हुए थे, उसी क्रम से उन्होंने मनुष्य के उन्हीं अंगों में स्थान बनाया।]

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

(तब) क्षुधा और पिपासा ने परमेश्वर से कहा- (आपने सब देवताओं को तो स्थान दे दिया) हमारे लिए भी आश्रय स्थल की व्यवस्था करें। परमेश्वर ने कहा - मैं तुम दोनों को इन देवताओं में ही भाग प्रदान करता हूँ। जिस किसी देवता को कोई आहार (हवि) प्रदान किया जायेगा। उसमें तुम दोनों का भी हिस्सा होगा, (तभी से इन्द्रियों द्वारा आहार ग्रहण करने पर भूख और प्यास को भी परितृप्ति मिलती है।) ॥ ५ ॥

[ऋषि स्पष्ट करते हैं कि भूख-प्यास का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है, वे विभिन्न अंग-अवयवों में संव्याप्त देवशक्तियों के साथ संयुक्त हैं। शरीर विज्ञान के वर्तमान शोध-निष्कर्ष भी यही कहते हैं। भूख-प्यास शरीर के प्रत्येक कोश में होती है। जब तक पेट में अन्न-जल का भण्डार होता है, तब तक भूख-प्यास की अनुभूति नहीं होती। रोग की स्थिति में 'ड्रिप' द्वारा जल एवं पोषण पहुँचाने से भूख-प्यास शान्त हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि भूख- प्यास प्रत्येक जीवित कोश के साथ संयुक्त है।]

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

इसके अनन्तर परमात्मा ने विचार किया कि समस्त लोकों और लोकपालों की सृष्टि तो सम्पन्न हो चुकी, अब इनके लिए अन्न की भी रचना करनी चाहिए ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥

फिर परमेश्वर ने अप् प्रवाह को अभितप्त किया। उस तपाये हुए (अमूर्त अप्) से जो मूर्त स्वरूप बना, वह मूर्त रूप ही वस्तुतः अन्न है ॥ २ ॥

[ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस नयी सृष्टि में भी 'अप्' प्रवाह को ही तप्त अथवा परिपक्व किया गया।]

तदेतत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत् तद्वाचा जिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

उस सृष्ट (रचे हुए) अन्न ने उन (लोकपालों) की ओर से परे (पराङ्मुख होकर) भागने की चेष्टा की, तब उस पुरुष ने उसे (अन्न को) वाणी के द्वारा ग्रहण करना चाहा; किन्तु वह उसे वाणी द्वारा ग्रहण करने में असमर्थ रहा। यदि वह.पूर्ण पुरुष अन्न को वाणी से ग्रहण कर लेता, तो अब (इस समय या इस युग में) भी मनुष्य वाणी से अन्न को बोलकर ही तृप्ति प्राप्त कर लिया करते ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ४॥

इसके पश्चात् उसने अन्न को प्राण द्वारा पकड़ने की चेष्टा की, पर वह इसमें भी सफल न हो सका। यदि वह इसे प्राण से ग्रहण कर लेता, तो इस युग में भी पुरुष प्राण-प्रक्रिया से ही सूँघकर अन्न ग्रहण करके परितृप्त हो जाया करते॥ ४॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ५॥

फिर उस पुरुष ने नेत्रों द्वारा अन्न ग्रहण करने अर्थात् देखकर ही अन्न की शक्ति ग्रहण करने की चेष्टा की; किन्तु ऐसा भी सम्भव न हो सका। यदि वह (पूर्ण पुरुष) उसे नेत्रों से ग्रहण कर सकता, तो अब भी मनुष्य अन्न को देखने मात्र से ही तृप्त हो जाया करते॥ ५॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ६॥

तदुपरान्त उस पुरुष ने उस अन्न को श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया; किन्तु वह उसमें भी सफल न हो सका। यदि वह (पूर्ण पुरुष) उसे कानों द्वारा ग्रहण कर सका होता, तो अब भी लोग इसे कानों द्वारा ग्रहण कर सकते (अर्थात् अन्न के विषय में सुनकर ही तृप्त हो जाते)॥ ६॥

तत्त्वचाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ७॥

तब उस पुरुष ने इस (अन्न) को त्वचा द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की; किन्तु उसे इसमें भी सफलता न मिली। यदि वह उस समय त्वचा द्वारा अन्न को पकड़ने अर्थात् ग्रहण करने में सफल हो गया होता,तो अब भी लोग इसे छू लेने मात्र से ही परितृप्त हो जाते॥ ७॥

तन्मनसाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ८॥

तदनन्तर उस पुरुष ने उसको मन द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा की; लेकिन उसे इसमें भी सफलता नहीं मिली। यदि वह इसको मन द्वारा ग्रहण कर पाता, तो अब भी मनुष्य अन्न के चिन्तन मात्र से तृप्ति अनुभव करते॥ ८॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ९॥

इसके बाद उस पुरुष ने अन्न को शिश्न द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया; किन्तु इसके द्वारा भी वह उसे ग्रहण करने में समर्थ न हो सका। यदि वह उस समय उसे शिश्न द्वारा ग्रहण कर पाया होता, तो आज भी मनुष्य अन्न का विसर्जन करके ही तृप्त हो जाया करते॥ ९॥

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः॥ १०॥

उसके बाद उस (पुरुष) ने अपान वायु के द्वारा (मुँह से होकर) इसे (अन्न को) ग्रहण करने की चेष्टा की, अपान वायु के द्वारा उसने अन्न को ग्रहण कर लिया। अपान वायु ही अन्न को ग्रहण करने में समर्थ है। जो अन्न के द्वारा जीवन की रक्षा करने में समर्थ है, वह यही वायु है॥ १०॥

[शंकराचार्य जी ने अपान का अर्थ मुख छिद्र किया है। वाचस्पत्यम् में अपान को प्राण का धारक कहा गया है। आयुर्वेद में पाचन, मल उत्सर्जन आदि कर्म अपान द्वारा ही सम्पन्न होना माना गया है। अत: वही अन्न का धारक है। अन्न के माध्यम से आयुष्य बढ़ाने वाला यही वायु अन्नायु कहा जाता है।]

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति॥ ११ ॥

उस परमात्मा ने विचार किया कि यदि इस पुरुष ने वाणी से बोलने का प्रयोजन पूरा कर लिया, यदि प्राण (वायु) से सूँघ लिया, यदि नेत्रों से देख लिया, यदि कानों से सुन लिया, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया, यदि मन से सोच लिया, यदि अपान से आहार ग्रहण कर लिया और उपस्थ से विसर्जन कृत्य पूर्ण कर लिया, तो मैं (उसके लिए) कौन रहा? (मेरे बिना ये कैसे रह पायेगा?) मैं किधर से प्रविष्ट होऊँ?॥ ११ ॥

[समस्त व्यवस्था बन जाने पर भी आत्मा के रूप में परमात्मा के अंश की स्थापना के बगैर व्यक्ति का अस्तित्व नहीं बनता। 'कोऽहम्' (फिर मैं कौन हूँ ?) का उत्तर 'सोऽहम् इति' (मैं वही आत्म तत्त्व हूँ) यह तथ्य इस प्रकरण से सिद्ध होता है।]

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति॥ १२ ॥

वह परमात्मा मानव शरीर की सीमा मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) को विदीर्ण करके (चीरकर) उसमें प्रविष्ट हो गया। विदीर्ण करके जाने के कारण इस द्वार को 'विदृति' नाम से जाना जाता है। यह विदृति नामक द्वार आनन्दप्रद अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है। उस परमेश्वर के तीन आश्रयस्थल और तीन स्वप्न हैं। उसका यही आवास स्थल है। यही आवासस्थल है, यही आवासस्थल है॥ १२ ॥

['यही वह स्थल है', यह बात तीन बार कही गयी है। बात पर बल देने के लिए 'त्रिवाचा' कहने की परम्परा है, अर्थात् यह देह निश्चित रूप से उस परमात्मा का आवास है। अन्य भाव यह है कि शरीर में तीन स्वचालित तंत्र, तीन ग्रंथियों में आत्मा का सीधा नियंत्रण कहा जा सकता है, वे हैं-मस्तिष्क में सहस्रार (रैटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम), हृदय (पेस मेकर) तथा नाभि ग्रंथि (पाचन-प्रजनन चक्र) अथवा शरीर, ब्रह्माण्ड और परम व्योम इन तीन स्थानों को उसके स्थान तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण स्वरूपों को अथवा सृजन, पालन, परिवर्तन को उसके तीन स्वप्न कहा जा सकता है।]

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति।
स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती३॥ १३॥

मानव शरीर में प्रकट उस पुरुष ने भूतों (सृष्टि) को चारों ओर से देखा और यह कहा कि मेरे अतिरिक्त यहाँ दूसरा कौन है? मैंने इसे भली-भाँति देखकर यह बोध प्राप्त कर लिया है कि यह परम पुरुष परब्रह्म ही है॥ १३॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र।
इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥ १४॥

मानुष देह में उत्पन्न हुए उस पुरुष ने परब्रह्म परमेश्वर का पूर्व वर्णित रीति से साक्षात्कार कर लिया; इसलिए उसका मैंने दर्शन कर लिया, इस व्युत्पत्ति के आधार पर ही उस का नाम इदन्द्र है। परन्तु लोग उसे 'इन्द्र' कहकर ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं, देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं॥ १४॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म॥ १ ॥

सर्वप्रथम यह जीव पुरुष के शरीर में गर्भरूप से विराजमान रहता है। पुरुष के शरीर में स्थित जो वीर्य है, वह पुरुष के समस्त अङ्गों से समुत्पन्न तेज है। पहले पुरुष आत्मस्थ तेज को अपने ही अन्दर पोषित करता है, तदुपरान्त जब वह इस वीर्यरूप तेज का स्त्री में सिञ्चन करके गर्भरूप में स्थित रहता है, यह इसका (जीव का) प्रथम जन्म है॥ १ ॥

[वर्तमान प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) भी वीर्य में गुण-सूत्रों (क्रोमोजोम्स) तथा जीन्स (जीवाणुओं) में व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं का समावेश मानता है। पुरुष के गर्भ में पुरुष का परिपाक यह उपनिषद् की अपनी दृष्टि है। पदार्थ विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं, ऋषि उसमें चेतना का संकल्पयुक्त तंत्र देखते हैं।]

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति॥ २ ॥

जिस प्रकार स्त्री के अपने ही शरीर के अङ्ग होते हैं, उसी प्रकार पुरुष द्वारा सिञ्चित वह वीर्य भी स्त्री से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। अस्तु, वह स्त्री को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता। वह स्त्री अपने उदर में स्थापित पति के (वीर्यरूप) आत्मा का पोषण करती है॥ २ ॥

[सृष्टि के आदि में विराट् पुरुष और प्रकृति संयोग जैसा ही यह संयोग होता है।]

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म॥ ३ ॥

वह पालनकर्त्री स्त्री पालनीया (अपने पति द्वारा पालन करने योग्य) होती है। गर्भवती स्त्री प्रसव से पूर्व गर्भस्थ जीव का पालन करती है और वह पुरुष (पिता) प्रसवोपरान्त सर्वप्रथम (जातकर्म आदि संस्कार से) उस शिशु को सुसंस्कृत करता है। वह जन्मोपरान्त शिशु को इस प्रकार संस्कारित करके , उसकी उन्नति करके वास्तव में अपनी ही उन्नति करता है; क्योंकि इसी प्रकार लोक (चौदहों भुवन) प्रवृद्ध होते हैं। यही इस (जीव) का द्वितीय जन्म है॥ ३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म॥ ४ ॥

इस आत्मा (पिता) का यह पुत्रस्वरूप आत्मा पुण्यों के लिए (पिता के) प्रतिनिधि रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। तदुपरान्त यह जीव (पितारूप) वयोवृद्ध होकर अपने लौकिक कर्त्तव्यों को पूरा करके इस लोक से प्रस्थान कर जाता है। इसके पश्चात् उसका पुनर्जन्म होता है। यह इस जीव का तृतीय जन्म है॥ ४ ॥

तदुक्तमृषिणा- गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच॥ ५ ॥

यही बात ऋषि (वामदेव) ने इन शब्दों में कही है मैंने गर्भ की स्थिति में ही (अन्त:करण, इन्द्रियादि) देवताओं के जन्मों का रहस्य भली-भाँति जान लिया है। मैं सैकड़ों लौहयुक्त (लोहे की तरह कठोर) पिंजड़ों में आबद्ध था। अब मुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः मैं बाज़ पक्षी के समान (उन पिंजड़ों को भेदकर) बाहर आ गया हूँ। इस प्रकार गर्भ में शयन करते हुए ऋषि वामदेव ने यह तथ्य प्रकट किया था॥ ५॥

[पदार्थ विज्ञानी पदार्थों की प्रयोगशाला में प्रवेश करके प्रयोगों द्वारा अनुसंधान करते हैं। चेतना विज्ञान के विज्ञानी ऋषिगण चेतना की प्रयोगशालाओं में संकल्पपूर्वक प्रवेश करके अनुसंधान करते थे। वे परम व्योम तक अपनी चेतना ले जाकर वेद के रहस्य प्रकट कर सकते थे और प्रकृति के सूक्ष्म घटकों में प्रवेश करके उनकी विशेषताओं का साक्षात्कार कर लेते थे। ऋषि वामदेव ने अपनी आत्म चेतना को इसी अनुसंधान के लिए संकल्पपूर्वक गर्भरूप में स्थापित किया तथा पूर्ण जागरूक रहकर चेतना के रहस्यों का अध्ययन किया, यही बात यहाँ स्पष्ट की गयी है।]

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे
लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत्॥ ६॥

वे ऋषि वामदेव यह ज्ञान (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करके इस शरीर के विनष्ट होने के पश्चात् (इस लोक से) उत्क्रमण कर (ऊर्ध्वगमन कर) स्वर्ग में समस्त सुखों का उपभोग करते हुए अमृतत्व को प्राप्त हो गये (अमर हो गये) ॥ ६॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति॥ १॥

जिस आत्मा की हम उपासना-अर्चना करते हैं, वह कौन है ? जिसके द्वारा प्राणी देखता है, जिसके द्वारा श्रवण करता है, जिसके द्वारा गन्धों को सूँघता है, जिसके माध्यम से वाक् शक्ति का विश्लेषण करता है और जिसके द्वारा स्वादु-अस्वादु का ज्ञान प्राप्त करता है, वह आत्मा कौन सा है ?॥ १॥

यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति॥ २॥

जो यह हृदय है, वही मन भी है। संज्ञान (सम्यक् ज्ञान), आज्ञान (आदेश देने की शक्ति), विज्ञान (विविध रूपों से जानने की शक्ति), प्रज्ञान (तुरन्त जान लेने की शक्ति), मेधा (धारणाशक्ति), दृष्टि , धृति (धैर्य), बुद्धि, मनीषा (मनन करने की शक्ति), जूति (वेग), स्मृति, संकल्पशक्ति, मनोरथ शक्ति, भोगशक्ति, प्राणशक्ति ये सभी शक्तियाँ परमात्म सत्ता की ही बोधक हैं॥ २॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

यह (प्रज्ञान स्वरूप आत्मा ही) ब्रह्म, इन्द्र और प्रजा का अधिपति है। यही समस्त देवगण तथा पृथिवी, वायु, अग्नि, आकाश और जल - पञ्च महाभूत हैं। यही इतर प्राणी तथा उनके कारणरूप बीज और अण्डज, स्वेदज, उद्‌भिज्ज, जरायुज प्राणी तथा गौ, अश्व, मनुष्य, पक्षी और हाथी सहित यह समस्त जड़-जङ्गम जगत् प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान में ही समाहित हैं। उस प्रज्ञान में ही समस्त लोक आश्रित हैं, प्रज्ञा ही उनका विलय स्थल है। अस्तु, प्रज्ञान को ही ब्रह्म कहा गया है॥ ३॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ इत्योम्॥ ४॥

जो परमेश्वर को इस प्रकार जान लेता है, वह इहलोक से ऊर्ध्वगमन कर स्वर्ग में जाकर समस्त दिव्य भोगों को प्राप्त करता है और अन्ततः वह ज्ञानी अमरपद को प्राप्त करता है॥ ४॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता......इति शान्तिः ॥

॥ इति ऐतरेयोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ कठोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत है। इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक में तीन-तीन वल्लियाँ हैं, जिनमें वाजश्रवा के पुत्र नचिकेता और यम के बीच हुए संवाद का सुप्रसिद्ध उपाख्यान है। वाजश्रवा ने यज्ञ की दक्षिणा में निरर्थक वस्तुओं का दान करके दान की चिह्न-पूजा करनी चाही। उनके पुत्र नचिकेता ने पिता को यथार्थ बोध कराने के लिए बार-बार पूछा कि आप मुझे किसको प्रदान करेंगे? पिता ने खीजकर उन्हें यम को दान करने की बात कही।

नचिकेता यम से मिलते हैं, उन्हें प्रभावित कर लेते हैं। यम उनसे तीन वरदान माँगने को कहते हैं। वे पहले वरदान में पिता की प्रसन्नता तथा अनुकूलता तथा दूसरे वर में स्वर्ग प्रदायिनी अग्निविद्या माँगते हैं। यम उन्हें दोनों वर प्रदान करते हैं। तीसरे वर में नचिकेता आत्मविद्या जानना चाहते हैं। यम उन्हें प्रलोभन देकर विचलित करना चाहते हैं; किन्तु नचिकेता अविचलित बने रहते हैं। इतना प्रकरण प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में है। द्वितीय, तृतीय वल्ली में यमदेव आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विविध पक्ष समझाते हैं। दूसरे अध्याय में परमेश्वर की प्राप्ति में बाधाएँ, उनके निवारण, हृदय प्रदेश में उनकी स्थिति का वर्णन है। परमात्मा की सर्वव्यापकता संसाररूपी अश्वत्थ का विवेचन, योग साधना तथा ईश्वर विश्वास एवं मोक्षादि का वर्णन है। अन्त में ब्रह्मविद्या के प्रभाव से नचिकेता को ब्रह्म प्राप्ति होने का उल्लेख है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमा वल्ली ॥

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥ १ ॥

(यह कथा प्रसिद्ध है कि) यज्ञफल की इच्छा रखने वाले वाजश्रवा ऋषि के पुत्र वाजश्रवस (उद्दालक) ने (विश्वजित् यज्ञ में) अपने सम्पूर्ण धनादि पदार्थों का दान कर दिया। उनका नचिकेता नाम का एक पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽ मन्यत॥ २ ॥

जिस समय (ऋत्विजों द्वारा) दक्षिणा में प्राप्त (जराजीर्ण) गौएँ ले जायी जा रही थीं, उन्हें देखकर अल्प वयस्क नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का संचार हुआ। उसने विचार किया ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्॥ ३ ॥

जो गौएँ जल पी चुकीं, घास खा चुकीं, जिनका दूध दुहा जा चुका और जो इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर प्रजनन-सामर्थ्य से रहित हैं (जो वृद्धावस्था से जीर्ण और निरर्थक हो चुकी हैं), उन गौओं का दान करने से मेरे पिता (वाजश्रवस) निश्चित ही सुखों से रहित नरकादि लोकों को प्राप्त करेंगे॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।

द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥ ४॥

ऐसा विचार करके नचिकेता ने अपने पिता से कहा-हे तात! आप मुझे किसको दान स्वरूप देंगे? यही प्रश्न उसने दो-तीन बार पूछा। तब पिता ने क्रोधित होकर कहा-मैं तुझे मृत्यु (यम) को देता हूँ॥ ४॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः। किꣳस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५॥

(पिता द्वारा ऐसा कहे जाने पर पुत्र नचिकेता ने विचार किया कि) अनेक शिष्यों तथा पुत्रों में मुझे प्रथम अर्थात् उत्तम स्थान प्राप्त है और बहुतों के बीच मैं मध्यम श्रेणी का हूँ। मुझे पिताजी द्वारा यमराज को दिया जा रहा है । यम का ऐसा कौन सा कार्य है, जो मेरे द्वारा सम्पन्न हो सकता है? ॥ ५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥ ६॥

क्रोध में अनर्थमूलक वचन कहे जाने से व्यथित हो रहे अपने पिता से नचिकेता ने कहा - हे तात! आपके पिता - पितामहादि पूर्वजों ने जैसा आचरण किया है, उस पर विचार करें तथा वर्तमान काल के दूसरे श्रेष्ठ सदाचारी जैसा आचरण करते हैं, उस पर भी दृष्टिपात करें। मरणधर्मा मनुष्य फसल की भाँति (समय पर) पकता (जर्जर होकर मृत्यु को प्राप्त होता) है और पुनः (काल क्रमानुसार) उत्पन्न होता है ॥ ६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।

तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ ७॥

(पुत्र के वचन से सहमत होकर पिता ने नचिकेता को यम के पास भेज दिया । वे बाहर गये थे, नचिकेता प्रतीक्षारत रहे । लौटने पर यम की पत्नी ने उनसे कहा-) वैश्वानर अग्नि ही ब्राह्मण अतिथि रूप में घरों में प्रवेश करते हैं। सम्भ्रान्त जन उनका अर्घ्य-पाद्यादि द्वारा सत्कार करते हैं। अतः (अर्घ्य हेतु) जल प्रदान करें ॥ ७॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।

एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥ ८॥

जिनके घर में ब्राह्मण-अतिथि भोजन किये बिना निवास करता है, उस मन्दबुद्धि पुरुष की आशा (अज्ञात इष्टार्थ की प्राप्ति अभिलाषा), प्रतीक्षा (निश्चित इष्टार्थ की प्राप्ति प्रतीक्षा) को, उनके संयोग से उपलब्ध होने वाले फल को, कूपादि निर्माणजन्य फल को तथा समस्त पुत्र और पशु आदि को (आतिथ्य सत्कार से रहित) अतिथि नष्ट कर देता है ॥ ८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽ नश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽ स्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व॥ ९॥

(यम का कथन) हे ब्रह्मन्! आप सम्माननीय अतिथि हैं, अतः आपको नमन है। मेरा कल्याण हो । हमारे घर पर (आपने) जो तीन रात तक बिना भोजन किये ही निवास किया है, इसके फलस्वरूप एक-एक रात्रि के लिए आप हमसे तीन वर माँग लें॥ ९॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ १०॥

(नचिकेता ने कहा) हे यमराज! मेरे पिता गौतम पुत्र उद्दालक, मेरे प्रति शान्त संकल्प वाले, प्रसन्न मन वाले तथा क्रोध रहित हो जाएँ। आपके द्वारा वापस घर भेजे जाने पर मुझे (मेरे पिता) पहचानकर मेरे साथ पूर्ववत् प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, (आपके द्वारा प्रदत्त) तीन वरदानों में से यह प्रथम वर माँगता हूँ॥ १०॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखꣳरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११॥

(हे नचिकेता!) आपको मृत्यु के मुख से मुक्त देखकर हमारे द्वारा प्रेरित अरुणपुत्र उद्दालक पूर्ववत् ही पहचान लेंगे। (यह हमारा पुत्र नचिकेता है ऐसा मानते हुए) वे दुःख और क्रोध से रहित होकर शेष रात्रियों में सुखपूर्वक शयन करेंगे॥ ११॥

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १२॥

नचिकेता बोले- हे मृत्युदेव! स्वर्ग लोक भयकारक नहीं है। वहाँ मृत्युरूप आपका भी भय नहीं रहता, न वहाँ वृद्धावस्था (संसार की भाँति) डराती है । स्वर्गलोक में मनुष्य भूख-प्यास को पारकर, शोक से निवृत्त होकर आनन्द प्राप्त करते हैं॥ १२॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳश्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥ १३॥

हे यमराज! आप स्वर्ग के साधनभूत अग्निविद्या को भली-भाँति जानते हैं। अतः मुझ श्रद्धालु को वह अग्निविद्या भली प्रकार समझाएँ, जिसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त हुए पुरुष अमरत्व को प्राप्त करते हैं। इस अग्नि विद्या को (मैं) द्वितीय वर के रूप में माँगता हूँ॥ १३॥

[सूत्र है 'श्रद्धया सत्यमाप्यते'-श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है । जैसे आँख से दृश्य तथा कान से शब्द ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही सत्य को श्रद्धा द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है । इसलिए नचिकेता ने अपनी श्रद्धा का हवाला देकर विद्यादान माँगा।]

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्॥ १४॥

नचिकेता के इस प्रकार कहने पर मृत्युदेव ने कहा - हे नचिकेता! स्वर्ग प्रदायिनी अग्निविद्या को विधिपूर्वक जानने वाला मैं उसे विस्तारपूर्वक कहता हूँ, तुम उस विद्या को मुझसे भली प्रकार(एकाग्र मन से)समझ लो। अनन्त लोक (स्वर्ग लोक) को प्राप्त कराने वाली, संसार की आधार स्वरूपा इस (अग्नि)विद्या को गुहा में स्थित समझो॥ १४॥

[गुहा में रखी वस्तु 'गुह्य' अर्थात् बहुत कठिनाई से प्राप्त होने वाली होती है । अन्तःकरण को भी गुहा कहा गया है । स्वर्ग प्रदायिनी अग्नि विद्या के अन्तःकरण में स्थित होने का संकेत यमाचार्य ने किया है । जिस प्रकार काष्ठ में लौकिक अग्नि समाहित रहती है , उसी प्रकार अन्तःकरण में स्वर्ग प्रदायिनी ऊर्जा सन्निहित रहती है।]

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥ १५॥

तदनन्तर यमाचार्य ने लोकों की आदिकारण भूत अग्नि विद्या को नचिकेता के समक्ष कहा। जिस प्रकार की, जितनी इष्टकाओं (ईंटों या इकाइयों) का जिस प्रकार चयन किया जाना है, उसकी सम्पूर्ण

विधि को समझाया। नचिकेता ने भी जैसा उनसे कहा गया था, ठीक उसी प्रकार यमदेव के समक्ष पुनः सुना दिया। तब (नचिकेता की ग्राह्य क्षमता से) संतुष्ट होकर यमदेव ने फिर कहा ॥ १५ ॥

[वेद में 'इष्टका' शब्द स्थूल ईंटों के अतिरिक्त 'इष्ट' वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त सूक्ष्म इकाइयों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ स्थूल ईंटों के स्थान पर अग्नि की सूक्ष्म इकाइयों का भाव ही ग्राह्य है । लौकिक अग्नि में भी विभिन्न इकाइयाँ शामिल होती हैं। इनमें ताप (कैलोरी), प्रकाश (ल्यूमेन) तथा रंग (कलर स्पेक्ट्रम) आदि सबको पता है । स्थूल अग्नि के अनेक अन्य गुण भी उसकी इकाइयाँ कहे जा सकते हैं। यहाँ स्वर्ग प्रदायिनी दिव्य अग्नि की इकाइयों तथा उनके चयन की बात कही गयी है। गुहा अन्तःकरण में स्थित ऊर्जा की इकाइयाँ बीज रूप में स्थित दिव्य प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। उन्हीं के जागरण एवं संयोजन से व्यक्ति, विद्वान्, कलाकार, वैज्ञानिक आदि स्तरों तक पहुँच जाता है। यमदेव ने नचिकेता को स्वर्ग तक पहुँचाने वाली दिव्य अग्नि-ऊर्जा के लिए आवश्यक सूक्ष्म इकाइयों तथा उनके संयोजन का रहस्य बतलाया है ।]

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृंकां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

महात्मा यमाचार्य ने प्रसन्न होकर नचिकेता से कहा- आज (माँगे गये तीन वरों के अतिरिक्त) एक वर और भी देता हूँ। मेरे द्वारा कही गयी यह अग्नि विद्या अब तुम्हारे नाम से ही प्रख्यात होगी। तुम इस अनेक रूपों वाली शब्दरूपिणी (ज्ञान तत्त्वमयी) माला को स्वीकार करो ॥ १६ ॥

[नचिकेता का अर्थ होता है 'न चिकेतते विचेष्टते' अर्थात् जो प्रपंच से अलिप्त है। अलिप्त व्यक्ति ही दिव्य अनुशासन को धारण कर सकता है । विषयों में लिप्त व्यक्ति अपनी प्रतिभा या शक्तियों को सांसारिक कामनाओं के लिए ही लगाता रहता है , दिव्य अनुशासन पालन में लगाने के लिए उन्हें सुरक्षित नहीं रख पाता। नचिकेता ने पिता की लौकिक आकांक्षाओं या चतुराइयों से अलिप्त रहकर स्वयं को उच्च आदर्शों के प्रति समर्पित किया, इसी आधार पर उसे 'यम' के निकट पहुँचने तथा उनके अनुदान पाने का लाभ मिल सका। यम दिव्य अनुशासन के देवता हैं। ऋग्वेद १०.१३५ में उन्होंने प्रश्न किया है कि नचिकेता किस रथ (कैरियर) के माध्यम से यहाँ पहुँचा ? प्रपंच से अलिप्त रहकर दिव्य अनुशासन के लिए समर्पण की वृत्ति ही वह आधार है, जिससे नचिकेता को दिव्य अग्नि विद्या प्राप्त हुई। इसलिए उस विद्या को 'नाचिकेताग्नि' (लिप्त न होने वाले की विद्या) नाम दिया जाना ही उचित है ।]

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाः शान्तिमत्यन्तमेति॥ १७॥

त्रिविध 'नाचिकेत' विद्या का ज्ञाता तीन संधियों को प्राप्त होकर, तीन कर्म सम्पन्न करके जन्म -मृत्यु से पार हो जाता है । वह ब्रह्म यज्ञरूप स्तुत्य देव का साक्षात्कार करके निश्चित रूप से अत्यंत (परम) शान्ति को प्राप्त करता है॥ १७ ॥

[नाचिकेत विद्या को त्रिविध कहा गया है, आचार्यों ने इसे प्राप्ति, अध्ययन तथा अनुष्ठान तीन विधियों से युक्त कहा है । साधक को इन तीनों के साथ आत्म चेतना की संधि करनी पड़ती है अथवा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों को इस विद्या से अनुप्राणित करना पड़ता है। इस प्रक्रिया को त्रिसंधि प्राप्ति कहा जा सकता है । कुछ आचार्यों ने माता-पिता एवं गुरु से युक्त होने को त्रिसंधि कहा है । तीन कर्म सृजन, पालन, समाहरण अथवा यज्ञीय संदर्भ में देव पूजन, संगतिकरण एवं दान कहे जाते हैं। इन सबको दिव्याग्नि विद्या के अनुरूप ढालते हुए साधक जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाता है ।]

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १८॥

जो त्रिणाचिकेत विद्या के ज्ञाता इस अग्नि के इन तीनों स्वरूपों को जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन करते हैं, वे शरीर त्याग से पूर्व ही मृत्यु के पाशों को काटकर स्वर्ग लोक का आनन्द प्राप्त करते हैं ॥१८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥ १९॥

हे नचिकेता! यह स्वर्ग प्रदान करने वाली अग्नि विद्या है, तुमने द्वितीय वर के द्वारा जिसका वरण किया है । मनुष्य (आज से) इस अग्नि को तुम्हारे ही नाम से जानेंगे और प्रयोग करेंगे। हे नचिकेता! (अब तुम स्वअभिलषित) तीसरे वर को माँग लो ॥ १९॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २०॥

(नचिकेता ने कहा-) मनुष्य के मृत हो जाने पर आत्मा का अस्तित्व रहता है, ऐसा ज्ञानियों का कथन है और अन्य कुछ की मान्यता यह है कि मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व नहीं रहता । आपके उपदेश से मैं इस संदेह से मुक्त होकर आत्म-रहस्य को भली प्रकार जान सकूँ। वरों में यही मेरा तीसरा वर है ॥ २०॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ २१॥

(यम ने कहा-) हे नचिकेता ! पूर्व काल में देवताओं ने भी इस आत्मा के विषय में संशय किया था । निश्चित ही यह आत्मतत्त्व नामक धर्म (विषय) सरलतापूर्वक जानने योग्य नहीं है । हे नचिकेता! तुम मुझसे कोई अन्य वर माँग लो, इस वर से हमें मुक्त कर दो ॥ २१॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥ २२॥

(नचिकेता ने कहा-) हे मृत्युदेव ! इस आत्मतत्त्व के विषय में देवताओं को भी संशय हुआ था। आपका भी यही कथन है कि यह विषय सहजता से जानने योग्य नहीं है । विद्वज्जनों के लिए भी अगम्य होने से इसे जाना नहीं जा सकता, अतः इस आत्मज्ञान का उपदेष्टा भी आपके समान दूसरा (मुझे) नहीं मिल सकता तथा न इसके समकक्ष दूसरा कोई वर ही है (जो मैं आप से माँग लूँ) ॥ २२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ २३॥

(यमाचार्य उसे प्रलोभित करते हुए बोले-) हे नचिकेता ! तुम सौ वर्ष पर्यन्त जीवन धारण करने वाले पुत्र और पौत्रों को, बहुत से (गौ आदि) पशुओं को तथा हाथी, स्वर्ण और अश्वों को (हमसे) माँग लो । पृथ्वी के बड़े विस्तार वाले साम्राज्य की माँग कर लो । स्वयं भी जितने वर्षों तक जीवनयापन की आकांक्षा हो, जीवित बने रहो ॥ २३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ २४॥

इस वर की तरह यदि कोई अन्य वर तुम्हारी दृष्टि में हो, तो उसे माँग लो । धन-सम्पदा तथा अनन्त काल के निमित्त उपयोगी सुख-साधनों (चिरस्थायी आजीविका) को माँग लो । हे नचिकेता ! तुम इस

विस्तृत भूमण्डल पर वृद्धि प्राप्त करो, हम तुमको कामनाओं (भोगों) का इच्छानुकूल उपभोग करने वाला बना देते हैं ॥ २४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाः श्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥ २५॥

हे नचिकेता ! मर्त्यलोक में जो-जो भोग्य पदार्थ दुर्लभ हैं, उन सभी को तुम स्वेच्छा पूर्वक माँग लो। रथ और (कर्ण प्रिय) वाद्य विशेषों से युक्त इन स्वर्ग की अप्सराओं को प्राप्त कर लो, मनुष्यों द्वारा इस प्रकार की स्त्रियाँ प्राप्त करना सम्भव नहीं है । हमारे द्वारा प्रदत्त इन रमणियों से आप अपनी सेवा-शुश्रूषा कराएँ; किन्तु हे नचिकेता ! मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या होता है ? यह हमसे न पूछें ॥ २५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ २६॥

(नचिकेता ने कहा) हे यमराज! जिन साधनों का आपने वर्णन किया है, वे 'कल रहेंगे भी या नहीं', इसमें पूरा संदेह है । साथ ही ये मनुष्य की इन्द्रिय-सामर्थ्य को भी क्षीण कर डालते हैं । जिसे आप दीर्घ जीवन के रूप में हमें देना चाहते हैं, वह सम्पूर्ण जीवन भी (भोगों के लिए) कम ही है। (अतः) रथादि वाहन एवं (अप्सराओं के) नाच-गान आपके ही पास रहें अर्थात् मुझे इनकी कोई कामना नहीं ॥ २६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७॥

मनुष्य को धन से संतुष्ट नहीं किया जा सकता । जहाँ हमें आपके दुर्लभ दर्शन-लाभ की प्राप्ति हो गई, वहाँ धन तो हम (अपने पुरुषार्थ से) उपलब्ध कर ही लेंगे। जब तक आप यमपुरी का शासन करते रहेंगे, तब तक हम जीवित ही रहेंगे, पर हमारा प्रार्थनीय वर तो वह आत्मज्ञान से सम्बन्धित ही है॥ २७॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यःक्वधःस्थःप्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥ २८॥

हे यमराज ! वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होने वाला ऐसा कौन विवेकशील मनुष्य होगा, जो आप जैसे जरा-मरण रहित देवताओं के दुर्लभ सान्निध्य को प्राप्त करके भी अप्सराओं के सौन्दर्य, प्रेम तथा आमोद-प्रमोदजन्य क्षणभंगुर सुखों की अभिलाषा करेगा ? ॥ २८॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥ २९॥

हे मृत्युदेव! जिस आत्मतत्त्व के विषय में देवता भी सन्देह करते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं है, उसके विषय में आपका जो भी सुनिश्चित मन्तव्य हो, उसे हमें बताएँ । यह जो अत्यन्त गूढ़ तथा मेरे हृदय पटल पर स्थित वर है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी वर की नचिकेता को कामना नहीं॥ २९॥

[नचिकेता- अलिप्त व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति ही इस प्रकार के प्रलोभनों को नकार सकता है । इसी आत्म-निष्ठा के आधार पर वह आत्मतत्त्व की प्राप्ति का अधिकारी बनता है ।]

॥ द्वितीया वल्ली ॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ १॥

यमराज ने नचिकेता से कहा- श्रेय (कल्याण) का मार्ग और प्रेय (सांसारिक भोग्य पदार्थों) का मार्ग दोनों पृथक्-पृथक् हैं । भिन्न-भिन्न परिणाम देने वाले दोनों श्रेय और प्रेय मार्ग मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं । उन दोनों में से श्रेय (कल्याण) मार्ग को स्वीकार करने वाले साधकों को श्रेष्ठ फल प्राप्त होते हैं और जो सांसारिक भोगों से युक्त प्रेय मार्ग के पथिक हैं, वे मानव जीवन के महान् उद्देश्य से भटककर पतन-पराभव को प्राप्त करते हैं ॥ १॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥ २॥

श्रेय और प्रेय दोनों ही मार्ग मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं । बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनों को भली प्रकार विचार कर उन्हें पृथक्-पृथक् रूप से जान लेते हैं । विवेकशील साधक निश्चित रूप से प्रिय लगने वाले भोग-साधनों की अपेक्षा कल्याण पथ को श्रेयस्कर मानकर उसे ही वरण करते हैं । मन्दमति अविवेकीजन योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु के संरक्षण) की अभिलाषा से बाह्याकर्षणों के वशीभूत होकर प्रेय-पथ को ही स्वीकार करते हैं ॥ २॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥ ३॥

हे नचिकेता! सांसारिक भोग-विलास के नश्वर साधनों को तुमने विचारपूर्वक त्याग दिया है। भौतिक जगत् के जिन मायावी प्रलोभनों में अज्ञानी पुरुष जकड़े रहते हैं, तुम उन बन्धनों में नहीं पड़े ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽ लोलुपन्त॥ ४॥

जो (श्रेय और प्रेय मार्ग) विद्या और अविद्या के रूप में जाने गये हैं, वे दोनों परस्पर बिल्कुल विपरीत और भिन्न-भिन्न फल देने वाले हैं । हे नचिकेता ! तुमको हम श्रेय (आध्यात्मिक) मार्ग का साधक मानते हैं, क्योंकि तुम्हें (चकाचौंध पैदा करने वाले) भोग-विलास के साधनों ने प्रलोभित नहीं किया ॥ ४॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ५॥

अविद्या-अज्ञानान्धकार के मध्य में स्थित होते हुए भी स्वयं को विद्वानों और विशेषज्ञों की श्रेणी का मानने वाले मूढ़जन, अनेक प्रकार के कुटिल मार्गों का सहारा लेते हुए (ठीक उसी प्रकार) ठोकरें खाते फिरते हैं, जैसे अन्धों के द्वारा ले जाये जाने वाले अन्धे ॥ ५॥

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ ६॥

धन के व्यामोह से जकड़े हुए विवेकहीन, प्रमादी मनुष्य के अन्तरंग में पारलौकिक विचारधारा का अभ्युदय नहीं होता; क्योंकि वह जीवन के अस्तित्व को प्रत्यक्षवाद पर ही आधारित मानता है । आध्यात्मिक जीवन के अस्तित्व को नकारने वाले शरीराभिमानी मनुष्य, बार बार जन्म-मरण के बन्धन में घूमता हुआ हमारे (यमराज के) वशीभूत होकर रहता है ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ ७॥

जन साधारण को आत्म-तत्त्वज्ञान के संबंध में जानने का सुअवसर तक नहीं मिलता, अगर संयोग से ऐसा अवसर मिला भी, तो अधिकांश ज्ञान-प्रकाश के अभाव में अपने जीवन को तदनुरूप ढालने में सक्षम नहीं होते । उस तत्त्वज्ञान का भली प्रकार प्रतिपादन करने वाले भी अतिदुर्लभ ही हैं । उस ज्ञान को ग्रहण करने वाला भी कोई कुशल जिज्ञासु ही सुपात्र होता है । विशेषज्ञ आचार्य द्वारा तत्त्वज्ञान से अनुप्राणित तत्त्ववेत्ता भी अति दुर्लभ ही होता है ॥ ७॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥ ८॥

अनधिकारी मनुष्य (जिसने इसका भली प्रकार साक्षात्कार नहीं किया) द्वारा कहा गया यह आत्मतत्त्व सहजता से जानने योग्य नहीं। किसी तत्त्ववेत्ता आचार्य द्वारा न समझाये जाने पर भी इस सम्बन्ध में कोई प्रगति नहीं हो पाती। यह विषय बड़ा गूढ़ है, अतएव वह तर्क-वितर्क के दायरे में सीमाबद्ध नहीं है ॥ ८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ ९॥

हे प्रिय नचिकेता! श्रेष्ठ आत्मज्ञान के निमित्त शुष्क तर्क-वितर्क की ऊहापोह से भिन्न आपकी बुद्धि प्रखर है, ऐसी मेधा शक्ति को तर्क द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । हे नचिकेता! आप सचमुच ही यथार्थ सत्य के अन्वेषक हैं, (हमारी अन्तरंग इच्छा यही है कि) आप जैसे जिज्ञासु शिष्य ही हमें प्राप्त हों ॥ ९॥

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥ १०॥

मैं जानता हूँ कि यह कर्मफलजन्य सम्पदा नाशवान् है, नश्वर साधनों के द्वारा उस नित्य (आत्मतत्त्व) को प्राप्त किया जाना शक्य नहीं । मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया है । उन्हीं अनित्य पदार्थों अथवा साधनों द्वारा मैंने अभिलषित नित्य आत्मतत्त्व (यम-पद) को प्राप्त किया है ॥ १०॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ ११॥

हे नचिकेता ! आपने भोग्य साधनों से भरपूर यज्ञ के चिरस्थायी फल से युक्त, असीम निर्भयता से युक्त, स्तुत्य और प्रशंसनीय प्रतिष्ठा से सम्पन्न स्वर्गलोक को धैर्यपूर्वक छोड़ दिया है। यह आपका अति बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय है ॥ ११॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

विशिष्ट तपः साधना द्वारा देखे जाने योग्य, सांसारिक विषय-वासनाओं से परे अत्यन्त गुप्त स्थान में स्थित, बुद्धिरूपी गुफा में निहित, गहन स्थल में विद्यमान अर्थात् अन्तःकरण में विराजमान सनातन उस दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा को अध्यात्मयोग के द्वारा जानकर बुद्धिमान् मनुष्य हर्ष और शोक से मुक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये॥ १३॥

हे नचिकेता! तुम्हारे जैसे साधक इस आत्मिक ज्ञान को सुनकर, इसे भली प्रकार ग्रहण कर तथा विवेकपूर्वक इस पर चिंतन करके धारण करने योग्य इस सूक्ष्म आत्मतत्त्व को समुचित रूप से जान लेते हैं। वे इस आनन्दस्वरूप आत्मा को पाकर चिरन्तन आनन्द में लीन हो जाते हैं । तुम्हारे निमित्त तो ब्रह्म प्राप्ति का द्वार सदैव खुला हुआ है, ऐसा मेरा मन्तव्य है ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ १४॥

(नचिकेता का कथन-) हे यमराज! जिस आत्मतत्त्व को आप यज्ञादि धर्मकृत्यों तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मों से पृथक् मानते हैं, जो कार्य-कारणरूप जगत् एवं भूत, भविष्यत् (तथा वर्तमानकाल) से भी भिन्न है, उसी परम आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में हमें बताएँ ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५॥

(यम ने कहा-) सभी वेद जिस ब्राह्मी स्थिति (परमपद) का बार-बार उल्लेख करते हैं । सभी तपः साधनाएँ जिस स्थिति का अनुभव कराती हैं, जिसे प्राप्त करने की अभिलाषा से साधकगण ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करते हैं । हे नचिकेता! मैं तुमसे उसी स्थिति का संक्षेप में वर्णन करता हूँ । "ॐ" ही वह परमपद है ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

यह ॐ ही अक्षर ब्रह्म है । यही ॐ परब्रह्म अर्थात् सर्वोत्तम है । इसी अक्षर को भली प्रकार जानकर जो साधक जिस अभीष्ट की कामना करते हैं, उन्हें उसकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ १७॥

यह प्रणव (ओङ्कार) ही आत्म साक्षात्कार का श्रेष्ठ अवलम्बन है । यही परमात्मा के ध्यान का आधार होने से सर्वश्रेष्ठ है। इस ब्रह्मप्राप्ति के आश्रय को जानकर साधकगण ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

यह नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो उत्पन्न होता है और न मृत्यु को ही प्राप्त होता है। यह आत्मा न तो किसी अन्य से उत्पन्न हुआ है और न इससे ही कोई उत्पन्न हुआ है । यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत

और क्षय तथा वृद्धि से रहित है । शरीर के नष्ट होने पर भी यह आत्मा विनष्ट नहीं होता ॥ १८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते॥ १९॥

यदि हनन करने वाला व्यक्ति अपने को मारने में सक्षम मानता है और हनन किया हुआ व्यक्ति स्वयं को मारा हुआ मानता है, तो वे दोनों ही (आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में) अनभिज्ञ हैं; क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को विनष्ट ही करता है और न किसी के द्वारा इसे मारा जाना शक्य है ॥ १९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥ २०॥

परमात्म चेतना इस जीवात्मा की हृदयरूपी गुफा में अणु से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी अति महान् रूप में विराजमान है। निष्काम कर्म करने वाले तथा शोकरहित कोई विरले साधक ही, परमात्मा की अनुकम्पा से ही उसे देख पाते हैं॥ २०॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ २१॥

एक स्थान पर विद्यमान होते हुए भी वह परम चेतना दूर चली जाती है और शयन करते हुए भी सभी जगह गमन करती है। हर्षयुक्त और हर्षरहित उस देव को मेरे अतिरिक्त अन्य कौन भली प्रकार जानने में सक्षम हो सकता है॥ २१॥

अशरीरꣳशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥

जो शरीरों में शरीररहित तथा स्थिर न रहने वालों (अनित्यों) के मध्य नित्यस्वरूप में स्थित है। उस महान् सर्वव्यापक आत्मतत्त्व को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातुर नहीं होते ॥ २२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥ २३॥

परमात्म तत्त्व को मात्र धर्मोपदेश सुनकर, स्तुति-वन्दना के रूप में उसकी चर्चा करके तथा शास्त्रों का अध्ययन करके नहीं जाना जा सकता। जिस पर उसकी कृपा होती है, वही उसे जान पाता है । वह परमात्मतत्त्व अधिकारी साधक के समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप को स्वयं ही अभिव्यक्त कर देता है॥

[जड़ पदार्थपरक ज्ञान सुनकर या पुस्तक से पढ़कर प्राप्त किया जा सकता है । आत्म तत्त्व परक ज्ञान-चेतन होता है. वह सत्पात्र का स्वयं वरण करता है। वह कैसे साधक का वरण करता है , यह तथ्य अगले मंत्र में स्पष्ट किया गया है ।]

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४॥

जो मनुष्य दुष्कर्मों के पाप से निवृत्त नहीं है, जिनकी इन्द्रियाँ स्वयं के नियन्त्रण में नहीं हैं तथा जिनके मन पूरी तरह से सांसारिकता से निवृत्त नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति प्रकृष्ट ज्ञानवान् होते हुए भी परिष्कृत जीवन के अभाव में इस आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होते॥ २४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ २५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी जिस परमात्मा का ओदन (अन्न-आहार) माने जाते हैं, स्वयं मृत्यु (काल) जिसका उपसेचन (शाकादि या जल की तरह आहार का सहयोगी) है, वह जहाँ भी है, जैसा है, उसे भला कौन जान सकता है ॥ २५॥

[इस मन्त्र में 'ब्रह्म एवं क्षत्र' सम्बोधन उपलक्षण रूप में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। ब्रह्म से सहज धर्मानुशासन अथवा विचार शक्ति का तथा क्षत्र से रक्षण या पुरुषार्थ की शक्ति का बोध होता है। इस प्रकार ये सम्बोधन जीव मात्र की विशेषताओं के प्रतीक सिद्ध होते हैं। वह परमात्म तत्त्व समय आने पर जीव मात्र को मृत्यु के संयोग से अपने अन्दर समाहित कर लेता है।]

॥ तृतीया वल्ली ॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १॥

(यम ने कहा-) ब्रह्मवेत्ताओं का ऐसा कथन है कि श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त मनुष्य शरीर में सर्वश्रेष्ठ स्थल अन्तःकरण रूपी गुहा में स्थित कर्मफल को भोगने वाले दो परस्पर भिन्न तत्त्व छाया और धूप के सदृश विद्यमान हैं। जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले और पञ्चाग्नि (गार्हपत्य, दक्षिण, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य) विद्या के साधक हैं, उनका भी ऐसा ही कथन है ॥ १॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥

जो श्रेष्ठ कर्मों के निष्पादक, साधकों को भवसागर से पार करने में समर्थ सेतु स्वरूप हैं, उस नाचिकेत अग्नि को हम भली प्रकार समझें। संसार रूप समुद्र से पार जाने के इच्छुक साधकों के लिए जो भयरहित सर्वश्रेष्ठ आश्रय (अवलम्बन) है, उस अक्षर ब्रह्म (नाशरहित परमात्मतत्त्व) को जानने में हम सक्षम हों ॥ २॥

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३

हे नचिकेता! आप आत्मतत्त्व को रथी (शरीररूपी वाहन का स्वामी), शरीर को रथ (वाहन), बुद्धि को रथ संचालक सारथि तथा मन को (इन्द्रियों रूपी अश्वों को वश में करने वाली) लगाम जानें॥ ३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

मनीषियों ने इन्द्रियों को अश्व की संज्ञा दी है तथा (रूप-रस-गन्धादि) विषयों को गोचर (इन्द्रियों रूपी अश्वों के विचरण करने का मार्ग) बतलाया है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को (सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला) भोक्ता बताया गया है॥ ४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५॥

जो सदा विवेकहीन बुद्धि वाला और अनियन्त्रित इन्द्रियों वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार उच्छृङ्खल हो जाती हैं, जिस प्रकार अविवेकी सारथि के दुष्ट अश्व॥ ५॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६॥

परन्तु जो विवेकशील बुद्धि वाले तथा नियन्त्रित मन वाले हैं, उनकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार नियन्त्रित रहती हैं, जिस प्रकार श्रेष्ठ सारथि के वश में अच्छे घोड़े॥ ६॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।

न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति॥ ७॥

जो अविवेकयुक्त बुद्धि वाला, निग्रहरहित मन वाला और सदैव अशुद्ध रहने वाला है,वह कभी परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता, वरन् बारम्बार संसार के जन्म-मरण-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ ८॥

किन्तु जो विवेक बुद्धि वाला, नियन्त्रित मन वाला और सदैव पवित्र रहने वाला है, वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता॥ ८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९॥

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धिरूप सारथि वाला और मन को संयत रखने वाला है, वह संसार सागर से पार होकर विष्णु भगवान् के परमपद को प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥

इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय अधिक श्रेष्ठ हैं, विषय से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी उत्कृष्ट यह महान् आत्मा है॥ १०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

जीवात्मा से (ईश्वर की) अव्यक्त शक्ति श्रेष्ठ है, अव्यक्त शक्ति से वह पुरुष (परमपुरुष परमेश्वर) श्रेष्ठ है, उस परम पुरुष से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। वह सबकी पराकाष्ठा और परमगति है ॥ ११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२॥

समस्त प्राणियों में छिपा हुआ यह आत्मतत्त्व प्रकाशित नहीं होता, वरन् सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले तत्त्वदर्शियों को सूक्ष्म बुद्धि से ही दिखाई देता है॥ १२॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

बुद्धिमान् (प्रज्ञावान्) व्यक्ति के लिए उचित है कि वह सर्वप्रथम वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लीन करे, मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में निरुद्ध करे, बुद्धि को महान् तत्त्व (आत्मा) में विलीन करे और उस आत्मा को परमपुरुष परमात्मा में नियोजित करे ॥ १३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४॥

(हे मनुष्यो!) जागो, उठकर खड़े होओ और श्रेष्ठ व ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान प्राप्त करके परमात्म तत्त्व को जानो। विद्वज्जन कहते हैं कि यह मार्ग उतना ही दुरूह है, जितना कि क्षुरे की धार पर चलना ॥ १४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ १५॥

वह परब्रह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है अर्थात् इन सबसे परे है । वह अविनाशी, अनादि और अनन्त है । वह आत्मा से भी उत्कृष्ट और ध्रुव (सत्यस्वरूप) है। उस परम तत्त्व को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥ १५॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम् ।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ १६॥

नचिकेता के प्रति यमराज द्वारा उपदिष्ट इस सनातन उपाख्यान को जो मेधावी पुरुष कहते और सुनते हैं, वे ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं ॥ १६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।

प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति॥ १७॥

इस परम गूढ़ रहस्य को जो व्यक्ति शुद्ध भावना से ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्ध काल में सुनाता है , वह व्यक्ति (इस पुण्य कार्य के प्रभाव से) अनन्त (पुरुषार्थ या फल या परमात्मा) की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है, निश्चित रूप से वह अनन्त को प्राप्त करता है ॥ १७॥

[यहाँ ''ब्रह्म संसद '' ब्रह्मोन्मुख होकर साधनारत व्यक्तियों अथवा वृत्तियों के समूह के लिए प्रयुक्त सम्बोधन माना जा सकता है । इसी प्रकार 'श्राद्ध काले' का भाव जब श्रद्धा का उभार होता है, ऐसे अवसर का संकेत करता है। ब्रह्मोन्मुखी तथा श्रद्धासिक्तों के बीच यह तथ्य प्रकट करना निश्चित रूप से अनन्त फलदायक हो सकता है। उक्त परिस्थितियाँ न हों, तो इस विद्या का उल्लेख केवल जानकारी बढ़ाने तक ही सीमित रह जाता है।]

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमा वल्ली ॥

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ १॥

स्वयंभू (परमात्मा) ने समस्त इन्द्रिय द्वार बहिर्मुख करके निर्मित किये हैं। इसलिए जीवात्मा बाह्य विषयों को ही देखता है- अन्तरात्मा को नहीं देखता। अमरत्व की आकांक्षा से जिसने अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों पर संयम कर लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही अन्तरात्मा (प्रत्यगात्मा) को देख सकता है॥ १॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥

बालबुद्धि व्यक्ति ही बाह्य भोगों का अनुगमन करते हैं। ऐसा करने वाले व्यक्ति मृत्यु के भयंकर पाश में फँसते हैं; किन्तु विवेकवान् पुरुष अमरता को अटल जानकर जगत् के अनित्य पदार्थों की कामना नहीं करते ॥ २॥

मंत्र क्र. ३ से १३ तक यमदेव ने 'एतद्वै तत्- यही है वह' कहा है। लगता है कि व्याख्या के साथ नचिकेता को उस तत्त्व की अनुभूति भी कराते जा रहे हैं तथा उस तथ्य को दिखाते हुए कहते हैं-यही है वह - रहस्य, विद्या, आत्मतत्त्व या परमात्म तत्त्व, जिसे तुम समझना चाहते हो-

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत्॥ ३॥

जिस अन्तश्चेतना के अनुग्रह से मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रिय सुखों का अनुभव करता है, उसी के अनुग्रह से यह भी जानता है कि यहाँ क्या अवशिष्ट रहता है ? यही (जो रह जाता है अथवा जानता है) वह (आत्मतत्त्व अथवा परमात्म तत्त्व) है ॥ ३॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ ४॥

जिस चेतना के द्वारा मनुष्य जाग्रत् और स्वप्न दोनों स्थितियों में दृश्यमान पदार्थों को देखता है, उस सर्वव्यापी और महान् सर्वात्मा को जानकर धीर (बुद्धिमान्) पुरुष किसी भी स्थिति में शोक नहीं करते॥ ४॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्॥ ५॥

जो पुरुष जीवन प्रदान करने वाले, कर्मफल प्रदान करने वाले और भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल में शासन करने वाले (आत्मतत्त्व) को अपने अत्यन्त समीप समझता है, वह उनके इस स्वरूप को कभी नहीं भूलता, न किसी की निन्दा करता है और न ही किसी से घृणा करता है। यही वह (परब्रह्म) है॥ ५॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यते, एतद्वै तत्॥ ६॥

जो अपने तप से जल आदि पञ्चमहाभूतों से भी पूर्व उत्पन्न हुए तथा सबकी हृदय गुहा में निवास करने वाले ब्रह्म को इसी (उपर्युक्त) रूप में देखता है, वह यथार्थ जानता है। यही वह 'ब्रह्म' है॥ ६॥

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत्॥ ७॥

देव क्षमता सम्पन्न अदिति (देवमाता अदिति या अखण्ड चेतना) जो सर्वप्रथम प्राणों (जीवनी शक्ति) सहित उत्पन्न होती है, वह सभी की हृदय गुहा में प्रविष्ट होकर वहीं निवास करती है। यही वह ब्रह्म है ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः,एतद्वै तत्॥ ८॥

जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियों द्वारा विधिवत् पोषित गर्भ धारण किया जाता है, उसी प्रकार जातवेदा अग्नि दो अरणियों के मध्य स्थित रहता है। वह प्रज्वलित होकर, हवन करने योग्य सामग्रियों से युक्त पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुत्य होता है। यही वह ब्रह्म है ॥ ८॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्॥ ९॥

जहाँ से सूर्यदेव उदित होते हैं और जहाँ तक जाते हैं अर्थात् अस्त होते हैं, वहाँ समस्त देव शक्तियाँ

विद्यमान हैं, उसे कोई भी लाँघने में समर्थ नहीं है। यही वह (परमेश्वर) है॥ ९॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ १०॥

जो सर्वप्रथम परमेश्वर को इहलोक और परलोक में अलग-अलग रूपों में देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् उसे बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में फँसना पड़ता है॥ १०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ ११॥

सत्य अथवा शुद्ध मन से ही परमात्मा का तत्त्व जाना जा सकता है। इस जगत् में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है; किन्तु जो व्यक्ति इसमें भिन्नता देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु का वरण करता है॥ ११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्॥ १२॥

जो परम पुरुष अङ्गुष्ठ परिमाण में प्राणी की देह के मध्य भाग में स्थित है, वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान का शासक है। उसे इस प्रकार जान लेने के बाद प्राणी न तो किसी की निन्दा करता है और न ही किसी से घृणा करता है। यही वह ब्रह्म है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः, एतद्वै तत्॥ १३॥

वह अङ्गुष्ठ परिमाण वाला परमात्मा धुएँ से रहित प्रखर ज्योति के समान है, जो सब पर शासन करता है। वह (नित्य सनातन) ब्रह्म जैसा कल था, वैसा ही आज भी (अपरिवर्तनीय) है। यही वह परब्रह्म है॥ १३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥ १४॥

जिस प्रकार वर्षा का जल ऊँचे शिखरों पर बरस कर पहाड़ के नीचे विभिन्न स्थलों में चला जाता है, उसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय वालों (अथवा विभिन्न स्वभाव वाले मनुष्यों-असुरों और देवों) को जो परमेश्वर से भिन्न देखता है, वह उन्हीं का अनुगमन करता है (अर्थात् उस बिखरे जल की तरह विभिन्न देव-असुर आदि के लोकों व योनियों में भटकता रहता है) ॥ १४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १५॥

हे गौतम (नचिकेता)! जिस प्रकार शुद्ध जल सिंचित होने पर (जहाँ जाता है) उसी रूप में बदल जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी (इस तथ्य को समझ लेने वाले) की आत्मा भी उसी प्रकार हो जाती है ॥ १५॥

[यमदेव शुद्ध जल के उदाहरण से आत्म तत्त्व को समझा रहे हैं। शुद्ध जल जिस किसी पात्र में जाता है, उसी रूप में ढल जाता है । पौधों में वह उनका रस, प्राणियों में उनका रक्त बन जाता है , उसे कोई विकार नहीं होता। ज्ञानी अपनी चेतना को पदार्थ आदि भोगों से अलिप्त रखता है, इसलिए वह शुद्ध जल की तरह किसी के भी साथ एकाकार हो सकता है । विभिन्न विषयों से लेकर देवशक्तियों तथा परमात्म तत्त्व के साथ वह एकरूप हो सकता है। नचिकेता उसी अलिप्त रहने की क्षमता से सम्पन्न साधक को कहा जाता है। उसको सत्पात्र समझ कर ही यमदेव यह विद्या उपलब्ध कराते हैं।]

॥ द्वितीया वल्ली ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते, एतद्वै तत्॥ १॥

चैतन्य और अज परब्रह्म का नगर ग्यारह द्वारों वाला है (दो नेत्र, दो कान, दो नाक के छिद्र, एक मुख, नाभि, गुदा, जननेन्द्रिय और ब्रह्मरन्ध्र शरीर के ये ग्यारह छिद्र ही ग्यारह द्वार हैं)। उस परमेश्वर का निष्ठापूर्वक ध्यान-अनुष्ठान करने वाला जीव कभी शोक नहीं करता और शरीर के स्थित रहते हुए ही कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। यही है वह (परब्रह्म)॥ १॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ २॥

वह हंस (जीवात्मा या परब्रह्म) प्रकाशित है, वही अन्तरिक्ष में स्थित वसु है, घरों में होने वाला अतिथि भी वही है। यज्ञवेदिका पर स्थित अग्नि और आहुति प्रदान करने वाला होता भी वही है। मनुष्यों में श्रेष्ठ देव, पितृ आदि रूपों में भी वही प्रतिष्ठित है। वही सत्य और आकाश में भी निवास करने वाला है। जल, पर्वतों, पृथ्वी, और सत्कर्मों में प्रकट होने वाला वही परम सत्य है॥ २॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ ३॥

जो ब्रह्म प्राण तत्त्व को ऊर्ध्वगामी करता है और अपान वायु को अधोगामी करता है, हृदय के मध्य स्थित उस वामन (भजन करने योग्य) की सभी देवगण उपासना करते हैं॥ ३॥

अस्य विस्रꣳसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत्॥ ४॥

शरीर में स्थित एक देह से दूसरे देह में गमन करने के स्वभाव वाला यह जीवात्मा जब एक शरीर को छोड़कर दूसरे में (मृत्यूपरान्त) चला जाता है, तब क्या शेष रहता है? यही वह ब्रह्म है॥ ४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ ५॥

हे गौतम! कोई भी मरणधर्मा प्राणी न प्राण की शक्ति से और न ही अपान की शक्ति से जीवित रहता है, वरन् उसे जीवन प्रदान करने वाला कोई अलग ही तत्त्व है। जिसके आश्रय में प्राण और अपान ये दोनों ही रहते हैं॥ ५॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ ६॥

(यमराज का कथन -) हे (गोतम वंशीय) नचिकेता! अब मैं तुम्हें उस नित्य सनातन परब्रह्म का रहस्य बतलाऊँगा तथा यह भी वर्णन करूँगा कि मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है अर्थात् वह कहाँ जाता है?॥ ६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ ७॥

अपने-अपने कर्म और शास्त्राध्ययन के अनुसार प्राप्त हुए भाव के कारण कुछ जीवात्मा तो शरीर धारण करने के लिए विभिन्न योनियों को प्राप्त करते हैं और अन्य (कितने ही अपने कर्मानुसार) स्थावरत्व को प्राप्त होते हैं (अर्थात् वृक्ष, लता, पर्वत आदि जड़ योनियों में जाते हैं)॥ ७॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्॥ ८॥

समस्त जीवों के कर्मानुसार उनके निमित्त भोगों का निर्माण और व्यवस्था करने वाला परम पुरुष परमात्मा सबके सो जाने पर भी जाग्रत् रहता है। वही विशुद्ध तत्त्व, परब्रह्म अविनाशी कहलाता है, जिसे कोई लाँघ नहीं सकता और समस्त लोक जिसका आश्रय ग्रहण किये रहते हैं। वही यह ब्रह्म है॥ ८॥

अब यम यह समझाते हैं कि परमात्मा की तरह अग्नि आदि तत्त्व भी अलिप्त रहकर ही विश्वरूप बन पाते हैं-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ ९॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर प्रत्येक आधारभूत वस्तु के अनुरूप हो जाता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में स्थित अन्तरात्मा (ब्रह्म) एक होने पर भी अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है। वही उनके बाहर भी है ॥ ९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ १०॥

जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट वायु एक होता हुआ भी प्रत्येक रूप के अनुसार (अर्थात् विभिन्न वस्तुओं के संयोग से) भिन्न-भिन्न शक्तियुक्त प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में विद्यमान परमात्मा एक होने पर भी विभिन्न रूप वाला प्रतीत होता है। वही उनके बाहर भी है॥ १०॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ ११॥

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का चक्षुरूप सूर्य प्राणियों के चक्षुओं से उत्पन्न होने वाले बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब भूतों (प्राणियों) में आत्मारूप से स्थित परमेश्वर-उन जीवों के दुःख - क्लेश आदि से लिप्त नहीं होता। सब भूतों के अन्तर में रहकर भी वह बाहर ही विराजमान है॥ ११॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

समस्त शरीरधारियों में (अन्तरात्मा के रूप में) निवास करने वाला तथा सबको वश में रखने वाला परब्रह्म एक होते हुए भी अनेक रूप धारण कर लेता है। जो विद्वान् सदैव अपने अन्तःस्थल में स्थित उस परब्रह्म के दर्शन करते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं ॥ १२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १३॥

जो समस्त चैतन्यों में चैतन्य और नित्यों में भी नित्य है, जो एकाकी होते हुए समस्त जीवों के कर्मानुसार उनका फल प्रदाता है, उस आत्मस्थ परमेश्वर का बुद्धिमान् जन निरन्तर दर्शन करते रहते हैं। ऐसे मेधावी पुरुष ही शाश्वत शान्ति प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं ॥ १३॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥ १४॥

उस अनिर्वचनीय आनन्द को ही विद्वज्जन ब्रह्म मानते हैं। उस परब्रह्म को किस तरह जाना जाय? क्या वह प्रत्यक्षतः प्रकट होता है अथवा अनुभव से जानने योग्य है?॥ १४॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १५॥

वहाँ (ब्रह्म के निकट) न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न तारागण और न विद्युत् ही प्रकाशित होती है, फिर यह (लौकिक) अग्नि किस तरह प्रकाशित हो सकती है? उसके (परब्रह्म के) प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते हैं। सम्पूर्ण जगत् उसके ही प्रकाश से प्रकाशित है॥ १५॥

॥ तृतीया वल्ली ॥

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्॥ १॥

जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है। वह विशुद्ध तत्त्व अविनाशी है, वही ब्रह्म है। समस्त लोक उसी का आश्रय ग्रहण करते हैं, उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता, यही वह ब्रह्म है॥१ ॥

[वृक्ष की जड़ों से एक जैसा ही रस संचरित होता है। पत्तियों, पुष्पों में वह वृक्ष के गुण के अनुसार रूपान्तरित हो जाता है। सृष्टि रूपी सनातन वृक्ष का मूल ऊपर अनन्ताकाश में है। वहाँ से संचरित रस सृष्टि के घटकों में पहुँच कर अनेक रूपों में प्रकट होता है।]

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।

महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २॥

यह सम्पूर्ण विश्व उस प्राणरूप ब्रह्म से ही निःसृत(प्रकट) होकर उसी में गतिशील है। जो इस महान् भयंकर प्रहारोद्यत वज्र की तरह ब्रह्म को जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं॥ २॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३॥

इन परब्रह्म के भय से अग्निदेव तपते हैं, इन्हीं के भय से सूर्यदेव तपते हैं, इन्हीं के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता दौड़ते हैं। (अर्थात् परब्रह्म की आज्ञानुसार ही सभी देवता अपने-अपने नियत कार्य सम्पन्न करते हैं)॥ ३॥

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥

शरीरान्त होने से पूर्व ही यदि (व्यक्ति) ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो (जीव) बन्धन से छूट जाता है। यदि नहीं प्राप्त कर पाया, तो (बारम्बार) विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है ॥ ४॥

[यहाँ ज्ञान का अर्थ स्थूल जानकारी मात्र नहीं है, उसे अनुभवगम्य बनाने की आवश्यकता है।]

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।

यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥ ५॥

विशुद्ध अन्तःकरण दर्पण के समान है अर्थात् जिस प्रकार निर्मल दर्पण में वस्तु का स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार विशुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट दिखता है। पितृलोक में ब्रह्म का

रूप स्पष्ट नहीं दिखता है (क्योंकि प्राणियों को पूर्व जन्म की स्मृति रहने के कारण उनका सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों से बना रहता है)। गन्धर्व लोक में भी ब्रह्म का स्वरूप जल (की लहरों) के समान अस्पष्ट दिखाई पड़ता है (क्योंकि वहाँ भोगों से लिप्त रहने के कारण ब्रह्म दर्शन ठीक से नहीं हो पाता); किन्तु ब्रह्मलोक में छाया और धूप की भाँति आत्मा और परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है॥ ५॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्। पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥

उदय और लय होते रहने के स्वभाव से युक्त अलग-अलग स्थानों में स्थित अनेक रूपों वाली इन्द्रियों को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करता॥ ६॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्। सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।

इन्द्रियों से मन उत्तम है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से जीवात्मा उत्कृष्ट है और जीवात्मा की अपेक्षा अव्यक्त शक्ति उत्तम है ॥ ७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ ८॥

अव्यक्त शक्ति (प्रकृति) से व्यापक और आकार रहित परम पुरुष परमात्मा श्रेष्ठ है, जिसको जानकर जीवात्मा बन्धन से मुक्त हो जाता है और अमरत्व को प्राप्त होता है॥ ८॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ९॥

इस ब्रह्म का यथार्थ रूप अपने समक्ष प्रकट नहीं होता। परमेश्वर के दिव्य स्वरूप को कोई इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकता। मन को वश में करने वाली विवेक बुद्धि तथा सद्भाव सम्पन्न हृदय द्वारा बारम्बार चिन्तन-मनन करने से ही उसका सम्यक् दर्शन हो सकता है। जो ब्रह्म को इस प्रकार जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं॥ ९॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आत्मतत्त्व में) स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है, तब इस स्थिति को (जीवात्मा की) परमगति कहते हैं॥ १०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ ११॥

इस प्रकार इन्द्रियों की स्थिर धारणा का नाम ही योग माना जाता है। उस समय साधक प्रमाद रहित हो जाता है; किन्तु यह योग उदय और अस्त होने के स्वभाव से युक्त है (अतः परमात्मेच्छु को योग युक्त रहने का दृढ़ अभ्यासी होना चाहिए)॥ ११॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥१२॥

उस परमात्मा को न वाणी के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और न नेत्रों से । उसे मन के द्वारा भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है। 'वह ब्रह्म अवश्य है' ऐसा कहने मात्र से भला उसे कौन प्राप्त कर सकता है?॥ १२॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ १३॥

अस्ति (वह है) और नास्ति (वह नहीं है) इन दो मान्यताओं में तत्त्वभाव (समस्त इन्द्रियादि सहित मन-बुद्धि को एक करके अनुभव करने की क्षमता) द्वारा 'अस्ति' भाव ही प्राप्त करने योग्य है। इस प्रकार की उपलब्धि करने वाले से (अन्तःचेतन) प्रसन्न होता है। (वह आत्मदेव ही प्रसन्न होकर ब्रह्मानुभूति का मार्ग खोल देता है) ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।

व्यक्ति के हृदय में अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाएँ रहती हैं, जब इनका समूल विनाश हो जाता है, तब मनुष्य यहीं (इसी संसार में) ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है और अमर हो जाता है ॥१४॥

[अन्य कामनाएँ रहते तत्त्वभाव बिखरा रहता है। उसके एक होने पर ही साक्षात्कार की स्थिति बनती है।]

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽ मृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥ १५ ॥

जब हृदय-ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है, यही वेदान्त का अनुशासन है ॥ १५ ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ १६ ॥

हृदय में एक सौ एक नाड़ियों का समूह है, उसमें से एक मूर्धा (कपाल) का भेदन करके बाहर निकलती है। उसके द्वारा ऊर्ध्वगमन करने वाला साधक अमृतत्व को प्राप्त करता है। अन्य अवशिष्ट नाड़ियाँ प्राणोत्सर्ग में सहायक होती हैं। (उनसे निकला प्राण कामनाओं के अनुरूप विभिन्न योनियों में जाता है) ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥ १७॥

सबका अन्तरात्मा अङ्गुष्ठ परिमाण वाला है, जो परम पुरुष (परब्रह्म) के रूप में सदैव सबके हृदय देश में प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार मूँज से उसकी सींक अलग की जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए उचित है कि वह धैर्यपूर्वक अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् करे (पृथक् करके देखे-अनुभव करे), उसे अमृत रूप और शुक्र (शुद्ध) समझे । वह अमृत स्वरूप ही है ॥ १७॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ १८॥

मृत्यु (अर्थात् यमराज) द्वारा उपदिष्ट इस विद्या को पाकर नचिकेता समस्त विकारों से रहित और सर्वथा शुद्ध होकर जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो गया और ब्रह्मभाव (ब्रह्मत्व) को प्राप्त हो गया । अन्य कोई जो इस अध्यात्म तत्त्व को इस प्रकार समझेगा, वह भी ऐसी ही स्थिति प्राप्त करेगा अर्थात् वह भी ब्रह्मरूप होकर भवबन्धनों से मुक्त हो जायेगा॥ १८॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः॥

॥ इति कठोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ केनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय 'तलवकार ब्राह्मण' के नवें अध्याय के अन्तर्गत है। इसे तलवकार उपनिषद् तथा 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहा जाता है। उपनिषद् का प्रारम्भ प्रश्न 'केनेषितं......' (यह जीवन किसके द्वारा प्रेरित है ?) से हुआ है। इसमें उस 'केन' (किसके द्वारा) का विवेचन होने से इसे 'केनोपनिषद्' कहा गया है। सर्वप्रेरक उस परब्रह्म की महिमा और उसके स्वरूप का बोध कराते हुए ऋषि ने स्पष्ट किया है कि कहने-सुनने में ब्रह्म तत्त्व जितना सुगम है, अनुभूति में वह उतना ही दुरूह है। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में सुन्दर ढंग से उस प्रेरक सत्ता की विशेषताओं, उसकी अनुभूति तथा उसे जान लेने की अनिवार्य आवश्यकताओं का वर्णन किया गया है। तीसरे और चौथे खण्ड में देवताओं के अभिमान तथा मानमर्दन के लिए यक्ष रूप में ब्राह्मी चेतना के प्रकट होने का उपाख्यान है। बाद में उमादेवी द्वारा प्रकट होकर देवों के लिए ब्रह्म तत्त्व का वर्णन किया गया है। अन्त में परब्रह्म की उपासना के ढंग और फल का उल्लेख करते हुए ब्रह्मविद्या के संसाधनों के साथ उस रहस्य को जानने की महिमा का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन् ! हमारे सभी अङ्ग पुष्ट हों, हमारी वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट हों । यह उपनिषद् (प्रतिपादित ज्ञान) ब्रह्म है, हम इसे अस्वीकार न करें । यह हमारा परित्याग न करे। हमारा इसके साथ अथवा इसका हमारे साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध हो । उपनिषदों में जो (धर्म, ज्ञान आदि) वर्णित हैं, वे हममें प्रविष्ट हों, हममें समाविष्ट हों । त्रिविध तापों की शान्ति हो।

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ १ ॥

किसके द्वारा प्रेरित किया हुआ यह मन अपने विषयों तक पहुँचता है ? किसके द्वारा नियोजित किया हुआ यह श्रेष्ठ प्राण चलता है ? किसके द्वारा प्रेरित की हुई वाणी को मनुष्य बोलते हैं ? कौन सा अव्यक्त देव हमारे नेत्रों और कानों को कार्य में नियुक्त करता है ? ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचः स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ २ ॥

जो (परमात्मतत्त्व) कर्णेन्द्रिय का श्रोत्र (श्रवण शक्ति) है, मन का मन (मनन क्षमता) है, वागिन्द्रिय की वाणी (वाक् शक्ति), प्राण का प्राण (संचालक) है, चक्षु का चक्षु (दर्शन क्षमता) है, अर्थात् जो इन सबका कारणभूत तत्त्व है, (उसे जानने वाले) धीर पुरुष (जो चक्षु, श्रोत्र, मन आदि के आवेगों से उद्वेलित नहीं होते) इस लोक से जाते हुए (अथवा जीवन मुक्त होकर) अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्या-दन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥ ३ ॥

वहाँ (परब्रह्म परमात्मा तक) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों तथा मन की भी पहुँच नहीं है । उसे जानने की बुद्धि हममें नहीं है, न ही किसी अन्य की व्याख्या से यह संभव हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञात और अज्ञात सभी तत्त्वों से सर्वथा परे है- ऐसा हमने अपने पूर्वाचार्यों के मुख से सुना है, जिन्होंने हमें उस ब्रह्म के विषय में भली-भाँति व्याख्या करके समझाया है ॥ ३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ४॥

जो वाणी के द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता; अपितु वाणी ही जिसकी महिमा से प्रकट होती है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो। वाणी द्वारा निरूपित जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥

मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता; अपितु मन जिसकी महत्ता से मनन करता है, उसी को ब्रह्म समझो। मन द्वारा मनन किए हुए जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसे चक्षु के द्वारा नहीं देखा जा सकता; अपितु चक्षु जिसकी महिमा से देखने में सक्षम होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । चक्षु के द्वारा द्रष्टव्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

श्रोत्र से जिसे नहीं सुना जा सकता; अपितु श्रोत्र जिसकी महत्ता से सुनने में सक्षम होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । श्रोत्रेन्द्रियगम्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता; किन्तु प्राण जिससे प्रेरित होते हैं, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । प्राण शक्ति से क्रियाशील जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥ १ ॥

(आचार्य का कथन) यदि तुम्हारी यह मान्यता है कि मैं ब्रह्म को भली-भाँति जान गया हूँ, तो निश्चय ही तुमने ब्रह्म का अत्यल्प अंश जाना है, क्योंकि उस परब्रह्म का जो अंश तुझमें है और जो अंश देवताओं में है, वह सब मिलकर भी ब्रह्म का पूर्ण स्वरूप नहीं है, अतः तुम्हारा जाना हुआ निश्चय ही विचारणीय है॥ १॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ २॥

(शिष्य का उत्तर) हमने ब्रह्म को भली-भाँति जान लिया है, ऐसा नहीं मानते और न ऐसा ही मानते हैं कि हम उसे पूर्णतया नहीं जानते; क्योंकि उसे जानते भी हैं । हम जानते हैं अथवा नहीं जानते-दोनों उत्तर अपूर्ण हैं । हमारे इस कथन को वही जानता है, जो उस ब्रह्म को जानता है ॥ २॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

जो यह मानता है कि ब्रह्म जानने में नहीं आता, वह ब्रह्म को जानता है एवं जो यह मानता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, वह उसे नहीं जानता; क्योंकि जानने का अभिमान करने वालों के लिए वह ब्रह्म जाना हुआ नहीं है और जानने के अभिमान से रहित पुरुष के लिए वह जाना हुआ है ॥ ३॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥

वह बोध जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसी से मनुष्य अमृत स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करता है। आत्मा (अथवा आत्मज्ञान) के द्वारा मनुष्य बल को प्राप्त करता है, उसी आत्मा के बल को जानने की विद्या से वह अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ॥ ४॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ ५॥

जिसने यदि इसी जन्म में उस परब्रह्म को प्राप्त कर लिया, तो उसने यथार्थ (लक्ष्य) पा लिया, जो इस जीवन में उसे नहीं जान पाया, तो उसने (अमूल्य अवसर गँवाकर) अपनी महती हानि की। अतः बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक तत्त्व में उस परमात्म सत्ता को व्याप्त जानकर इस लोक से प्रयाण कर अमर हो जाते हैं ॥ ५॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

पिछले दो खण्डों में प्रत्येक दिव्य प्रवाह की शक्ति के मूल कारण रूप जिस परमात्म तत्त्व की विवेचना की गयी है, अगले दो खण्डों में उसी तथ्य को कथानक के माध्यम से स्पष्ट किया गया है-

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति॥ १॥

(एक समय) उस ब्रह्म ने देवों को निमित्त बनाकर असुरों पर विजय प्राप्त की; परन्तु देवों को उस विजय का अभिमान हो गया और वे इस विजय को अपनी ही महिमा का प्रभाव समझने लगे॥ १॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति॥ २॥

उस ब्रह्म ने देवों के उस अहं भाव को जान लिया और तब उनके सामने वह यक्ष रूप में प्रकट हुआ, परन्तु देवगण उसे नहीं पहचान सके और कहने लगे -'यह दिव्य यक्ष कौन है' ॥ २॥

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति॥ ३॥

देवों ने अग्नि से कहा-हे देव! आप पता लगाएँ कि यह कौन है? इस पर उन्होंने कहा- बहुत अच्छा।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥

अग्निदेव तेजी से दौड़कर यक्षरूप ब्रह्म के पास पहुँचे। यक्ष ने पूछा- आप कौन हैं? इस पर अग्निदेव ने कहा- मैं अग्नि हूँ, मुझे ही लोग जातवेदा कहते हैं ॥ ४॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति॥ ५॥

यक्ष ने अग्निदेव से पूछा- आप में क्या शक्ति है? ऐसा पूछे जाने पर अग्निदेव ने कहा- मैं चाहूँ तो इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, उसे भस्म कर सकता हूँ ॥ ५॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥ ६॥

तब यक्ष ने अग्निदेव के समक्ष एक तिनका रखकर उसे भस्म करने के लिए कहा; परन्तु अपनी पूरी शक्ति लगाने पर भी वे उसे जलाने में समर्थ नहीं हुए । तब वे वहाँ से लौटकर देवों से कहने लगे- मैं इस दिव्य यक्ष को जानने में असमर्थ रहा ॥ ६॥

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति॥ ७॥

तदनन्तर देवों ने वायुदेव से कहा- हे वायुदेव! इस रहस्य का आप ही पता लगाएँ। उस दिव्य यक्ष के विषय में पता लगाना उन्होंने स्वीकार किया॥ ७॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति॥

वायुदेव द्रुतगति से दौड़कर उस यक्ष के पास पहुँचे। यक्ष द्वारा परिचय पूछा गया- आप कौन हैं? वायुदेव ने कहा- मैं प्रसिद्ध वायुदेव हूँ। मुझे ही मातरिश्वा कहते हैं॥ ८॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति॥ ९॥

यक्ष ने पूछा- आपमें क्या सामर्थ्य है? वायुदेव बोले- इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, मैं उसे उड़ा ले जा सकता हूँ॥ ९॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥ १०॥

तब उस यक्ष ने उनके सामने तिनका रखकर उसे उड़ाने के लिए कहा; परन्तु अपनी सारी शक्ति लगाकर भी वायुदेव उसे उड़ा सकने में समर्थ नहीं हुए। तब वहाँ से लौटकर उन्होंने देवों के सामने उस यक्ष को समझ पाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की॥ १०॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे॥

तब देवों ने इन्द्रदेव से कहा- हे मघवन्! आप ही इस बात का पता लगाएँ कि यह यक्ष कौन है? इन्द्रदेव ने यक्ष के विषय में पता लगाना स्वीकार किया और यक्ष की ओर दौड़े; परन्तु इन्द्रदेव के वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया॥ ११॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाꣳ हैमवतीं ताꣳ होवाच किमेतद्यक्षमिति॥ १२॥

तब इन्द्रदेव उसी आकाश में स्थित अतिशय शोभामयी भगवती हैमवती (हिमाचल पुत्री) उमादेवी के पास (आ) गये और उनसे पूछने लगे-यह यक्ष कौन था? ॥ १२॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति॥

उमादेवी बोलीं- वे ब्रह्म हैं, उनकी विजय को तुम लोगों ने अपने अहंभाव से अपनी विजय मान लिया था। देवी उमा के इस उत्तर से इन्द्रदेव ने स्पष्ट समझ लिया कि वह दिव्य यक्ष निश्चय ही ब्रह्म थे ॥ १॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्तेन ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति॥ २॥

ये तीनों देव-अग्नि, वायु और इन्द्रदेव अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं; क्योंकि ब्रह्म को शक्ति के रूप में इन्हीं देवों ने सर्वप्रथम समझा और ब्रह्म का निकट से साक्षात्कार किया ॥ २॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽ तितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति॥

निकट से ब्रह्म का स्पर्श करने से, सबसे पहले जान लेने से इन्द्रादि देवगण अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं॥ ३॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम्॥ ४॥

(इन्द्रदेव के सम्मुख यक्ष का अन्तर्धान हो जाना)ब्रह्म की उपस्थिति का संकेत बिजली के चमकने और पलक के झपकने जैसा होता है । इसे उसका सूक्ष्म आधिदैविक संकेत समझना चाहिए॥ ४॥

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽ नेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ संकल्पः॥ ५॥

आध्यात्मिक दृष्टि से यह समझना चाहिए कि मन जो ब्रह्म के पास जाता हुआ सा प्रतीत होता है और ब्रह्म का स्मरण करता हुआ सा लगता है तथा ब्रह्म प्राप्ति का संकल्प करता हुआ सा भासित होता है । (यह भी ब्रह्म की उपस्थिति का सूक्ष्म संकेत है)॥ ५॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽ भि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति॥ ६॥

समस्त प्राणी उस ब्रह्म से प्रेम करते हैं और उसे पाना चाहते हैं, वह तद्वन नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म के इसी 'तद्वन' स्वरूप की सभी को उपासना करनी चाहिए। जो साधक ब्रह्म के इस स्वरूप को जान लेता है, उसे सब प्राणी अपना प्रिय मानने लगते हैं ॥ ६॥

[ऋषि ने ब्रह्म को 'तद्वन' कहा है । आचार्य शंकर ने इसका अर्थ तद्-भजनीयम् (वह ध्यान करने योग्य है) किया है ।'वन'- रस के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, इस आधार पर ब्रह्म मूल रूप से 'रस स्वरूप' है - ऐसा बोध होता है। ऋषि का मानना है कि जिस साधक की गति आत्म तत्त्व में हो जाती है, उसकी आत्मीयता का विस्तार इतना हो जाता है कि उसके प्रभाव में सभी प्राणी आ जाते हैं।]

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता य उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति॥ ७॥

(ब्रह्म विद्या के इस सांकेतिक उपदेश को न समझ पाने के कारण पुनः शिष्य कहता है) हे गुरुदेव! हमें ब्रह्मविद्या स्वरूप उपनिषद् का उपदेश दें। तब उन्होंने कहा कि अभी तक जो कुछ भी कहा गया है, वही ब्रह्मविद्या है, तुम्हें निश्चय ही मैंने ब्रह्मविद्या सिखा दी है ॥ ७॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥ ८॥

तपस्या, मन एवं इन्द्रियों का नियन्त्रण तथा आसक्ति रहित श्रेष्ठ कर्म-ये ही ब्रह्मविद्या प्राप्ति के आधार हैं। वेद में इस विद्या का सविस्तार वर्णन है। सत्यस्वरूप ब्रह्म ही इस विद्या का प्राप्य-लक्ष्य है ॥ ८॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९॥

इस ब्रह्मविद्या के रहस्य को भली-भाँति जानने वाला साधक अपने समस्त पापसमूह को विनष्ट कर अविनाशी, असीम एवं सर्वश्रेष्ठ स्थिति में पहुँच जाता है - परमधाम को प्राप्त कर लेता है ॥ ९॥

॥ इति केनोपनिषत्समाप्ता॥

॥ गायत्र्युपनिषद्✪ ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध गोपथ ब्राह्मण की ३१ से ३८ तक की आठ कण्डिकाओं के संकलन रूप में है। इसमें मौद्गल्य और मैत्रेय ऋषियों के संवाद के माध्यम से गायत्री महाविद्या का विवेचन किया गया है। पहली दूसरी कण्डिका में भूमिका भाग तथा गायत्री मंत्र के सवितुः, वरेण्यं, भर्गः, देवस्य, धियः, प्रचोदयात् आदि शब्दों को परिभाषित किया गया है। तीसरी कण्डिका में सविता और सावित्री की अभिन्नता तथा उनके विविध रूपों का वर्णन है। चौथी, पाँचवीं एवं छठवीं कण्डिकाओं में क्रमशः गायत्री महामन्त्र के तीनों चरणों की व्याख्या और उनके विस्तार का उल्लेख है। सातवीं -आठवीं कण्डिका में ब्रह्म, यज्ञ और ब्राह्मण की समस्वरता की व्याख्या की गई है।

॥ प्रथमा कण्डिका ॥

एतद्ध स्मैतद्विद्वांसमेकादशाक्षम्मौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽभ्याजगाम स तस्मिन् ब्रह्मचर्यं वसतो विज्ञायोवाच किं स्विन्मर्या अयं तं मौद्गल्योऽध्येति यदस्मिन् ब्रह्मचर्ये वसतीति ॥

ग्यारह अक्षों (ज्ञान अथवा ज्ञानेन्द्रियों) वाले विद्वान् मौद्गल्य (मुद्गल वंशीय) के पास ग्लाव मैत्रेय (मित्रयु के शिष्य अथवा गोत्र वाले) आये। वे मौद्गल्य के आश्रम में निवासरत ब्रह्मचारियों को देखकर उनसे (उपहास करते हुए) कहने लगे- यह मौद्गल्य अपने ब्रह्मचारियों को क्या पढ़ाता है ? ॥१ ॥

['ग्यारह अक्ष' यह सम्बोधन उनके विशेष ज्ञाता होने का प्रमाण है। दस इन्द्रियों या दस प्राणों (५ प्राण+५ उपप्राणों) के अतिरिक्त जिनका आत्म तत्त्व भी जाग्रत् है, उन्हें ११ अक्षों-पहलुओं वाला कहा गया है।]

तद्धि मौद्गल्यस्यान्तेवासी शुश्राव सः आचार्यायाव्रज्याचचष्टे दुरधीयानं वा अयं भवन्तमवोचद्योऽयमद्यातिथिर्भवति किं सौम्य विद्वानिति। त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३इति ॥ २ ॥

मौद्गल्य के ब्रह्मचारी ने यह बात सुनकर अपने आचार्य से जाकर कहा- जो आज यह अतिथि हैं, उन्होंने आपको अज्ञानी बताया है। मौद्गल्य ने पूछा- क्या वे विद्वान् हैं ? शिष्य ने उत्तर दिया- हा देव ! वे तीनों वेदों के उपदेशक हैं ॥ २ ॥

तस्य सौम्य यो विस्पष्टो विजिगीषोऽन्तेवासी तन्मे ह्वयेति ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! उनका जो विद्वान् , तत्त्वदर्शी तथा विजयाकांक्षी शिष्य है, उसे तुम मेरे पास ले आओ, मौद्गल्य ने अपने शिष्य से कहा ॥ ३ ॥

तमाजुहाव तमभ्युवाचासाविति भो३इति किं सौम्य त आचार्योऽध्येतीति, त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३इति ॥ ४ ॥

✪ इस नाम की २ उपनिषदें उपलब्ध होती हैं। एक शतपथ ब्राह्मण (१४.५.१.१-८) के बृहदारण्यकोपनिषद् (५.१४.१-८) के अन्तर्गत आती है, दूसरी गोपथ ब्राह्मण (१.३१-३८) के अन्तर्गत। इस संग्रह में शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत वर्णित गायत्री उपनिषद् तो बृहदारण्यको० में उपलब्ध है ही। अस्तु, उसकी पुनरावृत्ति समीचीन न मानकर गोपथ ब्राह्मण वाली उपनिषद् को ही चयनित किया गया है।

वह उसे बुला लाया और आचार्य से कहने लगा- गुरुवर! वह यह है। उन्होंने उनसे पूछा- हे सोम्य! तुम्हारे आचार्य तुम्हें क्या पढ़ाते हैं? शिष्य ने कहा- श्रीमन्! वे तीनों वेदों के उपदेशक हैं॥ ४॥

यन्नु खलु सौम्यास्माभिः सर्वे वेदा मुखतो गृहीताः कथन्त एवमाचार्यो भाषते कथं नु शिष्टाः शिष्टेभ्य एवं भाषेरन् यं ह्येनमहं प्रश्नं प्रच्छामि न तं विवक्ष्यति न ह्येनमध्येतीति॥

हे सोम्य! क्योंकि हमने सब वेद मुखाग्र ग्रहण किये हैं, तुम्हारे आचार्य ऐसा क्यों कहते हैं कि मैं अज्ञानी हूँ। क्या उन्हें नहीं ज्ञात है कि शिष्ट लोग शिष्टों से कैसे वार्त्ता करते हैं? अब मैं जिस प्रश्न को पूछता हूँ यदि वे नहीं बताएँगे, तो इसका तात्पर्य होगा कि वे वेद नहीं पढ़ाते हैं॥ ५॥

तां भवान् प्रब्रवीत्विति स चेत्सौम्य दुरधीयानो भविष्यत्याचार्योवाच ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणे सावित्रीं प्राहेति वक्ष्यति तत्त्वं ब्रूयात् दुरधीयानन्तं वै भवान् मौद्गल्यमवोचत् स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः पुरा संवत्सरादार्त्तिमाकृष्यसीति॥ ६॥

हे सोम्य! यदि वे अज्ञानी होंगे, तो कहेंगे कि आचार्य अपने बालब्रह्मचारी और ब्रह्मचारियों को जिसका उद्बोधन देते हैं, वह सावित्री है। तुम कहना आपने उन मौद्गल्य को अज्ञानी कहा था, वे आपसे एक प्रश्न पूछेंगे, यदि उसे आपने नहीं बताया, तो आपको एक वर्ष तक भारी पीड़ा सहनी होगी॥ ६॥

॥ द्वितीया कण्डिका॥

स ह मौद्गल्यः स्वमन्तेवासिनमुवाच, परेहि सौम्य ग्लावं मैत्रेयमुपसीदाधीहि भोः सावित्रीं गायत्रीञ्चतुर्विंशतियोनिं द्वादशमिथुनां यस्या भृग्वङ्गिरसश्चक्षुर्यस्यां सर्वमिदं श्रितम्॥ १॥

तदनन्तर मौद्गल्य ऋषि ने अपने शिष्य से कहा- हे सोम्य! तुम ग्लाव मैत्रेय के पास जाओ और कहो- हे आचार्य! चौबीस सूक्ष्म केन्द्रों वाली, बारह जोड़ों वाली सावित्री-गायत्री के सम्बन्ध में बताएँ, जिसके भृगु-आङ्गिरस (ज्ञान की विशिष्ट धाराएँ) नेत्र हैं, जिसमें यह सब आश्रित हैं, आप उस गायत्री का हमें उपदेश करें॥ १॥

स तत्राजगाम यत्रेतरो बभूव, तं ह पप्रच्छ स ह न प्रतिपेदे, तं होवाच दुरधीयानं तं वै भवान् मौद्गल्यमवोचत् स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः पुरासंवत्सरादार्त्तिमाकृष्यसीति॥ २॥

वह (मौद्गल्य का शिष्य) वहाँ पहुँचा, जहाँ मैत्रेय का आश्रम था। उसने उनसे (मैत्रेय से) पूछा; किन्तु वे उस प्रश्न का उत्तर न दे सके। तदनन्तर उसने उनसे कहा- भगवन्! आपने मौद्गल्य को अज्ञानी बताया था। उन्होंने आपसे प्रश्न पूछा और आप न बता सके, सो आपको एक वर्ष तक पीड़ा सहनी होगी॥ २॥

स ह मैत्रेयः स्वानन्तेवासिन उवाच यथार्थं भवन्तो यथागृहं यथामनो विप्रसृज्यन्तां दुरधीयानं वा अहं मौद्गल्यमवोचं स मा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचं तमुपैष्यामि शान्तिं करिष्यामीति॥ ३॥

उन मैत्रेय ऋषि ने अपने शिष्यों से यथार्थपूर्वक कहा- आप लोग अपने घर को इच्छानुसार प्रस्थान करें। मैंने मौद्गल्य को अयोग्य बताया था, उन्होंने मुझसे जो प्रश्न पूछा है, वह मैं नहीं बता सका। अब मैं उनके पास जाऊँगा और उन्हें शान्ति (सन्तुष्टि) प्रदान करूँगा॥ ३॥

स ह मैत्रेयः प्रातः समित्पाणिर्मौद्गल्यमुपससादासावाग्रहं भो मैत्रेयः किमर्थमिति दुरधीयानं वा अहं भवन्तमवोचं त्वं मा यम्प्रश्नमप्राक्षीर्न्न तं व्यवोचं त्वामुपेव्यामि शान्तिं करिष्यामीति॥ ४॥

वे हाथ में समिधा लिये प्रातःकाल ज्ञान के आग्रह के साथ मौद्गल्य के पास पहुँचे और बोले – हे आचार्य! मैं मैत्रेय हूँ। मौद्गल्य ने पूछा- कैसे आगमन हुआ? (मैत्रेय) मैंने आपको अयोग्य बताया था। आपने मुझसे जो प्रश्न पूछा था, वह मैं नहीं बता पाया। अब मैं आपके पास सेवा में उपस्थित होकर आपको सन्तुष्ट करूँगा॥ ४॥

स होवाचात्र वा उपेतश्च सर्वश्च कृतं पापकेन त्वा यानेन चरन्तमाहूरथोऽयं मम कल्याणस्तंते ददामि तेन याहीति॥ ५॥

मौद्गल्य ऋषि ने कहा- आप यहाँ आये हैं। लोग कहते हैं कि आप शुद्ध भाव से नहीं आये हैं; तो भी मैं आपको कल्याणकारी भावों का रथ देता हूँ, इसी से चलें॥ ५॥

[रथ का अर्थ होता है संवाहक (कैरियर)- जो लक्ष्य तक पहुँचाये। मनुष्य अपने भावों के अनुरूप ही जीवन की गति प्राप्त करता है। कल्याण चाहने वालों को कल्याणकारी भावों का ही आश्रय लेना होता है।]

स होवाचैतदेवात्रात्विषश्चानृशंस्यश्च यथा भवानाहोपायामित्येवं भवन्तमिति तं होपेयाय तं होपेत्य पप्रच्छ किंस्विदाहुर्भोः सवितुर्वरण्यं भर्गो देवस्य कवयः किमाहुर्धियो विचक्ष्व यदि ताः प्रवेक्ष्य प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति॥ ६॥

मैत्रेय ऋषि ने कहा– आपका वचन अभयकारी और सत्य है। जैसा आप कहते हैं, वैसा ही करने के लिए मैं आपके पास उपस्थित हूँ। वे मौद्गल्य ऋषि के पास विधिपूर्वक उपस्थित हुए और पास आकर पूछने लगे- हे आचार्य! सविता का वरणीय तत्त्व क्या है? उस देव का भर्ग क्या है? इसका उत्तर क्रान्तदर्शी क्या बताते हैं? धी संज्ञक तत्त्व की व्याख्या क्या करते हैं, जिन्हें प्रेरित करता हुआ वह देव द्युलोक में प्रविष्ट होकर विचरण करता है?॥ ६॥

तस्मा एतत् प्रोवाच वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः। कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति॥ ७॥

उन मैत्रेय से मौद्गल्य ऋषि ने कहा– वैदिक छन्द सविता के वरणीय तत्त्व हैं। मेधावी पुरुष अन्न को ही उस देव का भर्ग बताते हैं। कर्म ही वह धी तत्त्व है, जिन्हें प्रेरित करता हुआ वह देव गमन करता है॥ ७॥

[सविता-सर्व प्रेरक है। छन्दों में जो उसके प्रेरक तत्त्व प्रकट हुए हैं, वे ही वरणीय हैं, अन्य अव्यक्त प्रवाह मनुष्य की ग्रहण शक्ति के परे होने से वरणीय नहीं हैं। धी बुद्धि को कहते हैं। सविता देव कर्म प्रेरक बुद्धि युक्त होकर विचरण करते हैं, ऐसा ऋषि का भाव प्रतीत होता है।]

तमुपसंगृह्य पप्रच्छाधीहि भोः कः सविता का सावित्री॥ ८॥

उसे सुनकर मैत्रेय ने मौद्गल्य से आदरपूर्वक पूछा- हे आचार्य! हमें बताएँ, सविता क्या है और सावित्री क्या है?॥ ८॥

॥ तृतीया कण्डिका ॥

मन एव सविता, वाक् सावित्री, यत्र ह्येव मनस्तद् वाक्, यत्र वै वाक् तन्मन इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ १॥

मौद्गल्य ऋषि ने कहा- मन ही सविता (प्रेरक तत्त्व) और वाणी सावित्री (प्रेरित तत्त्व) है। जहाँ पर मन है, वहाँ वाणी है, जहाँ वाणी है; वहाँ मन है। ये दो एक युग्म हैं, योनि (उत्पादक केन्द्र) रूप हैं॥

अग्निरेव सविता, पृथिवी सावित्री यत्र ह्येवाग्निस्तत्पृथिवी यत्र वे पृथिवी तदग्निरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ २॥

अग्नि ही सविता है और पृथ्वी सावित्री है। जहाँ पर अग्नि है, वहाँ पृथ्वी है, जहाँ पृथ्वी है; वहाँ अग्नि है। ये दो (अग्नि और पृथ्वी) एक जोड़ा हैं, योनिरूप हैं॥ २॥

वायुरेव सविताऽन्तरिक्षं सावित्री यत्र ह्येव वायुस्तदन्तरिक्षं, यत्र वा अन्तरिक्षं तद्वायुरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ३॥

वायु ही सविता है और अन्तरिक्ष सावित्री है। जहाँ पर वायु है, वहाँ अन्तरिक्ष है; जहाँ अन्तरिक्ष है, वहाँ वायु है। ये दो (वायु और अन्तरिक्ष) एक युग्म और उत्पादक केन्द्र हैं॥ ३॥

आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री यत्र ह्येवादित्यस्तद्द्यौर्यत्र वै द्यौस्तदादित्य इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ४॥

आदित्य ही सविता है और द्युलोक सावित्री है। जहाँ पर आदित्य है, वहाँ द्यौ है; जहाँ द्यौ है, वहाँ आदित्य है। ये दोनों (द्यौ और आदित्य) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ४॥

चन्द्रमा एव सविता, नक्षत्राणि सावित्री, यत्र ह्येव चन्द्रमास्तन्नक्षत्राणि यत्र वै नक्षत्राणि तच्चन्द्रमा, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ५॥

चन्द्रमा ही सविता है और नक्षत्र सावित्री है। जहाँ चन्द्रमा है, वहाँ नक्षत्र है तथा जहाँ नक्षत्र है, वहाँ चन्द्रमा है। ये दोनों (चन्द्रमा और नक्षत्र) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ५॥

अहरेव सविता,रात्रिः सावित्री, यत्र ह्येवाहस्तद्रात्रिर्यत्र वै रात्रिस्तदहरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ६॥

दिन ही सविता है और रात्रि सावित्री है। जहाँ पर दिन है, वहाँ रात्रि है; जहाँ रात्रि है, वहाँ दिन है। ये दो (दिन और रात्रि) उत्पत्ति केन्द्र हैं, एक जोड़ा हैं॥ ६॥

उष्णमेव सविता, शीतं सावित्री, यत्र ह्येवोष्णं, तच्छीतं, यत्र वै शीतं तदुष्णमित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ७॥

उष्णता ही सविता है और शीत सावित्री है। जहाँ उष्णता है, वहाँ शीत है; जहाँ शीत है, वहा उष्णता है। ये दोनों (उष्णता और शीत) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ७॥

अभ्रमेव सविता वर्षं सावित्री यत्र ह्येवाभ्रन्तद्वर्षं यत्र वै वर्षं तदभ्रमित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ८॥

मेघ ही सविता है और वर्षण सावित्री है। जहाँ पर मेघ है, वहाँ वर्षण है; जहाँ वर्षण है, वहाँ मेघ है। ये दोनों (मेघ और वर्षण) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ८॥

विद्युदेव सविता स्तनयित्नुः सावित्री यत्र ह्येव विद्युत् तत् स्तनयित्नुः यत्र वै स्तनयित्नुस्तद्विद्युदित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ९॥

विद्युत् ही सविता है और उसकी तड़क सावित्री है। जहाँ पर विद्युत् है, वहाँ तड़क है जहाँ पर तड़क है, वहाँ विद्युत् है। ये दोनों (विद्युत् और तड़क) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ९॥

प्राण एव सविता अन्नं सावित्री, यत्र ह्येव प्राणस्तदन्नं यत्र वा अन्नं तत् प्राण इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ १०॥

प्राण सविता है और अन्न सावित्री है। जहाँ पर प्राण है, वहाँ अन्न है; जहाँ अन्न है, वहाँ प्राण है। ये दोनों (प्राण और अन्न) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ १०॥

वेदा एव सविता छन्दांसि सावित्री, यत्र ह्येव वेदास्तच्छन्दांसि यत्र वै च्छन्दांसि तद् वेदा इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ११॥

वेद ही सविता है और छन्द सावित्री है। जहाँ वेद हैं, वहाँ छन्द हैं, जहाँ छन्द हैं, वहाँ वेद हैं। दोनों (वेद और छन्द) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ११॥

यज्ञ एव सविता दक्षिणा सावित्री, यत्र ह्येव यज्ञस्तत् दक्षिणा यत्र वै दक्षिणास्तद्यज्ञ इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ १२॥

यज्ञ ही सविता है और दक्षिणा सावित्री। जहाँ यज्ञ है, वहाँ दक्षिणा है और जहाँ दक्षिणा है, वहाँ यज्ञ है। ये दोनों (यज्ञ और दक्षिणा) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ १२॥

एतद्ध स्मैतद्विद्वांसमोपाकारिमासस्तुर्ब्रह्मचारी ते संस्थित इत्यथैत आसस्तुराचित इव चितो बभूवाथोत्थाय प्राव्राजीदित्येतद्वाऽहं वेद नैतासु योनिष्वित एतेभ्यो वा मिथुनेभ्यः सम्भूतो ब्रह्मचारी मम पुरायुषः प्रेयादिति॥ १३॥

(तदनन्तर ग्लाव मैत्रेय ने मौद्गल्य से कहा) हे विद्वान् आचार्य! आपके द्वारा मैं उपकृत हुआ हूँ। यह ब्रह्मचारी आपकी सेवा में (दक्षिणा हेतु) उपस्थित है। यह ब्रह्मचारी आपके यहाँ आकर ज्ञान से परिपूर्ण हो गया है। ऐसा कहकर वे (मैत्रेय) वहाँ से उठकर टहलते हुए बोले- अब मैं यह जान गया हूँ, इन जोड़ों तथा उत्पत्ति केन्द्रों से जुड़ा मेरा ब्रह्मचारी अल्पायु नहीं होगा॥ १३॥

॥ चतुर्थी कण्डिका॥

ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत तत्तपस्व यदि तद् व्रते ध्रियेत तत्सत्ये प्रत्यतिष्ठत्॥ १॥

मौद्गल्य ने मैत्रेय से कहा- यह ब्रह्म ही श्रीरूप, प्रतिष्ठा रूप और आश्रयरूप है, इसलिए आप तप करें। यदि तपः-व्रत को धारण किया जाए, तो सत्य में प्रतिष्ठा होती है॥ १॥

स सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्रीं पर्य्यदधात् तत् सवितुर्वरेण्यमिति सावित्र्याः प्रथमः पादः ॥ २ ॥

उन देव सविता ने सावित्री के साथ ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञान सम्पन्न) को उत्पन्न कर उसे सावित्री (मन्त्र) को धारण कराया 'तत्सवितुर्वरेण्यं' यह सावित्री का पहला चरण है ॥ २ ॥

पृथिव्यर्च्चं समदधादृचाऽग्निमग्निना श्रियं श्रिया स्त्रियं स्त्रिया मिथुनं मिथुनेन प्रजां प्रजया कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं सत्येन ब्रह्म ब्रह्मणा ब्राह्मणं ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितोभवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नः ॥ ३ ॥

(देव सविता ने) पृथ्वी के साथ ऋक् को संयुक्त किया ऋक् से अग्नि को, अग्नि से श्री को, श्री से स्त्री को, स्त्री से जोड़े को, जोड़े के साथ प्रजा को, प्रजा से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को सत्य से ब्रह्म (वेदज्ञान) को, ब्रह्म (वेदज्ञान) से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को संयुक्त किया। व्रत से ही वह ब्राह्मण तेजस्वी होता है, परिपूर्ण होता है और अविच्छिन्न होता है। ३ ॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्याः प्रथमं पादं व्याचष्टे ॥ ४ ॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के प्रथम चरण (वरण करने योग्य) को जानता है और जानकर इस प्रकार व्याख्या करता है, उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न होता है ॥ ४ ॥

॥ पञ्चमी कण्डिका ॥

भर्गो देवस्य धीमहीति सावित्र्या द्वितीयः पादोऽन्तरिक्षेण यजुः समदधात् यजुषा वायुं, वायुनाऽभ्रमभ्रेण वर्षं, वर्षेणौषधिवनस्पतीनोषधि वनस्पतिभिः पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणं, ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नः ॥ १ ॥

'भर्गो देवस्य धीमहि' यह सावित्री का द्वितीय चरण है। देव सविता ने अन्तरिक्ष के साथ यजुष् को संयुक्त किया। यजुष् के साथ वायु को, वायु के साथ मेघ को, मेघ के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों एवं वनस्पतियों को, ओषधियों एवं वनस्पतियों के साथ पशुओं को, पशुओं के साथ कर्म को कर्म के साथ तप को, तप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म (वेदज्ञान) को, ब्रह्म (वेदज्ञान) से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को संयुक्त किया। व्रत से ही ब्राह्मण तेजस्वी परिपूर्ण और अविच्छिन्न होता है ॥ १ ॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्याः द्वितीयं पादं व्याचष्टे ॥ २ ॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के द्वितीय चरण (धारण किये जाने वाले भर्ग तत्त्व) को जानता है और इस प्रकार व्याख्या करता है उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न होता है ॥ २ ॥

॥ षष्ठ काण्डका ॥

धियो यो नः प्रचोदयादिति सावित्र्यास्तृतीयः पादो दिवा साम समदधात्सा-म्नाऽऽदित्यमादित्येनरश्मीन्‌रश्मिभिर्वर्षं, वर्षेणौषधिवनस्पती-नोषधिवनस्पतिभिः पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्याभवत्यविच्छिन्नः ॥ १ ॥

'धियो यो नः प्रचोदयात्'– यह सावित्री का तृतीय चरण है। उन देव सविता ने द्युलोक के साथ साम को संयुक्त किया। साम के साथ आदित्य को, आदित्य के साथ रश्मियों को, रश्मियों के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों एवं वनस्पतियों को, ओषधियों एवं वनस्पतियों के साथ पशुओं को, पशुओं के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप को, तप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म को, ब्रह्म के साथ ब्राह्मण को, ब्राह्मण के साथ व्रत को संयुक्त किया। व्रत से ही ब्राह्मण तेजस्वी, परिपूर्ण और अविच्छिन्न होता है॥ १ ॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्यास्तृतीयं पादं व्याचष्टे॥ २ ॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के तृतीय चरण (प्रेरणा प्रदायक) को जानता है और उसे जानकर उसकी व्याख्या करता है, उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न रहता है॥ २ ॥

॥ सप्तमी कण्डिका ॥

तेन ह वा एवं विदुषा ब्राह्मणेन ब्रह्माभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्॥ १ ॥

उस विद्वान् (सावित्री के तीनों चरणों के जानकार) ब्राह्मण द्वारा वह ब्राह्मी (शक्ति) प्राप्त, ग्रसित (धारित) तथा परामृष्ट (सम्बद्ध-अनुभूति पूर्वक प्रयुक्त) होती है॥ १ ॥

ब्रह्मणाऽऽकाशमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टमाकाशेन वायुरभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टो वायुना ज्योतिरभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं ज्योतिषाऽपोऽभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा अद्भिर्भूमिरभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा भूम्याऽन्नमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टमन्नेन प्राणोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः प्राणेन मनोऽभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं मनसा वागभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा वाचा वेदा अभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा वेदैर्यज्ञोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टस्तानि ह वा एतानि द्वादशमहाभूतान्येवं विधिप्रतिष्ठितानि तेषां यज्ञ एव परार्द्धयः॥ २ ॥

ब्रह्म के साथ आकाश प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट (सम्बद्ध) है। आकाश के साथ वायु प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट (सम्बद्ध) है। वायु के साथ ज्योति प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट (सम्बद्ध) है, ज्योति के साथ जल प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है। जल के साथ पृथ्वी प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है। पृथ्वी के साथ अन्न प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। अन्न के साथ प्राण प्राप्त , ग्रसित एवं परामृष्ट है। प्राण के साथ मन प्राप्त, ग्रसित एवं

परामृष्ट है। मन के साथ वाणी प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। वाणी के साथ वेद प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। वेदों के साथ यज्ञ प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। इस प्रकार जानने वाले विद्वान् में से बारह महाभूत प्रतिष्ठित होते हैं। उनमें यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है॥ २॥

॥ अष्टमी कण्डिका ॥

तं ह स्मैतमेवं विद्वांसो मन्यन्ते विघ्नमिति याथातथ्यमविद्वांसोऽयं यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितो वेदा वाचि प्रतिष्ठिता वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता मनः प्राणे प्रतिष्ठितं प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितो ऽन्नं भूमौ प्रतिष्ठितं भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिता ज्योतिर्वायौ प्रतिष्ठितं वायुराकाशे प्रतिष्ठित आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितं ब्रह्म ब्राह्मणे ब्रह्मविदि प्रतिष्ठितं यो ह वा एवं वित् स ब्रह्मवित् पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभींश्च गन्धान् सोऽपहतपाप्मानन्तांश्रियमश्नुते य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम्॥ १॥

जो विद्वान् यह मानते हैं कि हम यज्ञ जानते हैं यथार्थ में वे अज्ञानी हैं। यह यज्ञ वेदों में प्रतिष्ठित है। वेद वाणी में प्रतिष्ठित है। वाणी मन में प्रतिष्ठित है। मन प्राण में प्रतिष्ठित है प्राण अन्न में प्रतिष्ठित है। अन्न भूमि में प्रतिष्ठित है। भूमि जल में प्रतिष्ठित है। जल तेज (अग्नि) में प्रतिष्ठित है। तेज वायु में प्रतिष्ठित है। वायु आकाश में प्रतिष्ठित है। आकाश ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार (बारहों महाभूतों की गति को) जानने वाला ब्रह्मज्ञानी पुरुष पुण्य एवं कीर्ति को प्राप्त करता है, सुरभित गन्धादि युक्त जीवन प्राप्त करता है। वह पापों से मुक्त होकर विराट् ऐश्वर्य को ग्रहण करता है॥ १॥

॥ इति गायत्री उपनिषत्समाप्ता ॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् ॥

सामवेद की तलवकार शाखा के अन्तर्गत छान्दोग्य ब्राह्मण के अंश को इस उपनिषद् के रूप में मान्यता दी गई है। उक्त ब्राह्मण में १० अध्याय हैं। उसके अन्तिम ८ (आठ) अध्याय उपनिषद् रूप में लिये गये हैं। यह विशाल कलेवर वाले उपनिषदों में से एक है।

नाम के अनुरूप इस उपनिषद् का आधार 'छन्दः' है। 'छन्दः' यहाँ साहित्यिक पद्य रचना के प्रकार तक ही सीमित नहीं है, उसका व्यापक अर्थ है। 'छन्दः' का अर्थ है-आच्छादित करने वाला। कवि जिस सत्य का साक्षात्कार करता है, वह सत्य, वह भाव हृदयंगम करने के लिए वह साहित्यिक छन्द का प्रयोग करता है। वह सत्य या भाव जिन अक्षरों, पदों, स्वरों आदि से आच्छादित होता है, वे सब उस साहित्यिक छन्द के अंगोपांग होते हैं। इसी प्रकार ऋषि इस सृष्टि के मूल सत्य को विभिन्न माध्यमों से व्यक्त होते, प्रकृति के विभिन्न घटकों से आच्छादित हुआ देखता है। अस्तु , उन सबको उन्होंने छन्द या साम या उद्गीथ के रूप में व्यक्त किया है।

प्रथम अध्याय में ऋचा, साम आदि के सार रूप ॐकार की व्याख्या की गयी है। देवासुर संग्राम के उपाख्यान से ॐकार-उद्गीथ को केवल स्वर-श्वास आदि तक ही सीमित न रखकर उसे मुख्य प्राणों के स्पन्दन से जोड़ने का रहस्य समझाया है। फिर ॐकार की आध्यात्मिक, आधिदैविक उपासनाएँ समझाते हुए विभिन्न स्वरूप स्पष्ट किये गये हैं। दूसरे अध्याय में 'साम' को साधुता-श्रेष्ठता से जोड़ते हुए विभिन्न प्रकार की उपासनाओं का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में आदित्य को देवों का मधु कहकर उसकी विभिन्न दिशाओं से विभिन्न प्रकार के अमृतों की उपलब्धि का वर्णन है। इस मधुविद्या के अधिकारियों का उल्लेख करते हुए गायत्री की सर्वरूपता सिद्ध करके आदित्य की ब्रह्मरूप में उपासना का निर्देश दिया गया है। चौथे अध्याय में सत्यकाम जाबाल का वृषभ, अग्नि, हंस एवं मुद्ग द्वारा ब्रह्म बोध कराये जाने का तथा उपकौशल को विभिन्न अग्नियों द्वारा शिक्षित किए जाने का उपाख्यान है। पाँचवाँ अध्याय प्राण विद्या परक है। श्वेतकेतु एवं प्रवाहण संवाद में अप्तत्त्व का पाँचवीं आहुति में व्यक्तिवाचक बन जाने तथा अश्वपति एवं ऋषियों के संवाद से प्राण की विभिन्न प्रकृतियों का उल्लेख है। छठवें अध्याय में ईश्वर एवं आत्मा के विभिन्न स्वरूपों को विभिन्न दृष्टान्तों से स्पष्ट किया गया है। सातवें अध्याय में ब्रह्म की विभिन्न रूपों में उपासना समझायी गई है। आठवें अध्याय में इन्द्र एवं विरोचन के कथानक द्वारा आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए तप द्वारा पात्रता अर्जित करने का महत्त्व दर्शाया गया है। अन्त में आत्मज्ञान की परम्परा एवं उसके फल का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु..... इति शान्तिः (द्रष्टव्य- केनोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्॥ १ ॥

'ॐ' इस अक्षर का यज्ञ में उद्गाता द्वारा सर्वप्रथम उच्चारण किया जाता है। ॐ का उच्चारण करके उद्गाता सामगान करता है। उसी उद्गीथ साधना की यहाँ व्याख्या की जाती है॥ १ ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः॥ २ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों अथवा पदार्थों का रस (सार) पृथ्वी है। पृथ्वी का रस (सारभाग) जल है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुरुष है। पुरुष का रस वाक् है। वाणी का रस साम है। साम का रस उद्‌गीथ ॐकार है॥ २॥

स एष रसानाꣳ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः॥ ३॥

यह ॐकार सभी रसों में सर्वोत्तम रस है। यह परमात्मा का प्रतीक होने के कारण उपास्य है। यह पृथिवी आदि रसों में आठवाँ है॥ ३॥

[रसों में आठवाँ होने का अपना महत्त्व है। यह सृष्टि सात-सात के वर्गों में विभक्त है, सप्तलोक, सप्तराग, सातरंग, सप्तव्याहृतियाँ आदि। आठवाँ पिछले सप्तक का समापक तथा नये सप्तक का प्रारंभक होता है। ॐ में सभी रस समाहित भी होते हैं तथा उसी से सब प्रकट भी होते हैं, गूढ़ार्थ में आठवाँ कहने का यही भाव प्रतीत होता है।]

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति॥ ४॥

अब यह विचार किया जाता है कि कौन-कौन सा ऋक् है, कौन सा साम है और कौन सा उद्‌गीथ है॥

वागेवर्क्प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क्च साम च॥

वाक् ही ऋक् है, प्राण ही साम है और ॐकार ही उद्‌गीथ है। जो ऋक् रूप वाणी और सामरूप प्राण है, ये (मिथुन) जोड़े प्रसिद्ध हैं॥ ५॥

[प्राण ही साम है। सामगान केवल वाणी की कलाकारिता नहीं है, उसमें वाणी के साथ प्राण का स्पन्दन भी जुड़ा होना चाहिए। यदि प्राण में अन्तः स्फूर्त तरंगें नहीं उठतीं, तो साम गान नहीं बन पाता। सामान्य गायन की प्रभावोत्पादकता में भी यही तथ्य कार्य करता है।]

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्॥ ६॥

जिस प्रकार मिथुन (स्त्री-पुरुष) का मिलन एक दूसरे की कामनाओं की पूर्ति करता है, उसी प्रकार इस (वाणी और प्राण अथवा ऋचा और साम के) जोड़े के संयोग से ॐकार का संसृजन होता है॥ ६॥

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥ ७॥

जो विद्वान् उद्‌गीथ रूप ॐकार की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति कराने वाला होता है॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥ ८॥

यह ॐकार अनुमति सूचक है। जब कोई किसी को अनुमति देता है, तो ॐकार कहकर उसे प्रकट करता है। यह अनुमति ही समृद्धिप्रद है। यह जानने वाला जो विद्वान् ॐकार की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है॥ ८॥

[यह सृष्टि ब्रह्म के संकल्प से बनी है। सृष्टि उत्पादन के पीछे उसकी अनुमति, सृष्टि सृजन की संमति ही मूल कारण है। जिस ऋद्धि-सिद्धि या साधन के लिए ब्रह्म की अनुमति हो जाती है, वही तत्त्व अस्तित्व में आ जाता है। अस्तु, ब्रह्म की अनुमति ही समृद्धि है, ऋषि का यह कथन बहुत मर्मयुक्त है।]

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्ये-तस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन॥ ९॥

ॐअक्षर से ही त्रयी (वेदत्रयी अथवा त्रिगुणात्मिका सृष्टि की) विद्या (यज्ञादि या सृष्टि सृजन)कर्म में प्रवृत्त होती है। ॐ कहकर ही अध्वर्यु आश्रावण (आदेश) कर्म करता है। ॐ कहकर ही होता शंसन

(पाठ या स्तुति) करता है और उद्‌गाता सामगान आरम्भ करता है। इसी ॐकार अक्षर रूप ब्रह्म की महिमा और रस(हव्य) से सभी यज्ञादि कर्म उसी अक्षर (ब्रह्म) की अर्चना के लिए सम्पन्न किये जाते हैं॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति॥ १०॥

जो उस (अक्षर ब्रह्म) को जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों ही उसी के माध्यम से कर्म करते हैं। विद्या और अविद्या (युक्तकर्म) के भिन्न-भिन्न फल हैं। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और उपासना से युक्त होकर किया जाता है, वही अधिक शक्तिशाली होता है। यह उस अक्षर ब्रह्म की ही व्याख्या है॥ १०॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति॥ १॥

प्रजापति की दोनों सन्तानें-देवगण और असुरगण परस्पर युद्ध करने लगे, तो देवों ने विचार किया कि हम उद्‌गीथ की उपासना करके असुरों का पराभव करेंगे॥ १॥

[परमात्मा को प्रजा-सृष्टि का जनक तथा स्वामी-पति कहा गया है। उसी से देव-असुर, पदार्थ-प्रति पदार्थ (मैटर-एन्टी मैटर) सर्जक और मारक प्रवाह सत्प्रवृत्ति-दुष्प्रवृत्ति आदि की उत्पत्ति हुई, वही उसका स्वामी है। यदि ये एक हो जायें, तो पुनः वह निश्चेष्ट सृष्टि के पूर्व की स्थिति बन जाये। इसीलिए वे दोनों पक्ष अपने - अपने निर्धारित पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहते हैं। मनुष्य अपने संकल्प से किसी भी प्रवाह को फलित कर सकता है। आसुरी प्रभाव से बचने के लिए उद्‌गीथ साधना का विधान बतलाया गया है।]

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः॥ २॥

उन्होंने (देवों ने) नासिका स्थित प्राण के रूप में उद्‌गीथ की उपासना की, किन्तु असुरों ने उस प्राण को अपने पाप से भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधने के कारण ही वह (प्राण) सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दोनों को ग्रहण करता है॥ २॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। ताꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा॥ ३॥

फिर देवों ने वाणी के रूप में उद्‌गीथ (ॐकार) की उपासना की; किन्तु असुरों ने अपने पाप से वाणी को भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधे जाने के कारण वाणी सत्य और झूठ दोनों बोलने लगी॥ ३॥

अथ ह चक्षुरुद्‌गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ४॥

फिर देवों ने चक्षु रूप ॐकार की उपासना की; किन्तु असुरों ने अपने पाप से उसे भी भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधे जाने के कारण नेत्र देखने योग्य और न देखने योग्य दोनों को देखता है॥ ४॥

अथ ह श्रोत्रमुद्‌गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ५॥

फिर देवों ने श्रोत्ररूप ॐकार की उपासना की, तब असुरों ने अपने पाप से उसे भ्रष्ट कर दिया, पाप से बींधे जाने के कारण श्रोत्र सुनने योग्य और न सुनने योग्य सभी बातों को सुनता है॥ ५॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयः संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ६॥

फिर देवों ने मन के रूप में ॐकार की उपासना की, तब असुरों ने अपने पाप से उसे भी भ्रष्ट कर दिया, पाप से बींधे जाने के कारण मन विचारने योग्य और न विचारने योग्य सभी बातों पर विचार करने लगा॥ ६॥

[यहाँ ऋषि ने यह स्पष्ट किया है कि इन्द्रियों से सम्बद्ध प्राणों से भी उद्गीथ साधना की जा सकती है, किन्तु थोड़ा भी चूकने पर आसुरी प्रवाह उनमें विकार-विक्षेप डाल सकते हैं। आगे समझाया है कि मुख्य प्राण से उद्गीथ साधना करने पर आसुरी प्रपंच असफल हो जाते हैं।]

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तःहासुरा ऋत्वा विदध्वःसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वःसेत॥ ७॥

फिर देवों ने मुख्य प्राण के रूप में उद्गीथ (ॐकार) की उपासना की, असुरों ने उसे भी पाप युक्त करना चाहा, पर उसके निकट जाकर वे ऐसे ध्वस्त हुए, जैसे कठोर चट्टान से टकराकर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है॥ ७॥

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वःसत एवः हैव स विध्वःसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः॥ ८॥

जिस प्रकार अभेद्य चट्टान से टकराकर मिट्टी का ढेला विदीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति विनष्ट हो जाता है, जो उद्गीथ (ॐकार) के इस रहस्य को जानने वाले के प्रति पापयुक्त आचरण अथवा दुर्व्यवहार करता है; क्योंकि वह मुख्य प्राण का उपासक अभेद्य चट्टान की तरह दृढ़ होता है॥ ८॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति। एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति॥ ९॥

इस मुख्य प्राण के द्वारा मनुष्य सुगन्ध या दुर्गन्ध का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह पाप से संयुक्त नहीं है। मनुष्य जो कुछ खाता-पीता है, उसके द्वारा वह समस्त इन्द्रियों के प्राणों को पोषण प्रदान करता है। अन्तकाल में वह प्राण द्वारा अन्न ग्रहण नहीं करता, तो समस्त इन्द्रियों के प्राणों का उत्क्रमण हो जाता है और मुख फटा रह जाता है॥ ९॥

[शरीरस्थ मुख्य प्राण जब उद्गीथ (उच्च श्रेष्ठ भाव ॐकार) साधना में प्रवृत्त होता है, तो वह आहार को पचाते समय उसके भी उच्च संस्कार को जगा देता है। आहार के माध्यम से इन्द्रिय स्थित प्राणों के पोषण के क्रम में वही उच्च संस्कार उन्हें विकारों के आक्रमण से बचा लेता है। आगे मुख्य प्राण की व्याख्या की गई है।]

तःहाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः॥ १०॥

अङ्गिरा ऋषि ने पहले मुख्य प्राण के रूप में ॐकार की ही उपासना की थी। अतः प्राण को "आङ्गिरस" भी कहा गया है, क्योंकि यह सम्पूर्ण अङ्गों का रस अथवा आधार है॥ १०॥

तेन तःह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः॥ ११॥

इसी प्रकार बृहस्पति देव ने भी उस मुख्य प्राण के रूप में ॐकार की उपासना की, अतः प्राण को बृहस्पति भी कहा गया; क्योंकि वाक् को बृहती कहा गया है और उसके पति (स्वामी) होने से प्राण को बृहस्पति माना गया है॥ ११॥

तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

आयास्य ऋषि ने भी प्राण के रूप में ही उद्गीथ की उपासना की थी, अतः मनुष्य इस प्राण को ही आयास्य मानते हैं, क्योंकि यह प्राण आस्य अर्थात् मुख से निष्क्रमण करता है॥ १२॥

तेन तꣳह बको दाल्भ्यो विदांचकार। स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

दल्भ ऋषि के पुत्र बक नामक ऋषि ने प्राण के रूप में उद्गीथ अर्थात् ॐकार की उपासना की । वे ऋषि नैमिषारण्य में यज्ञ करने वाले ऋषियों के उद्गाता हुए। उन्होंने ऋषियों की कामनाओं की पूर्ति के लिए उद्गान किया॥ १३॥

[जिसने उद्गीथ साधना की है, ऐसे साधक यज्ञादि कार्यों के समक्ष उनके संकल्प के अनुरूप अपने प्राणों को तरंगित करके उसी भाव से पूरे वातावरण को भर देने में समर्थ होते थे।]

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम्॥ १४॥

इस प्रकार इस तथ्य को जानने वाला जो विद्वान् इस अक्षर ब्रह्म ॐकार की उपासना करता है, वह कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है। यह (शरीर की) आध्यात्मिक उपासना का वर्णन है॥ १४॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्यꣳस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद॥ १॥

अब आधिदैविक उपासना का वर्णन करते हैं- तपःशील आदित्य के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। यह उदित होकर मनुष्यों के लिए उद्गान अर्थात् प्राणों का संचार करता है। उदित होकर यह अज्ञानरूपी अन्धकार और उससे उत्पन्न होने वाले भय का नाश करता है। जो इस प्रकार जानता है, वह तमस् और सर्वविध भय का नाश करने वाला होता है॥ १॥

[ईश्वर ने आदित्य को जो प्राण सम्पदा दी है, उसे वह उत्कृष्ट प्रयोजनों के लिए ही प्रकट करता है। उसे आदर्श मानकर अपने प्राणों को गति देने वाला साधक उक्त सिद्धि प्राप्त करता है।]

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत॥ २॥

यह प्राण और वह सूर्य दोनों ही समान हैं। यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है। इस प्राण को स्वर कहते हैं और उस सूर्य को भी स्वर एवं (अस्तकाल में) प्रत्यास्वर कहते हैं। अतः इस प्राण और उस सूर्य रूप में उद्गीथ (ओंकार) की उपासना करनी चाहिए॥ २॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वाच-मभिव्याहरति॥ ३॥

व्यान नामक शरीरस्थ प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। मनुष्य श्वास के द्वारा जो भीतर की वायु बाहर निकालता है, वह प्राण है; और बाहर की वायु जो अन्दर खींचता है, वह अपान है। जो प्राण और अपान की सन्धि है, वह व्यान है। व्यान ही वाणी है। इसीलिए जब मनुष्य बोलता है, तब वह प्राण तथा अपान की क्रिया नहीं करता है॥ ३॥

[प्राण तत्त्व की प्राण-अपान क्रियाएँ स्वचालित (आटोमैटिक) हैं। व्यान में संकल्प पूर्वक प्राण नियोजन दिशा विशेष में होता है। साधना क्रम में प्राण को संकल्प पूर्वक उत् -उच्च आदर्शों की दिशा में तरंगित करना उद्‌गीथ है। यह क्रिया प्राण एवं अपान क्रियाओं का रोध करके की जाती है। अगले मंत्रों में इस विषय को और भी स्पष्ट किया गया है।]

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति॥ ४॥

जो वाणी है, वही ऋक् है। इसलिए मनुष्य श्वास-प्रश्वास की क्रिया न करते हुए भी ऋक् का उच्चारण करता है। जो ऋक् है, वही साम है। इसी से मनुष्य श्वास प्रश्वास की क्रिया न करते हुए भी सामगान करता है। जो साम है, वही उद्‌गीथ है। इसीलिए मनुष्य श्वास-प्रश्वास न करते हुए भी उद्‌गीथ का गान करता है॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत॥ ५॥

इसके अतिरिक्त जो अन्यान्य पराक्रमयुक्त कर्म हैं, जैसे-अग्नि मन्थन, किसी विशिष्ट लक्ष्य तक दौड़ना, दृढ़ धनुष को खींचना इन सब कर्मों को भी मनुष्य श्वास-प्रश्वास को रोककर ही करता है। अतः व्यान के रूप में ही उद्‌गीथ की उपासना करना चाहिए॥ ५॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदꣳसर्वꣳ स्थितम् ॥ ६॥

'उद्‌गीथ' शब्द के अक्षरों से भी उद्‌गीथ की उपासना की जाती है। उद्‌गीथ शब्द में 'उत्' प्राण का पर्याय है, क्योंकि प्राण की शक्ति से प्राणी उठते हैं। वाणी ही 'गी' अक्षर है, क्योंकि वाणी को 'गिरा' कहते हैं। 'थ' अक्षर अन्न है, क्योंकि अन्न के आश्रय से सम्पूर्ण प्राणी स्थित-जीवित हैं॥ ६॥

[उद्‌गीथ साधना से शरीर में इन्द्रियों में स्थित अन्न रूप प्राण, कर्म में व्यक्त प्राण (व्यान) तथा ऊर्ध्व गति देने वाले मुख्य प्राण तीनों को साधना अनिवार्य है। प्रकृति में भी विभिन्न रूपों में धारक, व्यक्त और उन्नायक प्राण प्रवाहों के संयोग से उद्‌गीथ साधना का मर्म आगे कहा गया है।]

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थꣳसामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७॥

ऊँचा होने से द्यौ ही 'उत्' है, अन्तरिक्ष 'गी' है और पृथिवी 'थ' है। आदित्य ही 'उत्' है, वायु ही 'गी' है और अग्नि ही 'थ' है। सामवेद ही 'उत्' है, यजुर्वेद 'गी' है और सामवेद 'थ' है। जो विद्वान् उद्‌गीथ के इन अक्षरों के तत्त्व को इस प्रकार जानता है, उसके लिए वाणी वेदों आदि का रहस्य प्रकट कर देती है और वह भोगों को प्राप्त करने वाला तथा भोगने की शक्ति वाला होता है॥ ७॥

आगे यह स्पष्ट किया गया है कि उद्‌गीथ का साधक सफलता के लिए अपने भावों को एकनिष्ठ रखे। सामगान- स्तुतिगान करने वाले की भाव-साधना, आत्म साधना का स्पष्ट उल्लेख है-

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत्।

अपने अभीष्ट ध्येय की उपासना करनी चाहिए। इससे निश्चयपूर्वक अभीष्ट कामनाओं की समृद्धि प्राप्त होती है। उद्गाता जिस साम के द्वारा उपासना करना चाहता है, वह उसी साम का चिन्तन सर्वदा करे॥ ८॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत्॥ ९॥

वह साम जिस ऋचा में हो, उस ऋचा का, उसके ऋषि का तथा उसके देवता का चिन्तन भी उद्गाता को करना चाहिए॥ ९॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तꣳस्तोममुपधावेत्॥ १०॥

वह उद्गाता जिस छन्द के द्वारा स्तुति करता हो, उस छन्द का चिन्तन करे। जिन स्तोत्रों से स्तुति करता हो, उन स्तोत्रों का चिन्तन करे॥ १०॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११॥

वह जिस दिशा की स्तुति करता हो, उस दिशा का चिन्तन करे॥ ११॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृद्ध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२॥

अन्त में अपने आत्मस्वरूप का और अपनी कामना का चिन्तन करके, वह प्रमादरहित स्तुति करे। जिस कामना की पूर्ति के लिए वह परमात्मा की स्तुति करता है, वह शीघ्र ही अभीष्ट फल प्राप्त करता है॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्॥ १॥

ॐ यह अक्षर ही उद्गीथ है- यह जानकर उपासना करनी चाहिए। उद्गाता यज्ञ में ॐ का उच्चारण करके उद्गान करता है। उस उद्गीथ की ही व्याख्या की जाती है॥ १॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्॥ २॥

मृत्यु से डरते हुए देवों ने त्रयी विद्या में प्रवेश लिया और अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया। आच्छादित करने वाले होने के कारण वे छन्द कहे गये॥ २॥

[देवता तो अमर कहे गये हैं, फिर उन्हें मृत्यु का भय कैसे ? यहाँ देवों का तात्पर्य शरीरस्थ देव शक्तियों से है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उल्लेख है कि विराट् पुरुष के अंगों से उत्पन्न देवों ने मनुष्य के अंग-अवयवों में प्रवेश किया। मनुष्य मर्त्य है, उसके अंगों में स्थित देवों को ही मृत्युभय होता है।]

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि । ते नु वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्॥ ३॥

जिस प्रकार मछली पकड़ने वाला धीवर जल के भीतर मछली को देख लेता है, उसी प्रकार ऋक् , साम और यजुष् सम्बन्धी कर्मों में संलग्न देवों को मृत्यु ने देख लिया। देवों को यह बात ज्ञात होने पर वे उन ऋक्, साम और यजुष् सम्बन्धी कर्मों को त्यागकर उस ॐकार अक्षर में ही प्रविष्ट हो गये॥ ३॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्॥ ४॥

जब कोई उपासक ऋचा-पाठ करता है, तो वह बड़े आदर के साथ ॐ का उच्चारण करता है । उसी प्रकार साम एवं यजुष् पाठ करने वाले भी ॐ अक्षर का उच्चारण करते हैं। यद्यपि ॐएक स्वर है, तथापि

यह अक्षर, अमृत और अभय रूप ब्रह्म का ही प्रतीक है। देवगण इस अक्षर ब्रह्म ॐकार में प्रविष्ट होकर अमरत्व और अभय को प्राप्त होते हैं॥ ४॥

[देवगण जब तक नश्वर इन्द्रियादि के रसों में अपना अस्तित्व देखते हैं, तब तक वेदोक्त अनुशासन का पालन करने पर भी मृत्यु भय से मुक्त नहीं होते। जब ॐकार रूप ब्रह्म के सर्वोत्तम रस के आनन्द में प्रवेश करते हैं, तो अमर हो जाते हैं।]

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳ स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति॥ ५॥

जो ज्ञानी इस अक्षर ब्रह्म ॐ को इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह अमृत और अभयरूप स्वर ब्रह्म ॐ में ही प्रविष्ट करता है। जिस प्रकार इसमें प्रविष्ट होकर देवगण अमरत्व भाव को प्राप्त हुए, उसी प्रकार वह भी अमरत्व को प्राप्त होता है॥ ५॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति॥ १॥

यथार्थ में यह जो उद्‌गीथ है, वही प्रणव ॐ है और जो प्रणव है, वही उद्‌गीथ है। यह जो सूर्य है, वही उद्‌गीथ है, वही प्रणव है, क्योंकि यह गमन करते हुए ॐ का ही उच्चारण करता रहता है॥ १॥

[अपने पूरे सौर मण्डल को लिए सूर्य भी गतिशील है, यह तथ्य वर्तमान विज्ञान स्वीकार करता है। सूर्य के द्वारा प्राणों के संचार को उद्‌गीथ (छान्दो.१.३.१ में) पहले ही कहा जा चुका है।]

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम्॥ २॥

कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा- मैंने विशेषतः इसी आदित्य को लक्ष्य कर ॐकार का गान किया था, इसी से तू मेरा एक पुत्र है। अब तू यदि सूर्य से विकेन्द्रित होती सूर्य की रश्मियों का ध्यान कर, तो निश्चय ही तुम्हें बहुत से पुत्रों की प्राप्ति होगी। यह आधिदैविक उपासना का वर्णन है॥ २ ॥

[साधक के संकल्प के अनुरूप प्राण शक्ति का नियोजन होता है। उसी के अनुसार एक या बहुत से पुत्र प्राप्त होने की बात कही गयी है।]

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति॥ ३॥

अब आध्यात्मिक उपासना का वर्णन है। यह जो मुख्य प्राण है, उसी के रूप में उद्‌गीथ की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह गमन करते हुए सर्वदा ॐकार स्वर का ही उच्चारण करता रहता है॥ ३॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणाꣳस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति॥ ४॥

कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा- मैंने विशेषतः इसी मुख्य प्राण को लक्ष्यकर ॐकार का गान किया था; अतः तू मेरा एक पुत्र हुआ। अब तू मुख्य प्राण के गुणभेद से विशिष्ट प्राणों का चिन्तन कर, तो निश्चय ही तुम्हारे बहुत से पुत्र होंगे॥ ४॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनु समाहरतीति॥ ५॥

यथार्थ में जो उद्गीथ है, वही प्रणव (ॐ) है। जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। इस रहस्य को जानने वाला होता के आसन से उद्गाता से हुए दोष युक्त उद्गान को ॐ उच्चारण करके संशोधन कर लेता है ॥५॥

[यदि उद्गाता के गान में यज्ञ के उद्देश्य के अनुरूप भावों का स्पंदन न होने पाये, तो होता ॐकार के उद्गान से - मुख्य प्राण को तरंगित करके उस कमी की पूर्ति कर सकता है।]

॥ षष्ठः खण्डः ॥

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम॥ १ ॥

यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह अग्नि रूप साम, पृथिवी रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। अत: ऋचा में अधिष्ठित साम का गायन किया जाता है। पृथिवी को 'सा' और अग्नि को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है॥ १ ॥

[साम अर्थात् उद्गीथ को प्राण का संचरण कहा गया है। पृथ्वी तत्त्व (काष्ठ आदि) जब प्राण संचरित करते हैं, तो अग्नि का स्वरूप बनता है। इसी प्रकार आगे अन्तरिक्ष का प्राण संचरण वायु तथा आकाश द्वारा प्राण संचरण से आदित्य का स्वरूप बनना मान्य है।]

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम॥ २ ॥

अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है। वह वायु रूप साम अन्तरिक्ष रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। अत: ऋचा में अधिष्ठित साम का गायन किया जाता है। अन्तरिक्ष को 'सा' और वायु को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से 'साम' बनता है॥ २॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम॥ ३ ॥

आकाश ही ऋक् है और आदित्य साम है। वह आदित्य रूप साम द्यौ रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है, अत: ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। आकाश को 'सा' और आदित्य को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है॥ ३॥

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम॥ ४॥

नक्षत्र ही ऋक् है और चन्द्रमा साम है। वह चन्द्रमा रूप साम नक्षत्र रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है, अत: ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। नक्षत्र को 'सा' और चन्द्रमा को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है॥ ४॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्या-मृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते॥ ५॥

यह जो आदित्य का श्वेत प्रकाश है, वही ऋक् है और जो नीलवर्ण मिश्रित कृष्ण प्रकाश है, वह साम है। वह नीलवर्ण रूप साम इस श्वेत ज्योति रूप ऋक् में अधिष्ठित है, अत: ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है॥ ५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

यह आदित्य का श्वेत प्रकाश 'सा' है, नीलवर्ण मिश्रित कृष्ण प्रकाश 'अम' है। इन दोनों को मिलाने से साम बनता है। इस आदित्य के मध्य में एक स्वर्णिम पुरुष दिखाई देते हैं, जो स्वर्ण सदृश दाढ़ी मूँछ वाले तथा स्वर्णिम केशों वाले हैं, जो नख से लेकर शिखा पर्यन्त सम्पूर्ण रूप से स्वर्णमय हैं ॥ ६ ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

उस स्वर्णिम पुरुष के दोनों नेत्र बन्दर के बैठने के स्थान के सदृश अथवा कमल पुष्प के सदृश अरुणिम हैं। उनका नाम 'उत्' है, क्योंकि वह पापों से ऊपर उठे हैं। जो इस प्रकार जानते हैं, वह निश्चय ही पापों से ऊपर उठ जाते हैं ॥ ७ ॥

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

ऋग्वेद और सामवेद उसी पुरुष का वर्णन करते हैं। इसीलिए वह परमात्मा उद्गीथ है और उस 'उत्' का गान करने वाला उद्गाता कहलाता है। वह परम पुरुष 'उत्' आदित्य से ऊँचे लोकों और देवों का भी नियामक है और देवों की कामनाओं का पूरक है। यह उद्गीथ की आधिदैविक उपासना का स्वरूप है ॥ ८ ॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथाध्यात्मं वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

अब आध्यात्मिक उपासना का वर्णन किया जाता है। वाणी ही ऋक् है और प्राण साम है। इस प्रकार वाणी रूप ऋक् में प्राण रूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। वाणी को 'सा' और प्राण को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है ॥ १ ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते चक्षुरेव सात्माऽमस्तत्साम ॥ २ ॥

चक्षु ही ऋक् है और आत्मा साम है। इस प्रकार चक्षुरूप ऋक् में आत्मारूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। चक्षु को 'सा' और आत्मा को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है ॥ २ ॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

श्रोत्र ही ऋक् है और मन साम है। इस प्रकार श्रोत्र रूप ऋक् में मनरूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। श्रोत्र को 'सा' और मन को 'अम' मानकर उन्हें मिलाने से साम बनता है ॥ ३ ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्या-मृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम॥ ४॥

यह जो नेत्रों में श्वेत आभा है, वह ऋक् है और जो नील वर्ण युक्त श्याम आभा है, वह साम है। इस प्रकार (श्वेत आभारूप) ऋक् में (नीलयुक्त श्याम आभारूप) साम अधिष्ठित है, अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। नेत्रों की श्वेत आभा को 'सा' और श्याम आभा को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है॥ ४॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम॥ ५॥

यह नेत्रों के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजुष् और वही ब्रह्म है। उस पुरुष का वही रूप है, जो आदित्य के मध्य स्थित पुरुष है। उसके जो गुण हैं, वही इसके गुण हैं। उसका जो नाम 'उत्' है, वही इसका भी नाम है॥ ५॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः॥ ६॥

वही परम पुरुष पृथिवी से नीचे सभी लोकों पर आधिपत्य रखता है, वही मनुष्य की कामनाओं को भी अपने अधीन रखता है। जो लोग वीणा पर गायन करते हैं, वे उसी पुरुष का गायन करते हैं। इसी से वे धन-सम्पन्न होते हैं॥ ६॥

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति देवकामास्ताꣳश्च॥ ७॥

जो विद्वान् इस रहस्य को जानकर सामगान करता है, वह चक्षु के अन्तर्गत और आदित्य के अन्तर्गत अवस्थित दोनों पुरुषों का गायन करता है। इसके द्वारा वह आदित्य के ऊपर के लोकों और देवों के भोगों को प्राप्त करता है॥ ७॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति मनुष्यकामाꣳश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्॥ ८॥

इसी के द्वारा वह उद्गाता इस लोक से नीचे के लोकों तथा मनुष्य के समस्त भोगों को प्राप्त करता है। अतः इस प्रकार जानने वाला उद्गाता यजमान से कहता है॥ ८॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामगानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति॥

'मैं आपके लिए किन अभीष्ट कामनाओं का गान के द्वारा आवाहन करूँ।' जो इस रहस्य को इस प्रकार जानकर सामगान करता है, वह अभीष्ट भोगों का गान के द्वारा आवाहन करने में समर्थ हो जाता है॥ ९॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति॥ १॥

तीन ऋषि उद्गीथ सम्बन्धी विद्या में पारङ्गत थे। एक शालावान् के पुत्र शिलक, द्वितीय चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य और तृतीय जीवल के पुत्र प्रवाहण। उन्होंने एक दिन परस्पर कहा- हम लोग उद्गीथ विद्या में पारङ्गत हैं, अतः क्यों न इस विषय पर वार्तालाप करें॥ १॥

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचꣳ श्रोष्यामीति॥ २॥

'हाँ , ऐसा ही करें, कहकर तीनों उत्तम स्थान पर बैठ गये। तब प्रवाहण जैवलि ऋषि ने कहा-पहले आप दोनों चर्चा करें, मैं आप ब्राह्मणों की कही बातों का श्रवण करूँगा॥ २॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३॥

तब शिलक शालावत्य ने दाल्भ्य चैकितायन से कहा-यदि आज्ञा हो, तो मैं प्रश्न करूँ। दाल्भ्य ने कहा- करो॥

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच॥ ४॥

'साम की गति (आश्रय) क्या है?' शिलक ने पूछा। दाल्भ्य ने उत्तर दिया 'स्वर'। फिर प्रश्न पूछा- स्वर की गति क्या है? दाल्भ्य ने कहा 'प्राण'। फिर प्रश्न पूछा- प्राण की गति क्या है? उन्होंने उत्तर दिया- 'अन्न' । फिर प्रश्न पूछा- अन्न की गति क्या है? उन्होंने उत्तर दिया -जल॥ ४॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकꣳ सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसꣳस्तावꣳ हि सामेति ॥ ५॥

जल की गति क्या है? ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर दिया- वह लोक (स्वर्ग)। इस पर शिलक ने पूछा- उस लोक की गति क्या है? इस पर दाल्भ्य ने कहा- स्वर्ग लोक का अतिक्रमण करके साम को दूसरे आश्रय में नहीं रख सकते। हम साम को पूर्णतया स्वर्ग में स्थित मानते हैं और उसकी स्वर्ग रूप में ही स्तुति की गयी है॥ ५॥

तꣳ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति॥ ६॥

तब दाल्भ्य चैकितायन से शिलक शालावत्य ने कहा- यह साम निश्चय ही अप्रतिष्ठित है; परन्तु यदि कोई उद्गाता यह कह दे कि तुम्हारा मस्तक पृथ्वी पर गिर जाये, तो निश्चय ही मस्तक पृथ्वी पर गिर जायेगा॥ ६॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकꣳ सामाभिसꣳस्थापयामः प्रतिष्ठासꣳस्तावꣳ हि सामेति ॥ ७॥

दाल्भ्य ने कहा- श्रीमन्! मैं साम की स्थिति आपसे जानना चाहता हूँ। शिलक ने कहा- अच्छा, जानो। दाल्भ्य ने प्रश्न पूछा स्वर्ग लोक का आश्रय क्या है? उनने कहा-यह लोक। फिर प्रश्न पूछा- इस लोक की गति क्या है? शिलक ने कहा- सबके आश्रयभूत इस लोक का अतिक्रमण करके साम को अन्य आश्रय में नहीं ले जाना चाहिए। हम इस लोक में साम को प्रतिष्ठित करके ही उसकी स्तुति करते हैं॥ ७॥

तꣳ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच॥ ८॥

तब प्रवाहण जैवलि ने कहा- हे शालावत्य! आपके द्वारा वर्णित यह साम तर्क द्वारा समाप्त हो जाने वाला है। यदि कोई उद्‌गाता यह कहे कि आपका मस्तक गिर जाये, तो यह मस्तक गिर जाएगा। फिर शिलक ने कहा- श्रीमन्! मैं साम की स्थिति आपसे जानना चाहता हूँ। इस पर प्रवाहण ने कहा- अच्छा, जानो॥ ८॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्॥ १॥

शिलक ने पूछा- इस लोक का आश्रय क्या है? प्रवाहण ने उत्तर दिया- आकाश, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी तथा तत्त्व इसी आकाश से उत्पन्न होते हैं और इसी में प्रलय को प्राप्त होते हैं, आकाश ही सबसे बड़ा है, अतः आकाश ही इस लोक का भी आश्रय है॥ १॥

स एष परोवरीयानुद्‌गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाꣳसमुद्गीथमुपास्ते॥ २॥

वही श्रेष्ठ से अतिश्रेष्ठ उद्‌गीथ है, वह अनन्त रूप है। जो विद्वान् उसे इस प्रकार जानता है, इससे वह परम उत्कृष्ट उद्‌गीथ की उपासना करता है। इससे वह परम उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त होता है और क्रमशः उच्चतर लोकों को प्राप्त होता जाता है॥ २॥

तꣳ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति॥ ३॥

अतिधन्वा शौनक ने इस उद्‌गीथ उपासना के तत्त्व को उदरशाण्डिल्य से व्यक्त किया। जब तक आपकी प्रजा इस उद्‌गीथ (प्राणों को ऊपर श्रेष्ठता की ओर तरंगित करने की विधा) को जानती रहेगी, तब तक उसका जीवन इस लोक में उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर होता जायेगा॥ ३॥

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४॥

परलोक में भी वह श्रेष्ठतर होता जायेगा। इस प्रकार जो विद्वान् उद्‌गीथ के इस रहस्य को समझकर उपासना करता है, उसका जीवन इस लोक में श्रेष्ठतर होता जाता है तथा परलोक में भी उसे श्रेष्ठतर स्थान प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ दशमः खण्डः ॥

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास॥ १॥

एक समय ओलों की वृष्टि के कारण कुरुदेश की खेती विनष्ट हो गयी। उस समय इभ्य ग्राम में चक्र ऋषि के पुत्र उषस्ति अपनी अल्पवयस्का पत्नी के साथ बड़ी दीन अवस्था में रहने लगे थे॥ १॥

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे तꣳहोवाच। नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति॥ २॥

एक दिन उषस्ति ऋषि ने अत्यन्त घुने उड़द खाने वाले एक महावत से भिक्षा माँगी। तब उसने कहा-

इन जूठे उड़द के सिवाय मेरे पास और कोई अन्न नहीं है, बस इसी पात्र में उड़द रखे हैं॥ २॥

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳस्यादिति होवाच॥ ३॥

उषस्ति ऋषि ने कहा- इन्हीं में से मुझे दे दो। तब महावत ने उड़द देते हुए कहा- इन्हें खाकर आप जल भी पी लें। उषस्ति ऋषि ने कहा- इस जल को पीने से मुझे जूठा जल पीने का दोष लग जाएगा॥ ३॥

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमा न खादन्निति होवाच कामो म उदपानमिति॥ ४॥

महावत ने पूछा- क्या ये उड़द जूठे नहीं हैं? उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया-इन्हें खाये बिना मैं जीवित नहीं रह सकता था, परन्तु जल तो मुझे कहीं भी मिल सकता है॥ ४॥

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ॥ ५॥

उषस्ति ऋषि ने उनमें से एक भाग खाकर दूसरा भाग ले जाकर अपनी पत्नी को दिया, वह पहले ही बहुत सी भिक्षा प्राप्त कर चुकी थी, सो उसने उस उड़द को लेकर रख दिया॥ ५॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद् बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राꣳ राजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति॥ ६॥

तत्पश्चात् प्रातःकाल शय्या त्यागने के बाद उषस्ति ऋषि ने अपनी पत्नी से कहा-मुझे कहीं से थोड़ा अन्न प्राप्त हो जाता, तो उसे खाकर मैं निर्वाह के लिए धन प्राप्त कर लेता। यहाँ समीपस्थ राजा यज्ञ करने वाले हैं, वे मुझे सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के लिए वरण कर लेंगे॥ ६॥

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय॥ ७॥

उषस्ति ऋषि की पत्नी ने उनसे कहा- हे स्वामिन्! ये आपके दिये हुए उड़द रखे हैं, इन्हें आप खा लें। उषस्ति ऋषि उन्हें खाकर उस विशाल यज्ञ में गये॥ ७॥

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच॥ ८॥

वहाँ वे स्तोताओं के स्थान पर जाकर उनके समीप बैठ गये और प्रस्तोता से बोले-॥ ८॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति॥ ९॥

हे प्रस्तोतः! जिस देवता के प्रति स्तुति करते हो, यदि उसे बिना जाने आप स्तुति करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा॥ ९॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति॥ १०॥

इसी प्रकार वे उद्गाता के पास जाकर बोले- हे उद्गातः! जिस देवता के प्रति उद्गीथ गान करते हैं, उसे बिना जाने यदि उद्गान करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जायेगा॥ १०॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रति-हरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे॥ ११॥

इसी प्रकार उन्होंने प्रतिहर्ता के पास जाकर कहा हे प्रतिहर्तः! जिस देवता के प्रति आप प्रतिहरण करते हैं, उसे बिना जाने यदि प्रतिहरण करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा। यह

सुनकर प्रस्तोता, उद्गाता आदि अपने-अपने कर्मों से विरत होकर बैठ गये॥ ११॥

[यदि कोई व्यक्ति केवल रटे हुए ज्ञान के आधार पर श्रेय पाने का प्रयास करते थे, तो तत्त्वज्ञ ऋषि इस प्रकार की 'आन' (शर्त) रखकर उनकी गहराई की परीक्षा लेते थे। वे भी तत्त्वज्ञ के आगे अपनी सीमा स्वीकार कर लेते थे।]

॥ एकादश: खण्ड: ॥

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच॥ १॥

तब उषस्ति ऋषि से यजमान राजा ने कहा- मैं आप पूज्य को जानना चाहता हूँ। इस पर उषस्ति ऋषि कहने लगे- मैं चक्र का पुत्र उषस्ति हूँ॥ १॥

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभि: सर्वैरार्त्विज्यै: पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्त्वा-न्यानवृषि॥

तब राजा ने कहा- मैंने इन सब ऋत्विक् कर्मों के लिए आपको खोजा था, परन्तु आपके न मिलने पर ही मैं इन ऋत्विजों का वरण कर चुका हूँ॥ २॥

भगवाꣳस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टा: स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच॥ ३॥

अब आप ही हमारे सम्पूर्ण यज्ञ कर्मों को सम्पन्न कराएँ। उषस्ति ऋषि ने कहा- ऐसा ही हो। अब मैं इन्हीं प्रस्तोता, उद्गाता आदि को प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करने की आज्ञा देता हूँ और आप जितना धन इन्हें दें, उतना ही मुझे दे देना। तब राजा ने कहा वैसा ही हो॥ ३॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥ ४॥

तब प्रस्तोता उषस्ति ऋषि के समीप आकर कहने लगे- हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रस्तोत: ! आप जिस देवता की स्तुति करते हैं, उसे बिना जाने यदि स्तुति करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा। अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है ?॥ ४॥

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति॥ ५॥

तब उषस्ति ऋषि कहने लगे कि वह देवता प्राण है। प्रलय काल में सभी प्राणी प्राण में ही प्रवेश कर जाते हैं और उत्पत्ति के समय ये प्राण से ही उत्पन्न हो जाते हैं। यह प्राण ही स्तुत्य देव है। यदि आप उसे बिना जाने स्तुति करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका सिर निश्चय ही गिर जाता॥ ५॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥ ६॥

तदनन्तर उनके पास उद्गाता आकर कहने लगे- हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि हे उद्गात: ! आप जिस देवता की स्तुति करते हैं, उसे बिना जाने यदि स्तुति करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा। अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है ?॥ ६॥

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति॥ ७॥

तब उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया- वह देवता आदित्य है; क्योंकि ये सम्पूर्ण प्राणी उदीयमान सूर्य का ही गान करते हैं। यही देव उद्गीथ से सम्बन्धित है। यदि आप उसे बिना जाने स्तुति करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका सिर निश्चय ही गिर जाता॥ ७॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रति-हरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥ ८॥

उसके बाद प्रतिहर्ता उनके पास आये और कहने लगे- हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रतिहर्तः! आप जिस देवता का प्रतिहरण करते हैं, उसे बिना जाने यदि प्रतिहरण करेंगे, तो आपका सिर गिर जायेगा। अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है?॥ ८॥

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति॥ ९॥

इस पर उन्होंने कहा- वह देवता अन्न है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्न को ग्रहण करते हुए ही जीते हैं। अन्न देवता ही इस प्रतिहरण से सम्बंधित हैं। यदि उसे आप बिना जाने ही प्रतिहरण करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका मस्तक गिर जाता॥ ९॥

॥ द्वादशः खण्डः॥

इस खण्ड में शौव उद्गीथ का वर्णन है। कोश ग्रन्थों के अनुसार 'शौव' शब्द 'शौवन' का संक्षिप्त रूप है। शौवन का अर्थ होता है श्वान से सम्बंधित। यह आलंकारिक उपाख्यान है। 'श्वान' शब्द शुन् धातु से बना है; शुन-गतौ के अनुसार श्वान का अर्थ गतिशील होता है। यहाँ 'शौव' का अर्थ प्राण से सम्बन्धित मानने से ही उपाख्यान का भाव स्पष्ट होता है। वर्णित कथानुसार ऋषि पुत्र स्वाध्याय के लिए प्राकृतिक स्थल पर गये हैं। वहाँ श्वेत (निर्मल-निर्दोष) श्वान (प्राण प्रवाह) का उन्हें साक्षात्कार होता है। अन्य श्वान (इन्द्रियादि के विकारों से ग्रस्त प्राण) अपनी भूख का हवाला देकर उनसे अन्न के लिए उद्गीथ का गान करने को कहते हैं। पूर्व खण्डों में कहा जा चुका है; शुद्ध प्राण की ही उद्गीथ साधना फलित होती है। वे प्रकृति में संव्याप्त प्राण समूह शुद्ध प्राण के नेतृत्व में उद्गीथ का गान करते हैं। इस प्रसंग में यहाँ वर्णित उपाख्यान का भाव सिद्ध होता है-

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज॥ १॥

अब शौव (प्राणों से सम्बन्धित) उद्गीथ का वर्णन करते हैं। बक दाल्भ्य अथवा ग्लाव मैत्रेय स्वाध्याय के लिए जलाशय के समीप गये॥ १॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति॥ २॥

उनके समीप श्वेत (निर्मल निर्विकार) श्वान (प्राण की इकाई) का प्राकट्य हुआ। उसके पास कुछ अन्य श्वान (विकारग्रस्त प्राण समूह) आकर कहने लगे; आप हमारे निमित्त अन्न प्राप्ति के लिए उद्गीथ का गान करें, हम सब भूखे हैं॥ २॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार॥ ३ ॥

उस श्वेत श्वान ने उन सबसे कहा- 'तुम कल प्रातःकाल मेरे पास आना।' तब कौतूहल पूर्वक बक दाल्भ्य और ग्लाव मैत्रेय भी प्रातःकाल की प्रतीक्षा करते रहे॥ ३॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येव माससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ॥ ४॥

प्रातःकाल वे सब श्वान (प्राण) मिलकर उसी प्रकार भ्रमण करने लगे, जैसे बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करने वाले उद्गाता परस्पर मिलकर भ्रमण करते हैं। तदनन्तर वे वहाँ बैठकर हिंकार करने लगे॥ ४॥

[बहिष्पवमान स्तोत्र का गान प्रातः सवन में वेदिका से हटकर, एक साथ गतिशील रहकर किया जाता है। उसका उद्देश्य श्रेष्ठ हव्यान्न की प्राप्ति होती है। यहाँ भी प्राण से सम्बद्ध प्रवृत्तियों द्वारा (भूख, प्यास आदि) अपने निर्वाह के लिए अन्न प्राप्ति की प्रार्थना की जा रही है। अगले मन्त्र में वह प्रार्थना की गयी है। इस स्तोत्र को त्रित कहा गया है। यह प्रार्थना तीन देवों से की गयी है।]

ओ३मदा३मों३पिबा३मों३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता३न्नमिहा२हरदन्नपते२ऽन्नमिहा हरा२हरो३मिति ॥ ५ ॥

वे हिंकार करते हुए कहने लगे- ॐहम भक्षण करें। ॐ हम पान करें। ॐ देव वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहाँ अन्न लाएँ। हे अन्नपते! यहाँ अन्न लाएँ, यहाँ अन्न लाएँ॥ ५॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

यहाँ साम से सम्बन्धित स्तोभ साधना का वर्णन है। इसमें शास्त्रीय संगीत की तरह स्वरों का गायन तो होता है, किन्तु अर्थवाचक शब्दों का उपयोग नहीं होता। उसी प्रक्रिया में प्रयुक्त स्वरों से सम्बद्ध भावों का विवेचन यहाँ किया गया है-

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

इसमें 'हाउ' शब्द यह लोक (पृथ्वी) है। 'हाइ' शब्द वायु है। 'अथ' शब्द चन्द्रमा है। 'इह' शब्द आत्मा है और 'ई' अग्नि है । यह मानकर उपासना करनी चाहिए॥ १॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २ ॥

'ऊ' आदित्य है, 'ए' निहव (निमंत्रण) का प्रतीक है 'औ होय' विश्वेदेवा है। 'हिं' प्रजापति है, 'स्वर' प्राण का रूप है। 'या' अन्न है और 'वाक्' विराट् है॥ २॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

जो अनिवर्चनीय है, परन्तु जो कार्य में संचरित होता है, वह तेरहवाँ स्तोभ 'हुं' है॥ ३॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति ॥ ४॥

जो इस प्रकार साम सम्बन्धी (स्तोभाक्षर सम्बन्धिनी) उपनिषद् (रहस्य) का महत्त्व जानता है। उसके सम्मुख वाणी अपना रहस्य स्वयं ही उद्घाटित कर देती है। वह प्रचुर अन्न तथा प्रदीप्त पाचक अग्नि वाला होता है॥ ४॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳ साधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति॥ १ ॥

साम की सम्पूर्ण उपासना श्रेष्ठ (साधु) है। संसार में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह साम है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। जो असाधु है, उसे असाम कहते हैं॥ १॥

[यहाँ सामगान का मूलभाव स्पष्ट हो जाता है। सामगान का अर्थ होता है 'सदुद्देश्य के लिए किया गया श्रेष्ठ गान।' केवल स्वर कौशल के आधार पर हीन-संकीर्ण (लोभादि) भावों से किया गया गान 'साम गान' नहीं कहला सकता। उसके लिए तो परमार्थ युक्त यज्ञीय भाव ही अभीष्ट होते हैं, इसी खण्ड के अन्तिम चौथे मंत्र में यह भाव ऋषि ने स्पष्ट किया भी है।]

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्य-साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

अतः जब कोई यह कहता है कि मैं साम द्वारा राजा के पास गया, तो इसका तात्पर्य साधु भाव से जाने के रूप में है और जब कोई यह कहे कि मैं 'असाम' द्वारा गया, तो उसके कहने का तात्पर्य असाधुभाव से जाने का है॥ २॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

इस प्रकार यदि 'हमें साम प्राप्त हुआ' ऐसा कहते हैं, तो उसका तात्पर्य अत्यन्त शुभ फल की प्राप्ति कहा जाता है और यदि 'हमें असाम प्राप्त हुआ' ऐसा कहते हैं, तो उसका तात्पर्य अत्यन्त अशुभ की प्राप्ति है॥ ३॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥ ४ ॥

इस प्रकार साम को जो श्रेष्ठ जान कर उपासना करता है, उसे श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति शीघ्र ही होती है और धार्मिक सिद्धान्त उसके प्रति अवनत होते हैं अर्थात् उसके लिए वे (धर्म सिद्धान्त) शीघ्र ही धारण योग्य होते हैं॥ ४॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

इसी उपनिषद् में पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'उद्गीथ' ही 'साम' है तथा साम का भाव 'साधु'- श्रेष्ठ सदाशयता पूर्ण होता है। उद्गीथ में प्राणों को उद्देश्य विशेष के लिए तरंगित- प्रेरित किया जाता है। श्रेष्ठ संदर्भों में प्राणों को तरंगित करने का क्रम स्थूल-सूक्ष्म प्रकृति में विभिन्न रूपों में चल रहा है। यज्ञीय गान में साम के पाँच विभाग या भक्ति कहे गये हैं। ऋषि ने विराट् प्रकृति यज्ञ में साम के विभिन्न रूपों और उसके विभागों का वर्णन सप्तम खण्ड तक किया है। कहा गया है कि प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं में होने वाले प्राणों के साम प्रयोगों से जो साधक तादात्म्य बिठा लेता है, उस साधक में उस चक्र को नियंत्रित करने की क्षमता आ जाती है-

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु॥ १ ॥

ऊर्ध्व लोकों में पाँच प्रकार से साम की उपासना की जाती है। पृथ्वी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है। आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है॥ १॥

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २॥

इसी प्रकार अधोमुख लोकों में भी पाँच प्रकार से साम की उपासना की जाती है। स्वर्ग हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथ्वी निधन है॥ २॥

[सामगान में 'हिंकार' प्रारंभ तथा 'निधन' समापन का द्योतक है। जब पृथ्वी से ऊर्ध्व लोकों को लक्ष्य करके प्राण तरंगित किया जाता है, तो मंत्र क्र. १ की स्थिति बनती है तथा जब ऊर्ध्व लोकों से पृथ्वी को लक्ष्य करके साम प्रयोग होता है, तो मंत्र क्र. २ की स्थिति बनती है।]

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳसामो-पास्ते॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पंचविध साम की उपासना करता है, उसके लिए ऊर्ध्व और अधो लोकों के भोग सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं॥ ३॥

॥ तृतीयः खण्डः॥

वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत पुरो वातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः॥ १॥

अब वृष्टि में पाँच प्रकार के साम की उपासना का वर्णन करते हैं। पूर्वीय वायु हिंकार है, उत्पन्न होने वाला मेघ प्रस्ताव है। बरसने वाला जल उद्गीथ है। जो चमकता और गर्जन करता है, वह प्रतिहार है॥ १॥

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २॥

जो जल को ग्रहण करता है, वह निधन है। इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पंचविध साम की उपासना करता है, उसकी इच्छा के अनुरूप ही वर्षा होती है। उसे ही वर्षा कराने का श्रेय प्राप्त होता है॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳसामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम्॥ १॥

सब प्रकार के जल में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। घनीभूत होने वाले मेघ हिंकार हैं, बरसने वाले मेघ प्रस्ताव हैं, पूर्व दिशा में प्रवहमान मेघ उद्गीथ हैं, पश्चिम दिशा में प्रवहमान मेघ प्रतिहार हैं, समुद्र निधन हैं॥ १॥

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ २॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष सब प्रकार के जल में पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसकी कभी जल में मृत्यु नहीं होती और वह जल से सर्वदा सम्पन्न रहता है॥ २॥

॥ पञ्चमः खण्डः॥

ऋतुषु पञ्चविधꣳसामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्॥ १॥

ऋतुओं में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। वसन्त ऋतु हिंकार है। ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव है, वर्षा ऋतु उद्गीथ है, शरद् ऋतु प्रतिहार है और हेमन्त ऋतु निधन है॥ १॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ २॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसे ऋतुएँ अभीष्ट भोग प्रदान करती हैं तथा वह ऋतु के अनुसार सर्वदा भोगों से सम्पन्न रहता है॥ २॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

पशुषु पञ्चविधꣳसामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम्॥ १॥

पशुओं में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष निधन हैं॥ १॥

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते॥ २॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पशुओं में पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसे पशु सम्पदा प्राप्त होती है और वह पशुओं द्वारा प्रदत्त भोगों से सम्पन्न होता है॥ २॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाꣳसि वैतानि॥ १॥

प्राणों (इन्द्रियों) में श्रेष्ठता के क्रम से साम की पंचविध उपासना करनी चाहिए। यह प्राण हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है। ये उपासनाएँ क्रमशः श्रेष्ठतर हैं॥ १॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य॥ २॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष प्राणों में पञ्चविध साम की उपासना करता है, वह श्रेष्ठतर जीवन को प्राप्त होता है तथा श्रेष्ठतर लोकों को प्राप्त करता है। यह पञ्चविध साम उपासना का स्वरूप है॥ २॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

सामान्य क्रम में साम के पाँच विभाग किये जाते हैं। जब साधक की साधना परिपक्व हो जाती है, तो उसके सूक्ष्म विभाग बनाकर संख्या सात कर दी जाती है। अष्टम से दशम खण्ड तक सप्तविध साम की उपासना का मर्म प्रकट किया गया है-

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधꣳ सामोपासीत यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः॥ १॥

अब सप्तविध साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। वाणी में सप्तविध साम की उपासना करनी चाहिए। शब्द 'हुं' हिंकार रूप है। शब्द 'प्र' प्रस्ताव रूप है और शब्द 'आ' ही आदि रूप है॥ १॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम्॥ २॥

शब्द 'उत्' ही उद्गीथ रूप है, 'प्रति' ही प्रतिहार है। शब्द 'उप' उपद्रव रूप है और 'नि' निधन रूप है॥ २॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते॥ ३॥

इस प्रकार से जानने वाला जो पुरुष वाणी में सप्तविध साम की उपासना करता है, वह वाणी के सारतत्त्व को प्राप्त कर लेता है तथा प्रचुर अन्न एवं अन्न को पचाने की सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम॥ १॥

अब आदित्य के रूप में सप्तविध साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। आदित्य सदा ही सम रहता है, अतः वह साम है। सभी को यही अनुभूत होता है कि वह हमारे प्रति सम है, अतः वह सभी के प्रति समान भाव वाला होने से भी साम है॥ १॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ २॥

इस आदित्य के ये सम्पूर्ण प्राणी अनुगामी हैं। उसके उदय के पूर्व का रूप हिंकार है। सम्पूर्ण पशु आदि उसके हिंकार रूप के ही अनुगामी हैं। वे उस आदित्य रूप साम के हिंकार रूप के उपासक हैं। उसके उदय होने पर सभी हिंकार करने लगते हैं॥ २॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ३॥

उदीयमान सूर्य का जो प्रारंभिक रूप है, वह प्रस्ताव है। सभी मनुष्य उसी रूप के अनुगामी हैं। वे इस सामरूप प्रस्ताव के स्तोता हैं और उसी की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में स्तुति करने की अभिलाषा रखते हैं॥ ३॥

अथ यत्सङ्गववेलायाꣳ स आदिस्तदस्य वयाꣳस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽना-रम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः॥ ४॥

जो सङ्गव वेला (सूर्योदय से तीन मुहूर्त अर्थात् लगभग ढाई घण्टे तक का समय) में आदित्य का रूप रहता है, वह आदि रूप है। समस्त पक्षीगण उसी रूप के आश्रय में रहते हैं। वे उसी आदि रूप साम का भजन करने वाले हैं, अतः वे अपने आश्रय को छोड़कर अन्तरिक्ष में स्वच्छन्द विचरण करते हैं॥ ४॥

अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाःप्राजापत्या-नामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ५॥

तदनन्तर मध्य दिवस में आदित्य का जो रूप होता है, वह उद्‌गीथ रूप है। समस्त देवगण उसी उद्‌गीथ रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे उद्‌गीथ रूप साम के भागी (उपासक) हैं, अतः प्रजापति से उत्पन्न प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हैं॥ ५॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ६॥

आदित्य का जो रूप मध्याह्न के बाद और अपराह्न से पूर्व का होता है, वह प्रतिहार है। सभी गर्भ उसी रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे प्रतिहाररूप साम के भागी हैं, अतः वे ऊपर की ओर आकृष्ट होने पर भी नीचे नहीं गिरते॥ ६॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षꣳ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ७॥

अपराह्न के पश्चात् और सूर्यास्त के पहले आदित्य का जो रूप होता है, वह उपद्रव है। सभी वन्य प्राणी उस रूप के अनुगामी हैं, अतः वे पुरुष को देखकर भय से वन अथवा गुफा में चले जाते हैं॥ ७॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपास्ते॥ ८॥

तत्पश्चात् अस्त होते हुए सूर्य का जो रूप है, वह निधन है। पितृगण उसके उस रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे पितृगण निधन रूप साम के उपासक हैं, अतः उन्हें प्रजा (श्राद्धकाल में दर्भ पर) स्थापित करती है। इस प्रकार इस आदित्य रूप साम की सप्तविध उपासना की जाती है॥ ८॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳसामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम्॥ १॥

तदनन्तर आत्मा तुल्य अतिमृत्यु रूप सप्तविध साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। शब्द 'हिंकार' तीन अक्षरों वाला है तथा 'प्रस्ताव' भी तीन अक्षरों वाला है, अतः दोनों समान हैं॥ १॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥ २॥

शब्द 'आदि' दो अक्षरों से बना है और 'प्रतिहार' शब्द चार अक्षरों से बना है। इसमें से एक अक्षर निकालकर ' आदि' शब्द में जोड़ने से वे समान हो जाते हैं॥ २॥

उद्‌गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३॥

'उद्‌गीथ' शब्द तीन अक्षरों वाला है और उपद्रव चार अक्षरों वाला है। ये तीन-तीन अक्षरों में समान हैं, एक अक्षर शेष रह जाता है। यह शेष रहने वाला 'अक्षर' कहा जाता है, इसमें भी तीन अक्षर हैं, अतः वह भी समान है॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविꣳशतिरक्षराणि॥ ४॥

'निधन' शब्द तीन अक्षरों वाला है, यह उनके समान ही है। इस प्रकार कुल सात शब्दों में बाईस अक्षर हैं॥

एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेन परमादित्या-ज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५॥

इक्कीस अक्षरों से साधक आदित्य लोक को प्राप्त करता है। (बारह मास, पाँच ऋतुएँ और तीन लोक मिलकर बीस होते हैं) आदित्य ही इक्कीसवाँ अक्षर है। बाईसवें अक्षर से साधक आदित्य से परे सुख स्वरूप, शोक रहित (स्वर्ग) लोक को प्राप्त करता है॥ ५॥

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपास्ते सामोपास्ते॥ ६॥

इस प्रकार जो साधक परमात्म-तुल्य अति मृत्युरूप सप्तविध साम की उपासना करता है, वह इक्कीसवें अक्षर से आदित्य रूप साम की उपासना करता है और आदित्य लोक को जीत लेता है। बाईसवें अक्षर से वह आदित्य से परे लोक पर विजय प्राप्त करता है॥ ६॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्॥ १ ॥

अब गायत्र सम्बन्धी विशिष्ट उपासना का वर्णन किया जाता है। मन हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्‌गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है, प्राण निधन है। यह गायत्र-साम प्राणों में प्रतिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम्॥ २॥

जो साधक इस प्रकार गायत्र-साम को प्राणों में अधिष्ठित हुआ जानता है (अनुभव करता है); वह प्राणवान् होता है, पूर्ण आयु को भोगता है और तेजस्वी जीवन जीता है। वह प्रजाओं तथा पशुओं से समृद्ध होता है, महान् यशस्वी होता है, वह महामना बने, ऐसा उसका व्रत होता है (अर्थात् गायत्र उपासक को महामना-उदारचित्त होना चाहिए) ॥ २॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनꣳ सꣳशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम्॥ १ ॥

अभिमन्थन से उत्पन्न अग्नि हिंकार है। धूम्रयुक्त अग्नि प्रस्ताव है, प्रज्वलित अग्नि उद्‌गीथ है, अङ्गारयुक्त अग्नि प्रतिहार है, अग्नि का उपशमन (बुझने लगना) निधन है। अग्नि का सर्वथा शमन होना भी निधन है। यह रथन्तर साम अग्नि में प्रतिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम्॥

जो साधक इस प्रकार रथन्तर साम को अग्नि में प्रतिष्ठित जानता है, वह ब्रह्मतेज से सम्पन्न प्रदीप्त जठराग्नि से युक्त होता है। वह पूर्ण जीवन का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन व्यतीत करता है। प्रजाओं तथा पशुओं से सम्पन्न होता है। वह महान् कीर्ति से सम्पन्न वृद्धि को प्राप्त होता है। अग्नि की ओर मुख करके साधक भक्षण न करे और न ही थूके-यही उसका व्रत होता है॥ २॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्॥ १॥

अब स्त्री-पुरुष के जोड़े के रूप में वामदेव्य साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। पुरुष का संकेत देना हिंकार है। अपनी अभिव्यक्ति प्रस्ताव है। शयन उद्‌गीथ है। उस समय अनुकूल व्यवहार प्रतिहार है। स्नेह और सौहार्द्र पूर्वक साथ-साथ समय व्यतीत करना निधन है। यह वामदेव्य साम स्त्री-पुरुष के जोड़े में प्रतिष्ठित है॥ १॥

[ऋषि ने दाम्पत्य और उनके माध्यम से चलने वाले प्रजनन चक्र को वामदेव्य साम के अन्तर्गत कहा है। कुछ लोग इस प्रसंग पर अश्लीलता का आरोप लगाते हैं; किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ऋषि प्रकृति-प्रवाह

के अन्तर्गत चलने वाले प्राण-प्रवाह के विभिन्न चक्रों की व्याख्या विभिन्न साम साधनाओं के रूप में कर रहे हैं। पुरुष-नारी द्वारा संचालित प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) को छोड़ा कैसे जा सकता था ? वे (ऋषि) तो एक विशिष्ट साम (प्राणों से प्राणी के विकास की श्रेष्ठ साधना) देखते हैं। अस्तु, इस ज्ञान-विज्ञान के प्रसंग में कहीं अश्लीलता की गंध लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए।]

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कां च न परिहरेत्तद्व्रतम्॥ २ ॥

जो साधक दाम्पत्य जीवन को वामदेव्य साम से ओत-प्रोत जानकर तदनुसार व्यवहार करता है, वह सुख से परिपूर्ण रहता है। वह सुसन्तति प्राप्त करता है, वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन जीता है तथा प्रजाओं एवं पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् कीर्ति से वृद्धि को प्राप्त करता है। वह किसी का (अपनी पत्नी का) कभी परित्याग न करे। यही साधक का व्रत है॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम्॥ १ ॥

उदीयमान सूर्य हिंकार है, उदित हुआ सूर्य प्रस्ताव है, मध्याह्नकालिक सूर्य उद्गीथ है, अपराह्न कालिक सूर्य प्रतिहार है, अस्त होने वाला सूर्य निधन है। यह बृहत्साम सूर्य में अधिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार बृहत्साम को सूर्य में स्थित जानता है, वह तेजस्वी और प्रदीप्त जठराग्नि से सम्पन्न होता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन व्यतीत करता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है, वह महान् कीर्ति से वृद्धि को प्राप्त करता है। वह प्रखर सूर्य की कभी निन्दा न करे- यही साधक का व्रत है॥ २॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम्॥ १ ॥

मेघों का एकत्र होना हिंकार है। मेघों का बनना प्रस्ताव है। मेघों का जल बरसाना उद्गीथ है। बिजली का चमकना और कड़कना प्रतिहार है, वर्षा का समाप्त होना निधन है। यह वैरूप साम पर्जन्य में प्रतिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार वैरूप साम को पर्जन्य में अधिष्ठित जानता है, वह विरूप और सुरूप पशुओं का स्वामी होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् कीर्ति से प्रतिष्ठित होता है। वह बरसते मेघों की निन्दा न करे- यह उसका व्रत होता है॥ २॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम्॥ १ ॥

वसन्त ऋतु हिंकार है, ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव है, वर्षा ऋतु उद्‌गीथ है, शरद् ऋतु प्रतिहार है, हेमंत ऋतु निधन है। यह वैराज साम ऋतुओं में अधिष्ठित है॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तूंन्न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार वैराज साम को ऋतुओं में अधिष्ठित जानता है, वह सुसन्तति, पशु आदि सम्पदा एवं ब्रह्मतेज से सम्पन्न होता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है, कीर्ति से सम्पन्न होकर वृद्धि पाता है। साधक ऋतुओं की निन्दा न करे- यही उसका व्रत होता है॥ २॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः॥ १ ॥

पृथ्वी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्‌गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है। यह शक्वरी साम लोकों में अधिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेताः शक्वर्यो-लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार शक्वरी साम को लोकों में अधिष्ठित जानता है, वह लोकों की विभूतियों से सम्पन्न होता है, वह सम्पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है, कीर्ति से वृद्धि को पाता है। वह साधक लोकों की निन्दा न करे- यही उसका व्रत है॥

॥ अष्टादशः खण्डः ॥

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः॥ १ ॥

बकरी हिंकार है, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्‌गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है- यह रेवती साम पशुओं में अधिष्ठित है॥ १ ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार रेवती साम को पशुओं में अधिष्ठित जानता है, वह पशुओं से समृद्ध होता है, वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है। वह कीर्ति के द्वारा महान होता है। वह साधक पशुओं की निन्दा - यही उसका है॥ २॥

॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो माꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञा यज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा निधन है। यह यज्ञा- यज्ञीय साम शारीरिक अङ्गों में सन्निहित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥ २ ॥

जो साधक इस यज्ञायज्ञीय साम को अङ्गों में सन्निहित जानता है, वह सम्पूर्ण अङ्गों से सम्पन्न होता है किसी अङ्ग से हीन नहीं होता। वह सम्पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् यशस्वी होता है। वह साधक एक वर्ष तक अथवा सर्वदा ही मांस भक्षण न करे यही उसका व्रत है ॥ २ ।

॥ विंशः खण्डः ॥

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

अग्नि हिंकार है वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार है, चन्द्रमा निधन है। यह राजन साम देवों में अधिष्ठित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

जो साधक इस प्रकार राजन साम को देवताओं में प्रतिष्ठित जानता है, वह उन्हीं देवों के लोकों, ऐश्वर्यों और एकरूपता को प्राप्त हो जाता है वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है, सुसन्तति और पशुओं द्वारा समृद्ध होता है, यशस्वी होकर महान् बनता है। वह साधक ब्राह्मणों की निन्दा न करे-यही उसका व्रत है ॥ २ ॥

॥ एकविंशः खण्डः ॥

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

त्रयी वेद विद्या हिंकार है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक - ये तीन लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, वायु और आदित्य ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें ये प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व और पितृगण- ये निधन हैं। यह साम सम्पूर्ण जगत् में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वꣳ ह भवति ॥ २ ॥

जो साधक इस साम को सम्पूर्ण जगत् में प्रतिष्ठित जानता है, वह सर्वरूप हो जाता है ॥ २ ॥

तदेष श्लोकः। यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति॥ ३॥

इस सम्बन्ध में यह श्लोक है- उपर्युक्त साम में पाँच प्रकार से तीन-तीन (त्रिक) स्वरूपों का वर्णन है। उनसे श्रेष्ठ उनके अतिरिक्त और कोई साम नहीं है॥ ३॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳ सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति। सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४॥

जो साधक उसे जानता है, वह सब कुछ जानता है। उसे सभी दिशाएँ (सम्पूर्ण प्रकृति) बलि (भोगों का अनुदान) देती हैं। हम ही सब कुछ हैं, यह मानकर साधक उपासना करे- यही उसका व्रत है॥ ४॥

॥ द्वाविंशः खण्डः॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥ १॥

साम के 'विनर्दि' नामक उद्गान का वर्णन करते हैं, वह पशुओं के लिए हितकारी है। वह अग्नि देवता से सम्बन्धित उद्गान है। प्रजापति का उद्गान स्पष्ट वर्णनीय नहीं है और सोम का उद्गान स्पष्ट वर्णनीय है। वायु देवता का उद्गान मृदु एवं मधुर है। इन्द्र देवता का उद्गान मधुर एवं पराक्रम साध्य है। बृहस्पति देवता का उद्गान क्रौञ्च पक्षी के सदृश है। वरुण देव का उद्गान फूटे काँसे के पात्र सदृश है। ये सभी उद्गान सेवनीय हैं, परन्तु वरुण देवता से सम्बद्ध उद्गान त्याज्य है॥ १॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २॥

हम देवों के लिए अमरत्व का उपाय करें। पितरों के लिए स्वधा का, मनुष्यों के लिए इष्ट वस्तुओं का, पशुओं के लिए तृण एवं जल का, यजमान के लिए स्वर्ग लोक का और अपने लिए अन्न का उपाय करें- इस प्रकार इनका मन से चिन्तन करते हुए प्रमाद रहित होकर स्तुति करें॥ २॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्॥ ३॥

समस्त स्वर इन्द्रदेव की आत्मा हैं। सभी ऊष्म वर्ण देव प्रजापति की आत्मा हैं, सभी स्पर्श वर्ण मृत्यु देव की आत्मा हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसे उद्गाता के स्वर उच्चारण में दोष बताए, तो वह उससे कहे कि 'मैं इन्द्रदेव के आश्रय में था, वही आपको इसका उत्तर देंगे'॥ ३॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनꣳस्पर्शेषूपालभेत मृत्युꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४॥

यदि कोई पुरुष उद्गाता के ऊष्मवर्णों के उच्चारण में दोष कहे, तो उससे वह कहे कि 'मैं प्रजापति देव के आश्रय में था, वही आपको नष्ट करेंगे, यदि कोई पुरुष स्पर्श वर्णों के उच्चारण में दोष प्रकट करे, तो वह उससे कहे कि - 'मैं मृत्यु देवता के आश्रय में था, वे ही आपको भस्म करेंगे'॥ ४॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति॥ ५॥

सभी स्वर घोषपूर्वक और बलपूर्वक उच्चारण किये जाने चाहिए। उनका उच्चारण करते समय कहे- हम इन्द्रदेव में पराक्रम की स्थापना करते हैं। सभी ऊष्मवर्ण बिना ग्रहण किये और बिना निकाले ही प्रयत्नपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं। उनके उच्चारण के समय कहे – हम प्रजापति को अपनी आत्मा देते हैं। सभी स्पर्शाक्षर एक दूसरे में मिलाये बिना ही उच्चारण करते हुए कहे-'हम मृत्युदेव से अपने को छुड़ाते हैं'॥

॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति॥ १॥

धर्म के तीन स्कन्धों (आधार स्तम्भों) के विषय में वर्णन करते हैं। धर्म के तीन स्कन्ध हैं; यज्ञ, अध्ययन और दान-यह पहला स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल में साधनारत ब्रह्मचारी आचार्य कुल में अपने शरीर को तितिक्षा द्वारा क्षीण कर देता है, यह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्य लोकों के अधिकारी होते हैं और ब्रह्म में स्थित अमृतत्व को प्राप्त करते हैं॥ १॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति॥ २॥

प्रजापति देव लोकों का सार ग्रहण करने के उद्देश्य से तप करने लगे। तप के प्रभाव से लोकों से त्रयी विद्या-ऋक्, यजु एवं साम की उत्पत्ति हुई। पुनः तप के प्रभाव से उस त्रयी विद्या से भूः, भुवः एवं स्वः- ये अक्षर प्रस्रवित हुए॥ २॥

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदꣳ सर्वमोंकार एवेदꣳ सर्वम्॥ ३॥

पुनः तप के प्रभाव से उन्होंने तीनों अक्षरों का सार ॐकार प्राप्त किया। जिस प्रकार शङ्कुओं (नसों) द्वारा सभी पत्ते व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार ॐकार द्वारा सम्पूर्ण वाणियाँ व्याप्त हैं। ॐ कार ही यह सम्पूर्ण (जगत्) है। ॐ ही यह सम्पूर्ण (आकाश) है॥ ३॥

॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

इस खण्ड में यज्ञ के तीन (प्रातः, मध्याह्न और सायं) सवनों के माध्यम से जीवन के तीन कालों में किए जाने वाले साधना पुरुषार्थ का उल्लेख ऋषि ने किया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन आदि पूर्ण होने पर जीवन का प्रारंभ सद्गृहस्थ से किया जाता है। इसीलिए प्रथम सवन में गार्हपत्याग्नि से साधना प्रारंभ की जाती है-

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम्॥ १॥

(अब यज्ञ के सम्बंध में कहते हैं।) ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःकाल का सवन वसुगणों का है, मध्याह्न सवन रुद्रगणों का है और तृतीय सवन आदित्य गणों तथा विश्वेदेवों का है॥ १॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात्॥ २॥

फिर यजमान का लोक कहाँ है? जो यजमान अपने पुण्यलोक को नहीं जानता, वह यज्ञ क्यों करेगा? अतः यज्ञ के फलस्वरूप पुण्यलोक को जानकर ही यज्ञ करना चाहिए॥ २॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳ सामाभिगायति॥ ३॥

प्रात:काल अनुवाक (ऋचा) का पाठ करने से पूर्व वह यजमान गार्हपत्याग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवों के साम का भली प्रकार गान करता है॥ ३॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳरा ३ ३ ३ ३ ३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ४॥

हे अग्निदेव! आप इस लोक (लौकिक सम्पदा) का द्वार खोल दें, जिससे हम राज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन करें॥ ४॥

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५॥

यजमान हवन करते हुए पृथ्वी लोक निवासी इस अग्निदेव को नमन करते हुए कहते हैं-हे अग्निदेव! आपको हमारा नमन है। आप हमें इस लोक की प्राप्ति कराएँ, निश्चय ही यही यजमान का लोक है। हम इसे प्राप्त करें॥ ५॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातःसवनꣳ संप्रयच्छन्ति॥ ६॥

यजमान हवन करते हुए कहते हैं हम आयु समाप्त होने पर पुण्य लोक को प्राप्त हों, इस निमित्त आहुति समर्पित है। बाधाओं (सीमाओं) को दूर करें, ऐसा कहकर वे उठते हैं। वसुगण उन्हें प्रातः सवन प्रदान करते हैं॥ ६॥

['वसुगण' आवास देने वाले देवता हैं। इस लोक में दैवी अनुशासन में सुखी-सम्पन्न जीवन की प्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है।]

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति॥ ७॥

मध्याह्न सवन के पूर्व यजमान दक्षिणाग्नि के पीछे उत्तराभिमुख होकर बैठकर रुद्रदेव सम्बन्धी साम का गायन करता है॥ ७॥

लो३कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ८॥

हे वायो! आप अन्तरिक्ष लोक का द्वार खोलें, जिससे हम वैराज्य पद की प्राप्ति हेतु आपका दर्शन करें॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९॥

अब यजमान हवन करते हुए कहते हैं - अन्तरिक्ष लोक के निवासी हे वायुदेव! आपको नमस्कार है। हमें अन्तरिक्ष लोक (विभूतियाँ) प्राप्त कराएँ। यह निश्चय ही यजमान का लोक है, इसे हम प्राप्त करें ॥ ९॥

[सद्गृहस्थ के दायित्व पूरे करके जीवन के दूसरे सवन में साधक को वानप्रस्थ जीवन जीना चाहिए। रुद्र विकार नाशक देवता हैं। उनकी साधना करके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन से विकारों के निवारण का सुधारात्मक पुरुषार्थ करना चाहिए।]

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परियमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनः सवनः संप्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

अब यजमान हवन करते हुए कहते हैं हम आयु समाप्त होने पर अन्तरिक्ष लोक प्राप्त करें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है। वह यजमान जब इस लोक की प्राप्ति के निमित्त समस्त बाधाएँ दूर करने के लिए तैयार हो जाते हैं, तब उन्हें रुद्रगण मध्याह्न सवन प्रदान करते हैं॥ १० ॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यः स वैश्वदेवः सामाभिगायति॥ ११ ॥

तृतीय सवन के पूर्व यजमान आहवनीय अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर विश्वेदेवा सम्बन्धी साम का गायन करते हैं॥ ११ ॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयःस्वारा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति॥ १२॥

हे आदित्य देव! आप स्वर्गलोक का द्वार खोल दें, जिससे हम स्वाराज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन कर सकें॥ १२ ॥

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयः साम्ना ३३३३३ हुं ३ आ ३३ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति॥ १३॥

यह आदित्य सम्बन्धी साम है, अब विश्वेदेवा सम्बन्धी साम का गायन करते हैं-हे देवगणो! आप स्वर्गलोक का द्वार खोल दें, जिससे हम साम्राज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन कर सकें॥ १३ ॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत॥ १४॥

तदनन्तर यजमान यज्ञ करते हुए कहते हैं- स्वर्ग लोक निवासी आदित्यगण और विश्वेदेवा इस लोक में रहने वाले इस यजमान का नमन स्वीकार करें। इस यजमान को पुण्यलोक की प्राप्ति कराएँ॥ १४॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहतपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति॥ १५ ॥

यह निश्चय ही यजमान का लोक है, इसे हम प्राप्त करें। यहाँ यजमान यज्ञ करते हुए कहते हैं- आयु समाप्त होने पर हम स्वर्गलोक प्राप्त करें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है। 'हम स्वर्ग लोक प्राप्ति हेतु आगे आयी सीमाएँ पार करेंगे' ऐसा कहकर यजमान तैयार हो जाते हैं॥ १५॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयं सवनः संप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद॥ १६॥

उस यजमान को आदित्यगण और विश्वेदेवा तृतीय सवन प्रदान करते हैं। जो इस प्रकार इन तथ्यों को जानते हैं, वे यज्ञ के सार तत्त्व को जानते हैं॥ १६॥

[आदित्य एवं विश्वेदेवा की साधना द्वारा जीवन के अन्तिम चरण में साधक को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुरूप ज्ञान एवं प्रेरणा का संचार करना चाहिए।]

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

(ॐकार रूप) यह आदित्य ही देवों का मधु है। द्युलोक वह तिरछा बाँस है, जिससे छत्ता लटकता है। अन्तरिक्ष छाता है और किरणें मधु-मक्खियों के बच्चों की तरह हैं॥ १ ॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

इस आदित्य की पूर्व दिशा की जो किरणें हैं, वे छत्तों के पूर्वीय छिद्र हैं। ऋचाएँ ही मधुमक्खियाँ हैं, ऋग्वेद ही पुष्प हैं, सोम आदि अमृत रूप जल तत्त्व हैं॥ २ ॥

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ ३ ॥

उन ऋचाओं ने ही ऋग्वेद को अभितप्त किया, उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय-शक्ति, पराक्रम अन्नादि रस उत्पन्न हुआ॥ ३ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳरूपम्॥ ४॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ। उसने आदित्य के पूर्व भाग में आश्रय ले लिया। यह जो आदित्य का लाल रंग दिख रहा है, वही वह रस है॥ ४॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १ ॥

अब आदित्य की जो दक्षिण दिशा की ओर किरणें हैं, वे इस छत्ते की दक्षिणवर्ती मधु नाड़ियाँ हैं। यजुर्वेद की कण्डिकाएँ ही मधुमक्खियाँ हैं, यजुर्वेद ही पुष्प है और (सोमादि) अमृत ही जल है॥ १ ॥

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत॥ २ ॥

यजुर्वेद की कण्डिकाओं ने यजुर्वेद को अभितप्त किया। उस अभितपन से यश, तेजस्विता, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रस उत्पन्न हुए॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳ रूपम्॥ ३ ॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ। उसने आदित्य के दक्षिण भाग का आश्रय लिया। यह जो आदित्य का श्वेत रूप दृष्टिगोचर हो रहा है, यह वही है॥ ३ ॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १ ॥

अब जो आदित्य के पश्चिमी छोर की किरणें हैं, वे ही पश्चिम ओर की मधु नाड़ियाँ हैं। साम मन्त्र ही मधुमक्खियों के रूप में हैं, सामवेद ही पुष्प हैं और (सोमादिरूप) अमृत ही जल है॥ १ ॥

तानि वा एतानि सामान्येतꣳ सामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ २॥

उन साम मंत्रों ने सामवेद को अभितप्त किया। उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रूप रस उत्पन्न हुए॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳरूपम्॥ ३॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और आदित्य के पश्चिमी भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य का कृष्ण रूप है, यह वही है॥ ३॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

इस आदित्य की जो उत्तरी भाग की किरणें हैं, वे ही इसकी उत्तर दिशा की मधु नाड़ियाँ हैं, अथर्व मन्त्र ही मधु मक्खियाँ हैं। इतिहास पुराण ही पुष्प हैं। (सोमादि रूप) अमृत ही जल है॥१॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत॥ २॥

उन अथर्व मन्त्रों ने इतिहास-पुराण आदि को अभितप्त किया। उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रूप रस उत्पन्न हुए॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳ रूपम्॥ ३॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और आदित्य के उत्तर भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य का अत्यन्त कृष्ण रूप है, यह वही है॥ ३॥

॥ पञ्चमः खण्डः॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

इस आदित्य की जो ऊपर की ओर की रश्मियाँ हैं, यही ऊपर की मधु नाड़ियाँ हैं। गुह्य (अदृश्य) आदेश ही मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्प है तथा (सोमादि रूप) अमृत ही जल है॥ १॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ २॥

उन गुह्य आदेशों ने ही ब्रह्म को अभितप्त किया। उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादिरूप रस उत्पन्न हुए॥ २॥

[पदार्थ विज्ञान आदित्यादि की सक्रियता के पीछे पदार्थ कणों की सक्रियता को कारण मानता है। ऋषि कहते हैं कि आदित्यादि की जो दृश्य प्रक्रिया चल रही है, उसके पीछे चेतन का संकल्प या आदेश कार्य कर रहा है। कम्प्यूटर सारे कार्य करता दिखता है, किन्तु कम्प्यूटर वैज्ञानिक जानता है कि उस सारी प्रक्रिया के मूल में कम्प्यूटर को दिया गया निर्देश (कमाण्ड) ही उसकी सक्रियता का कारण है। उसी प्रकार ऋषि इस विश्व ब्रह्माण्ड के पीछे कोई गुप्त निर्देश होना मानते हैं। उसे ही उन्होंने दृश्य रसों का भी रस कहा है।]

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव॥ ३॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और वह आदित्य के ऊर्ध्व भाग में आश्रित हुआ। आदित्य के मध्य भाग में जो उद्वेलित होता हुआ संचरित हो रहा है, यह वही है॥ ३॥

ते वा एते रसानाꣳ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि॥ ४॥

वे श्वेत, कृष्ण, रोहित आदि रूप ही रसों के रस हैं, वेद ही रस हैं और वे उनके भी रस हैं। वे ही अमृतों के अमृत हैं वेद ही अमृत हैं और वे उनके भी अमृत हैं॥ ४॥

[प्रथम से पाँचवें खण्ड तक आदित्य के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर भागों तथा ऊर्ध्व भाग में स्थित रसों का वर्णन किया गया है। सूर्य के दृश्य स्थूल रंगों के साथ कुछ सूक्ष्म चेतन प्रवाह भी जुड़े हुए हैं, ऐसा ऋषि ने कहा है। सूर्य के रोहित, श्वेत रंग विभाग तो सहज ही समझ में आ जाते हैं। कृष्ण और अतिकृष्ण क्या है? यह सूर्य के वे विभाग हो सकते हैं, जिन्हें पदार्थ विज्ञानी सौर कलंक कहते हैं। इन पाँच खण्डों में सूर्य के पूर्वादि विभागों में विशेष प्रवाहों की स्थापना का वर्णन किया गया है। आगे के ५ खण्डों में (६ से १० तक) सूर्य के उन्हीं भागों से उसी प्रकार अमृत प्रवाहों के प्रकट होने तथा उसके प्रभाव आदि का वर्णन किया गया है।]

॥ षष्ठः खण्डः ॥

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

इनमें जो (रोहित वर्ण का) प्रथम अमृत है, वसुगण अग्नि देव के मुख से संयुक्त होकर उसमें जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे केवल इस अमृत को देखकर ही तृप्ति को प्राप्त कर लेते हैं॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

वे वसुगण इस रूप से ही विश्रान्ति पाते हैं और उसी से उत्साहित भी होते हैं॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

जो इस प्रकार इस अमृत रूप को जानता है, वह वसुगणों में ही कोई एक होता है। वह अग्नि (यज्ञ) के साथ संयुक्त होकर इस अमृत रूप को देखकर ही तृप्त हो जाता है। इसी रूप से वह ध्यानस्थ (अक्रिय) होता है और इसी से उत्साहित भी होता है॥ ३॥

[ऋषि कहते हैं कि वसुओं द्वारा प्रवाहित अमृत तत्त्व को साधकों में स्थित वसु ही जान पाते हैं। आगे के खण्डों में इसी प्रकार रुद्र आदि के बारे में कहा गया है। उपनिषदों का यह मत है ही कि विराट् में स्थित देवों के अंश मनुष्य के अन्दर में स्थित हैं। अस्तु, वे अपने समानधर्मी प्रवाहों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। सुदूर अन्तरिक्ष यानों में स्थित विभिन्न उपकरणों को उनके अनुरूप विशेष फ्रीक्वैन्सी सिगनल भेजकर सक्रिय या निष्क्रिय कर दिया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के अन्दर स्थापित विशिष्ट सर्किट (चक्र) देव प्रवाह अन्तरिक्षीय तत्सम प्रवाहों से जाग्रत् या सुप्त अवस्था को प्राप्त होते हैं।]

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता॥

जब तक सूर्य अपने पूर्व पक्ष से उदित होता है और उसका पश्चिम भाग अस्त होता है, तब तक वसुगणों के अधिकार और स्वाराज्य के भागों का उपभोग करता है॥ ४॥

[छठवें से दसवें खण्ड तक सूर्य के उदय एवं अस्त की प्रक्रिया में विभिन्न दिशाओं का उल्लेख किया गया है। अधिकांश आचार्यों ने उन दिशाओं को पृथ्वी की दिशाएँ मानकर अर्थ करने के प्रयास किए हैं, जो विवेक को संतुष्ट नहीं कर पाते। ये दिशाएँ पृथ्वी की दिशाएँ नहीं हैं। जैसा कि पूर्व खण्डों में स्पष्ट लिखा है कि विशिष्ट दिव्य प्रवाहों की स्थापना सूर्य के विशिष्ट (पूर्वादि नामक) भागों में हुई है। यहाँ सूर्य के उन्हीं भागों से विशिष्ट अमृत प्रवाहों के प्रकट होने की बात कही गयी है। आदित्य के पूर्व से उदय का भाव यह लिया जाना चाहिए कि जब आदित्य का पूर्व वाला भाग दृश्य होता है और पश्चिम वाला अदृश्य (अस्त) होता है, उस समय तक वसुगणों का तथा उनसे सम्बद्ध अमृत प्रवाह का प्रभाव वातावरण एवं साधक पर रहता है। आगे के खण्डों में भी इसी प्रकार सूर्य के अन्य दक्षिण, पश्चिम आदि भागों के उदय-अस्त का भाव लिया जाना उचित है।]

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १ ॥

यह जो शुक्लरूप द्वितीय अमृत है, रुद्रगण इन्द्रदेव के नेतृत्व में संयुक्त होकर उसमें जीवन धारण करते हैं। वे देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतरूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २ ॥

वे इस रूप को देखकर ही अक्रिय (ध्यानस्थ) हो जाते हैं और इसी को देखकर उत्साहित भी होते हैं॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३ ॥

जो साधक इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह रुद्रगणों में से कोई एक होकर इन्द्रदेव के नेतृत्व में इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को देखकर ही अक्रिय हो जाता है और इसी को देखकर उत्साहित होता है॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यः स्वाराज्यं पर्येता॥ ४ ॥

जब तक आदित्य अपने पूर्व भाग से उदित होता और पश्चिम से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक उसका दक्षिण भाग उदित होता है और उत्तर भाग अस्त होता है। उतने समय तक वह (साधक) रुद्रगणों के ही अधिकार एवं स्वाराज्य को प्राप्त होता है॥ ४ ॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १ ॥

अब यह जो कृष्ण रूप तृतीय अमृत है, आदित्यगण वरुणदेव के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं। वे ,देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत को देखकर ही तृप्ति का अनुभव करते हैं॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २ ॥

वे इसी रूप से विश्रान्ति पाते हैं और इसी से उत्साहित हो जाते हैं॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३ ॥

जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह साधक आदित्यगणों में से एक होकर वरुण देव के नेतृत्व में अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप से ही अक्रिय होता है और इसी से उद्यमशील होता है॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता-ऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥

वह सूर्य जब तक दक्षिण भाग से उदित होता और उत्तर भाग से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक पश्चिम भाग से उदित होता और पूर्व भाग से अस्त होता है। उतने समय तक वह (साधक) आदित्यगणों के ही अधिकार एवं स्वाराज्य को प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ नवमः खण्डः॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

यह जो अत्यन्त कृष्ण रूप चतुर्थ अमृत है, मरुद्गण सोमदेव के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं। वे देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।१॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

वे इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय (ध्यानस्थ) होते हैं और इसी से सक्रिय अथवा उद्यमशील भी होते हैं॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

जो इस प्रकार इस अमृत रूप को जानता है, वह मरुद्गणों में से कोई एक होकर सोमदेव के नेतृत्व में इस अमृत रूप को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय हो जाता है तथा इसी से सक्रिय भी होता है॥ ३॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥

वह आदित्य जब तक अपने पश्चिम भाग से उदित होता और पूर्व से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक वह उत्तरभाग से उदित होता और दक्षिण से अस्त होता है। उतने समय तक वह (साधक) मरुद्गण के ही अधिकार और स्वाराज्य को प्राप्त करता है॥ ४॥

॥ दशमः खण्डः॥

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

आदित्य के मध्य संचरित - स्पन्दित होता हुआ जो पंचम अमृत है, साध्यगण देव ब्रह्मा के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं, वे देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत रूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं॥ २॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

वे इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर ही अक्रिय (ध्यानस्थ) हो जाते हैं और इसीसे सक्रिय भी हो जाते हैं॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

जो साधक इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह साध्यगणों में से एक होकर देव ब्रह्मा के नेतृत्व में इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय हो जाता है और इसी से वह सक्रिय भी हो जाता है॥ ३॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वमुदेतार्वागस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥

वह आदित्य जब तक अपने उत्तर भाग से उदित होकर दक्षिण से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक अपने ऊर्ध्व भाग से उदित होता और नीचे के भाग से अस्त होता है, उतने समय तक वह साधक साध्य गणों के अधिकार और स्वाराज्य को प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः॥ १॥

इसके पश्चात् उस उच्च स्थिति में वह (आदित्य या ज्ञान) न तो उदित होता है, न अस्त होता है, बल्कि वह अकेला ही मध्य में स्थित रहता है। उस विषय में यह श्लोक है॥ १॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति॥ २॥

यह सुनिश्चित है कि उस (ब्राह्मी) स्थिति में (सूर्य या ज्ञान का) न कभी अस्त होता है और न उदित होता है। हे देवगण! हम इस सत्य के द्वारा उस ब्रह्म (सृष्टि व्यवस्था) के विपरीत न हों॥ २॥

[यहाँ जिस आदित्य का वर्णन हो रहा है, वह दृश्यमान सूर्य से भिन्न सर्वत्र संव्याप्त, स्वप्रकाशित तत्त्व है। इसका स्पष्टीकरण छान्दो० के ८.६.१-२ में विशेष रूप से हुआ है।]

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद॥

इस प्रकार जो (साधक) इस ब्रह्मोपनिषद् (ब्रह्म के निकटवर्ती ज्ञान) को जानता है, उसके लिए (सूर्य या ब्रह्म) न तो उदित होता है, न अस्त होता है। वह सर्वदा दिन में (प्रकाश में) ही रहता है॥३॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच॥ ४॥

यह ब्रह्मज्ञान ब्रह्माजी ने प्रजापति से कहा था, देव प्रजापति ने मनु से कहा और मनु ने प्रजा के लिए अभिव्यक्त किया था। उद्दालक ऋषि को उनके पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था॥ ४॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्तेवासिने॥ ५॥

इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को अथवा आचार्य अपने सुयोग्य शिष्य को करे॥ ५॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति॥ ६॥

आचार्य अन्य किसी से इसका उपदेश न करे। भले ही उन्हें समुद्र से परिवेष्टित, धन से परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी ही क्यों न प्राप्त हो जाय, क्योंकि यह ब्रह्मज्ञान उस धनैश्वर्य से अधिक बढ़कर है॥ ६॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥ १॥

गायत्री ही यह सब भूत (दृश्यमान) है। जो कुछ भी जगत् में प्रत्यक्ष दृश्यमान है, वह गायत्री ही है। वाणी ही गायत्री है और वाणी ही सम्पूर्ण भूत रूप है। गायत्री ही सब भूतों का गान करती है और उनकी रक्षा करती है॥ १॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते॥ २॥

जो वह गायत्री है, वह सर्वभूत रूप है, वही पृथ्वी है, क्योंकि इसी में सर्वभूत अवस्थित हैं और इसका वे कभी उल्लंघन नहीं करते हैं॥ २॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते॥ ३॥

जो भी यह पृथ्वी है, वह प्राण रूप गायत्री ही है, जो पुरुष के शरीर में समाहित है, क्योंकि इसी में वे प्राण अवस्थित हैं और इस शरीर का वे उल्लंघन नहीं करते॥ ३॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते॥ ४॥

जो भी पुरुष के शरीर में अवस्थित है, वही अन्तःहृदय में स्थित है, क्योंकि इसी में (अन्तः हृदय में) वे प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं और इस हृदय का वे उल्लंघन नहीं करते॥ ४॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्॥ ५॥

वह गायत्री चार पदों वाली तथा छः प्रकार की है। वह वैदिक ऋचाओं (मन्त्रों) में अभिव्यक्त हुई है॥ ५॥

[अधिकांश आचार्यों ने इस मन्त्र के अर्थ की संगति गायत्री महामंत्र के साथ बिठाने का प्रयास किया है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि यहाँ उसका स्वरूप एक मन्त्र में नहीं, मंत्रों में प्रकट होने की बात कही गयी है। इसलिए अर्थ की संगति गायत्री मंत्र के स्थान पर गायत्री प्राण विद्या से बिठानी चाहिए। वही वेद मंत्रों में प्रकट हुई है। चार वेद उसके चार चरण हैं। वह छः प्रकार की षट् सम्पत्तियुक्त अथवा छः दिशा (पूर्व , पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर तथा नीचे) से प्रवाहित होने वाली है।]

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥

गायत्री रूप में व्यक्त परब्रह्म की यह (वेद मंत्रों में वर्णित) महिमा है, परन्तु वह विराट् पुरुष उससे भी बड़ा है। यह समस्त भूतों से विनिर्मित प्रत्यक्ष जगत् उसका ही एक पाद है, उसके शेष तीन पाद अमृत स्वरूप प्रकाशमय आत्मा में अवस्थित हैं॥ ६॥

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः॥ ७॥ अयं वाव स योऽयमन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः॥ ८॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीꣳ श्रियं लभते य एवं वेद॥ ९॥

वह जो विराट् ब्रह्म है, वह पुरुष के बहिरंग आकाश रूप में है और जो भी वह पुरुष के बहिरंग आकाश रूप में है, वही पुरुष के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है। जो भी पुरुष के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है, वही पुरुष के अन्तःहृदय के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है। वह अन्तरङ्ग आकाश सर्वदा पूर्ण और अपरिवर्तनीय (नित्य) है। जो साधक इस प्रकार उस ब्रह्म स्वरूप को जानता है, वह सर्वदा पूर्ण और अपरिवर्तनीय (नित्य) सम्पदाएँ (विभूतियाँ) प्राप्त करता है॥ ७ ९॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ १॥

उस अन्तःहृदय के पाँच देवों से सम्बन्धित पाँच विभाग हैं। जो इसका पूर्ववर्ती विभाग है, वह प्राण है, वह चक्षु है, वह आदित्य है, वह तेजस् है और वह अन्नादि है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह तेजस्वी और अन्न की शक्ति से युक्त होता है॥ १॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद॥ २॥

जो इसका दक्षिणवर्ती विभाग है, वह व्यान है, श्रोत्र है, चन्द्रमा है, श्री-सम्पदा है एवं यश है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह विभूतिवान् और यशस्वी होता है॥ २॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ ३॥

जो इसका पश्चिमी विभाग है, वह अपान है। वह वाणी है, वह अग्नि है, वह ब्रह्मतेज है एवं वह अन्नादि है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह ब्रह्मतेज एवं अन्न की शक्ति से युक्त होता है॥ ३॥

अथ योऽस्योदङ्सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद॥ ४॥

जो इसका उत्तरी विभाग है, वह समान है। वह मन है, वह पर्जन्य है, वह कीर्ति और वही व्युष्टि (शारीरिक आकर्षण) है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह कीर्तिमान् और व्युष्टिमान् (कान्तियुक्त काया वाला)होता है॥ ४॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद॥ ५॥

इसका जो ऊर्ध्व विभाग है, वह उदान है। वह वायु है, वह आकाश है, वह ओज है और वही महः है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह ओजस्वी और महस्वान् (महानतायुक्त) होता है॥ ५॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद॥ ६॥

वे पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। जो पुरुष स्वर्गलोक के द्वारपालों इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को जानता है, उसके कुल में वीर बालक उत्पन्न होता है और वह स्वर्गलोक को प्राप्त करने वाला होता है। अतः स्वर्गलोक के द्वारपालों इन पाँच ब्रह्मपुरुषों को जानकर इनकी उपासना करने योग्य है॥ ६॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः॥ ७॥

जो इस स्वर्गलोक से ऊपर यह परम ज्योति प्रकाशित होती है, जो इस सम्पूर्ण विश्व के पृष्ठ पर सबके ऊपर प्रकाशित होती है, वही ज्योति पुरुष की अन्तः ज्योति के सदृश है॥ ७॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣳस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ ८॥

उस ज्योति के दर्शन का उपाय यह है कि स्पर्श द्वारा शरीर में उष्णता का ज्ञान होता है और उसके श्रवण का उपाय यह है कि कानों के मूँदने से रथ ध्वनि, बैल का डकारना और प्रदीप्त अग्नि के शब्द के सदृश निनाद होता है, वह ज्योति दर्शनीय और श्रवणीय है। उसकी इस प्रकार उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, वह शोभावान् और कीर्तिवान् होता है॥ ८॥

॥ चतुर्दशः खण्डः॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥ १॥

यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ब्रह्मस्वरूप है, यह उसी से उत्पन्न होता, उसी में लय होता, उसी से संचालित होता है। राग द्वेष से दूर शान्त भाव से उसी की उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही पुरुष संकल्पमय है। इस लोक में पुरुष जैसे संकल्प धारण करता है, वैसा ही मरने के बाद होता है, अतः पुरुष को सत्संकल्प करने चाहिए ॥ १॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः॥ २॥

वह परमात्मा प्राणस्वरूप, मनोमय शरीर वाला, देदीप्यमान, सत्संकल्पवान् , आकाश सदृश विराट् स्वरूप वाला, सम्पूर्ण जगत् का रचयिता, सम्पूर्ण कामनाओं वाला, सम्पूर्ण गन्ध एवं रस सम्पन्न, सर्वत्र संव्याप्त, वाणी रहित तथा भ्रमशून्य है॥ २॥

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥ ३॥

हृदय गुहा में अवस्थित यह आत्मा धान से, जौ से, सरसों से, श्यामाक (साँवाँ) से या श्यामाकतण्डुल से भी सूक्ष्म है तथा हृदय गुहा में स्थित यह आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक या इन सब लोकों से भी विराट् है॥ ३॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः॥ ४॥

जो सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, सम्पूर्ण कामनाओं वाला, सम्पूर्ण गन्ध एवं रस से सम्पन्न, सर्वत्र संव्याप्त, वाणी रहित तथा भ्रमशून्य है, वह आत्मा हृदय गुहा में अवस्थित है, यही ब्रह्म है। शरीर छोड़कर जाने में हम इसी को प्राप्त होंगे, ऐसा जिसका निश्चय है और इसमें वह संशय नहीं करता, तो वह निश्चय ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, ऐसा शाण्डिल्य का कथन है॥ ४॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिर्बुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳ श्रितम्॥ १॥

वह कोश जिसका उदर अन्तरिक्ष है, जिसका मूल पृथ्वी है, जो कभी जीर्ण नहीं होता। दिशाएँ इसके कोणों के रूप में हैं, आकाश इसका ऊपर का छिद्र है। वह कोश वसुधान (वसु=प्राणों की स्थापना का स्थल) है। उसी में यह सम्पूर्ण विश्व अवस्थित है॥ १॥

तस्य प्राची दिक् जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳ रुदम्॥ २॥

उस कोश की पूर्व दिशा 'जुहू' नाम की है, दक्षिण दिशा 'राज्ञी' नाम की है तथा उत्तर दिशा 'सुभूता' नाम की है। उन दिशाओं के पुत्र रूप वायु हैं। इस प्रकार जो पुरुष वायु को दिशापुत्र के रूप में जानता है, वह पुत्र प्राप्ति के निमित्त रोदन नहीं करता। चूँकि हम दिशाओं के पुत्ररूप में वायु को जानते हैं, अतः हम पुत्र प्राप्ति के निमित्त न रोएँ॥ २॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुना-ऽमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना॥ ३॥

मैं पुत्र तथा परिवार के साथ अक्षय (अन्नमय) कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ प्राणमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ भूः अर्थात् मनोमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ भुवः अर्थात् विज्ञानमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ स्वः अर्थात् आनन्दमय कोश के आश्रय में जाता हूँ॥ ३॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि॥ ४॥

जब हमने कहा कि हम प्राण के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि ये समस्त भूत (तत्त्व)प्राण ही हैं, हम उसी के आश्रय में हैं॥ ४॥

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम्॥ ५॥

जब हमने कहा कि हम भूः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम पृथ्वी के आश्रय में हैं, हम अन्तरिक्ष के आश्रय में हैं, हम द्युलोक के आश्रय में हैं॥ ५॥

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्॥ ६॥

तदनन्तर जब हमने कहा कि हम भुवः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम अग्नि के आश्रय में हैं, हम वायु के आश्रय में हैं, हम आदित्य के आश्रय में हैं॥ ६॥

अथ यदवोचः स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥ ७ ॥

तथा जब हमने कहा कि हम स्वः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम ऋग्वेद के आश्रय में हैं, हम यजुर्वेद के आश्रय में हैं तथा हम सामवेद के आश्रय में हैं। यहाँ यही कहा गया है ॥ ७ ॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

सुनिश्चित रूप से पुरुष ही यज्ञ है। पुरुष के जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं, वे प्रातः सवन हैं, क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षरों वाली है और प्रातः सवन गायत्री छन्द से सम्बंधित है। वसुगण प्रातः सवन के अनुगामी हैं। प्राण ही वसुगण हैं, क्योंकि ये सबको आवास देने वाले हैं ॥ १ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनं सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

यदि इस प्रातः सवन की आयु (चौबीस वर्ष की अवधि) में कोई कष्ट उत्पन्न हो, तो इस प्रकार कहे- प्राणरूप वसुगण हमारे प्रातः सवन को माध्यन्दिन सवन के साथ एकीभूत कर दें, जिससे हम प्राणरूप वसुगणों के मध्य में ही यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों (संयुक्त रहें)। ऐसा कहने पर वह उस कष्ट से छूटकर नीरोग हो जाता है ॥ २ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥ ३ ॥

तदनन्तर जो आगे चौवालीस वर्ष की अवधि है, वह माध्यन्दिन सवन है। त्रिष्टुप् छन्द चौवालीस अक्षरों का है और माध्यन्दिन सवन त्रिष्टुप् छन्द से सम्बन्धित है। रुद्रगण माध्यन्दिन सवन के अनुगामी हैं। निश्चय ही प्राण रुद्र हैं, क्योंकि ये सम्पूर्ण प्राणियों को रुलाते हैं ॥ ३ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनं सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

इस माध्यन्दिन सवन की आयु में कोई कष्ट उत्पन्न हो, तो इस प्रकार कहे- प्राणरूप रुद्रगण हमारे माध्यन्दिन सवन को तृतीय सवन के साथ एकीभूत कर दें, जिससे हम प्राणरूप रुद्रगणों के मध्य यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों। ऐसा कहने पर वह उस कष्ट से छूटकर नीरोग हो जाता है ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥ ५ ॥

अब जो अड़तालीस वर्ष की अवधि है, वह तृतीय सवन है। जगती छन्द अड़तालीस अक्षरों का है तथा तृतीय सवन जगती छन्द से सम्बन्धित है। आदित्यगण इस तृतीय सवन के अनुगामी हैं। प्राण ही आदित्यगण हैं, क्योंकि ये ही सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करते हैं॥ ६॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवन-मायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति॥ ६॥

इस तृतीय सवन की आयु में यदि कोई कष्ट उत्पन्न हो तो इस प्रकार कहे प्राणरूप आदित्यगण हमारे तृतीय सवन को सम्पूर्ण आयु के साथ एकीभूत कर दें, हम प्राणरूप आदित्यगणों के मध्य यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों। ऐसा कहकर वे उस कष्ट से मुक्त होकर नीरोग हो जाते हैं॥ ६॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद॥ ७॥

इस उपासना को जानने वाले ऐतरेय महिदास ने कहा था हे रोग! तू मुझे क्यों सन्तप्त करता है, मैं निश्चय ही इससे मृत्यु को नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसा कहकर वे रोग से मुक्ति पा जाते थे और एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहे। जो साधक इस प्रकार इस उपासना को जानता है, वह एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहता है॥ ७॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः॥ १॥

जो साधक खाने एवं पीने की इच्छा तो करता है, पर जो इसमें आसक्त नहीं होता, यही उसकी दीक्षा है॥ १॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति॥ २॥

फिर जो खाता है, जो पीता है और जो उसमें प्रसन्न होता है, वह उपसदों का स्थान प्राप्त करता है॥ २॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति॥ ३॥

तथा जो हँसता है, जो भक्षण करता है एवं जो मैथुन करता है, वह स्तुति के स्तोत्रों को प्राप्त करता है॥ ३॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः॥ ४॥

तथा जो तप, दान, सरल स्वभाव, अहिंसा और सत्यवचन से युक्त हैं, वे उस साधक की दक्षिणा हैं॥ ४॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः॥ ५॥

प्रसूता माता को लोग कहते हैं यह प्रसूता होगी अथवा यह प्रसूता हुई, वह काल पुरुष का पुनर्जन्म है तथा मृत्यु अवभृथ स्नान के सदृश है॥ ५॥

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः॥ ६॥

घोर आङ्गिरस ऋषि ने देवकीपुत्र भगवान् कृष्ण को यह तत्त्वदर्शन समझाया, जिससे कि वे अन्य उपासनाओं के सम्बन्ध में पिपासा मुक्त हो गये थे साधक को मृत्युकाल में इन तीन मंत्रों का स्मरण कराना चाहिए १. तुम अक्षय अनश्वर स्वरूप हो, २. तुम अच्युत- अटल पतित न होने वाले हो, ३. तुम अतिसूक्ष्म प्राणस्वरूप हो। इस विषय में दो ऋचाएँ निर्दिष्ट हैं॥ ६॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसः। उद्वयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरंःस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति॥ ७॥

[प्रथम ऋचा पूर्णतः इस प्रकार है- 'आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि।' (आनन्दगिरिकृत टीका से) इसका अर्थ इस प्रकार है- उस पुरातन पुरुष का तेज ही सर्वत्र संव्याप्त है। उसी का प्रकाश हम सर्वत्र संव्याप्त देखते हैं। वह परम पुरुष दीप्तिमान् होकर समस्त पदार्थों में तेजरूप में प्रकट होता है। दूसरी ऋचा 'उद्वयं तमसस्परि'......., जो यहाँ प्रस्तुत है, का अर्थ इस प्रकार है-]

'तमिस्रा (अज्ञानरूप) को दूर करने वाले परब्रह्म के प्रकाश को देखते हुए और आत्म ज्योति को देखते हुए हम देवों में देदीप्यमान सूर्य रूप सर्वोत्तम ज्योति को प्राप्त हुए॥ ७॥

॥ अष्टादशः खण्डः ॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १॥

मन ब्रह्मस्वरूप है- इस प्रकार उपासना करे । यह आध्यात्मिक विवेचन है। आकाश ब्रह्मस्वरूप है- इस प्रकार उपासना करे-यह आधिदैविक विवेचन है। इस प्रकार यह आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों का विवेचन हुआ॥ १॥

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म। वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्म-मथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २॥

वह (मनोमय ब्रह्म) चार पादों वाला है। वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र ये चार पाद हैं। यह आध्यात्मिक विवेचन हुआ। इसी प्रकार आधिदैविक विवेचन में आकाशरूप ब्रह्म चार पादों का है। अग्नि, वायु , आदित्य और दिशाएँ- ये चार पाद हैं। इस प्रकार यह आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों का विवेचन हुआ॥ २॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ३॥

वाणी ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह अग्निरूप ज्योति से दीप्तिमान् और तेजस्वी होती है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के द्वारा देदीप्यमान और तेजस्वी होता है॥ ३॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ४॥

प्राण ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह वायुरूप ज्योति से दीप्तिमान् और तेजस्वी होता है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के द्वारा देदीप्यमान और तेजस्वी होता है॥ ४॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ५॥

चक्षु ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह आदित्यरूप ज्योति से दीप्तिमान् और तेजस्वी होता है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मवर्चस से देदीप्यमान और तेजस्वी होता है॥ ५॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद॥ ६ ॥

श्रोत्र ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह दिशाओं रूपी ज्योति से दीप्तिमान् और तेजस्वी होता है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मवर्चस से देदीप्यमान और तेजस्वी होता है॥ ६ ॥

॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्॥ १ ॥

आदित्य ही ब्रह्म है, ऐसा विवेचन मिलता है। उसी की विविध व्याख्याएँ की जाती हैं। आदि में यह असत्‌रूप (अदृश्य) ही था, तदनन्तर वह सत्‌रूप (प्रत्यक्ष-प्रकट) हुआ। वह विकसित होकर अण्डे में परिवर्तित हुआ। कालान्तर में वह अण्ड विकसित होकर फूटा। उसके दो खण्ड हुए- एक रजत, दूसरा स्वर्ण॥ १ ॥

तद्यद्रजतꣳ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बꣳ समेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकꣳ स समुद्रः ॥ २ ॥

उनमें जो खण्ड रजत रूप प्रकट हुआ, वह यह पृथ्वी है और जो स्वर्णरूप खण्ड प्रकट हुआ, वह द्युलोक है। उस अण्डे का जो जरायु भाग था, वे पर्वत हैं, जो उल्ब भाग था, वह मेघयुक्त कुहरा है, जो धमनियाँ थीं, वे नदियाँ हैं तथा जो मूत्राशय का जल था, वह समुद्र है॥ २ ॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन् सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः॥ ३ ॥

उस अण्डे से जो उत्पन्न हुआ, वह आदित्य ही है। उससे विस्फोट जन्य तीव्र घोष उत्पन्न हुआ, उसी से सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण भोग-साधन उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए आदित्य के उदय और अस्त होने पर तीव्र घोष होता है और समस्त प्राणी एवं सम्पूर्ण भोग साधन विकसित होते हैं॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ॥ ४ ॥

इस प्रकार जो 'आदित्य ही ब्रह्म है', यह जानकर उपासना करता है, इसके समीप सुखप्रद घोष सुनाई देते हैं और उसे सुख प्रदान करते हैं, सन्तोष प्रदान करते हैं॥ ४ ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति॥ १ ॥

जनश्रुत राजा के प्रपौत्र श्रद्धापूर्वक बहुत धन दान किया करते थे। उनके यहाँ बहुत अन्न पकाया जाता था। उन्होंने अपने राज्य में अनेक विश्रामालय बनवा दिये थे, ताकि लोग वहाँ ठहरकर भोजन ग्रहण कर सकें॥ १ ॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳसो हꣳसमभ्युवाद हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति॥ २ ॥

फिर एक बार रात्रि के समय दो हंस उस राज्य के ऊपर से उड़ते हुए जा रहे थे, उनमें से एक हंस ने दूसरे से कहा हे मन्द दृष्टि! जनश्रुत राजा के प्रपौत्र का तेज द्युलोक के सदृश व्याप्त हो रहा है। तू उसे स्पर्श न कर, वह तुझे भस्म न कर दे॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेतत्सन्तꣳ सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्क इति॥ ३ ॥

दूसरे हंस ने कहा - अरे तुम किस महत्त्वाकांक्षी राजा के लिए सम्मानजनक शब्द कहते हो। क्या यह गाड़ी वाले रैक्क के सदृश है? इस पर पहले वाले हंस ने कहा- यह गाड़ी वाला रैक्क कौन है?॥ ३ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति॥ ४ ॥

जिस प्रकार द्यूत क्रीड़ा में पुरुष कृतसंज्ञक पासे को जीतकर सम्पूर्ण निम्न पासे अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार राजा जो कुछ सत्कर्म करता है, वह सब रैक्क को प्राप्त हो जाता है। वह रैक्क जिस (गूढ़ तत्त्व दर्शन) को जानता है, उसे कोई नहीं जानता। उनके विषय में मैं इतना ही जानता हूँ॥ ४ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्क इति॥ ५ ॥

हंसों की वार्ता को जनश्रुत के प्रपौत्र ने सुना। प्रातःकाल उठते ही उन्होंने स्तुतिकर्ता सेवकों से कहा- क्या तुम मेरी स्तुति गाड़ी वाले रैक्क के समान करते हो? सेवकों ने कहा- यह गाड़ी वाला रैक्क कौन है?॥ ५ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति॥ ६ ॥

जिस प्रकार द्यूतक्रीड़ा में पुरुष कृत नामक पासे को जीतकर अन्य सभी निम्न पासे को अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार राजा जो कुछ सत्कर्म करता है, वह सब रैक्क को प्राप्त हो जाता है। जो कुछ रैक्क जानते हैं, उसे कोई और नहीं जानता, ऐसा उनके विषय में मुझसे कहा गया है॥ ६ ॥

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तꣳ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति॥ ७॥

वे सेवक रैक्व को ढूँढ़ने के पश्चात् वापस लौटकर कहते हैं- 'उसे नहीं पा सके'। तब राजा ने कहा - जहाँ ब्राह्मण की खोज की जाती है, वहाँ उन्हें ढूँढ़ो॥ ७॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तꣳ हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहꣳ ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय॥ ८॥

उन्होंने एक शकट के नीचे खाज खुजाते हुए रैक्व को देखकर उनसे पूछा- भगवन्! क्या आप ही गाड़ी वाले रैक्व हैं? उनने कहा हाँ मैं ही हूँ। ऐसा जानकर सेवक राजा के पास चले आये॥ ८॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तदुह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तꣳ हाभ्युवाद॥ १॥

तब राजा जनश्रुत के प्रपौत्र छः सौ गौएँ, एक हार और खच्चरों से खींचा जाने वाला एक रथ लेकर रैक्व के पास गये और बोले॥ १॥

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवताꣳ शाधि यां देवतामुपास्स इति॥ २॥

हे रैक्व! ये छः सौ गौएँ, एक हार और खच्चरों से जुता एक रथ आपके निमित्त लाया हूँ, इसे ग्रहण करें। हे भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश करें। ऐसा राजा ने रैक्व से कहा॥ २॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्त्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे॥ ३॥

उस राजा से रैक्व ने कहा- हे क्षुद्र! गौएँ, हार और रथ अपने पास रखो। तब जनश्रुत के प्रपौत्र एक सहस्त्र गौएँ, एक हार, खच्चरों से जुता रथ और अपनी कन्या लेकर उनके पास आये॥ ३॥

तꣳ हाभ्युवाद रैक्वेदꣳ सहस्त्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति॥ ४॥

राजा ने रैक्व से कहा- हे रैक्व! ये एक हजार गौएँ, यह हार, खच्चरों से जुता रथ, यह पत्नी और यह गाँव (जिसमें आप रहते हैं) आप ले लें। हे भगवन्! मुझे ईश्वरीय अनुशासन बतायें॥ ४॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्व पर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच॥ ५॥

तब रैक्व ने उस राजकन्या को विद्या ग्रहण का द्वार समझकर राजा से कहा- 'हे क्षुद्र! आप ये जो कुछ लाए हैं, ये सब गौण हैं; परन्तु विद्या ग्रहण के इस द्वार से आप (प्रसन्न करके) मुझसे उपदेश कराते हैं'। इस प्रकार जितने क्षेत्र में वे 'रैक्व' रहते थे, वे सभी गाँव महावृष देश में 'रैक्वपर्ण' के नाम से प्रसिद्ध हुए। (इससे प्रसन्न होकर) उन (रैक्व) ने उस राजा से कहा- ॥ ५॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति॥ १॥

वायु ही संवर्ग है। जब अग्नि शान्त होती है, तो वायु में ही समाहित होती है। जब सूर्य अस्त होता है, तो वायु में ही समाहित होता है और जब चन्द्रमा अस्त होता है, तो वायु में ही समाहित हो जाता है॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥ २॥

जब जल सूखता है, तो वायु में ही समाहित हो जाता है। इस प्रकार वायु ही इन सबको अपने में समाहित कर देने वाला है। यह आधिदैविक उपासना है॥ २॥

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणꣳश्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति॥ ३॥

अब आध्यात्मिक तत्त्व का विवेचन किया जाता है। प्राण ही संवर्ग है। जब साधक सोता है, तब प्राण में ही वागिन्द्रिय समाहित हो जाती है। प्राण में ही चक्षु, श्रोत्र और मन समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार प्राण ही इन सबको अपने में समाहित कर लेने वाला है॥ ३॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४॥

इस प्रकार मात्र दो ही संवर्ग हैं। देवताओं में वायु संवर्ग है और इन्द्रियों में प्राण संवर्ग है॥ ४॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५॥

एक समय शौनक कापेय और अभिप्रतारी काक्षसेनि को जब भोजन परोसा जा रहा था, तब एक ब्रह्मचारी ने उनसे भिक्षा माँगी; किन्तु उन्होंने (उसकी पात्रता परखे बिना) भिक्षा नहीं दी॥ ५॥

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति॥ ६॥

तब उस ब्रह्मचारी ने कहा- भुवनों के स्वामी उन देव प्रजापति ने चार महान् स्वरूपों को अपने में समाहित कर लिया है। हे कापेय! हे अभिप्रतारिन्! विभिन्न स्वरूपों में निवास करने वाले उन देव को मनुष्य नहीं देख पाते और जिसके लिए यह अन्न है, उसे (देव प्रजापति को) ही अन्न नहीं दिया गया॥ ६॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳहिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति॥ ७॥

उनके कथन का शौनक कापेय मुनि ने विचार किया और ब्रह्मचारी से कहा- जो देवताओं की आत्मा, प्रजाओं के जनक, हिरण्यदंष्ट्र, भक्षणवृत्ति वाले, बुद्धिमान् और महिमावान् हैं, जो दूसरों से न खाये जाने वाले और अन्न न खाने वाले हैं। हे ब्रह्मचारिन्! हम उसी देव की उपासना करते हैं- ऐसा कहकर उन्होंने ब्रह्मचारी को भिक्षा देने का आदेश दिया॥ ७॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश संतस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतꣳ सैषा विराडन्नादी तयेदꣳ सर्वं दृष्टꣳ सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ ८॥

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी। वह वाणी आदि पञ्च इन्द्रियों से भिन्न है तथा अग्नि, वायु आदि पञ्चभूतों से भी भिन्न सत्ता है। इस प्रकार ये सब संख्या में दस होते हैं। वह विराट् सत्ता ही अन्न का भक्षण करने वाली है। वही सम्पूर्ण जगत् रूप में दृष्ट है। जो ऐसा जानते हैं, उनके द्वारा यह सब दृष्ट होता है और वे अन्न का भक्षण करने वाले होते हैं॥ ८॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोन्वहमस्मीति॥ १॥

सत्यकाम जाबाल ने अपनी माँ जबाला से कहा- हे मातः! मैं ब्रह्मचारी बनकर गुरुकुल में रहना चाहता हूँ, मुझे बताएँ कि मेरा गोत्र क्या है?॥ १॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति॥ २॥

जबाला ने कहा- हे तात! तुम जिस गोत्र के हो, उसे मैं भी नहीं जानती। यौवनावस्था में मैं बहुत से अतिथियों की परिचर्या में संलग्न रहती थी। उन्हीं दिनों तुझे प्राप्त किया, तत्पश्चात् तुम्हारे पिता के न रहने पर(उनके दिवंगत हो जाने पर) मैं गोत्र न जान सकी। अतः मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है? मैं जबाला नाम की हूँ और तुम सत्यकाम नाम के हो, अतः आचार्य से कहो- मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ २॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति॥ ३॥

उन्होंने ऋषि हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा - हे भगवन्! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करना चाहता हूँ, इसलिए मैं आपके पास आया हूँ॥ ३॥

तꣳ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳ सा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति॥ ४॥

गौतम ऋषि ने कहा- हे सोम्य! तुम किस गोत्र के हो ? उनने कहा- हे भगवन्! मैं किस गोत्र का हूँ, यह मैं नहीं जानता। मैंने अपनी माता से पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं बहुत पहले से अतिथियों की सेवा करती रहती थी, जब तुझे प्राप्त किया, तब तुम्हारे पिता के (शीघ्र) न रहने से मैं गोत्र न जान सकी (पूछ सकी)। अतः मैं नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो? मेरा नाम जबाला है, तुम्हारा सत्यकाम। अतः मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ ४॥

तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳ संपेदुः ॥५॥

गौतम ऋषि ने कहा- ऐसी सत्य अभिव्यक्ति ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता। हे सोम्य! चूँकि तुमने सत्य वचनों का त्याग नहीं किया, अतः तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन

करूँगा। तब उन्होंने सत्यकाम का उपनयन करके चार सौ कृश एवं अबला गौओं को देकर उनसे कहा- हे सोम्य! तुम इन गौओं को ले जाकर चराना। इन्हें वन में तब तक चराना, जब तक ये सहस्र गौएँ न हो जाएँ। उन गौओं के अनुगामी होकर सत्यकाम ने कहा - हे आचार्य ! जब तक ये सहस्र गौएँ न हो जाएँगी तब तक नहीं लौटूँगा। सहस्र संख्यक गौएँ होने तक वे वर्षों वन में भ्रमण करते रहे॥ ५॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम्॥ १॥

एक दिन वृषभ ने सत्यकाम से कहा- हे सत्यकाम! अब हम एक हजार हो गये हैं, हमें आचार्य के पास ले चलो॥ १॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २॥

पुनः वृषभ ने सत्यकाम से कहा- हे सत्यकाम! क्या मैं तुम्हें ब्रह्म का एक पाद बताऊँ? सत्यकाम ने उनसे कहा- हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब वृषभ ने कहा- पूर्व, पश्चिम,उत्तर और दक्षिण ये दिक् कलाएँ हैं। वह 'प्रकाशमान' संज्ञक ब्रह्म इन चारों कलाओं में एक पाद व्याप्त करता है॥ २॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते॥ ३॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के प्रकाशवान् स्वरूप की उपासना करता है, वह इस लोक में प्रकाशवान् होता है और प्रकाशवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार वह विद्वान् जो चतुष्कल पाद की ब्रह्म के प्रकाशमान रूप की उपासना करता है, वह उसी स्वरूप को प्राप्त होता है॥ ३॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

उस वृषभ ने उनसे पुनः कहा- ब्रह्म का दूसरा पाद तुम्हें अग्निदेव बताएँगे। सत्यकाम ने गौओं को आचार्य कुल की ओर हाँक दिया। सायंकाल जहाँ हुई, वहीं वे गौओं को रोककर अग्निदेव को प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिम में, पूर्व की ओर मुख करके बैठ गये॥ १॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २॥

अग्निदेव ने सत्यकाम को सम्बोधित किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा- जी भगवन्!॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम॥ ३॥

अग्निदेव ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं आपको ब्रह्म का दूसरा पाद बताऊँ? उन्होंने कहा हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब अग्निदेव ने कहा-एक कला पृथ्वी, दूसरी कला अन्तरिक्ष, तीसरी कला द्युलोक और चौथी कला समुद्र है। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद अनन्तवान् संज्ञक है॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते॥ ४॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के अनन्तवान् संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में अनन्तवान् होता है और अनन्तवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के अनन्तवान् संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है॥४॥

॥ सप्तमः खण्डः॥

हꣳसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

अग्निदेव ने उनसे कहा- आपको ब्रह्म का तीसरा पाद हंस बताएगा। दूसरे दिन उन्होंने गौओं को आचार्यकुल की ओर हाँक दिया। जहाँ सायंकाल हुई, वहाँ वे गौओं को रोककर अग्नि प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिमी ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये॥ १॥

तꣳ हꣳस उप निपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २॥

तब हंस ने अग्नि के समीप उतर कर सत्यकाम को पुकारा, उन्होंने प्रत्युत्तर दिया- जी भगवन्!॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम॥ ३॥

हंस ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं तुम्हें ब्रह्म का तीसरा पाद बताऊँ? सत्यकाम ने कहा- हाँ भगवन्! आप मुझे बताएँ। तब हंस ने उनसे कहा- अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् - ये चार कलाएँ हैं। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद ज्योतिष्मान् नाम का है॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते॥ ४॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के इस 'ज्योतिष्मान्' संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में ज्योतिष्मान् होता है और ज्योतिष्मान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के ज्योतिष्मान् स्वरूप की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ अष्टमः खण्डः॥

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

हंस ने सत्यकाम से कहा- मद्गु (जलपक्षी) तुम्हें ब्रह्म का चौथा पाद बताएगा। अगले दिन उन्होंने गौओं को आचार्य कुल की ओर हाँक दिया। जहाँ सायंकाल हुई, वहाँ वे गौओं को रोककर अग्नि प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिमी ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये॥ १॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव॥ २॥

मद्गु ने उनके पास आकर उन्हें पुकारा, तो सत्यकाम ने उत्तर दिया- जी भगवन्!॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम॥ ३॥

तब मद्‌गु ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं तुम्हें ब्रह्म का चौथा पाद बताऊँगा? सत्यकाम ने कहा- हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन- ये चार कलाएँ हैं। हे सोम्य! यह ब्रह्म का चतुष्कल पाद आयतनवान् (आश्रययुक्त) संज्ञा का है॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के इस 'आयतनवान्' संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में आयतनवान् होता है और आयतनवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के आयतनवान् स्वरूप की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ नवमः खण्डः॥

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १॥

जब सत्यकाम आचार्यकुल में पहुँचे, तो आचार्य ने उन्हें सम्बोधित किया- सत्यकाम! उन्होंने उत्तर दिया जी भगवन्!॥ १॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाꣳस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २॥

आचार्य ने उनसे कहा हे सोम्य! तुम ब्रह्मवेत्ता के सदृश दीप्तिमान् हो रहे हो, तुम्हें किसने उपदेश दिया? सत्यकाम ने उन्हें उत्तर दिया- हे आचार्य! मुझे मनुष्य से भिन्न प्राणियों ने उपदेश दिया है। अब मेरी कामना के अनुसार आप ही मुझे उपदेश करें॥ २॥

श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति॥ ३॥

तब आचार्य ने उन्हें उपदेश किया- मैंने भगवद् स्वरूप ऋषियों के मुख से सुना है कि आचार्य के मुख से जानी गई विद्या ही उपयुक्तता-सार्थकता को प्राप्त होती है। आगे उन्होंने जब उपदेश किया, तो कुछ भी जानना शेष न रहा अर्थात् वे सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हुए॥ ३॥

॥ दशमः खण्डः॥

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयꣳस्तꣳ ह स्मैव न समावर्तयति॥ १॥

उपकोसल कामलायन (कमल का वंशज) सत्यकाम जाबाल के आचार्यत्व में ब्रह्मचर्य पूर्वक वास करते थे। उन्होंने बारह वर्ष तक आचार्यकुल में अग्नियों की परिचर्या की । आचार्य सत्यकाम ने अन्य ब्रह्मचारियों का समावर्तन संस्कार कर दिया, परन्तु उनका नहीं किया॥ १॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥ २॥

आचार्य सत्यकाम से उनकी धर्मपत्नी ने कहा- यह ब्रह्मचारी बहुत तपश्चर्या कर चुका है, इनके द्वारा भली प्रकार अग्नियों की परिचर्या भी की गई है। अतः आप इसे उपदेश कर दें, जिससे अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें, किन्तु वे बिना कुछ कहे प्रवास पर चल दिये॥ २॥

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किंनु नाश्नासीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति॥ ३ ॥

उन उपकोसल ने मानसिक व्यथा से अनशन करने का निश्चय किया। उनसे आचार्य की धर्मपत्नी ने कहा- हे ब्रह्मचारिन्! तू भोजन क्यों नहीं करता? उन्होंने कहा- इस पुरुष में बहुत सी कामनाएँ रहती हैं, जो दु:ख देती हैं। मैं उन्हीं विविध मानसिक व्यथाओं से परिपूर्ण हूँ, अत: भोजन नहीं करूँगा॥ ३॥

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥

तदनन्तर अग्नियों ने एकत्रित होकर आपस में कहा- यह ब्रह्मचारी तपश्चर्या कर चुका है। इसने हमारी भली प्रकार परिचर्या की है। अब हम इसे उपदेश करते हैं। ऐसा उन अग्नियों ने निश्चय कर उनसे कहा- प्राण ब्रह्म है। 'क' (सुख) ब्रह्म है और 'ख '(आकाश) ब्रह्म है॥ ४॥

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः॥ ५॥

उपकोसल ने कहा- यह मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है, किन्तु 'क' और 'ख' मैं नहीं जानता। उन अग्नियों ने उत्तर दिया- जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है। इस प्रकार उन्होंने उपकोसल को प्राण और उसके आधारभूत आकाश का उपदेश किया॥ ५॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १॥

आगे उन्हें गार्हपत्याग्नि ने उपदेश किया- पृथिवी , अग्नि, अन्न और आदित्य, इन चारों में मैं ही हूँ। आदित्य के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वह मैं ही हूँ, वही मेरा (विस्तृत) रूप है॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २॥

जो पुरुष इस प्रकार जानकर उसकी (आदित्य पुरुष की) उपासना करता है, वह पाप कर्मों को नष्ट कर देता है। वह अग्नि के भोगों (लोक) को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है, उनके वंशज क्षीण नहीं होते। इस प्रकार जानकर जो पुरुष उसकी उपासना करता है, उसका हम (अग्नियाँ) इस लोक तथा परलोक (अदृश्य लोक) में भी पालन करती हैं॥ २॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥ १ ॥

तदनन्तर अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) ने उन्हें उपदेश किया-जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा- ये चार रूप मेरे ही हैं। चन्द्रमा के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वह मैं ही हूँ, वही मेरा रूप है॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥

वह साधक जो इस प्रकार जानकर उसकी (चन्द्र पुरुष) की उपासना करता है, वह पाप कर्मों को विनष्ट करता है, चन्द्रलोक को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है और तेजस्वी जीवन जीता है। उसके अनुवर्त्ती वंशज कभी क्षीण नहीं होते। जो इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, इस लोक तथा परलोक में भी हम (अग्नियाँ) उसका पालन करती हैं॥ २॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥ १ ॥

उसके बाद आहवनीय अग्नि ने उन्हें उपदेश किया-प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् - इन चारों में मैं ही हूँ। यह जो विद्युत् के मध्य पुरुष दिखायी देता है, वह मैं ही हूँ। वही मेरा रूप है॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥ २ ॥

वह साधक जो इस प्रकार जानकर उसकी (विद्युत् पुरुष की) उपासना करता है, वह पापकर्मों को विनष्ट करता है, विद्युत् लोक में भोगों से युक्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है और तेजस्वी जीवन जीता है। उसके अनुवर्त्ती वंशज कभी क्षीण नहीं होते। जो इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, हम (अग्नियाँ) उसका इस लोक में और परलोक में भी पालन करती हैं॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति॥ १ ॥

उन अग्नियों ने उपकोसल से कहा- हे उपकोसल! हे सोम्य! तुम्हारे लिए हमने यह विद्या (अग्नि) और आत्म विद्या कही। इससे आगे की विद्या तुझे आचार्य बताएँगे। इसके बाद आचार्य आये और उपकोसल को सम्बोधित किया- उपकोसल!॥ १॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति॥ २ ॥

उन्होंने प्रत्युत्तर दिया- जी भगवन्! आचार्य सत्यकाम ने उनसे कहा- हे सोम्य! तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ता के सदृश दिखाई पड़ता है। उपकोसल ने उनसे कहा- भगवन्! मुझे उपदेश देने वाला यहाँ कौन है? तब अग्नियों की ओर संकेत कर कहा- उन्होंने ही मुझे उपदेश दिया है, परन्तु अब ये अन्य स्वरूप में हैं। आचार्य ने उनसे कहा- हे सोम्य! इन्होंने क्या उपदेश किया है?॥ २॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश? आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच॥ ३॥

उपकोसल ने अग्नियों का उपदेश आचार्य को बताया। तब आचार्य ने उनसे कहा- हे सोम्य! इन्होंने तो तुझे केवल लोकों का ज्ञान दिया है। अब तुझे मैं वह ज्ञान देता हूँ, जिसे जानने पर पाप कर्म उसी प्रकार लिप्त नहीं होते, जिस प्रकार कमल पत्र जल से लिप्त नहीं होते। उन्होंने कहा- भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब आचार्य ने उन्हें उपदेश दिया॥ ३॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति॥ १॥

यह नेत्र में जो पुरुष दिखायी देता है, (जो चक्षुओं का चक्षु अथवा दृष्टि का द्रष्टा है) वह आत्मा है। यह अविनाशी, भयरहित और ब्रह्मस्वरूप है। उसके स्थान पर जल या घृत डालें, तो वह पलकों में ही चला जाता है (अर्थात् वह सम्पूर्ण पदार्थों से अलिप्त रहता है।)॥ १॥

एतꣳ संयद्वाम इत्याचक्षत एतꣳ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २॥

इस पुरुष को 'संयद्वाम' कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण शोभन वस्तुएँ सब ओर से इसे ही प्राप्त होती हैं। जो साधक इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह सर्वोपयोगी वस्तुएँ सब ओर से धारण करता है॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद॥ ३॥

यह पुरुष निश्चय ही सम्पूर्ण पुण्यफलों को धारण करने वाला है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह सम्पूर्ण पुण्यफलों को धारण करता है॥ ३॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४॥

यह पुरुष निश्चय ही प्रकाशमान है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकों में प्रकाशित होता है। जो साधक इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह सम्पूर्ण लोकों में प्रकाशित होता है॥ ४॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः॥ ५॥

स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते॥ ६॥

इस प्रकार जानने वाला पुरुष मृत्यु के पूर्व या उपरान्त अर्चि देवता को प्राप्त होता है। फिर अर्चि देव से दिवस सम्बन्धी देव को, दिवस से शुक्ल पक्ष को , शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छः मासों को, उत्तरायण के छः मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होता हैं। वहाँ से अमानवी पुरुष (विशिष्ट देवपुरुष) उन्हें ब्रह्म लोक को प्राप्त कराता है। यह देवमार्ग अथवा ब्रह्म मार्ग है , इससे गमन करने वाला पुरुष पुनः इस मानव जगत् को नहीं प्राप्त होता ॥ ५-६ ॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदः सर्वं पुनाति। यदेष यन्निदःसर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी॥ १ ॥

वह जो प्रवहमान (वायु) है, वह यज्ञ ही है। यह प्रवहमान तत्त्व इस सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है। चूँकि यह सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है, अतः यही यज्ञ है। वाणी और मन ये दो इसके मार्ग हैं॥

तयोरन्यतरां मनसा सःस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराः स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति॥ २ ॥

उनमें से एक मार्ग का संस्कार ब्रह्मा अपने मन से करते हैं तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी द्वारा दूसरे मार्ग का संस्कार करते हैं। (यदि) प्रातः कालीन अनुवाक के आरम्भ होने के पूर्व ब्रह्मा अपनी वाणी का प्रयोग करते हैं॥ २॥

अन्यतरामेव वर्तनीः सःस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञः रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति॥ ३ ॥

(तो) वह केवल एक वाणी के मार्ग का ही संस्कार करते हैं, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पैर से चलने वाला पुरुष अथवा एक पहिये से चलने वाला रथ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस यज्ञ का विनाश हो जाता है। यज्ञ के विनष्ट होने पर यजमान भी नष्ट हो जाता है। ऐसा यज्ञ करने पर यजमान अधिक पापों को प्राप्त होता है॥ ३ ॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सःस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा॥ ४॥

यदि प्रातः कालीन अनुवाक आरम्भ करने के पश्चात् परिधानीया ऋचा से पूर्व ब्रह्मा नहीं बोलते हैं, तो (समस्त ऋत्विक् मिलकर) दोनों ही मार्गों का संस्कार करते हैं, तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता॥ ४॥

स यथोभयपाद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥ ५॥

जिस प्रकार दोनों पैरों से चलने वाला पुरुष तथा दोनों पहियों से चलने वाला रथ भली प्रकार स्थित रहता है, वैसे ही यह यज्ञ भी भली प्रकार स्थिन रहता है। यज्ञ के स्थित रहने से यजमान भी भली प्रकार स्थित रहता है। ऐसा यज्ञ करके यजमान विशिष्ट श्रेय को प्राप्त होता है॥ ५॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने लोकों का सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने लोकों से रसों को उत्पन्न किया। पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्युलोक से आदित्य को ग्रहण किया ॥ १ ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

फिर उन्होंने तीन देवों से सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने देवों से रसों को उत्पन्न किया। अग्निदेव से ऋक्, वायुदेव से यजुष् और आदित्यदेव से साम को ग्रहण किया ॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

फिर उन्होंने इस त्रयी विद्या का सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने त्रयी विद्या से रसों को उत्पन्न किया। ऋचाओं से भूः, यजुः कण्डिकाओं से भुवः तथा साम मंत्रों से स्वः को ग्रहण किया ॥ ३ ॥

तद्यद्यृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति ॥ ४ ॥

यदि ऋचाओं के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्हपत्याग्नि में यज्ञ करे। इस प्रकार ऋचाओं के रस से ऋचाओं के बीज द्वारा ऋचा सम्बन्धी यज्ञ की त्रुटियों की पूर्ति होती है ॥ ४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति ॥ ५ ॥

यदि यजुः कण्डिकाओं के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्नि में आहुति देनी चाहिए। इस प्रकार यजुओं के रस से यजुओं के बीज द्वारा यजुष् सम्बन्धी यज्ञ की पूर्ति होती है ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति ॥ ६ ॥

यदि साम मंत्रों के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'स्वः स्वाहा' इस उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि में आहुति देनी चाहिए। इस प्रकार साम मंत्रों के रस से साम के बीज द्वारा साम सम्बन्धी यज्ञ की पूर्ति होती है ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳ संदध्यात्सुवर्णेन रजतꣳ रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसꣳ सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ ७ ॥

जिस प्रकार लवण से सोने को, सोने से चाँदी को, चाँदी से राँगा को , राँगे से सीसे को , सीसे से लोहे को, लोहे से काष्ठ को और चमड़े से काष्ठ को जोड़ा जाता है ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति॥ ८॥

उसी प्रकार इन लोकों , देवों और तीनों वेदों के सार से यज्ञ के छिद्र (दोष) का सुधार किया जाता है। जिस यज्ञ में इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ निश्चय ही ओषधियों (आहुतियों) से संस्कारित (प्रभावयुक्त) होता है॥ ८॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳ ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति॥ ९॥

जिस यज्ञ में इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ उत्तर मार्ग को प्राप्त कराता है। इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न ब्रह्मा के प्रति यह उक्ति कही गई है- जहाँ भी वह यज्ञ में प्रवृत्त होता है, वह यज्ञ के अभीष्ट को प्राप्त होता है॥ ९॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम्॥ १०॥

इस प्रकार ब्रह्मा मनन करने वाला एक ऋत्विक् होता है। जिस प्रकार घोड़ी सब योद्धाओं की रक्षा करती है, उसी प्रकार ब्रह्मा यज्ञ की, यजमान की और सब ऋत्विजों की सब ओर से रक्षा करता है। अत: इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न को ही ब्रह्मा बनाएँ, ऐसा न जानने वाले को न बनाएँ, कभी न बनाएँ॥ १०॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

इस अध्याय में प्राण की सर्वश्रेष्ठता एवं पञ्चाग्नि विद्या का वर्णन किया गया है-

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

जो ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ (आयु में प्रथम और गुणों में अधिक) को जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

जो वसिष्ठ (समग्र श्रेष्ठता) को जानता है, वह स्वजातियों में वसिष्ठ (श्रेष्ठ धन से सम्पन्न) होता है। निश्चय ही वाक् (वाणी) वसिष्ठ है॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह लोक, परलोक (स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर) में प्रतिष्ठित होता है। निश्चय ही चक्षु प्रतिष्ठा है॥ ३ ॥

यो ह वै संपदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥ ४ ॥

जो कोई सम्पद् को जानता है, उसे दैव और मानुष दोनों ही काम (भोग) सभी प्रकार से प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही सम्पत्ति है॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

जो कोई आयतन को जानता है, वह स्वजनों का आयतन होता है अर्थात् उनका आश्रय बन जाता है। निश्चय ही मन आयतन है॥ ५ ॥

अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

एक बार प्राण (विभिन्न इन्द्रियों में स्थित प्राण) अपनी श्रेष्ठता के लिए परस्पर विवाद करने लगे कि मैं श्रेष्ठ हूँ - मैं श्रेष्ठ हूँ॥ ६ ॥

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

तब उन प्राणों ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर पूछा 'भगवन्! हममें से श्रेष्ठ कौन है?' तब प्रजापति ने उत्तर दिया कि 'तुममें से जिस तत्त्व के निकल जाने पर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ (जीवित रहते हुए भी प्राणहीन एवं उससे भी निकृष्ट जैसा) दिखाई देने लगे, वही तत्त्व श्रेष्ठ है'॥ ७ ॥

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

(तब) वाक् इन्द्रिय ने उत्क्रमण किया, अर्थात् शरीर से बाहर चली गयी। उसने एक वर्ष तक प्रवास में रहने के बाद वापस लौटकर पूछा- 'मेरे बिना तुम जीवित रहने में कैसे समर्थ रह सके?' तब इन्द्रियों ने कहा- जिस प्रकार गूँगा वाणी से बिना बोले हुए भी प्राण से श्वासोच्छ्वास करता है, नेत्रों से देखता है,

कानों से सुनता है और मन से चिन्तन करते हुए जीवनयापन करता है। उसी प्रकार (हम भी जीवित रहे) ऐसा सुनकर वागिन्द्रिय ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ ८॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः॥ ९॥

(फिर) चक्षु (नेत्र) ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा- 'मेरे बिना तुम जीवित कैसे रह सके ?, (तब अन्य इन्द्रियों ने कहा) 'जिस प्रकार नेत्रहीन नेत्रों से देख नहीं सकता, तो भी प्राणों से श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, कानों से श्रवण करते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहता है, उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे], ऐसा सुनकर नेत्र ने पुनः प्रवेश किया॥ ९॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम्॥ १०॥

(इसके पश्चात्) श्रोत्र (कान) ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के उपरान्त पुनः लौटकर पूछा- हमारे बिना तुम कैसे जीवित रहे ? तब अन्य इन्द्रियों ने कहा- 'जिस प्रकार बधिर बिना सुने, प्राण से प्राणन करते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे।' यह सुन करके श्रोत्र ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ १०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः॥ ११॥

(श्रोत्र के बाद) मन ने बाह्य गमन किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के बाद लौटकर उसने वाक् आदि इन्द्रियों से पूछा कि 'मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे ?' (तब उन सभी ने कहा) 'जिस प्रकार छोटे बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राण द्वारा श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते, कर्णों से श्रवण करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार (हम भी जीवित रहे)।' यह सुनकर मन ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ ११॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्त्स यथासुहयः पड्वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति॥ १२॥

फिर प्राण बहिर्गमन करने के लिए तत्पर होता है। जिस तरह शक्तिशाली अश्व पैर बाँधने की कीलों को उखाड़ देता है, उसी प्रकार प्राण ने समस्त इन्द्रियों के बन्धन से अपने आप को मुक्त किया। तब उन सबने प्राण से निवेदन किया कि 'भगवन्! आप अपने ही स्थान पर रहें, आप ही हम सब में श्रेष्ठ हैं, आप बाहर न जाएँ'॥ १२॥

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति॥ १३॥

तत्पश्चात् उस वागिन्द्रिय ने मुख्य प्राण से कहा- 'मैं जो वसिष्ठ हूँ, वह वसिष्ठ आप ही हैं।' चक्षु ने कहा- ''मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो (वह)प्रतिष्ठा आप ही हैं।''॥ १३॥

अथ हैनꣳ श्रोत्रमुवाच यदहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति॥ १४॥

फिर उस श्रोत्र ने कहा कि 'मैं जो सम्पद्' (श्रेष्ठ सम्पत्ति) हूँ, सो वह सम्पद् आप ही हैं। (इसके बाद) उस मुख्य प्राण से मन ने कहा- 'मैं जो आयतन (आश्रय) हूँ, वह आश्रय आप ही हैं॥ १४॥

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति॥ १५॥

इसलिए लोक में वाक् आदि समस्त इन्द्रियों को न वाणी, न नेत्र, न श्रोत्र और न ही मन; बल्कि सबको 'प्राण' नाम से ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि ये सभी प्राण ही हैं॥ १५॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किंचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति॥ १॥

उस मुख्य प्राण ने प्रश्न किया कि मेरा अन्न क्या होगा? तब वाक् आदि इन्द्रियों ने उत्तर देते हुए कहा- 'कुत्तों और पक्षियों से लेकर सभी प्राणियों का यह जो कुछ भी अन्न है, वह सब तुम्हारा ही है।' 'अन्' यह प्राण का नाम प्रसिद्ध है। इस प्रकार जानने वाले के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं होता है॥ १॥

[प्राणियों में जब तक प्राण रहते हैं, तभी तक उन्हें अन्न की आवश्यकता पड़ती है। प्राण जाते ही अन्न की माँग समाप्त हो जाती है, इसीलिए सारे अन्न प्राण के लिए ही हैं।]

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति॥ २॥

उस मुख्य प्राण ने पुनः प्रश्न किया कि 'मेरा वास (वस्त्र) क्या होगा?' तब वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा -'जल'। (प्राण को) भोजन करने से पूर्व और पश्चात् आच्छादित करते हैं। (ऐसा करने से) वह वस्त्र धारण करने वाला और अनग्न होता है॥ २॥

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ३॥

इस प्राणोपासना पद्धति का विवरण सत्यकाम जाबाल ने व्याघ्रपद के पुत्र गोश्रुति नामक वैयाघ्रपद को सुनाया- ''यदि कोई इस प्राणोपासना को शुष्क ठूँठ से भी कहेगा, तो उसमें भी शाखाएँ उत्पन्न हो जाएँगी और पत्ते प्रस्फुटित हो आएँगे।''॥ ३॥

[मन्त्र क्र० १ में प्राण - प्रक्रिया को जानने वाले तथा क्र०३ में सुनने वाले को असाधारण लाभ प्राप्त होने की बात कही गयी है। उस काल में जानने का अर्थ उस प्राण-प्रक्रिया को चलाने की क्षमता होना तथा सुनने का अर्थ उस प्राण-प्रक्रिया को आत्मसात् करना ही रहा होगा। उसी स्थिति में किसी अन्न से पोषण पाने तथा सूखे ठूँठ में भी नये प्राण का संचार होने की बात सिद्ध होती है।]

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ४॥

इसके बाद अब यदि वह महत्त्व का अभिलाषी हो, तो उसे अमावस्या को दीक्षा प्राप्त करके पूर्णिमा की रात्रि को सभी औषधियों, दही और शहद सम्बन्धी मन्थ (मथकर तैयार किया गया द्रव्य) का मंथन कर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' के मन्त्र द्वारा अग्नि में घृत की आहुति देकर मन्थ में उसका अवशेष डालना चाहिए ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥

(इसी प्रकार) 'वसिष्ठाय स्वाहा' के मन्त्र से अग्नि में घृताहुति समर्पित कर मन्थ में भी घृत के स्राव को डाले, 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि को घृताहुति समर्पित करके मन्थ में घृत के अवशेष को डाले, 'संपदे स्वाहा' मन्त्र के द्वारा अग्नि में हवन करके अवशिष्ट घृत को मंथ में डाले तथा 'आयतनाय स्वाहा' इस मंत्र से अग्नि में घृत की आहुति देकर शेष घृत को मन्थ में समर्पित करे ॥ ५ ॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

(तत्पश्चात्) अग्नि से कुछ दूर हटकर अञ्जलि में मन्थ को लेकर इस मन्त्र का उच्चारण करे 'अमो नामसि' हे मन्थ! तू 'अम' (प्राण) नाम वाला है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् (अपने प्राणभूत) तेरे साथ अवस्थित है। तू ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा (प्रकाशमान) और सबका अधिपति है। वह तुम मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ तत्त्व, राज्य और आधिपत्य को प्राप्त कराओ। मैं ही सर्वरूप हो जाऊँ ॥ ६ ॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति ॥ ७ ॥

तदनन्तर वह इस ऋचा से (हम प्रकाशमान सविता के उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजन की प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवता के स्वरूप का ध्यान करते हैं) पादशः (उस मन्थ का) एक एक पद को कहकर मध्य के एक एक ग्रास का भक्षण करता है। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर एक ग्रास का भक्षण करता है। 'वयं देवस्य भोजनम्' ऐसा कहकर एक ग्रास का भक्षण करता है। 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्' मन्त्र कहकर पुनः एक ग्रास को ग्रहण करता है तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस अथवा चमस के आकार वाले पात्र को धोकर सम्पूर्ण मंथ लेप को पी जाता है ॥ ७ ॥

निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहꣳस यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ८ ॥

इसके बाद अग्नि के पृष्ठ भाग पर पीछे की ओर पवित्र मृग चर्म आदि बिछाकर अथवा स्थण्डिल (पवित्र यज्ञ भूमि) में ही वाणी का संयम रखते हुए शयन करता है। उस समय यदि वह स्वप्न में स्त्री का दर्शन करे, तो यह समझे कि मेरा यह अनुष्ठान सफलता को प्राप्त हो गया ॥ ८ ॥

तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शन इति ॥ ९ ॥

इससे सम्बन्धित यह श्लोक है - 'काम्य कर्मों में जब स्त्री को देखे, तो उस स्वप्न के दर्शन होने पर उस कार्य की सफलता समझे ॥ ९ ॥

॥ तृतीय: खण्ड: ॥

श्वेतकेतुर्हारुणेय: पञ्चालानाꣳसमितिमेयाय तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति॥ १॥

पाञ्चाल नरेश की सभा में (एक बार) आरुणि पुत्र श्वेतकेतु आया। वहाँ उससे जीवल पुत्र प्रवाहण ने प्रश्न करते हुए कहा कि 'कुमार! क्या तुम्हारे पिताजी ने तुमको शिक्षा प्रदान की है'। तब उसने कहा- हाँ, भगवन्! हमने अपने पिताजी से शिक्षा प्राप्त की है॥ १॥

वेत्थ यदितोऽधि प्रजा: प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति न भगव इति॥ २॥

प्रवाहण ने पुन: प्रश्न किया कि क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि प्रजा इस लोक से जाने के बाद कहाँ जाती है? श्वेतकेतु ने कहा- 'भगवन्! यह जानकारी मुझे नहीं है। उसने फिर पूछा कि क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि वह प्रजा पुन: इस लोक में किस प्रकार आती है? श्वेतकेतु ने पुन: नकारात्मक उत्तर दिया कि मुझे यह भी नहीं मालूम है। प्रवाहण पुन: अगला प्रश्न पूछता है कि देवयान और पितृयान मार्गों का एक दूसरे से अलग होने का स्थान क्या तुम्हें ज्ञात है?' श्वेतकेतु ने कहा- नहीं भगवन्! मैं यह भी नहीं जानता॥ २॥

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत३ इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति॥ ३॥

प्रवाहण ने पुन: प्रश्न किया कि क्या तुम्हें ज्ञात है कि यह पितर लोक क्यों नहीं भरता है? श्वेतकेतु ने कहा- 'नहीं भगवन्! उसने फिर पूछा कि 'पाँचवीं आहुति के यजन कर दिये जाने पर घृत सहित सोमादि रस 'पुरुष' संज्ञा को कैसे प्राप्त करते हैं' ? श्वेतकेतु ने कहा- नहीं भगवन्! मैं यह भी नहीं जानता॥ ३॥

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथꣳ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति स हायस्त: पितुरर्धमेयाय तꣳहोवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति॥ ४॥

''तो फिर तुमने स्वयं के सम्बन्ध में ऐसा क्यों कहा कि मुझे शिक्षा प्रदान की गयी है?'' जो इन सभी विद्याओं की जानकारी नहीं रखता है, वह अपने को पूर्ण शिक्षित कैसे कह सकता है? उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर न दे पाने से त्रस्त होकर वह अपने पिता आरुणि के पास गया और बोला कि आपने मुझे शिक्षा दिये बगैर हीं आश्वस्त कर दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा प्रदान कर दी है॥ ४॥

पञ्च मा राजन्यबन्धु: प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति॥ ५॥

श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि 'उस क्षत्रिय कुमार ने मुझसे अग्निविद्या से सम्बन्धित पाँच प्रश्न किये। मैं उनमें से एक का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका। तब उसके पिता ने कहा कि 'तुमने ये जितने प्रश्न मुझसे कहे, मैं भी उनमें से एक प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। यदि मुझे जानकारी होती, तो भला तुम्हें क्यों नहीं इसकी जानकारी देता॥ ५॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय तꣳहोवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्रीबभूव ॥ ६ ॥

तब वह पिता और पुत्र (आरुणि और श्वेतकेतु) पुनः उस पाञ्चाल नरेश के समीप प्रश्नों की जिज्ञासा को लिए हुए आये। राजा ने अपने यहाँ आये उन दोनों (पिता और पुत्र) को सम्मानित किया। दूसरे दिन प्रात:काल गौतम गोत्रोत्पन्न वे दोनों राजा की सभा में गये। उस राजा ने कहा कि 'हे भगवन् गौतम! आप सांसारिक धन का वरदान हमसे प्राप्त कर लें। तब उन मुनि ने कहा- राजन्! ये मनुष्य सम्बन्धी धन आपके ही पास रहें; आपने मेरे पुत्र के प्रति जो बात (प्रश्नरूप से) कही थी, वही मुझे बताने की कृपा करें। यह सुनकर वह राजा अत्यन्त संकट में पड़ गया॥ ६॥

तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार तꣳ होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच॥ ७॥

पाञ्चाल नरेश ने उन दोनों (पिता और पुत्र) को अपने पास चिरकाल तक रहने की आज्ञा प्रदान की। उसने कहा- 'हे गौतम! जिस प्रकार आपने मुझसे कहा है, उसे आप यह समझें कि प्राचीन काल में यह अग्नि विद्या ब्राह्मण के पास नहीं गयी। इसी कारण से सभी लोकों में इस विद्या पर क्षत्रियों का ही अनुशासन रहा है। इस प्रकार कहकर उस राजा ने गौतम को अग्निविद्या का उपदेश दिया॥ ७॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

श्वेतकेतु से प्रवाहण ने जो प्रश्न पूछे थे, उनमें से पहले 'पाँचवीं आहुति में आपः पुरुष वाचक कैसे बन जाता है' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। इस प्रश्न के समाधान के साथ ही अन्य प्रश्नों के समाधान का मार्ग भी खुलता है। वेद ने इस सृष्टि को यज्ञमय कहा है। ऋषि स्थूल यज्ञ की उपमा देते हुए सृष्टिचक्र के विभिन्न चरणों को समझाते हैं। द्युलोक में पहली आहुति से सोम, अंतरिक्ष में दूसरी आहुति से वर्षा, पृथ्वी पर तीसरी आहुति से अन्न, पुरुष में चौथी आहुति से वीर्य तथा नारी में पाँचवीं आहुति से पुरुषवाची जीव की उत्पत्ति होती है। प्रश्न था 'आपः' पुरुष वाची कैसे बन जाता है। प्रथम आहुति श्रद्धा की कही गयी है। 'श्रद्धा - आपः' अर्थात् श्रद्धा और आपः पर्यायवाची शब्द हैं। वेद ने आपः को ब्रह्म के तप से उत्पन्न सृष्टि का मूल क्रियाशील पदार्थ माना है। प्रकारान्तर से यह चक्र 'ब्राह्मी चेतना' के 'जीव चेतना' के रूप में प्रकट होने तक के रहस्यात्मक चरणों को प्रकट करता है-

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः॥ १॥

हे महर्षि गौतम! यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है। आदित्य ही उस अग्नि की समिद् (ईंधन) है, किरणें ही धूम्र हैं, दिन ही ज्वाला है, चन्द्रमा ही अङ्गार और नक्षत्र ही विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं॥ १॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति॥ २॥

उस द्युलोक रूप अग्नि में देवगण श्रद्धा का यजन करते हैं। उस आहुति से राजा सोम का प्रादुर्भाव होता है॥ २॥

[सृष्टि यज्ञ के प्रथम चरण में श्रद्धा अथवा आपः तत्त्व के यजन से सोम अर्थात् आधारभूत पोषक प्रवाह की उत्पत्ति होती है।]

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम! (इस अग्नि विद्या के अन्तर्गत) पर्जन्य ही अग्नि है, वायु ही समिधायें हैं, बादल ही धूम्र है, विद्युत् ही उसकी ज्वालाएँ हैं, वज्र (उसका) अङ्गार और गर्जन ही विस्फुलिंग अर्थात् चिनगारियाँ हैं ॥१ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳ संभवति ॥ २ ॥

इस दिव्याग्नि में ही देवगण सामूहिक रूप से राजा सोम के निमित्त यजन करते हैं, उस विशेषाहुति से वर्षा का प्राकट्य होता है ॥ २ ॥

[पर्जन्य उस लोक की उत्पादक क्षमता है। यजन के दूसरे चरण में सोम से वर्षा की उत्पत्ति होती है।]

॥ षष्ठः खण्डः ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम! (इस क्रम में) पृथिवी ही अग्नि है। संवत्सर ही उसकी समिधाएँ हैं, आकाश ही धूम्र (धुआँ) है, रात्रि ही ज्वालाएँ हैं, दिशाएँ ही अङ्गारे और अवान्तर दिशाएँ अर्थात् कोने ही (विस्फुलिङ्ग) चिनगारियाँ हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳ संभवति ॥ २ ॥

उस श्रेष्ठ दिव्याग्नि में समस्त देवता वर्षा के निमित्त दिव्य आहुतियाँ समर्पित करते हैं; उस विशेष आहुति से अन्न का प्रादुर्भाव होता है ॥ २ ॥

[यजन के तीसरे चरण में पृथ्वी में दी गयी इस आहुति से जीवन तत्त्व अन्न के रूप में परिवर्तित हो जाता है।]

॥ सप्तमः खण्डः ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम! पुरुष ही दिव्याग्नि है। उस (अग्नि विद्या) की वाक् ही समिधाएँ (ईंधन) हैं। प्राण ही धूम्र (धुआँ) है। जिह्वा ही ज्वाला है, नेत्र अङ्गारे हैं तथा श्रोत्र (कान) ही विस्फुलिङ्ग अर्थात् चिनगारियाँ हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥

उस दिव्याग्नि में सभी देवता मिलकर अन्न के निमित्त आहुति समर्पित करते हैं, उस विशेष आहुति से वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

[इस चौथे चरण की आहुति के बाद अन्तःस्थ जीवन तत्त्व वीर्य में पोषक तत्त्व (आपः) शुक्राणु रूप में प्रकट हो जाता है।]

॥ अष्टमः खण्डः ॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम! उस अग्नि विद्या की स्त्री ही दिव्याग्नि है। उसका उपस्थ (जननांग) ही समिधा अर्थात्

ईंधन है, विचार विमर्श ही उसका धूम्र है, योनि ही ज्वाला है। स्त्री-पुरुष का सान्निध्य ही उस दिव्याग्नि के अङ्गारे हैं और आनन्दानुभूति ही (विस्फुलिङ्ग) चिनगारियाँ हैं॥ १॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति॥ २॥

उस दिव्याग्नि में देवगण वीर्य का यजन करते हैं, उस विशिष्ट यजन कार्य से श्रेष्ठ गर्भ का अवतरण होता है॥

[इस पाँचवीं आहुति के पकने पर प्रथम आहुति में होमा गया 'आपः (मूल जीवन) तत्त्व' काया में स्थित पुरुष वाचक 'जीव या प्राणी' के रूप में विकसित हो जाता है।]

॥ नवमः खण्डः॥

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते॥ १॥

इस तरह से अग्नि विद्या की पाँचवीं आहुति के प्रदान किये जाने पर आपः (प्रथम आहुति में होमा गया श्रद्धारूप सृष्टि का मूल सक्रिय प्रवाह) पुरुष रूप हो जाता है। वह गर्भ जरायु से ढका हुआ नौ या दस महीने अथवा जब तक पूर्ण अङ्ग विकसित नहीं होता, तब तक गर्भ के भीतर ही शयन करने के पश्चात् पुनः प्रादुर्भूत होता है॥ १॥

[यहाँ तक अग्निविद्या का रहस्य प्रकट हो जाने पर पूछे गये पाँचवें प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद पुरुष रूप में उत्पन्न प्रजा की गति सम्बन्धी अन्य प्रश्नों के समाधान प्रकट किये जाते हैं।]

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति॥ २॥

इस प्रकार से जन्म होने पर वह अपनी निश्चित आयु तक जीवित रहता है। इसके बाद शरीर त्याग करने पर कर्मवश परलोक को गमन करते हुए उस प्राणी को अग्नि के समीप ले जाते हैं, जहाँ से वह आया था और जिससे प्रकट हुआ था॥ २॥

॥ दशमः खण्डः॥

इस खण्ड में अग्निविद्या के पाँचों प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं-

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्केति मासाꣳस्तान्॥ १॥

जो इस पञ्चाग्नि विद्या को जानकर वन में रहते हुए श्रद्धा एवं तपपूर्वक उपासना करते हैं, वे सभी प्राण -प्रयाण के उपरान्त अर्चि (तेज या किरण) के अभिमानी देवताओं को प्राप्त करते हैं। अर्चि से दिवसाभिमानी देवताओं को, दिन से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को और शुक्ल पक्ष से उत्तरायण (जिनमें सूर्य उत्तर मार्ग में गमन करता है) के छः मासों को प्राप्त करते हैं॥ १॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो - ऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति॥ २॥

उन उत्तरायण के छः मासों के माध्यम से संवत्सर को प्राप्त करते हैं, आदित्य को संवत्सर से, चन्द्रमा को आदित्य से और विद्युत् (द्युतिमान्) को चन्द्रमा से प्राप्त करते हैं। वहाँ पर एक अतीन्द्रिय सामर्थ्य से युक्त पुरुष है। वह उसे परब्रह्म को प्राप्त करा देता है। वही देवयान मार्ग है॥ २॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति॥ ३॥

इसके बाद जो यह सभी गृहस्थ लोग ग्राम में निवास करते हुए इष्ट, पूर्त और दत्त (अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म- इष्ट; वापी, कूप, तड़ाग एवं बगीचे आदि पूर्त के अन्तर्गत और वेदी आदि से बाहर सत्पात्र व्यक्तियों को यथाशक्ति दान देना ही 'दत्त' कहलाता है।) ऐसी उपासना करते हैं। वे धूम को प्राप्त करते हैं, धूम से रात को, रात से कृष्ण पक्ष को और कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन के (जिनमें सूर्य दक्षिण मार्ग से गमन करता है) छः मासों को प्राप्त करते हैं। ये लोग संवत्सर को नहीं प्रात कर पाते हैं॥ ३॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥ ४॥

दक्षिणायन के महीनों से पितर लोक को प्राप्त होते हैं। पितृलोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं। यह चन्द्रमा ही राजा सोम है। वह सभी देवों का अन्न है, समस्त देव गण उसका भक्षण करते हैं॥ ४॥

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति॥ ५॥

वहाँ जब तक कर्मों का क्षय होता है, तब तक उस चन्द्र-मण्डल में निवास करने के बाद इस आगे कहे गये मार्ग से ही पुनः वापस लौट आते हैं। वे पहले आकाश को प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को प्राप्त करने के उपरान्त, वायुभूत होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर ही अभ्र (मेघरूप) हो जाते हैं॥ ५॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पत-यस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति॥ ६॥

वह अभ्ररूप होकर मेघ होता है, मेघ होकर वृष्टि करता है, तब वे सभी प्राणी इस लोक में धान, यव (जौ), ओषधि, वनस्पति, उड़द और तिल आदि होकर प्रादुर्भूत होते हैं। इस भाँति यह निष्क्रमण निश्चित ही अत्यन्त कष्टप्रद है। उस अन्न को जो-जो भक्षण करता है और जो-जो उससे उत्पन्न वीर्य का सेवन करता है, वह जीव तद्रूप ही हो जाता है॥ ६॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा॥ ७॥

उन सभी जीवों में जो श्रेष्ठ, सुन्दर आचरण वाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्कृष्ट योनि को प्राप्त होते हैं। वे सभी जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य आदि श्रेष्ठ योनि को प्राप्त करते हैं। जो अशुभ अपवित्र आचरण वाले होते हैं, वे तत्क्षण ही अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं। ऐसे जीव कुत्ते की योनि या सूकर योनि अथवा चाण्डाल (क्रूर कर्मी) योनि को प्राप्त करते हैं॥ ७॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः॥ ८॥

वे प्राणी जो इनसे पूर्व कहे गये किसी अन्य मार्ग से गमन नहीं करते हैं, वे सभी (निम्न प्राणी मच्छर और कीड़े-मकोड़े आदि) बारम्बार जन्मने-मरने वाले प्राणी ही होते हैं। जीवन धारण करना और शरीर त्याग करना ही उनका मुख्य तृतीय स्थान कहा गया है। इसलिए इस प्रकार की सांसारिक गति में अत्यधिक आसक्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार घोर संसाररूपी महासागर से पतन की रक्षा स्वयं करने के लिए उद्यत होना चाहिए। इसी हेतु पञ्चाग्नि विद्या की प्रार्थना के लिए यह श्लोक प्रयुक्त किया गया है॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति॥ ९॥

सोने (स्वर्ण) का हरण करने वाले, मद्यपान करने वाले, गुरु की स्त्री से गमन करने वाले, ब्रह्म विद्या को जानने वालों की हत्या करने वाले - ये चार प्रकार के कृत्य व्यक्ति के पतन का कारण बनते हैं और पाँचवाँ कारण उन सभी के साथ किया गया संसर्ग (व्यवहार या आचरण) है॥ ९॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ १०॥

इस प्रकार से उपर्युक्त मन्त्रों में कही गई पञ्चाग्नि विद्या के महत्त्व को जो जानने में समर्थ है, वह उन सभी (लौकिक कर्मों) के साथ व्यवहार (संसर्ग) करता हुआ भी पापकृत कार्यों में लिप्त नहीं होता। इस विद्या को जो जानता है, वह श्रेष्ठ, शुद्ध और पवित्र पुण्यलोक का अधिकारी होता है॥ १०॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाꣳसां चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति॥ १॥

प्राचीनशाल के नाम से प्रख्यात उपमन्यु के पुत्र औपमन्यव, पुलुष के पुत्र पौलुषि, जो सत्ययज्ञ के नाम से जाने जाते हैं, भल्लवि के पुत्र भाल्लवि और उसका पुत्र भाल्लवेय जो इन्द्रद्युम्न के नाम से प्रतिष्ठित है, शर्कराक्ष का पुत्र जन शार्कराक्ष्य और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल-ये पाँचों सद्गृहस्थ शास्त्र अध्ययन और सदाचार से युक्त आपस में विचार विमर्श करने लगे कि हमारी आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है?॥ १॥

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ हाभ्याजग्मुः॥ २॥

विचार विमर्श करने के उपरान्त भी जब किसी ठोस निश्चय पर नहीं पहुँचे, तब उन पूज्य जनों ने अपना उपदेशक नियुक्त किया कि इस समय यह अरुण का पुत्र उद्दालक ही इस वैश्वानर आत्मा को भली-भाँति जानता है, इसलिए हम सभी उसी के पास चलें। ऐसा सोचकर वे सभी आरुणि के पास आये॥ २॥

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति॥ ३॥

इस प्रकार आरुणि ने उन महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय जनों को देखकर यह निश्चय किया कि मैं इनको पूर्णरूपेण आश्वस्त नहीं कर सकता, ऐसा अपने मन में निश्चय करते हुए उसने उन सभी को दूसरा अन्य उपदेष्टा बतला दिया॥ ३॥

[उस समय कोई भी जानकार होने का दम्भ नहीं करता था। स्वयं की कमियाँ अपने प्रशंसकों के बीच भी स्वीकार करके, योग्य पुरुषों के सान्निध्य लाभ का प्रयास किया जाता था।]

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् आरुणि ने उनसे कहा कि हे पूजनीय गण! इस समय केकय के पुत्र कैकेय कुमार अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानर को पूर्णरूपेण जानते हैं। अतः हम सब उन्हीं के पास चलें। इस प्रकार कहते हुए वे सभी श्रेष्ठ महागृहस्थ एवं परम श्रोत्रिय कैकेय कुमार (अश्वपति) के पास चले गये॥ ४॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार स ह प्रातःसंजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति॥ ५ ॥

राजा अश्वपति ने अपने पास उपस्थित हुए उन सभी श्रेष्ठ ऋषियों का अलग-अलग स्वागत-सत्कार किया। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही राजा अश्वपति ने उनसे कहा कि 'मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कोई मद्यपान करने वाला है, न कोई अनाहिताग्नि है, न कोई यहाँ अल्पज्ञानी है और न ही कोई पर स्त्री गमन करने वाला है, तो कुलटा स्त्री कैसे हो सकती है। हे पूज्य ऋषियो! मैं (स्वयं) भी यज्ञ करने वाला हूँ। अतः आपसे प्रार्थना है कि हमारे यज्ञानुष्ठान तक यहीं निवास करने की कृपा करें। शास्त्राज्ञानुसार मैंने एक-एक ऋत्विक् को जितना धन प्रदान करने का संकल्प लिया है, उतना ही धन आप सभी को भी प्रदान करूँगा॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳ संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति॥ ६ ॥

वे समस्त ऋषिगण राजा अश्वपति से बोले कि 'जिस कार्य विशेष से कोई व्यक्ति कहीं प्रस्थान करता है, तो वहाँ उसे अपने उसी उद्देश्य को पूर्ण करना चाहिए'। अतः इस समय तो आप कृपा करके वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में ही बताएँ॥ ६॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच॥ ७॥

तब उन ऋषियों से राजा अश्वपति ने कहा कि 'अच्छा, मैं कल प्रातःकाल आप सभी को इसके सन्दर्भ में बताऊँगा। दूसरे दिन पूर्वाह्णकाल में वे सभी ऋषि हाथ में समिधाएँ ग्रहण किये हुए पहुँचे। उन सभी का बिना उपनयन किये ही (सुपात्र समझकर) राजा ने उन्हें वैश्वानर विज्ञान से युक्त उस विद्या को बताया॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते॥ १ ॥

राजा अश्वपति ने उपमन्यु कुमार औपमन्यव से प्रश्न किया कि हे औपमन्यव ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? उत्तर देते हुए ऋषिकुमार प्राचीनशाल ने राजा से कहा कि हे भगवन्! मैं द्युलोक की ही उपासना करता हूँ। राजा ने कहा कि " आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही 'सुतेजा'

नाम से प्रसिद्ध श्रेष्ठ तेज युक्त वैश्वानर रूप आत्मा ही है, इसीलिए आपके कुल में सुत (अभिषुत सोम), प्रसुत (विशेषरूप से अभिषुत सोम) और आसुत (सर्वतोभावेन अभिषुत सोम) दृष्टिगोचर होते हैं, अर्थात् आपके परिवारी जन बड़े ही कर्मनिष्ठ (यज्ञनिष्ठ) हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥

राजा अश्वपति ने इसी क्रम में आगे फिर कहा कि आप अन्न का भक्षण करते हैं और पुत्र- पौत्रादि अपने प्रिय को देखते हैं। जो भी इस वैश्वानर रूप आत्मा की इस प्रकार उपासना करते हैं, वे अन्न का भक्षण और अपने श्रेष्ठ इष्ट का दर्शन करते हुए अपने कुल में ब्रह्मतेज से युक्त होते हैं। राजा ने यह भी कहा कि 'यदि आप हमारे पास न आये होते, तो आपका मस्तक गिर जाता'॥ २॥

॥ त्रयोदशः खण्डः॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलूषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते॥ १ ॥

तत्पश्चात् राजा अश्वपति ने सत्ययज्ञ से प्रश्न किया कि हे प्राचीन योग्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? तब उस ऋषिकुमार ने कहा- ' हे पूज्य भगवन्! मैं आदित्य की उपासना करता हूँ। राजा ने आश्वस्त होते हुए कहा कि अवश्य ही वह विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिसकी कि आप स्वयं उपासना करते हैं। यही कारण है कि आपके वंश में पर्याप्त मात्रा में विश्वरूप साधन दृष्टिगोचर होते हैं॥ १॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वे तदात्मन इति होवाचान्धो-ऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥

राजा ने कहा कि आपके पास हार से सुसज्जित दासियाँ एवं खच्चरों से जुता हुआ रथ भी विद्यमान है। आप अन्न का भक्षण और प्रिय-इष्ट का दर्शन करते हैं। ऐसे श्रेष्ठ वंश में ब्रह्मतेज का निवास रहता है, लेकिन यह आत्मा का ही चक्षु है। राजा अश्वपति ने पुनः कहा कि यदि आप मेरे पास न आये होते, तो निश्चित ही अपने दोनों नेत्रों से रहित हो जाते॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति॥ १॥

इसके बाद राजा अश्वपति ने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न से पूछा कि – हे वैयाघ्रपद्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? उसने कहा- 'हे भगवन्! मैं वायुदेव की उपासना करता हूँ।' राजा ने पुनः कहा कि आप जिस श्रेष्ठ आत्मा की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही पृथग्वर्त्मा (अलग-अलग मार्गों वाला आवह, उद्वह आदि भेदों से युक्त) वैश्वानर आत्मा है। इस कारण से आपके पास भिन्न-भिन्न (अन्न, वस्त्र आदि) उपहार आते हैं तथा आपके पीछे अलग-अलग रथ की श्रेणियाँ चलती हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥

राजा ने उस ऋषि कुमार से कहा कि आप अन्न का भक्षण और अपने प्रिय-इष्ट का दर्शन करते हैं। जो भी कोई उचित रीति से इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह प्रिय का दर्शन एवं अन्न का भक्षण करता है तथा उसके कुल में ब्रह्मतेज का निवास रहता है । यह आत्मा का प्राण ही है, ऐसा कहते हुए राजा अश्वपति ने कहा कि यदि आप मेरे पास न आते, तो आपका प्राण ही निकल जाता'॥ २॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च॥ १॥

इसके अनन्तर राजा अश्वपति ने शार्कराक्ष के पुत्र जन से कहा- हे शार्कराक्ष्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ? तब उस ऋषिकुमार ने कहा- 'हे पूज्य राजन्! मैं आकाश तत्त्व की ही उपासना करता हूँ। राजा ने पुनः कहा कि यह निश्चय ही बहुल संज्ञक (विभिन्न संज्ञाओं से युक्त) वैश्वानर आत्मा है। इसी से आप पुत्र -पौत्रादि के रूप में प्रजा और स्वर्णादि धन से परिपूर्ण हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥

राजा ने फिर कहा कि आप अन्न का भक्षण और अपने प्रिय अर्थात् इष्ट का दर्शन करते हैं। जो इस वैश्वानर आत्मा की इस भाँति से उपासना करता है, वह अन्न का भक्षण एवं प्रिय का दर्शन करता है और उसके कुल में ब्रह्मतेज का निवास होता है। यह आत्मा का उदर (शरीर का मध्य भाग) ही है। आगे राजा अश्वपति ने यह भी कहा कि 'यदि आप मेरे पास न आते, तो आपका संदेह (शरीर का मध्य भाग अर्थात् उदर) ही नष्ट हो जाता'॥ २॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वꣳ रयिमान्पुष्टिमानसि॥ १॥

इसके पश्चात् राजा अश्वपति ने बुडिल से प्रश्न किया कि हे वैयाघ्रपद्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ? तब उन ऋषि कुमार ने कहा- हे पूज्य भगवन्! मैं तो जल तत्त्व की उपासना करता हूँ। राजा ने पुनः कहा कि 'आप जिस जल तत्त्व की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही रयिवान् (धनवान्) वैश्वानर आत्मा है। इसी कारण आप (धनवान्) रयिमान् एवं पुष्टिमान् हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥

आप अन्न का भक्षण एवं प्रिय (इष्ट) का दर्शन करते हैं। जो मनुष्य इस वैश्वानर रूप आत्मा की उपासना इस तरह से करता है, वह अन्न का भक्षण एवं प्रिय का दर्शन करता है। उसके कुटुम्ब में ब्रह्मतेज का सान्निध्य होता है, किन्तु यह आत्मा का बस्ति (मूत्राशय) ही है। राजा अश्वपति ने यह भी कहा कि 'यदि आप हमारे पास न आते, तो आपका बस्ति स्थान (मूत्राशय)ही फटकर नष्ट हो जाता' ॥२॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च॥ १ ॥

तदनन्तर राजा अश्वपति ने अरुण के पुत्र उद्दालक से प्रश्न किया कि 'हे गौतम! आपने किस आत्मा की उपासना की है'? तब उन ऋषिकुमार ने उत्तर दिया कि हे राजन्! मैं पृथ्वी तत्त्व की उपासना करता हूँ। राजा ने फिर कहा कि आप जिस तत्त्व की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही प्रतिष्ठा संज्ञक (पगरूप) वैश्वानर आत्मा है। इसकी कृपा से आपको प्रजा एवं पशुओं की प्राप्ति हुई॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति॥

राजा ने कहा कि हे ऋषि कुमार ! आप अन्न का भक्षण करते हैं और प्रिय (इष्ट) का दर्शन करते हैं। आत्मा रूप वैश्वानर की जो इस भाँति उपासना करता है। वह अन्न का भक्षण और प्रिय का दर्शन करता है। उसके कुल में ब्रह्मतेज भी रहता है, किन्तु यह आत्मा के चरण ही हैं, इस प्रकार अश्वपति ने कहते हुए आगे यह भी कहा- यदि आप मेरे समक्ष न आते, तो आपके चरण अत्यन्त निष्क्रिय हो जाते ॥ २ ॥

॥ अष्टादशः खण्डः ॥

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति॥ १ ॥

राजा अश्वपति ने उन सभी ऋषि कुमारों को संबोधित करते हुए कहा कि आप सभी इस वैश्वानर स्वरूप आत्मा को पृथक्-पृथक् जानते हुए अन्न खाते हैं। जो भी मनुष्य 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने अहं का हेतु होने वाले इस प्रादेश मात्र (अर्थात् द्यु मूर्धा से लेकर पृथ्वी पाद पर्यन्त) अर्थात् वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह सभी लोकों में, सभी प्राणियों में और सभी आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः॥ २ ॥

आगे राजा ने कहा कि इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है, नेत्र ही सूर्य है, प्राण ही वायु है, शरीर के बीच का भाग ही आकाश है, बस्ति ही जल है, पृथ्वी ही दोनों पैर हैं, वक्ष ही वेदी है, रोमकूप ही दर्भ (कुश) हैं, हृदय ही गार्हपत्याग्नि है, मन ही दक्षिणाग्नि है और मुँह ही आहवनीय अग्नि के समान है, क्योंकि इसी में अन्न का हवन होता है॥ २ ॥

[ऋषि पुत्र विराट् वैश्वानर के एक -एक अंग की ही उपासना करते थे। किसी एक अंग में स्थित आत्मा की उपासना से आत्म तत्त्व की अनुभूति तो की जा सकती है, किन्तु उसे वहीं तक सीमित नहीं रखा जा सकता। उस विराट् को यदि किसी अंग में सीमित करने की भूल की जायेगी, तो वह विराट् अपने सतत प्रवाह को बनाए रखने के लिए उस अंग विशेष को क्षति पहुँचा सकता है। इसीलिए राजा अश्वपति द्वारा ऋषि पुत्रों के अंग- विशेषों की हानि की संभावना व्यक्त की गयी थी।]

॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳस यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति॥ १॥

इस प्रकार जो पक्वान्न (पकाया हुआ भोजन) भोजनार्थ सर्वप्रथम आये, उससे यज्ञ करना चाहिए। वह प्रथम आहुति जो ''प्राणाय स्वाहा'' मन्त्र के साथ समर्पित की जाती है, उससे प्राण तृप्त होता है॥ १॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यंति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

प्राण के तृप्त होते ही चक्षु तृप्त होते हैं, चक्षुओं के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होते ही द्युलोक तृप्त होता है। द्युलोक के तृप्त होते ही जिस किसी पर द्युलोक और आदित्य (स्वामिभाव से) प्रतिष्ठित हैं, वह भी तृप्त होता है। उसके तृप्त होने पर स्वयं भोजन करने वाला प्रजा; पशु , अन्न आदि के साथ तेज (शारीरिक) कान्ति और ब्रह्मतेज (ज्ञानजन्य तेज) द्वारा तृप्त होता है॥ २॥

॥ विंशः खण्डः ॥

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति॥ १॥

इसके पश्चात् जो दूसरी आहुति समर्पित की जाए, उस समय 'व्यानाय स्वाहा' मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार से व्यान को तृप्ति प्राप्त होती है॥ १॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

व्यान के तृप्त होते ही कर्णेन्द्रिय तृप्त होती है, श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएँ एवं दिशाओं के तृप्त होने पर जिस किसी पर चन्द्रमा एवं दिशाएँ (स्वामिभाव से) स्थित हैं, वह निश्चय ही तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के बाद वह भोक्ता (भोजन करने वाला) प्रजा, पशु, अन्न आदि के साथ तेज एवं ब्रह्मतेज द्वारा तृप्ति को प्राप्त करता है॥ २॥

॥ एकविंशः खण्डः ॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति॥ १॥

तत्पश्चात् तृतीय आहुति 'अपानाय स्वाहा' मंत्र के साथ देनी चाहिए। इससे अपान तृप्त होता है॥ १॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

'अपान' के तृप्त होते ही वागिन्द्रिय तृप्ति को प्राप्त होती है, वाणी के तृप्त होने पर अग्नि को तृप्ति मिलती है, अग्नि के तृप्त होते ही पृथ्वी को तृप्ति प्राप्त होती है एवं पृथ्वी के तृप्त होने पर जिस किसी पर पृथिवी और अग्नि (स्वामिभाव से) स्थित हैं, वह तृप्त होता है, तत्पश्चात् प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्ति को प्राप्त करता है॥ २॥

॥ द्वाविंशः खण्डः ॥

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति॥ १॥

तत्पश्चात् चतुर्थ आहुति 'समानाय स्वाहा' मन्त्र के साथ देनी चाहिए। इससे 'समान' तृप्त होता है॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

समान के तृप्त होते ही मन को तृप्ति मिलती है, मन के तृप्त होते ही पर्जन्य तृप्त होता है और पर्जन्य के तृप्त होने पर विद्युत् को तृप्ति प्राप्त होती है। विद्युत् के तृप्त होने पर वह स्वयं भी तृप्त हो जाता है, जिस पर पर्जन्य एवं विद्युत् आश्रित हैं। उसकी तृप्ति के पश्चात् प्रजा, पशु, अन्न के साथ तेज एवं ब्रह्मतेज द्वारा उपभोग करने वाला (भोक्ता) भी तृप्त हो जाता है॥ २॥

॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति॥ १॥

तदनन्तर पाँचवीं आहुति समर्पित की जाए। यह आहुति 'उदानाय स्वाहा' मंत्र से देनी चाहिए। इस प्रकार के यजन कृत्य से उदान तृप्त होता है॥ १॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाश-स्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

तदनन्तर उदान के तृप्त होने से त्वचा की तृप्ति होती है, त्वचा के तृप्त होने से वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त होने पर आकाश को तृप्ति मिलती है और आकाश के तृप्त होने से जिस किसी पर वायु और आकाश (स्वामिभाव से) स्थित होते हैं, वह निश्चय ही तृप्त हो जाता है। उसके तृप्त होने पर वह स्वयं भोक्ता (भोजन करने वाला) प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मतेज द्वारा तृप्त हो जाता है॥ २॥

॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात्॥ १॥

जो कोई इस उपर्युक्त वैश्वानर विद्या को बिना जाने ही यजन कृत्य करता है, उसके द्वारा किया हुआ यजन कृत्य ठीक उसी प्रकार है, जैसे कि आग के अंगारों को हटाकर भस्म में किया गया यज्ञ कार्य॥ १॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति॥ २॥

उपर्युक्त बताये हुए क्रम के अनुसार जो इस वैश्वानर विद्या को भली-भाँति जानकर यज्ञ कार्य (अग्निहोत्र) सम्पन्न करता है, उसके द्वारा सभी लोक, समस्त प्राणिसमुदाय एवं सम्पूर्ण आत्माओं के निमित्त यजन कार्य सम्पन्न हो जाता है॥ २॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति॥ ३॥

इस सन्दर्भ में यह उल्लेख भी है कि जिस तरह सींक का अग्रभाग अग्नि में प्रवेश करा देने से अतिशीघ्र जल जाता है, ठीक उसी तरह से जो यजमान इस भाँति जानने में समर्थ होकर यज्ञ कृत्य सम्पन्न करता है, उसके सभी प्रकार के पाप जलकर नष्ट हो जाते हैं॥ ३॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳस्यादिति तदेष श्लोकः ॥ ४॥

इस विद्या का जानकार यदि भोजन से उच्छिष्ट (बचा हुआ) पदार्थ चाण्डाल को दे, तो वह कृत्य आत्मा रूप वैश्वानर में यज्ञ करने के समान है। प्रस्तुत विषय में यह मन्त्र कहा गया है॥ ४॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवꣳसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५॥

जिस भाँति इस संसार में क्षुधित बालक सब प्रकार से माँ की उपासना (प्रतीक्षा) करते हैं। ठीक उसी भाँति संसार के समस्त प्राणि-समुदाय इस ज्ञानी के हव्य रूप यजन कृत्य की उपासना करते हैं॥ ५॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

पाँचवें अध्याय में यह बताया गया है कि अग्निहोत्र के यथार्थ स्वरूप की जानकारी रखने वाले एक विशेषज्ञ के कार्य से सभी प्राणि-समुदाय तृप्त हो जाते हैं; किन्तु ऐसी सम्भावना तभी की जा सकती है, जब समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा का आधिपत्य स्थापित हो। प्रस्तुत विषय का विस्तार से इस छठे अध्याय में उल्लेख किया गया है-

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति॥ १॥

अरुण के पौत्र श्वेतकेतु को उसके पिता (उद्दालक) ने ब्रह्मचर्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उसे ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की अनुमति प्रदान की। उसके पिता ने उसे संबोधित करते हुए कहा कि हमारे वंश में जन्म लेने वाला कोई भी बालक ब्रह्म विद्या के अध्ययन के बिना ब्रह्मबन्धु की भाँति नहीं होता॥

[ब्रह्म बन्धु उसे कहते हैं, जो ब्राह्मणों जैसा आचरण नहीं कर पाता; किन्तु उनसे सम्बद्ध होता है। ऋषि के कथन का भाव है कि उनके कुल में सभी आचरण निष्ठ ब्रह्मज्ञ होते हैं।]

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विꣳशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः॥

इस प्रकार से उसके पिता द्वारा उपदेश दिये जाने पर श्वेतकेतु ने मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही अपने आचार्य के सान्निध्य में उपस्थित रहकर २४ वर्ष की उम्र तक वेदों का अध्ययन-अनुशीलन किया। तत्पश्चात् वह स्वयं को बड़ा अध्ययनरत एवं विद्वान् अनुभव करते हुए स्वाभिमान के साथ पिता के सामने उपस्थित हुआ। पिता ने विपरीत स्वभाव वाले उद्दण्ड श्वेतकेतु से कहा- ''क्या तुमने अपने आचार्य से परब्रह्म का उपदेश (ज्ञान) प्राप्त कर लिया है।''॥ २॥

येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३॥

श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने पुनः उससे पूछा कि जिसके द्वारा अश्रुत (न सुना हुआ) श्रुत (सुना हुआ) हो जाता है, तर्क न करने वाला तर्क की विद्या में पारंगत हो जाता है; अविज्ञात (रहस्य से युक्त) विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है, क्या यह सभी उपदेश तुम्हारे आचार्य ने तुम्हें प्रदान किए हैं। यह सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा- भगवन्! यह उपदेश कैसा है?॥ ३ ॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣴस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४॥

उसके पिता ने पुनः कहा - हे सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिका पिण्ड से समस्त मिट्टी के बने हुए पदार्थों का बोध हो जाता है। वस्तुतः विभिन्न प्रकार के नाम तो केवल वाणी के ही विकार हैं। सत्य तो केवल एक मृत्तिका ही है॥ ४॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣴस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥

उन्होंने कहा- हे सोम्य! जैसे एक सुवर्ण पिण्ड द्वारा दूसरे अन्य सुवर्ण के पदार्थों (आभूषणों) का विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि विकार तो केवल वाणी के आश्रित नाम मात्र ही हैं, सुवर्ण ही एक मात्र सत्य है॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣴ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣴ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥

हे सोम्य! जिस तरह एक नख कर्तन करने वाली लोहे की नहनी के ज्ञान से समस्त लौह पदार्थों को भली भाँति जान लिया जाता है। विकार (नाम) तो वाणी के निमित्त विषय हैं, सत्य तो केवल एक लोहा ही है॥ ६ ॥

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣴस्त्वेवमेतद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७॥

अपने पिता के इस प्रकार के वचनों को सुन कर श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन्! वे मेरे पूज्य गुरुदेव इस ज्ञान को निश्चित ही नहीं जानते। यदि वे जानते, तो मुझसे क्यों न कहते। अतः हे भगवन्! आप ही इसका उपदेश करें। तब उद्दालक ने कहा- 'अच्छा सोम्य! मैं तुम्हें बतलाता हूँ'॥ ७॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत॥ १ ॥

उद्दालक ने श्वेतकेतु को उपदेश करते हुए कहा- हे प्रिय सोम्य! प्रारम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत् ही था। उसके संदर्भ में कुछ लोग इस प्रकार कहते हैं कि आरम्भ में मात्र अद्वितीय असत् ही था और उस असत् से ही सत् की उत्पत्ति हुई॥ १ ॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवꣴ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

उद्दालक ने कहा- हे सोम्य! परन्तु यह कैसे हो सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? हे सोम्य! वास्तव में प्रारम्भिक अवस्था में यह एक मात्र अद्वितीय सत् ही था॥ २ ॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्वच शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते॥ ३॥

आगे उसके पिता ने कहा- "उस (सत्) ने संकल्प किया कि मैं विभिन्न रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ।" इस प्रकार इच्छा करते ही उस (सत्) से तेज की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् उस तेज ने संकल्प किया कि 'मैं भी बहुत हो जाऊँ।" ऐसा संकल्प लेते ही उस (तेज) ने अप् तत्त्व (जल) की रचना की। अतः जब किसी को सन्ताप होता है, तो पसीना आ जाता है। उस समय उस तेज से ही जल की उत्पत्ति हो जाती है॥ ३॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

तदनन्तर उस आपः (जल) ने अपनी इच्छा व्यक्त की "मैं बहुत होकर उत्पन्न हो जाऊँ।" उस (जल) ने पृथ्वी रूपी अन्न की रचना की। इस कारण से जहाँ- कहीं वर्षा होती है, वहीं बहुत से अन्न की उत्पत्ति होती है। अतः विभिन्न प्रकार के अन्न जल से ही उत्पन्न होते हैं॥ ४॥

[ऋषि पहले (अध्याय ५ में) स्पष्ट कर चुके हैं कि सृष्टि सृजनक्रम में पहली आहुति द्युलोक में हुई। सत् तेज बना- द्युलोक तेजस् का ही लोक कहा गया है। इस सृजन संकल्प युक्त तेजस् को ही वेद ने हिरण्यगर्भ कहा है। संकल्प पूर्वक उस तेजस् के विभाजन से अप् तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ। इसे वेद ने सृष्टि का मूल क्रियाशील प्रवाह माना है। जिसे द्युलोक का जल भी कह सकते हैं। इस अप् प्रवाह के संकल्प से अति सूक्ष्म पदार्थ कण (सब एटामिक पार्टिकल्स) बने, जिन्हें द्युलोक का पृथ्वी तत्त्व कह सकते हैं। दूसरे चरण में तेजस् सूर्यादि के रूप में व्यक्त हुआ। उस तेजस् के अप् तत्त्व में संघात से अन्तरिक्ष में परमाणु कणों और जल की उत्पत्ति हुई। उस जल और सूक्ष्म कणों के संयोग से स्थूल कणों के रूप में पृथ्वी तत्त्व बना। ऋषि दोनों चरणों की प्रक्रिया देखते हैं, इसलिए उनके कथन में, तेज, अप्, पृथ्वी आदि के सूक्ष्म-स्थूल, दृश्य-अदृश्य दोनों भाव मिले हुए हैं। उसी दृष्टि से उनके कथन का अर्थ स्पष्ट हो सकता है।]

॥ तृतीयः खण्डः ॥

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

(तदनन्तर उद्दालक ने सृष्टि क्रम समझाते हुए श्वेतकेतु से और स्पष्ट करते हुए कहा-) इन ख्याति प्राप्त प्राणियों के तीन ही बीज अण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज होते हैं॥ १॥

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति॥ २॥

उस (सत्रूपी) देवता ने अपनी प्रचण्ड इच्छाशक्ति के माध्यम से संकल्प किया कि मैं इस "जीवात्मरूप से" इन तीनों (तेज, अप् एवं पृथ्वी) देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम एवं उसके रूप को प्रकट करूँ॥ २॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३॥

और उन सभी में से एक-एक देवता को त्रिवृत् अर्थात् तीन-तीन भागों में विभाजित करूँ। इस प्रकार का संकल्प करते हुए इस देवता ने जीवात्मरूप से उन तीनों देवों में प्रवेश करते हुए उनके नाम एवं रूप को स्पष्ट किया॥ ३॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४॥

उस देवता ने उन सभी में से हर एक को अलग-अलग त्रिवृत् अर्थात् तीन भागों में किया। हे पुत्र! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके (हर एक) त्रिवृत् (कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल रूप) हैं, वह मैं जानता हूँ॥ ४॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १॥

तीन प्रकार से अलग-अलग की हुई अग्नि का जो रोहित (लाल) वर्ण है, वह तेज प्रकाश का ही रूप है। जो श्वेत वर्ण है, वह जल तत्त्व का रूप है और जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न तत्त्व का रूप है। इस भाँति अग्नि से अग्नित्व पृथक् हो गया, क्योंकि 'अग्नि' शब्द तो मात्र विकार वाणी से कहने के लिए नाम मात्र है। सत्य तो मात्र तीन रूप ही हैं॥ १॥

यदादित्यस्य रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २॥

आदित्य का जो रोहित (लालिमा युक्त) वर्ण है, वह प्रकाश का ही रूप है, जो शुक्ल वर्ण है, वह जल तत्त्व का रूप है और जो कृष्ण वर्ण है,वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। अतः आदित्य से आदित्यत्व अलग हो गया, क्योंकि आदित्य रूप विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र है, मात्र तीन रूप ही सत्य स्वरूप हैं॥ २॥

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३॥

चन्द्रमा में जो रोहित वर्ण है, वह प्रकाश का रूप है, जो श्वेत वर्ण है, वह जल का है और जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इस तरह चन्द्रमा चन्द्रत्व से निवृत्त हो गया। अतः विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र ही है, सत्य तो मात्र केवल तीन रूप ही हैं॥ ३॥

यद्विद्युतो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

विद्युत् का जो लाल वर्ण है, वह एक मात्र तेज (प्रकाश) का ही रूप है। जो शुक्ल वर्ण है, वह जल का स्वरूप है और जो काला वर्ण है वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इसलिए विद्युत् से विद्युत्त्व अलग हो गया, क्योंकि विद्युत् रूप विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र ही है, तीन रूप ही केवल सत्य हैं॥ ४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदांचक्रुः ॥ ५॥

इस प्रकार (त्रिवृत् के वर्गीकरण) का ज्ञान रखने वाले अतीतकालीन महागृहस्थ और महाश्रोत्रियों ने कहा कि वर्तमान काल में हमारे वंश में कोई बात अश्रुत और अविज्ञात है- ऐसा कोई भी नहीं कहेगा। अतः इन अग्नि आदि तत्त्वों के उदाहरण द्वारा वे लोग सभी कुछ जानते थे॥ ५॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳ रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ॥ ६॥

जो कुछ उन्हें रोहित सा (लाल रंग की भाँति) प्रतीत होता है, वह तेज का ही रूप है, जो कुछ शुक्ल सा प्रतीत होता है, वह जल का रूप है तथा जो काला रंग है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है, ऐसे सभी रूपों की जानकारी उन्होंने प्राप्त की ॥ ६ ॥

यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳ समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७॥

इसके अतिरिक्त जो कुछ भी विशेष रूप से स्वीकार नहीं किया गया, वह भी इन तीनों देवों का ही समूह है, ऐसी जानकारी उन्होंने प्राप्त की। उद्दालक ने कहा- हे सोम्य! मेरे द्वारा यह जानो, कि किस प्रकार ये तीनों देवता शरीर एवं इन्द्रियों के संघात रूप पुरुषत्व को प्राप्त करके तीन प्रकार से पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। (यह क्रम अगले खण्ड में स्पष्ट किया गया है।) ॥ ७ ॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माꣳसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

जो अन्न भोजन के रूप में ग्रहण किया जाता है, वह तीन भागों में बँट जाता है। उस अन्न का जो स्थूलतम पदार्थ है, वह मल रूप में परिवर्तित हो जाता है, जो मध्यम अंश है, वह रसादि से युक्त होकर मांस के रूप में परिवर्तित हो जाता है और जो अति सूक्ष्म है, वह मन के रूप में परिणत हो जाता है ॥१ ॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥

जो जल ग्रहण किया जाता है, वह तीन प्रकार से विभक्त हो जाता है। उस (जल) का स्थूल भाग मूत्र बनता है, मध्यम अंश रक्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है और सूक्ष्म अंश प्राण बन जाता है ॥ २ ॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

जो तेज ग्रहण किया जाता है, वह भी तीन रूपों में विभाजित हो जाता है। उस (तेज) का स्थूल भाग हड्डी के रूप में, मध्यम भाग मज्जा के रूप में और अत्यन्त सूक्ष्म अंश वाणी के रूप में परिणत हो जाता है ॥

अन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

उद्दालक ने पुनः कहा- 'हे सोम्य! अन्न का कार्य मन, जल का कार्य प्राण और तेज का कार्य वाणी है।' श्वेतकेतु ने कहा- 'हे भगवन्! आप कृपा करके यह बात पुनः स्पष्ट करने की कृपा करें।' तब उद्दालक ने फिर से मार्गदर्शन देने हेतु उसे आश्वस्त किया॥ ४ ॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने पुनः कहा- हे सोम्य! दही को मथने के पश्चात् उसका जो सूक्ष्म भाग एकत्रित होता है, वही ऊर्ध्व की ओर गमन करते हुए घृत के रूप में परिणत होता है। १ ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति॥ २॥

हे सोम्य! ठीक इसी तरह अन्न को पूर्ण रूप से ग्रहण करने के पश्चात् उसका जो सूक्ष्मतम भाग एकत्रित होता है, वही ऊर्ध्व की ओर गमन करते हुए मन रूप में परिणत होता है॥ २॥

अपाः सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति॥ ३॥

हे सोम्य! पान किये हुए जल का जो सूक्ष्मतम भाग है, वही ऊपर आकर एकत्रित होता है। तत्पश्चात् वही ऊपर आया हुआ भाग प्राण तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाता है॥ ३॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४॥

हे सोम्य ! इसी प्रकार ग्रहण किये हुए तेज का सूक्ष्मतम भाग सार रूप से ऊपर आ जाता है, वही वाणी के रूप में प्रकट होता है॥ ४॥

अन्नमयःहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ५॥

इस प्रकार उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा- हे प्रिय सोम्य! मन अन्न के रूप में, प्राण जल के रूप में और वाणी तेजोमय रूप में है। तदनन्तर ऐसा श्रवण करते हुए श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया-हे भगवन्! कृपया आप मुझे पुनःसमझाने की कृपा करें। इस पर उसके पिता ने बताने का पुनः आश्वासन दिया॥ ५॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति॥ १॥

(उद्दालक ने कहा)- हे सोम्य! यह मनुष्य सोलह कलाओं से युक्त है। इसलिए तुम पन्द्रह दिन तक भोजन न ग्रहण करते हुए इच्छानुसार मात्र जल का ही सेवन करो। चूँकि प्राण, जल रूप है, अतः मात्र जल के सेवन से उस (प्राण) का नाश नहीं होगा॥ १॥

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूःषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति॥ २॥

तदनन्तर श्वेतकेतु ने पंद्रह दिन तक भोजन नहीं ग्रहण किया। इसके बाद वह अपने पिता के समीप आकर बोला- हे भगवन्! मैं क्या करूँ। तब उसके पिता आरुणि ने कहा- हे सोम्य! तुम ऋक्, यजुः और साम के मन्त्रों का उच्चारण करो । उसने कहा-भगवन्! मेरे मन में उन सभी की प्रतीति नहीं हो रही है॥२॥

तः होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवःसोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति॥ ३॥

तब उद्दालक ने कहा हे सोम्य! जैसे पर्याप्त परिमाण में ईंधन के प्रज्वलित होने पर आग का खद्योत के समान एक छोटा सा अंगारा शेष रह जाए, तो वह अधिक गर्मी नहीं प्रदान कर सकता। वैसे ही तुम्हारी षोडश (सोलह) कलाओं में से मात्र एक ही कला शेष है। इसलिए मात्र एक कला से तुम वेद का अध्ययन - अनुशीलन नहीं कर सकते हो। अतः अब तुम भोजन ग्रहण करो, तभी तुम्हारी समझ में आयेगा॥ ३॥

स हाशाथ हैनमुपससाद तꣳह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वꣳह प्रतिपेदे॥ ४॥

तत्पश्चात् श्वेतकेतु ने अपने पिता के कहने पर भोजन ग्रहण किया। भोजन करने के उपरान्त वह अपने पिता के पास उपस्थित हुआ। पिता ने जो भी पूछा, उसे सब कुछ स्मरण हो गया॥ ४॥

तꣳहोवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत्॥ ५॥

तदनन्तर आरुणि ने कहा- 'हे सोम्य! जब विशाल अग्नि शान्त हो जाए और उसका एक छोटा सा अंगारा मात्र शेष रह जाए, उस समय बचे हुए अंगारे पर तृण रखकर उसे धीरे-धीरे सुलगाया जाए, तो वह पहले की तरह ही सबको प्रज्वलित कर सकता है'॥ ५॥

एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति॥ ६॥

वैसे ही हे प्रिय सोम्य! तुम्हारी सोलह कलाओं में से एक ही कला शेष रह गयी थी। तत्पश्चात् वह अन्न द्वारा पुनः प्रज्वलित हो गई। उसी के माध्यम से तुम वेदों को जानने में समर्थ हो सके। हे प्रिय सोम्य! इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन अन्न रूप है, प्राण जल रूप है और वाणी तेज स्वरूप है । इस प्रकार श्वेतकेतु ने अपने पिता द्वारा कहे हुए उपदेश पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिये॥ ६॥

॥ अष्टमः खण्डः॥

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳ ह्यपीतो भवति॥ १॥

अरुण के पुत्र आरुणि जो उद्दालक के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा- हे सोम्य! तुम हमारे द्वारा बताये गये स्वप्न के स्वरूप को ठीक प्रकार समझ लो। जिस अवस्था में यह पुरुष शयन करता है, ऐसा कहा जाता है कि उस समय सत् से युक्त हो जाता है, अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिए इसको 'स्वपित' कहा जाता है, क्योंकि उस समय यह स्व अर्थात् अपने आप को ही प्राप्त कर लेता॥ १॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति॥ २॥

हे सोम्य! जैसे कोई शकुनि (बाज पक्षी) सूत्र में बँधने के बाद चतुर्दिक् उड़ते हुए कहीं आश्रय न प्राप्त कर अपने ही बन्धन के स्थान पर आ जाता है। ठीक वैसे ही , यह मन भी हर दिशा का भ्रमण करके कहीं भी अपना विश्रामालय न पाकर प्राण का ही अवलम्बन ग्रहण करता है। इसलिए हे सोम्य! यह मन, प्राण रूप बन्धन वाला है॥ २॥

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति॥ ३॥

आरुणि ने कहा- 'हे सोम्य! अब तुम क्षुधा और पिपासा के रहस्य को समझो'। जिस समय पुरुष भोजन ग्रहण करने की इच्छा करता है, उस समय खाये हुए भोजन (अन्न) को जल ही ले जाता है। जैसे गौ ले जाने वाले को गोनाय, अश्व ले जाने वाला अश्वनाय और पुरुष को ले जाने वाले राजा को पुरुषनाय कहते हैं। ठीक वैसे ही जल को भोजन (अशन) ले जाने के कारण 'अशनाय' कहकर बुलाते हैं। हे प्रिय सोम्य! उस जल के द्वारा ही तुम इस शरीर रूपी अङ्कुर को प्रकट हुआ समझो॥ ३॥

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥ ४॥

अन्न के अतिरिक्त इस शरीर का मूल और क्या है? हे सोम्य! तुम तेज को अन्न रूप कर्म का मूल समझो। तेजरूपी कार्य का मूल सत् तत्त्व को जानो। इस प्रकार से ये समस्त प्राणी सत् रूप मूल वाले ही हैं अर्थात् सत् ही एक मात्र आश्रय तथा प्रतिष्ठा है॥ ४॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति॥ ५॥

जब मनुष्य पिपासित (प्यासा) होकर जल ग्रहण करता है, तब उस (जल) को तेज ही अन्दर ले जाता है। अतः जैसे 'गोनाय', 'अशनाय', 'पुरुषनाय' कहे गये हैं, ठीक वैसे ही तेज को उस समय जल को ले जाने वाला कहते हैं। हे सोम्य! इस कारण से इस शरीर को जलरूपी मूल से प्रकट हुआ समझो, क्योंकि बिना क्रिया के प्रतिक्रिया नहीं हो सकती॥ ५॥

[शरीर की चयापचय प्रक्रिया (मैटाबालिज्म) में शरीर के प्रत्येक कोश तक अन्न को जल तथा जल को काय विद्युत् (बायो इलैक्ट्रीसिटी) द्वारा संचरित किये जाने का तथ्य वर्तमान शरीर विज्ञान स्वीकार कर चुका है। उसी प्रक्रिया को ऋषि अपने ढंग से समझा रहे हैं।]

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्॥ ६॥

हे प्रिय सोम्य! जल द्वारा प्रकट हुए शरीर का मूल स्थान कहाँ हो सकता है? जल का मूल तेज में और तेज का मूल सत् में होता है। ये सभी प्राणी सत् रूपी मूल वाले, सत् रूपी उद्गम स्थल वाले और सत् रूपी अन्न वाले हैं। हे सोम्य! तीनों (अन्न, जल और तेजरूपी) देवता पुरुष के शरीर में प्रविष्ट होकर विभिन्न भागों में बँट जाते हैं। उद्दालक ने कहा- यह मैंने पूर्व में स्पष्ट कर दिया था। इसी कारण से मृत्यु के समीप पहुँचने वाले पुरुष की वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में विलीन हो जाता है। प्राण तेज में और तेज परदेवता में मिल जाता है॥ ६॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ७॥

हे सोम्य! वह अणिमा (सूक्ष्मविद्या) है , वही सब कुछ है। वही आत्मा है एवं तुम भी वही हो। तत्पश्चात् श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया- हे भगवन्! फिर से समझाने की कृपा करें। तब उसके पिता ने 'अच्छा' कहते हुए पुनः समझाने का आश्वासन दिया॥ ७॥

॥ नवमः खण्डः॥

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳरसान्समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति॥ १॥

उद्दालक ने पुनः श्वेतकेतु से कहा- हे सोम्य! जिस तरह मधुमक्खियाँ शहद प्राप्त करने के लिए विभिन्न दिशाओं के वृक्षों, पुष्पों से रस लाकर मधु के रूप में एकत्रित कर देती हैं॥ १॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति॥ २॥

मधु के रूप में एकता को प्राप्त हुए, वे सभी रस जिस प्रकार यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूँ। ठीक इसी भाँति यह समस्त प्रजा सत् को प्राप्त करने के उपरान्त यह नहीं कहती, कि हमने सत् तत्त्व प्राप्त कर लिया है ॥ २॥

त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति॥ ३॥

इस समस्त लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, बराह, कीट- पतङ्गे, दंश अथवा मच्छर आदि जो पहले प्रादुर्भूत होते हैं, वे ही बार-बार उत्पन्न होते हैं॥ ३॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ४॥

वह जो यह अणिमा (सूक्ष्म प्रक्रिया) आदि है, यह सब तदनुरूप ही है। वह ही सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तुम भी हो। ऐसा अपने पिता के द्वारा कहे जाने पर उसने कहा- हे भगवन्! मुझे पुनः बताने की कृपा करें। इस प्रकार से उसके पिता उद्दालक ने उसे फिर से समझाने का आश्वासन दिया॥

॥ दशमः खण्डः ॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीति॥ १॥

उद्दालक ने पुनः समझाते हुए कहा - हे सोम्य! ये पूरब एवं पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होने वाली नदियाँ अपने अनुकूल मार्गों से प्रवाहित होती हैं। उनका समुद्र से ही आगमन होता है और अन्त में उसी समुद्र में ही समाहित हो जाती हैं। जिस तरह वे नदियाँ, सागर में विलीन होकर यह नहीं जानतीं कि मैं अमुक-अमुक नदी हूँ॥ १॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति॥ २॥

ठीक उसी तरह यह सम्पूर्ण प्रजा भी सत् तत्त्व से प्रकट होकर, यह नहीं समझ पाती कि हम सभी का सत् तत्त्व से ही आगमन हुआ है। वे सभी यहाँ पर व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, वराह, कीट-पतङ्गे, डाँस अथवा मच्छर आदि के रूप में प्रकट होते हैं, पुनः अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३॥

आरुणि ने कहा- हे श्वेतकेतु! यही अणिमा (अणुरूप) आदि से युक्त आत्मा वाला जगत् है तथा तुम भी वही हो। उसने अपने पिता से पुनः समझाने की प्रार्थना की । पिता उद्दालक ने 'अच्छा' कहते हुए फिर से समझाने के लिए कहा॥ ३॥

॥ एकादशः खण्डः॥

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति॥ १॥

(उन्होंने वृक्ष के दृष्टान्त द्वारा पुनः समझाते हुए कहा-) हे सोम्य! यदि किसी विशाल वृक्ष की जड़ में प्रहार करें, तो वह शुष्क न होकर जीवन धारण करते हुए मात्र रस ही स्रवित करेगा। ठीक वैसे ही यदि उस (वृक्ष) के मध्य भाग पर आघात किया जाए, तब भी वह जीवित रहते हुए रस टपकाता रहेगा और यदि इसके ऊर्ध्व भाग में प्रहार किया जाए, तब भी वह जीवित रहते हुए रस-स्राव ही करता रहेगा । (इससे यह सिद्ध होता है कि) यह वृक्षरूपी जीव- आत्मा से परिपूर्ण जल का पान करता हुआ आनन्दानुभूति करते हुए स्थिर रहता है॥ १॥

अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच॥ २॥

हे सोम्य! किसी वृक्ष की एक शाखा को जीव परित्याग कर देता है, तो वह शुष्क हो जाती है। यदि दूसरी शाखा चेतना शून्य हो जाए, तो वह भी शुष्क हो जाती है। यदि तृतीय शाखा को जीव आघात करने पर छोड़ दे, तो वह भी सूख जाती है और यदि ऐसे ही सम्पूर्ण वृक्ष का ही जीव उत्क्रमण कर जाता है, तो वह वृक्ष पूर्णरूपेण शुष्क हो जाएगा॥ २॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

हे सोम्य! ठीक ऐसे ही यह वृक्षरूपी शरीर जीवन तत्त्व से रहित होते ही नष्ट हो जाता है, किन्तु जीव का नाश नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म भाव से सम्पन्न आत्म-तत्त्व से परिपूर्ण यह जगत् है। यह सत्य है और हे सोम्य! इसी तरह तुम भी सत्य तत्त्व से पूर्ण हो। श्वेतकेतु ने निवेदन किया- भगवन्! पुनः समझाएँ। पिता ने 'अच्छा' कहकर उसे आश्वस्त किया॥ ३॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति॥ १॥

हे सोम्य! इस सामने विद्यमान महान् वट वृक्ष से एक फल तोड़कर ले आओ। ऐसा सुनते ही वह (श्वेतकेतु) शीघ्रता से फल को ले आया। आरुणि ने पुनः कहा- 'इसे तोड़ दो।' तोड़ते हुए श्वेतकेतु बोला- 'भगवन्! तोड़ दिया'। आरुणि ने कहा इसके अन्दर क्या दिखाई दे रहा है? श्वेतकेतु बोला- इसके भीतर ये अणु के सदृश दाने दिखाई दे रहे हैं। आरुणि ने फिर कहा- इन दानों में से एक को लेकर तोड़ दो। श्वेतकेतु बोला- भगवन्! तोड़ दिया। आरुणि ने कहा कि 'इसके अन्दर क्या देखते हो?' श्वेतकेतु ने उत्तर दिया- हे भगवन्! मुझे इसके अन्दर कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा है॥ १॥

तꣳ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ २॥

तब उद्दालक ने कहा- हे सोम्य! इस वट के बीज के अन्दर जिस अति सूक्ष्म अणु रूप को तुम नहीं देख सकते हो, उसमें इतना विशाल वृक्ष स्थिर है। अतः हे सोम्य! मेरे द्वारा बताये हुए इस कथन पर श्रद्धापूर्वक विश्वास करो॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

हे सोम्य! इस वट वृक्ष का जो यह अणु रूप है, तदनुरूप ही यह सब सूक्ष्म जगत् है। वही सत्य है और हे श्वेतकेतो! वही तत्त्व तुम स्वयं हो। उद्दालक के ऐसा कहने पर श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया- भगवन्! कृपया मुझे फिर से बताने का अनुग्रह करें। तब उद्दालक ने उसे 'अच्छा' कहते हुए पुनः आश्वस्त किया॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तꣳ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद॥ १॥

उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को फिर से समझाते हुए कहा-'हे सोम्य! इस पिण्ड रूपी नमक के टुकड़े को जल-पात्र में डालकर अगले दिन प्रातःकालीन वेला में पुनः उपस्थित होना।' ऐसा सुनकर अपने पिता के आदेशानुसार वह दूसरे दिन उपस्थित हुआ। तब उद्दालक ने कहा- हे पुत्र! विगत रात्रि में जिस लवण को तुमने जल में मिश्रित किया था, 'उसे ले आओ।' परन्तु ढूँढ़ने पर उस नमक को वह नहीं प्राप्त कर सका॥ १॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्यैनदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तꣳहोवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति॥ २॥

हे सोम्य! तुम इस जल में मिले हुए नमक के अंश को नहीं देख सकते हो, फिर भी यदि जिज्ञासा हो तो इस जल को ऊपर से लेकर आचमन के रूप में ग्रहण करो। आचमन के उपरान्त पिता द्वारा पूछने पर उसने कहा 'नमकीन' अर्थात् खारा है। पिता ने कहा कि अब जल पात्र के मध्य में से जल लेकर पीते हुए बताओ कैसा है? उसने फिर कहा

'नमकीन है।' तत्पश्चात् पिता के कहने पर जल पात्र के नीचे से जल लेकर पान किया। पिता के द्वारा 'कैसा है?' पूछने पर उसने बताया कि 'नमकीन है।' उद्दालक ने कहा- 'अच्छा तुम इस जल को बाहर फेंक कर हमारे पास आ जाओ।' उसने पिता के कहने पर वैसा ही किया और कहा उस सम्पूर्ण जल में नमक पूर्ण रूप से मिला हुआ था। तत्पश्चात् आरुणि ने कहा- हे सोम्य! ठीक इसी प्रकार तुम सत् तत्त्व को देखने में असमर्थ हो, फिर भी वह यहाँ पर पूर्ण रूप से विद्यमान है॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

आरुणि ने कहा- हे सोम्य! इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अति सूक्ष्म रूप से सत् तत्त्व आत्मा में विद्यमान है, यही सत्य है। हे श्वेतकेतो! ठीक वैसे ही तुम स्वयं भी सत्य स्वरूप हो। तब उसने फिर कहा भगवन्! आप पुनः समझाएँ। पिता ने अच्छा कहकर पुनः उसे आश्वस्त किया॥ ३॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥ १॥

उद्दालक ने पुनः एक पुरुष के दृष्टान्त द्वारा श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा- हे सोम्य! जिस प्रकार किसी पुरुष की आँखें बाँधकर गान्धार देश से अन्यत्र किसी निर्जन क्षेत्र में लाकर छोड़ दें, तो वह वहाँ चतुर्दिक् पूर्व, उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके करुण क्रन्दन करता है। वह चिल्लाते हुए कहता है कि मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाकर छोड़ दिया गया है॥ १॥

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति॥ २॥

यदि कोई दूसरा पुरुष वहाँ आकर उसकी आँखों के बन्धन खोलकर उसे यह बतलाये कि 'गान्धार' अमुक दिशा में है। अमुक की ओर प्रस्थान कर जाओ। तब वह बुद्धिमान् एवं उपदिष्ट हुआ व्यक्ति एक गाँव से दूसरे गाँव को पूछते हुए क्रमशः अपने मूल स्थान यानी गान्धार देश को प्राप्त कर लेता है। ठीक वैसे ही इस लोक में सदाचारवान् व्यक्ति ही सत् को समझ पाता है। उस व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति में उतनी ही देर लगती है, जितने तक शरीर के बन्धन से मुक्ति नहीं मिल जाती। इसके अनन्तर तो वह पुरुष सत् युक्त ब्रह्म के अनुरूप हो जाता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

हे सोम्य! यह समस्त जगत् अणु रूप सूक्ष्म सत् तत्त्व से युक्त है। वह ही सत् स्वरूप है। वह ही आत्म स्वरूप है। हे श्वेतकेतो! तुम भी उसी सत् तत्त्व से युक्त हो। इस प्रकार सुनते ही उस (श्वेतकेतु) ने कहा- भगवन्! पुनः बताने की कृपा करें। तब उद्दालक ने अच्छा कहते हुए उसे पुनः आश्वस्त किया॥३॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति॥ १॥

हे सोम्य! ज्वरादि से अत्यधिक संतप्त एवं मरणासन्न स्थिति में पहुँचते हुए पुरुष के चारों ओर उसके बन्धु-बान्धव एवं निकट परिवारीजन बैठकर पूछते हैं- क्या तुम मुझे पहचानते हो? क्या तुम मुझे जानते हो? तो उस व्यक्ति की वाणी जब तक मन में लीन नहीं होती, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परमदेव तत्त्व में विलीन नहीं हो जाता, तब तक वह सबको जानता रहता है॥ १॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति।

तदनन्तर जब उस व्यक्ति की वाणी मन में विलीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में एवं तेज उस परमदेव तत्त्व में मिल जाता है, तब वह व्यक्ति किसी को भी पहचान पाने में असमर्थ रहता है॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

हे सोम्य! वह (अणुरूप) जो अणिमा आदि तत्त्व है, तदनुरूप ही यह सब कुछ है। वही सत्य है और वही आत्मतत्त्व है। हे सोम्य! उसी सत् तत्त्व से युक्त स्वयं तुम भी हो। उद्दालक के इस तरह कहने पर श्वेतकेतु ने कहा- हे भगवन्! पुनः बताने की कृपा करें। तब उसके पिता ने 'अच्छा' कहते हुए उसे आश्वस्त किया॥ ३॥

॥ षोडशः खण्डः॥

पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते॥ १॥

(आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को अपराधी व्यक्ति द्वारा तप्त कुल्हाड़े को ग्रहण करने के उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहते हैं)- हे सोम्य! जब किसी दोषी व्यक्ति को हाथ बाँधकर (राज्य कर्मचारी) लाते हुए कहते हैं कि 'इसने चोरी की है', इसके लिए परशु तप्त करो। वह यदि सचमुच उसका (चोरी का) करने वाला होता है तथा असत्य भाषण कर, अपने किये हुए कृत्य को आवरण में रखता है, तो उस तप्त परशु को ग्रहण करते ही, वह जलते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है॥ १॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते॥ २॥

यदि वह व्यक्ति चोरी करने वाला नहीं होता, तो उसी परशु से स्वयं को सत्य प्रमाणित करता है। वह अपने आप को सत्य से ढककर उस परशु को पकड़ लेता है और जब उस परशु से नहीं जलता, तो छोड़ दिया जाता है॥

[इस समय अपने भाव से स्वयं को आवृत कर लेने की क्षमता लुप्तप्राय हो गयी है, फिर भी उसके प्रमाण मिलते हैं। किसी पीड़ित व्यक्ति की सहायता करते समय वास्तविक प्रेम सम्पन्न व्यक्ति को कष्ट नहीं होता; किन्तु प्रेम का ढोंग करने वाले को कष्ट अनुभव होता है।]

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति॥ ३॥

हे सोम्य! जैसे वह व्यक्ति उस परीक्षा के समय तप्त परशु से नहीं जलता है, वैसे ही सत् तत्त्व को प्राप्त करने वाले विद्वान् पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। यह समस्त विश्व सत् स्वरूप है। वह ही आत्मा है। हे श्वेतकेतो! उसी सत् तत्त्व से सम्पन्न तुम स्वयं हो। तब श्वेतकेतु ने कहा भगवन्! मैं उस सत् तत्त्व को जान गया हूँ-जान गया हूँ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति॥ १॥

एक बार ब्रह्मर्षि नारद जी ब्रह्मनिष्ठ योगेश्वर सनत्कुमार जी के समक्ष उपस्थित होकर बोले- हे भगवन्! मुझे उपदेश प्रदान करने की कृपा करें। उनसे सनत्कुमार जी ने कहा- सर्वप्रथम जो तुम जानते हो, उसे बतलाते हुए हमारे पास उपदेश श्रवण करने के लिए आओ, तो उससे आगे का ज्ञान मैं तुम्हें दूँगा॥१॥

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥ २॥

(नारद जी ने कहा) हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद का अध्ययन कर लिया है। इसके अतिरिक्त इतिहास, पुराण के रूप में पञ्चम वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेद विज्ञान, भूततंत्र, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या (गारुड़मन्त्र), देवजन विद्या (नृत्य-संगीत) आदि इन सभी विद्याओं का अध्ययन कर चुका हूँ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳहोवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्॥ ३॥

हे भगवन्! मैं तो केवल मंत्रों में ही पारंगत हूँ अर्थात् शब्दार्थ मात्र ही जानता हूँ। आत्मा के सम्बन्ध में मेरी जानकारी बिल्कुल नहीं है। मैंने आप जैसे श्रेष्ठ योगियों से सुना है कि आत्मज्ञानी शोक से पार करने में समर्थ होते हैं। हे भगवन्! मैं आत्मज्ञान के अभाव में शोक में डूबा रहता हूँ। आप कृपा करके शोक सागर से पार कीजिए। ऐसा सुनकर सनत्कुमार जी ने नारद जी से कहा- हे महर्षे! तुम जो कुछ जानते हो, वह सभी कुछ नाम ही है॥ ३॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति॥ ४॥

ऋग्वेद भी नाम है तथा ऐसे ही यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराणादि, वेदों का वेद (व्याकरण) श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविज्ञान, भूतविद्या, धनुर्विद्या, ज्योतिष्, सर्पविद्या, संगीत आदि कलाएँ शिल्प विद्या आदि ये सब नाम ही हैं। अतः हे नारद! तुम नाम की ही उपासना करो॥ ४॥

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ५॥

जो व्यक्ति नामरूप ब्रह्म की उपासना करता है, उसकी जहाँ तक नाम की गति होती है, वहाँ तक

इच्छानुसार गति हो जाती है। (नारद ने सनत्कुमार जी से कहा-) हे भगवन्! क्या नाम के अतिरिक्त भी कुछ है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ नाम से भी अधिक है? तब महर्षि नारद जी ने कहा – हे भगवन्! तो फिर मुझे वही बताने की कृपा करें॥ ५॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवन - स्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति॥ १॥

(सनत्कुमार ने कहा-) वाणी नाम से अधिक श्रेष्ठ है, वाणी ही ऋग्वेद को प्रकाशित करती है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पाँचवाँ वेद इतिहास-पुराण, वेदों के वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात विज्ञान, नीतिशास्त्र, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, निरुक्त, वेद विज्ञान, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष् , सर्पविद्या, संगीत-शिल्प आदि शास्त्र, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मानव, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, हिंस्र जन्तु, कीट-पतंगे, चींटी आदि प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य एवं असत्य, साधु तथा असाधु, अच्छा एवं बुरा, प्रिय एवं अप्रिय आदि का ज्ञान वाणी द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वाणी ही इन सबको ज्ञापित करती है, इसलिए हे नारद! तुम वाणी की ही उपासना करो॥ १॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥

हे महर्षि नारद! वह (साधक) जो वाणी को 'यह ब्रह्म है' ऐसा मानकर उस ब्रह्मरूप की उपासना करता है, उसकी जहाँ तक वाणी के विषय हैं, वहाँ तक इच्छानुसार गति होती है। (तब नारद ने कहा) हे योगेश्वर! वाणी से भी अधिक कुछ है क्या? (सनत्कुमार जी ने कहा)- हाँ है, वाणी से भी बढ़कर है। नारद ने कहा- भगवन्! मुझे वही बताने की कृपा करें॥२॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति॥ १॥

योगेश्वर सनत्कुमार जी कहते हैं- 'मन' वाणी से अधिक श्रेष्ठ है। जिस तरह से दो आँवले, दो बेर अथवा दो बहेड़े मुट्ठी के अन्दर आ जाते हैं, उसी तरह वाणी और नाम की अनुभूति मन करता है। जिस समय मनुष्य मन से विचार करता है कि 'मंत्रों को पढ़ूँ' उसी समय वह पढ़ता है। वह जब सोचता है कि

'कार्य करूँ', तभी कार्य करता है, जब पुत्र और पशुओं की इच्छा करता है , उसी समय वह उनको प्राप्त करता है तथा जब वह संकल्प करता है कि इस लोक एवं दूसरे लोक के वैभव को प्राप्त करूँ, तभी वह उसको,प्राप्त करता है। मन ही आत्मा, मन ही लोक एवं मन ही ब्रह्म है। अतः हे नारद! तुम इस श्रेष्ठ मन की उपासना करो॥ १॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥

जो व्यक्ति मन को 'यह ब्रह्म है' ऐसा मानकर उसकी ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह व्यक्ति जहाँ तक मन की गति है, वहाँ तक अपनी इच्छा से गतिशील हो जाता है। (नारद ने कहा-) हे भगवन्! क्या मन से भी बढ़कर कोई है ? (सनत्कुमार ने कहा-) हाँ मन से भी बढ़कर है। (तब नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मुझे उसी का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें॥ २॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि॥ १॥

सनत्कुमार जी ने कहा- 'संकल्प' मन से अधिक श्रेष्ठ है। जब व्यक्ति संकल्प करता है, तभी वह बोलने की इच्छा करते हुए वाक् शक्ति को प्रेरणा प्रदान करता है। वह उसको नाम के प्रति प्रवृत्त करता है। नाम के अन्तर्गत ही सभी मंत्र एकाकार हो जाते हैं तथा मन्त्रों में ही सभी कर्म एकरूप हो जाते हैं॥ १॥

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषाᳬ संक्लृप्त्यै वर्षᳬ संकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नᳬसंकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाᳬ संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणाᳬ संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाᳬ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वᳬ संकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति॥ २॥

(हे नारद!) सर्वप्रथम जो मन, वाणी आदि का वर्णन किया गया है, वह संकल्परूप, संकल्पमय और अपने संकल्प में प्रतिष्ठित है। स्वर्ग एवं पृथिवी संकल्प करने वाले प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार वायु तथा आकाश, जल और तेज भी संकल्प बल से युक्त हैं। इन सभी के संकल्प बल से वृष्टि को सामर्थ्य प्राप्त होती है। (अथवा उन द्युलोक एवं पृथिवी के संकल्प से वृष्टि होती है।) वृष्टि के संकल्प से अन्न को समर्थता मिलती है। अन्न के संकल्प से प्राण समर्थ होते हैं। प्राणों के संकल्प से मन्त्र समर्थ होते हैं। मन्त्रों के संकल्प से कर्मों को सामर्थ्य मिलती है एवं कर्मों के संकल्प से लोक (फल) समर्थ होता है। हे नारद! तुम ऐसे ही इस श्रेष्ठ संकल्प की उपासना करो॥ २॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ३॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति यह संकल्प 'यही ब्रह्म है', ऐसा जानकर उसकी उपासना करता है, वह विधाता द्वारा रचित ध्रुवलोकों को स्वयं ध्रुवरूप होकर, प्रतिष्ठित लोकों को स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा पीड़ा रहित लोकों को स्वयं पीड़ा रहित होकर पूर्णरूपेण प्राप्त करता है। जिस स्थान तक संकल्प की गति होती है, वहाँ तक उसकी इच्छानुसार गति हो जाती है। तब नारद जी ने पूछा- हे भगवन्! क्या संकल्प से भी कुछ श्रेष्ठ है? सनत्कुमार जी ने कहा- हाँ है, संकल्प से भी श्रेष्ठ है। (नारद ने कहा) हे भगवन्! मुझे उसी (श्रेष्ठ तत्त्व) का उपदेश करें॥ ३॥

॥ पञ्चमः खण्डः॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १॥

(हे नारद!) 'चित्त' संकल्प से अधिक श्रेष्ठ है। जब व्यक्ति चिन्तन से युक्त होता है, तभी संकल्प करता है। तदनन्तर इच्छा करते हुए वाणी एवं नाम को प्रेरित करता है। नाम मन्त्रानुरूप एवं मन्त्र कर्मानुरूप होकर तदाकार हो जाते हैं॥ १॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति॥ २॥

(हे नारद!) संकल्प, मन, वाणी, मन्त्र, कर्म आदि सभी चित्त में विलीन होने वाले, चित्त द्वारा प्रकट होने वाले एवं चित्त में ही स्थिर होने वाले होते हैं। यदि कोई व्यक्ति विशेष रूप से विद्वान् होते हुए भी अचित्त (अर्थात् चिन्तनशीलता से रहित) हो, तो प्राय: लोग यही कहते हैं कि यह कुछ भी नहीं है। यदि इसने कुछ सुना होता और इसमें विद्वत्ता होती, तो इस तरह से अचित्त नहीं होता। कोई व्यक्ति कम विद्वान् होकर भी यदि चित्तयुक्त होता है, तो लोग उसकी बात सुनना चाहते हैं। इस प्रकार हे नारद! चित्त ही संकल्प का (एक मात्र) उत्पत्ति केन्द्र है। तुम चित्त की ही उपासना करो॥२॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितो ऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ३॥

हे नारद! इस तरह से जो व्यक्ति चित्त की ब्रह्म रूप में उपासना करता है, वह चित्त (अर्थात् बुद्धि युक्त गुणों) से उपचित हुए ध्रुवलोकों को स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकों को स्वयं प्रतिष्ठित होकर और कष्ट न पाने वाले लोकों को स्वयं पीड़ा (कष्ट) न प्राप्त करते हुए सहजता से प्राप्त कर लेता है। जहाँ तक चित्त का विषय (गति) है, वहाँ तक उसकी इच्छानुरूप गति हो जाती है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! क्या चित्त से भी कुछ श्रेष्ठ है? (सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ है, चित्त से भी श्रेष्ठ है। तब नारद जी ने कहा- हे भगवन्! मुझे वही बताने का अनुग्रह करें॥३॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति॥ १ ॥

(हे नारद!) चित्त से उत्कृष्टतम स्थिति ध्यान की है। (ऐसा प्रतीत होता है कि) मानो पृथिवी ध्यान करती है, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक भी मानो ध्यान में रत हैं, जल और पर्वत भी मानो ध्यान में तल्लीन हैं, देवता और मानव भी मानो ध्यान करते हैं। इसलिए जो भी यहाँ पुरुषों में महानता को प्राप्त किये हुए हैं, वे भी शायद ध्यान के द्वारा अर्जित किये हुए लाभ का अंश प्राप्त करते हैं; किन्तु जो संकीर्ण विचार के होते हैं, वे कलह करने वाले, चुगलखोर और दूसरों के समक्ष ही उनकी निन्दा करने वाले होते हैं। साथ ही जो सामर्थ्य से युक्त हैं, वे लोग भी ध्यान के ही लाभ का अंश अर्जित करने वाले हैं। अत: (हे नारद!) तुम ध्यान की ही उपासना करो॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति ध्यान को 'यह ब्रह्म ही है', इस प्रकार से समझकर उसकी उपासना करता है, उसकी स्वेच्छानुसार गति ध्यान की गति के समान ही हो जाती है। (ऐसा सुनकर नारद जी ने पूछा) हे भगवन्! क्या ध्यान से भी श्रेष्ठ कुछ है? (तब सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ, ध्यान से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! कृपया उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पती-ञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥

(हे नारद!) ध्यान से भी अधिक श्रेष्ठ 'विज्ञान' है। विज्ञान द्वारा ही मनुष्य ऋग्वेद को जानता है। यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद, पञ्चम वेद इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष्, सर्पविद्या, शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट- पतंग, पिपीलिका पर्यन्त समस्त जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इहलोक एवं परलोक आदि को विज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। (इसलिए हे नारद!) तुम विज्ञान की ही उपासना करो॥ १ ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिद्ध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) विज्ञान की ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ विज्ञान और ज्ञान वाले लोकों को प्राप्त कर लेता है। जहाँ तक विज्ञान का सम्बन्ध है, वहाँ तक उसकी यथेच्छगति होती है। नारद जी ने कहा- हे भगवन्! क्या विज्ञान से भी श्रेष्ठ कुछ है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है। नारद जी ने कहा- भगवन्! मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २ ॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति। बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

(हे नारद!) बल विज्ञान से भी अधिक श्रेष्ठ है। सौ विज्ञानवेत्ताओं को एक बलवान् व्यक्ति कँपा देता है। जिस समय यह मनुष्य बल-सम्पन्न होता है, तभी उठने वाला भी होता है और जब उठता है, तो वह सेवा शुश्रूषा करने वाला होता है, जब सेवा-शुश्रूषा वाला होता है, तो समीप जाने वाला होता है, समीप पहुँचने से दर्शन, श्रवण, मनन, जानने, अनुष्ठान एवं अनुभव करने वाला होता है। बल से ही पृथिवी स्थित है, बल से ही अन्तरिक्ष, बल से ही द्युलोक, बल से ही पर्वत, देवता और मनुष्य, बल से ही पशु-पक्षी, तृण वनस्पति, श्वापद और कीट- पतंग एवं पिपीलिका पर्यन्त समस्त प्राणि-समुदाय स्थित हैं तथा बल से ही लोक स्थित है। इसलिए हे नारद! तुम बल की उपासना करो॥ १ ॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) बल को ब्रह्म के रूप में जानकर उसकी उपासना करता है, तो जहाँ तक बल की गति है, वहाँ तक उस (व्यक्ति) की स्वेच्छा गति हो जाती है। (तब नारद जी ने पूछा-) क्या बल से अधिक भी कुछ है? (सनत्कुमार ने कहा-) बल से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! कृपा करके मेरे प्रति उसी श्रेष्ठ तत्त्व का वर्णन करें॥ २ ॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्युह जीवेदथवाद्रष्टाश्रोता - मन्ताबोद्धाकर्ताविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

(हे नारद!) अन्न बल से अधिक श्रेष्ठ है। यदि कोई व्यक्ति दस दिन तक भोजन न ग्रहण करे और

जीवित रह जाए, तब भी वह दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान और अनुभव आदि करने में प्राय: असमर्थ ही हो जाता है। पुनश्च यदि उसे अन्न की प्राप्ति होने लगे, तो वह दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान एवं अनुभूति करने में समर्थ हो जाता है। अत: (हे नारद!) तुम इस श्रेष्ठ अन्न की ही उपासना करो॥ १॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिद्ध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो भी (व्यक्ति) अन्न को ही ब्रह्म के रूप में मानकर उपासना करता है, वह अन्न एवं जल से परिपूर्ण लोकों को प्राप्त करता है। जहाँ तक अन्न की गति है, वहाँ तक वह अपनी इच्छा से पहुँच सकता है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! अन्न से भी उत्कृष्ट कुछ है क्या? (सनत्कुमार जी ने कहा) हाँ है। नारद जी ने कहा- हे भगवन्! मुझे तो उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २॥

॥ दशम: खण्ड:॥

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥ १॥

(हे नारद!) अन्न की अपेक्षा जल अधिक श्रेष्ठ है। यही कारण है कि जब अधिक वृष्टि नहीं होती, तो प्राण इसलिए व्यथित होते हैं कि अन्न कम होगा तथा जब कभी वर्षा प्रचुर परिमाण में होती है, तो प्राण यह विचार कर प्रसन्न होते हैं कि अन्न बहुत अधिक होगा। यह जो पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, देव-मनुष्य एवं पशु-पक्षी तथा तृण-वनस्पति, श्वापद एवं कीड़े-पतंगे, पिपीलिका (चींटी) आदि स्तर के प्राणी हैं, ये सभी मूर्तिमान् जल रूप ही हैं। इसलिए हे नारद! तुम इस श्रेष्ठ जल की ही उपासना करो॥ १॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाꣳस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति जल को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करता है, वह सभी मूर्तियुक्त विषयों को प्राप्त करके तृप्त होता है। जहाँ तक जल की गति है, वहाँ तक वह व्यक्ति अपनी इच्छा से पहुँच सकता है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! क्या जल से भी अधिक श्रेष्ठ कुछ है? (सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ, जल से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! तब उसी श्रेष्ठ तत्त्व को मुझे बताने की कृपा करें॥ २॥

॥ एकादश: खण्ड:॥

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १॥

हे नारद! जल की अपेक्षा तेज अधिक श्रेष्ठ है। जिस समय यह वायु तत्त्व को निश्चल करके आकाश को चारों ओर से तप्त करता है, तब सभी कहते हैं कि गर्मी बहुत अधिक हो रही है, ताप बहुत बढ़ रहा है, अब वर्षा होगी। वह तेज ही सर्वप्रथम प्रकट होता है, तत्पश्चात् जल की रचना करता है। तेज ऊर्ध्व एवं तिर्यक् दिशा की ओर गमन करते हुए विद्युत् के साथ गर्जना करता है। इस तेज से ही विद्युत् प्रकट होती है, गर्जना होती है तथा प्रायः लोग कहते हैं कि वृष्टि होगी। चूँकि तेज सर्वप्रथम स्वयं प्रकट होकर जल की रचना करता है, इस कारण हे नारद! तुम तेज की ही उपासना करो॥ १॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कान-भिसिद्ध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) तेज को ब्रह्म के रूप में समझकर उसकी उपासना करता है। वह तेजवान्, प्रकाश और अन्धकार से रहित लोकों को प्राप्त करता है। जहाँ तक तेज की गति है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छानुसार गति होती है। नारद जी ने पूछा भगवन्! तेज की अपेक्षा कुछ अन्य श्रेष्ठ है क्या? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है, इससे भी श्रेष्ठ है। तब हे भगवन्! कृपा करके मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करें॥ २॥

॥ द्वादशः खण्डः॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्नि-राकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति॥ १॥

(हे नारद!) तेज से भी अधिक उत्कृष्ट आकाश है। आकाश में ही सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र एवं अग्नि स्थित हैं। आकाश द्वारा ही हम आपस में एक दूसरे को बुलाते हैं, आकाश द्वारा ही श्रवण करते हैं। आकाश के माध्यम से ही प्रतिश्रवण करते हैं। आकाश में ही सभी क्रीड़ा करते और नहीं भी करते हैं। (सभी पदार्थों) की उत्पत्ति आकाश में ही होती है तथा आकाश में ही (जीव एवं अङ्कुर) अभिवर्द्धित होते हैं। अतः हे नारद! तुम आकाश तत्त्व की ही उपासना करो॥ १॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसं-बाधानुरुगायवतोऽभिसिद्ध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति आकाश को 'यही ब्रह्म है' ऐसा मानकर उसकी उपासना करता है। वह प्रकाशवान्, आकाशवान् , कष्टरहित तथा अति विस्तृत लोकों को प्राप्त करता है। जिस क्षेत्र तक आकाश की सीमा है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छा से गति (पहुँच) हो जाती है। (ऐसा सुनकर नारद जी ने प्रश्न किया-) हे भगवन्! क्या आकाश से भी श्रेष्ठ है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है, आकाश से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) तो भगवन्! कृपा करके मुझे आप उसी तत्त्व का उपदेश करें॥ २॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति॥ १ ॥

हे नारद! स्मरण आकाश से अधिक श्रेष्ठ है। इसी से जहाँ बहुत से व्यक्ति (किसी स्थान विशेष पर) बैठे हुए हों; किन्तु फिर भी स्मरण न करने पर वे सभी न कुछ सुन सकने में, न मनन कर सकने में और न ही कुछ विशेष जान सकने में समर्थ हो सकते हैं, जब वे सभी स्मरण करते हैं, तभी वे सुन सकने में समर्थ हो सकते हैं, तभी मनन और विशेष जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। स्मरण मात्र से ही मनुष्य अपने बच्चों और पशुओं को पहचानता है। (इसलिए हे नारद!) तुम स्मरण की उपासना करो॥१॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) स्मरण (स्मर) की 'यही ब्रह्म है' अर्थात् ब्रह्म रूप में उपासना सम्पन्न करता है। जहाँ तक (स्मर) स्मरण का विषय (सीमा) है, वहाँ तक उस (व्यक्ति) की गति (पहुँच) हो जाती है। (इस प्रकार सुनने के पश्चात् नारद जी ने प्रश्न किया-) हे भगवन्! क्या स्मरण से भी श्रेष्ठ कुछ है ? (तब सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ है, इससे भी श्रेष्ठ है। नारद बोले- हे भगवन्! कृपा करके उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १॥

हे नारद! स्मरण की अपेक्षा आशा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। आशा द्वारा ही वृद्धि को प्राप्त हुआ स्मृतिभूत वह (व्यक्ति) स्मरण करता हुआ ही मन्त्रों के पाठ में संलग्न होता है। अपने कर्मों में रत हुआ पुत्र एवं पशुओं की तथा लोक एवं परलोक की भी इच्छा करता रहता है। (अतः हे नारद!) तुम इस श्रेष्ठतर वस्तु आशा की उपासना करो॥ १॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥ २॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति आशा को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, उसके सभी उद्देश्य आशा के माध्यम से पूर्ण होते हैं। प्रायः उसकी प्रार्थना सफल होती है। जहाँ तक आशा की गति (सीमा) है, वहाँ तक उस व्यक्ति की इच्छानुकूल पहुँच हो जाती है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! आशा से भी क्या अधिक श्रेष्ठ कुछ होता है ? (सनत्कुमार ने कहा-) हाँ है, आशा से भी अधिक श्रेष्ठ है। तब भगवन्! मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करें॥ २॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

(हे नारद!)प्राण आशा से अधिक श्रेष्ठ है। जिस तरह रथ के पहिये के केन्द्र में 'अरे' प्रतिष्ठित रहते हैं, ठीक उसी तरह प्राण तत्त्व में सम्पूर्ण विश्व समाहित है। प्राण अपनी ही शक्ति द्वारा प्रस्थान करता है, समाहित प्राण ही प्राण को प्रदान करता है तथा प्राण के लिए ही प्रदान करता है। प्राण ही पिता, प्राण ही माता, प्राण ही भाई, प्राण ही बहिन, प्राण ही आचार्य तथा प्राण ही श्रेष्ठ ब्राह्मण है॥ १ ॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥ २ ॥

यदि कोई (व्यक्ति) अपने पिता, माता, भाई, बहिन, आचार्य अथवा ब्राह्मण के प्रति अशिष्टतापूर्ण व्यवहार करता है, तो उसको देखने एवं सुनने वाले उसे अपमानित करते हुए कहते हैं कि तुझे धिक्कार है। सचमुच ही तू अपने माता व पिता को मारने वाला है, भ्रातृघाती है, बहिन की हत्या करने वाला है, आचार्य का हनन करने वाला है और तू निश्चय ही ब्रह्मघाती है॥ २ ॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषं दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

परन्तु जिन लोगों के प्राण निकल गये हैं, उन माता, पिता आदि समस्त परिवारीजनों को यदि वह व्यक्ति शूल से संहृत कर एवं छिन्न-भिन्न करके जला देता है (कपाल क्रिया आदि करता है), तो भी उसे कोई यह नहीं कहता है कि तू पिता का हत्यारा, माता का हत्यारा, भाई का हत्यारा, बहिन का हत्यारा एवं आचार्य का घात करने वाला है अथवा ब्रह्म का घाती है॥ ३ ॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत॥ ४॥

(हे नारद!) इस प्रकार माता-पिता आदि के रूप में प्राण ही होते हैं। इसलिए जो (व्यक्ति) प्राणों को इस तरह से अनुभव करता है, चिन्तनयुक्त एवं दृढ़ निश्चयी होता है, वही 'अतिवादी' कहा जाता है। यद्यपि कोई भी उसे 'अतिवादी' कहे, तो फिर उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि वास्तव में मैं अतिवादी हूँ। इस तथ्य को उसे छुपाना नहीं चाहिए॥ ४॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति सत्य के कारण अतिवाद करता है, वह अवश्य ही अतिवाद करने वाला है। (तब नारद जी ने कहा)- हे भगवन् ! मैं तो सत्य के कारण ही अतिवाद करता हूँ।

(सनत्कुमार जी ने कहा-) सत्य को विशेष रूप से जानना चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं विशेष प्रकार से सत्य को ही आत्मसात् करता हूँ॥ १ ॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) जब व्यक्ति सत्य को विशेष रूप से जानने में समर्थ हो जाता है, तब वह सत्य भाषण करता है। बिना जाने वह सत्य नहीं बोलता, वरन् विशेष रूप से जानने वाले सत्य का ही प्रतिपादन करता है। इसलिए हे नारद! विज्ञान की ही विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं विशेष प्रकार से सत्य को ही आत्मसात् करता हूँ॥ १ ॥

॥ अष्टादशः खण्डः ॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

(सनत्कुमार जी ने नारद जी को समझाते हुए कहा- हे नारद!) जब मनुष्य मनन करता है, तब कुछ विशेष जानकारियाँ प्राप्त करने में सक्षम होता है। बिना मनन किये कोई भी व्यक्ति कुछ भी नहीं जान पाता, वरन् मनन करने के पश्चात् ही जान पाता है। इसलिए हे नारद! विशेष रूप से मति की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन् ! मैं मति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) (जब मनुष्य को किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थान विशेष के प्रति) श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब वह मनन करता है, श्रद्धा के अभाव में वह मननशील नहीं हो सकता। श्रद्धालु (व्यक्ति) ही मननशील हो सकता है। इसलिए हे नारद ! श्रद्धा को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं श्रद्धा के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

॥ विंशः खण्डः ॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

(सनत्कुमार जी ने देवर्षि नारद जी से कहा-) हे नारद! जब मनुष्य की (किसी व्यक्ति विशेष के प्रति) निष्ठा (जाग्रत्) होती है, तभी वह उसके प्रति श्रद्धावनत होता है, निष्ठा के अभाव में कोई भी (व्यक्ति) श्रद्धायुक्त नहीं होता; बल्कि निष्ठावान् (व्यक्ति) ही श्रद्धा करने वाला होता है, (इसलिए हे नारद!) निष्ठा को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं निष्ठा को विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

॥ एकविंशः खण्डः ॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) जब मनुष्य कोई कार्य विशेष करता है, तब वह (उसके प्रति) निष्ठावान् हो जाता है। बिना कार्य किये (व्यक्ति) की निष्ठा (उत्पन्न) नहीं होती। मनुष्य कर्म करने पर ही निष्ठावान् होता है। इसलिए (हे नारद!) कृति (अर्थात् इन्द्रियों का संयम और चित्त की एकाग्रता) को विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा) हे भगवन्! मैं कृति को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

॥ द्वाविंशः खण्डः ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) जिस समय व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है, उस समय वह कर्म करता है, सुख के अभाव में कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं करता, वरन् सुख प्राप्त करके ही (कुछ विशेष पाने की आशा) करता है। (इसलिए हे नारद!) सुख को ही प्राप्त करने की तथा उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद बोले-) हे भगवन्! मैं सुख प्राप्ति की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ॥

॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा-) हे नारद! निश्चय ही जो भूमा (महान्, निरतिशय) है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही सुख स्वरूप है। (अतः हे नारद!) भूमा की ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं भूमा (निरतिशय) को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्य-त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी नारद जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं- हे नारद!) जहाँ अन्य कुछ न देखता है, न अन्य कुछ सुनता है और न ही अन्य कुछ जानता है, वही भूमा है; परन्तु इसके विपरीत जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ सुनता है तथा कुछ अन्य जानकारी रखता है, वह अल्प है। इस प्रकार से जो भूमा है, वही अमृत है तथा जो अल्प है, वह ही मर्त्य है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! भूमा किसमें स्थित है? (सनत्कुमार जी ने कहा-) भूमा अपनी महिमा में स्थित है और वास्तव में तो वह उसमें भी स्थित नहीं है अर्थात् वह अवलम्बन रहित है॥ १ ॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति॥ २॥

(हे नारद!) इस संसार में तो गौ, अश्व आदि को ही महिमा कहा जाता है। साथ ही हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या (पत्नी), भूमि (क्षेत्र) और घर आदि को भी महिमा के नाम से जाना जाता है; किन्तु यह मेरा कथन नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थ अन्य में स्थित होता है- मैं तो यही कहता हूँ। इस प्रकार से सनत्कुमार जी ने नारद जी से कहा॥ २॥

[सनत्कुमार जी लौकिक महिमा और भूमा की महिमा में अन्तर भर स्पष्ट करना चाहते हैं, वैसे आगे भूमा के बारे में पुनः बतला रहे हैं।]

॥ पञ्चविंशः खण्डः॥

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳसर्व-मित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतो-ऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति॥ १॥

(हे नारद!) वही (भूमा) नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे एवं आगे भी है, वही दायीं ओर और वही बायीं ओर भी है। वह (भूमा) ही यह सब कुछ है। उसी (भूमा) में अहंकारवश (व्यक्तिभाव से) इस तरह से कहते हैं- मैं ही ऊपर, मैं ही नीचे एवं मैं ही दायीं और मैं ही बायीं ओर हूँ। मैं ही दक्षिण की ओर तथा ऊपर की ओर हूँ। मैं ही सभी ओर से विद्यमान हूँ॥ १॥

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्म-रतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति॥ २॥

(हे नारद!) इस तरह से सत्य स्वरूप आत्मा के रूप में ही भूमा का आदेश किया जाता है। आत्मा ही आगे-पीछे, दायों-बायीं ओर व्याप्त है। यह आत्मा ही सब कुछ है। वह (ज्ञानी पुरुष) इस आत्मा को इस प्रकार से देखने वाला, मनन करने वाला और विशेष रूप से इस भाँति से जिज्ञासा वाला आत्मरति (आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला) और आत्मा में ही मिथुन एवं आत्मा में ही आनन्दानुभूति करने वाला होता है। वह ही स्वराट् (स्वप्रकाशित) है, समस्त भुवनों (लोकों) में उसकी इच्छानुसार गति होती है; किन्तु जो इससे विपरीत देखते हैं, वे ही अन्यराट् और क्षय्यलोक को प्राप्त होते हैं। उन (व्यक्तियों) की स्वेच्छानुसार गति नहीं होती॥ २॥

॥ षड्विंशः खण्डः॥

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतोबलमात्मतोविज्ञानमात्मतो ध्यानमा-

त्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति॥ १॥

सनत्कुमार जी ने कहा– हे नारद! उस भूमा को जो इस तरह से देखने वाले, मनन करने वाले और जानने वाले विद्वान् होते हैं, उनके लिए आत्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से ही आकाश, आत्मा से ही तेज, आत्मा से जल, आत्मा से ही प्राकट्य और तिरोभाव, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से ही चित्त, आत्मा से संकल्प , आत्मा से मन, आत्मा से ही वाणी, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म और आत्मा द्वारा ही यह सब कुछ हो जाता है॥ १॥

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते॥ २॥

हे नारद! इस सन्दर्भ में यह श्लोक कहा गया है– विद्वान् (व्यक्ति) न तो मृत्यु को देखता है, न रोग को और न ही दुःख को देखता है। वह विद्वान् सभी को (आत्मा के रूप में)ही देखता है। इसलिए वह सभी को आत्मा के रूप में ही देखता है। इसलिए वह सभी को प्राप्त हो जाता है। पहले वह एक होता है। पुनश्च वह तीन, पाँच, सात और नौ रूपों में विभाजित हो जाता है। फिर वही ग्यारह कहा गया है तथा वही सौ, दस, एक सहस्र और बीस भी होता है। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल होती है और स्मृति के प्राप्त होने पर समस्त ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है। इस तरह से जिनकी वासनाएँ क्षीण हो गयी थीं, उन देवर्षि नारद जी को भगवान् योगेश्वर सनत्कुमार जी ने अज्ञानान्धकार से दूर कर आत्मज्ञान का दर्शन कराया। उन योगेश्वर सनत्कुमार जी को ''स्कन्द (ऊर्ध्वगामी)'' भी कहा जाता है॥ २॥

॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-स्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥ १ ॥

तदनन्तर ब्रह्मपुर (शरीर) के अन्तःक्षेत्र में जो कमल पुष्प के आकार का क्षेत्र है, उसके अन्तर्गत जो अति सूक्ष्माकाश है, उसके अन्तः क्षेत्र में जो तत्त्व विद्यमान है, उसी की खोज करनी चाहिए और उसी श्रेष्ठतम को जानने की इच्छा करनी चाहिए॥ १ ॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रुयात्॥ २ ॥

इसको सुनने के उपरान्त यदि शिष्य उन (आचार्य) से कहे कि इस ब्रह्मपुर में जो कमल के आकार का गृह है और उसमें जो अन्तराकाश है, उसके अन्दर कौन सी वस्तु है, जिसकी कि जिज्ञासा करनी चाहिए? इस प्रकार से वे आचार्य इन सभी पूछने वाले शिष्यों से कहें॥ २ ॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति॥ ३ ॥

जितना विस्तार इस (भौतिक) आकाश का दृष्टिगोचर होता है, उतना ही हृदय के अन्तः का भी है। द्युलोक एवं पृथिवी दोनों पूर्ण रूप से इसके अन्दर समाहित हैं। इसी प्रकार अग्नि एवं वायु , सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत् एवं नक्षत्र तथा जो भी कुछ इस लोक में विद्यमान है और जो नहीं है, वह सभी कुछ पूर्ण रूप से इसमें (आत्मा में) प्रतिष्ठित है॥ ३ ॥

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरामाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति॥ ४॥

और यदि उस (आचार्य) से शिष्यगण यह प्रश्न करें कि इस ब्रह्मपुर रूपी शरीर में यदि यह सभी कुछ पूर्णरूपेण विद्यमान है, समस्त प्राणी एवं सभी विषय इसमें ही स्थित हैं, तो जब इस शरीर में वृद्धावस्था का आगमन होता है अथवा यह विनाश को प्राप्त होता है, तो उस समय फिर क्या शेष रह जाता है?॥ ४॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति॥ ५ ॥

तो फिर उस (आचार्य) को कहना चाहिए कि इस (शरीर) की वृद्धावस्था से यह अन्तराकाश जीर्ण नहीं होता। इसके नष्ट हो जाने से उस (ब्रह्म) का नाश नहीं होता। यह ब्रह्मपुर सत्य है, इसमें समस्त इच्छाएँ पूर्ण रूप से स्थित हैं। यह ही आत्मा है, धर्म-अधर्म से शून्य तथा जरारहित, मृत्यु से हीन, शोकरहित, बिना भोजन की इच्छा वाला, पिपासाशून्य, सत्य की कामना से युक्त, सत्य

संकल्प वाला है। जिस प्रकार से प्रजा इस लोक में राजा की आज्ञानुसार आचरण करती है तथा देश या प्रदेश की इच्छा करती है, उसी प्रकार से राजा की आज्ञा से जीवन निर्वाह करती है ॥ ५ ॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥

जिस प्रकार यहाँ कर्म द्वारा अर्जित लोक नष्ट हो जाता है, उसी तरह परलोक में पुण्य से प्राप्त किये गये लोक भी नष्ट हो जाते हैं। जो लोग इस लोक में आत्मा को तथा इन सभी सत्य कामनाओं को भली-भाँति जाने बिना ही दूसरे लोक को गमन कर जाते हैं, उनकी सभी लोकों में इच्छानुसार गति नहीं होती। जो इस लोक में आत्मा को तथा सत्य युक्त कामनाओं को भली-भाँति जानकर दूसरे लोक को गमन करते हैं, उनकी सभी लोकों में इच्छानुसार गति होती है ॥ ६ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ १ ॥

वह यदि (शरीर के परित्याग करने पर) पितृलोक की कामना वाला होता है, तो उसके द्वारा किये गये संकल्प से ही पितृगण वहाँ उपस्थित होते हैं। पितृलोक से सम्पन्न होकर वह महिमा का वर्णन करता है ॥ १ ॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ २ ॥

और यदि वह मातृलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी दृढ़ इच्छा शक्ति से ही माताएँ उपस्थित हो जाती हैं। मातृलोकों के सम्बन्ध से ही वह महिमा का अनुभव करता है ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ३ ॥

और यदि वह भ्रातृलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी प्रचण्ड संकल्प शक्ति से ही समस्त भ्रातृ-समुदाय वहाँ उपस्थित हो जाता है। उस भ्रातृलोक से सम्पन्न होकर वह महान् महिमा को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ४ ॥

और यदि वह भगिनी लोक की कामना करने वाला है, तो उसकी दृढ़ इच्छा शक्ति से ही बहिनें वहाँ आ जाती हैं। उस भगिनी लोक से युक्त होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ५ ॥

और यदि वह मित्रों के लोक की कामना करने वाला हो, तो उसके दृढ़ संकल्प बल से ही मित्रगण वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। उन मित्रगणों के लोक से सम्पन्न होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ६ ॥

और यदि वह गन्धमाल्य लोक की कामना वाला होता है, तो उसके संकल्प बल से ही गन्धमाल्यादि वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। उस गन्धमाल्य लोक से सम्पन्न होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ६॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते॥ ७॥

और यदि वह अन्न-जल से सम्बन्धित लोक की इच्छा करने वाला होता है, तो उसके संकल्प से ही अन्न-जल प्राप्त हो जाता है। उस अन्न-जल लोक के सम्बन्ध से ऐश्वर्य का अनुभव करता है॥ ७॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते॥ ८॥

और यदि वह गीत-वाद्य आदि से सम्बन्धित लोक की कामना करने वाला होता है, तो उसके द्वारा किये हुए संकल्प से ही गीत-वाद्य आदि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। गीत-वाद्य आदि लोक से युक्त वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ८॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते॥ ९॥

और यदि वह स्त्रीलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी दृढ़ संकल्प शक्ति से ही समस्त स्त्रियाँ वहाँ उसके पास एकत्रित हो जाती हैं। उस स्त्रियों के लोक से युक्त वह वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ९॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते॥ १०॥

वह जिस-जिस क्षेत्र या प्रदेश की कामना करता है तथा साथ ही जिस भोग-प्राप्ति की इच्छा करता है, वह सभी कुछ उसके संकल्प मात्र से उसे प्राप्त हो जाता है। उन सभी से युक्त वह महान् महिमा अथवा वृद्धि को प्राप्त होता है॥ १०॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाᳪं सत्यानाᳪं सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १॥

वे ये सत्यकाम होते हुए भी अनृत (मिथ्या आदि) तृष्णा से आवृत रहते हैं। सत्य होने पर भी अनृत से वे आच्छादित हैं, क्योंकि मनुष्य के जो -जो सम्बन्धी यहाँ से शरीर का परित्याग करके जाते हैं, उन्हें वह पुनः देखने के लिए प्राप्त नहीं कर पाता॥ १॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥ २॥

इसके पश्चात् मनुष्य अपने जीवित या मृत (पुत्रादि) परिजनों को तथा अन्य वांछित पदार्थों को चाहते हुए भी नहीं प्राप्त कर पाता। उन सभी को यह मनुष्य हृदयरूपी आकाश में स्थित ब्रह्म को जानकर प्राप्त कर

लेता है; क्योंकि यहाँ से सत्यकाम मिथ्या से आच्छादित रहते हैं। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण है कि जिस प्रकार भूमि में गड़े हुए स्वर्ण के कोष को अनभिज्ञ व्यक्ति उसके ऊपर विचरण करते हुए भी नहीं जानते, ठीक इसी तरह यह समस्त प्रजा नित्य प्रति ब्रह्मलोक को गमन करती हुई, उसे नहीं प्राप्त कर पाती, क्योंकि यह अनृत (मिथ्या) के माध्यम से हरण कर ली गई है॥ २॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳ हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥ ३॥

वह आत्मा हृदय में ही स्थित है। 'हृदय' का अर्थ 'हृदि अयम्' अर्थात् यह हृदय में है। यही इसकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) है। इस तरह से जो व्यक्ति आत्मतत्त्व को हृदय में जानता है, वह प्रतिदिन स्वर्गलोक में ही गमन करता है॥ ३॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥ ४॥

यह जो सम्प्रसाद अर्थात् निर्मलता को प्राप्त आत्मा है, वह इस शरीर का परित्याग करके उत्कृष्ट अवस्था (परम ज्योति) को प्राप्त करते हुए अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही आत्मा है। यही अमृत और अभय है। यही ब्रह्म है। इस प्रकार आचार्य ने अपने शिष्यों से कहा– उस ब्रह्म का नाम ही सत्य है॥ ४॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥ ५॥

उस ब्रह्म के तीन नामाक्षर 'सकार' 'तकार' और 'यम्' हैं। इनमें 'सकार' अमृत है, 'तकार' मर्त्य है और 'यम्' दोनों का नियामक है। चूँकि इसी से वह दोनों का नियमन करता है। अतः 'यम्' को जो भी व्यक्ति इस तरह से जानता है, वह स्वर्गलोकगामी होता है॥ ५॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतꣳ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतꣳ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः॥

पृथ्वी आदि लोकों को महाविनाश से बचाये रखने के लिए यह आत्मा सेतु का कार्य करता है। इस आत्मा रूप सेतु का दिन-रात उल्लंघन नहीं कर सकते। इसे जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत और दुष्कृत भी प्रभावित नहीं करते। समस्त पाप इससे दूर हट जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापरहित है॥ १॥

तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः॥ २॥

इसी कारण से इस सेतु रूप आत्मा को प्राप्त करके मनुष्य अन्धा होने पर भी सब कुछ देखता (जानता) रहता है। इसी तरह शोकग्रस्त होने पर भी (वह) शोक मुक्त हो जाता है। रोगग्रस्त होते हुए भी वह निरोगी होता है। इसी कारण से आत्मारूपी सेतु को पार करने के उपरान्त अन्धकाररूपी रात्रि भी प्रकाशरूपी दिन में परिणत हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सदैव प्रकाश स्वरूप ही है॥ २॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥ ३॥

इस प्रकार से जो मनुष्य ब्रह्मचर्य के माध्यम से इस ब्रह्मलोक को भली-भाँति समझ लेते हैं। उन लोगों को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उन्हीं की सम्पूर्ण लोकों में इच्छानुसार गति हो जाती है॥ ३॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते॥ १॥

इस प्रकार जिसको 'यज्ञ' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषार्थ का साधन कहते हैं, वही ब्रह्मचर्य है, क्योंकि जो ज्ञाता है, ब्रह्मचर्य के माध्यम से उस ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचर्य को 'इष्ट' भी कहा गया है। वह (इष्ट) भी ब्रह्मचर्य है; क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा ही पूजित हुआ मनुष्य इच्छानुसार आत्मा को प्राप्त होता है॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते॥ २॥

जिसे 'सत्त्रायण' शब्द से जाना जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि यज्ञ और इष्ट की भाँति ब्रह्मचर्यरूप साधन द्वारा भी मनुष्य सत्‌रूप परमात्मा से अपनी रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त जिसको मौन कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आत्मा को जानकर मनुष्य मनन करता है॥ २॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणा-नुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयꣳ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम्॥ ३॥

तत्पश्चात् जिसे 'अनाशकायन' (कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत या नष्ट न होना) कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य है, क्योंकि जिसे (साधक को) ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त होता है, ऐसा यह आत्मा विनाश को नहीं प्राप्त होता। जिसको 'अरण्यायन' (वनवास) कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मलोक में 'अर' एवं 'ण्य' नामक दो समुद्र हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से तृतीय द्युलोक में 'ऐरंमदीय' (हर्षोत्पादक) नाम वाला सरोवर विद्यमान है। वही सोमसवन नामक अश्वत्थ (अमृत स्रावि वृक्ष) है, वहाँ पर ब्रह्मा की अपराजिता नाम की पुरी है तथा वहाँ ही प्रभु के द्वारा विशेष रूप से रचित स्वर्ण के समान मण्डप विद्यमान है॥ ३॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥ ४॥

वहाँ उस ब्रह्मलोक में जो भी मनुष्य ब्रह्मचर्य के माध्यम से 'अर' तथा 'ण्य' नामक दोनों समुद्रों को प्राप्त करते हैं, उन्हीं को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उन मनुष्यों की समस्त लोकों में इच्छानुसार गति हो जाती है॥ ४॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः॥ १॥

जो (कमलाकार वाले) हृदय से सम्बन्धित नाड़ियाँ हैं, ये सब पिंगल नामक एक वर्ण विशेष से युक्त सूक्ष्म रस से सम्पन्न हैं। ये (सभी) शुक्ल, नीली, पीली और लोहित रस से युक्त हैं, क्योंकि यह आदित्य पिङ्गल वर्ण का है। यही आदित्य शुक्ल है तथा यही नील वर्ण का है। यही पीला है और यही लोहित वर्ण भी है॥ १॥

[इसी उपनिषद् में अध्याय ३ के खण्ड १ से ५ तक आदित्य के विभिन्न वर्णों, पक्षों तथा उससे सम्बद्ध अमृत प्रवाहों का वर्णन किया गया है। यहाँ उस वर्णन की संगति बैठती है। स्पष्ट है कि यह आदित्य सूर्य से भिन्न कोई सर्वत्र संचरित स्व प्रकाशित आत्मतत्त्व सदृश ही कुछ है।]

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः॥ २॥

प्रस्तुत विषय में यह उल्लेख है- जिस तरह से कोई विशाल महापथ इस (समीप) एवं उस (दूर) दोनों ग्रामों को पहुँच जाता है, ठीक उसी प्रकार से सूर्य की ये समस्त किरणें इस (मनुष्य) में और उस (आदित्य मण्डल) में (दोनों लोकों में) प्रवेश करती हैं। वे (रश्मियाँ) सदैव इस आदित्य से ही निःसृत होकर समस्त नाड़ियों में व्याप्त हो जाती हैं और जो इन नाड़ियों से निःसृत होती हैं, वे सभी इस आदित्य में व्याप्त हो जाती हैं॥ २॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति॥ ३॥

इस प्रकार जब सुप्तावस्था में अच्छी तरह से तल्लीन हुआ व्यक्ति प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता, उस समय यह इन नाड़ियों में गमन कर जाता है, ऐसी स्थिति में इसे अन्य कोई पाप स्पर्श नहीं करता। यह (व्यक्ति) तेज से सम्पन्न हो जाता है॥ ३॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति॥ ४॥

जिस समय यह मनुष्य शरीर से बलरहित होता है, उस समय उसके चारों ओर बैठे हुए समस्त स्वजन सम्बन्धी कहते हैं- क्या तुम मुझे पहचानते हो? क्या तुम मुझे पहचानते हो? वह जब तक शरीर से बाहर उत्क्रमण नहीं करता, तब तक उन (सम्बन्धियों) को पहचानता रहता है॥ ४॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्॥

तत्पश्चात् जब वह जीव शरीर से बाहर निकलता है, तब इन रश्मियों से ही ऊर्ध्व की ओर गमन करता है। वह 'ॐ' इस प्रकार कहकर आत्मा का ध्यान करता हुआ ऊर्ध्व अथवा अधोलोक की ओर गमन करता है। वह (जीवात्मा) आदित्य नामक लोक में उतनी ही देर में पहुँच जाता है, जितनी देर में मन गमन करता है। निश्चित ही यह आदित्य ही समस्त लोकों का द्वार है। यह साधक मनीषियों के लिए ब्रह्मलोक की प्राप्ति का द्वार और अज्ञानियों को रोकने वाला है॥ ५॥

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ ६॥

इस सम्बन्ध में एक मन्त्र उल्लिखित है- हृदय में एक सौ एक नाड़ियों का समावेश है। उन नाड़ियों

में से एक नाड़ी 'सुषुम्ना' मूर्धा (मस्तिष्क) की ओर निकल गई है। उस (सुषुम्ना) के द्वारा ऊर्ध्व की ओर गमन करने वाला जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है। शेष अन्य यत्र-तत्र गमन करने वाली नाड़ियाँ केवल उत्क्रमण अर्थात् बाहर निकलने की हेतुभूता, (सुषुम्ना के अतिरिक्त उन सभी नाड़ियों से ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति नहीं होती है) ॥ ६ ॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच॥ १ ॥

(अब आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका का वर्णन करते हैं। प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा-) जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्यु से रहित, विशोक (शोक रहित), क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प से युक्त है, उसे खोजना चाहिए, विशेष रूप से जानने का प्रयास करना चाहिए। जो उस आत्मा की अनुभूति प्राप्त करता है, वह सभी लोकों तथा समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है॥ १ ॥

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

(प्रजापति ब्रह्मा जी के इस व्याख्यान को) देव और असुर दोनों ने (कर्ण परम्परा से) जाना। उन्होंने कहा कि उस आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए। जिसके जानने से सभी लोकों और भोगों को प्राप्त किया जाता है। ऐसा सोचकर देवों के राजा इन्द्र और दैत्यों के राजा विरोचन दोनों आपस में सद्भाव न रखते हुए, (भी)हाथों में समिधाएँ लेकर (समित्पाणि होकर) प्रजापति के पास पहुँचे॥ २ ॥

तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ता-ववास्तमिति। तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावास्तमिति॥

वे दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रजापति के पास ३२ वर्ष तक रहे। तत्पश्चात् प्रजापति ने उनसे कहा- आप सभी ने किस उद्देश्य विशेष की पूर्ति हेतु यहाँ वासस्थल बनाया है। उन दोनों ने कहा- जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोक रहित, क्षुधा रहित, तृषारहित, सत्यकाम तथा सत्य संकल्प से युक्त है, वही जानने एवं अनुभव करने योग्य है, जो उस आत्मा को जानता एवं अनुभव करता है, वह समस्त लोकों और भोगों को प्राप्त करता है। आपके इस तरह के उपदेश को सभी श्रेष्ठ लोग कहते हैं। हम सभी (देव एवं असुरगणों) ने उसी श्रेष्ठ आत्मा को जानने के लिए यहाँ वास किया है॥ ३ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतम-भयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच॥ ४॥

प्रजापति ने कहा- आँख के अन्दर पुरुष के रूप में जो दृष्टिगोचर होता है, यही आत्मा है और यही अभय एवं ब्रह्मरूप है। उन्होंने प्रतिच्छाया को ही आत्मा समझकर प्रश्न किया कि - हे भगवन्! यह जो जल एवं दर्पण में सब ओर दृष्टिगोचर होता है, उसके अन्तर्गत आत्मा कौन सा है ? तब प्रजापति ने बताया- हमने चक्षुओं के अन्दर जो द्रष्टा कहा है, वही इन सभी में दिखाई पड़ता है॥ ४॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथेति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

प्रजापति ने उन दोनों से कहा कि जल से परिपूर्ण पात्र में स्वयं अपने को देखकर तुम आत्मा के सन्दर्भ में जो भी कुछ न जान सको, वह मुझसे कहो। इस प्रकार उन दोनों ने जल से पूर्ण पात्र में दृष्टिपात किया। उन दोनों से प्रजापति ने कहा- तुम क्या देखते हो ? तब उन्होंने कहा- भगवन्! हम अपने शरीर के रोम (केश) से लेकर नख पर्यन्त प्रतिबिम्ब रूप में इस आत्मा को देखते हैं॥ १॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

प्रजापति ने उन दोनों से कहा- तुम सुन्दर आभूषण एवं वस्त्रों से समलंकृत होकर तथा सम्पूर्ण शरीर को परिष्कृत करने के पश्चात् जल के अन्दर देखो। उन दोनों ने प्रजापति के कथनानुसार ही समस्त अलंकरणों एवं शुभ्र वस्त्रों को धारण कर और परिष्कृत होकर जल पात्र में देखा। तभी प्रजापति ने पुनः प्रश्न किया कि तुम दोनों क्या देख रहे हो ?॥ २॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

उन दोनों (इन्द्र और विरोचन) ने प्रजापति से कहा- हे भगवन्! जिस तरह हम दोनों उत्तम अलकारों एवं शुभ्र परिधानों से युक्त एवं परिष्कृत हैं, वैसे ही ये दोनों जल के मध्य में दिखाई पड़ने वाले प्रतिबिम्ब भी उत्तम आभूषणों एवं शुभ्र वस्त्रों से युक्त एवं परिष्कृत हैं। तदनन्तर प्रजापति ने कहा- यही आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है। तत्पश्चात् वे दोनों शान्त चित्त होकर चले गये॥ ३॥

[वे दोनों प्रजापति के कथन के मर्म को समझ न सके तथा विम्ब में दृश्यमान स्थूल काया को ही आत्मा के रूप में समझकर लौट पड़े। प्रजापति उनके अज्ञान को समझ गये।]

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमनुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥ ४॥

प्रजापति ने उन दोनों को (दूर जाता हुआ) देखकर कहा- ये दोनों (इन्द्र एवं विरोचन) आत्मा को

प्राप्त किये बिना अर्थात् उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं। देव हों अथवा असुर जो भी आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा सोचने वाले होंगे, उनका पतन अवश्य होगा। उस विरोचन ने शान्त भाव से असुरों के सम्मुख जाकर प्रजापति के द्वारा बतायी हुई आत्म विद्या को कह सुनाया। उसने कहा- इस लोक में यह (देह ही) आत्मा है तथा आत्मा ही सेवा के योग्य है। आत्मा की सेवा एवं परिचर्या करने वाला पुरुष इहलोक एवं परलोक दोनों को प्राप्त कर लेता है॥ ४॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाᳬ ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सᳬस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५॥

यही कारण है कि संसार में जो (व्यक्ति) दान नहीं देता, श्रद्धा नहीं रखता और न ही यजन करता है, उसे श्रेष्ठ जन इस प्रकार कहते हैं- अरे यह तो आसुरी वृत्ति वाला है। यह उपनिषद् (विद्या) असुरों की ही है। वे ही मृत व्यक्ति के शरीर को (गन्ध-पुष्प-अन्न आदि) भिक्षा, वस्त्र एवं आभूषणों से विभूषित करते हैं। इसके द्वारा ही हम स्वर्गलोक को प्राप्त करेंगे-ऐसा मानते हैं॥ ५॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १॥

जब तक इन्द्रदेव देवों के पास पहुँचें, इससे पूर्व उन्हें (यथार्थ बोध से) यह भय प्रकट हुआ कि जिस प्रकार इस शरीर के अलंकृत किये जाने पर इसका प्रतिबिम्ब भी अलंकृत होता है, वस्त्रों से सुसज्जित होने पर वह भी सज्जित होता है और परिष्कृत किये जाने पर वह भी परिष्कृत होता है, उसी प्रकार इस शरीर के अन्धे हो जाने पर प्रतिबिम्ब शरीर भी अन्धा हो जाता है, स्राम (विकार स्रवित करने वाला) होने पर स्राम हो जाता है, अपङ्ग होने पर अपङ्ग हो जाता है तथा इस शरीर के नष्ट होने पर वह भी विनष्ट हो जाता है, अतः इस प्रतिबिम्ब शरीर में मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता॥ १॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तᳬ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायम-स्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २॥

तब इन्द्रदेव पुनः समिधा हाथ में लेकर प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। उनसे प्रजापति ने पूछा- हे इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ हृदय से सन्तुष्ट हो गये थे, अब फिर किस इच्छा से लौटे हो? उन्होंने कहा- भगवन्! जिस प्रकार इस शरीर के अलंकृत होने पर इसका प्रतिबिम्ब भी अलंकृत होता है। सुन्दर वस्त्रों से सज्जित किये जाने पर वह भी सज्जित होता है। स्वच्छ किये जाने पर वह भी स्वच्छ होता है, उसी प्रकार इसके अंधे होने पर वह भी अन्धा होता है, स्राम होने पर स्राम हो जाता है, अपङ्ग होने पर अपङ्ग हो जाता है तथा इस शरीर के नष्ट होने पर वह भी विनष्ट हो जाता है, अतएव मुझे इसमें कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता॥ २॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३॥

देव प्रजापति ने इन्द्रदेव से कहा- हे इन्द्र! यह यथार्थ तथ्य ऐसा ही है, मैं तुम्हारे लिए इसकी व्याख्या आगे करूँगा। अब तुम बत्तीस वर्ष यहाँ और वास करो। तब इन्द्रदेव ने वहाँ बत्तीस वर्ष व्यतीत किये। फिर प्रजापति ने उन्हें उपदेश दिया॥ ३॥

॥ दशमः खण्डः ॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदꣳ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति॥ १॥

'जो स्वप्न में भी विचरणशील तत्त्व है, जो अत्यन्त पूज्यमान आत्मा है, वही अविनाशी, अभय और ब्रह्म है।' इन वचनों से संतुष्ट होकर शान्त हृदय से इन्द्रदेव चले गये; परन्तु देवों तक पहुँचने के पूर्व उनमें (यथार्थ बोध से) भय व्याप्त हुआ। यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है, परन्तु वह स्वप्न शरीर (अन्तर्मन) अनन्ध होता है और यह स्राम होता है, तो वह अस्राम रहता है। शरीर के दोषों से वह दोष मुक्त रहता है॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ २॥

वह इस देह के वध से विनष्ट भी नहीं होता और वह इसकी स्रामता से स्राम भी नहीं होता; किन्तु स्वप्न में भी ऐसा भान होता है कि कोई उसे मार रहा है, तिरस्कृत कर रहा है अथवा वह शोक कर रहा है अथवा वह रो रहा है, अतएव इसमें मुझे भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति॥ ३॥

वे (इन्द्रदेव) पुनः देव प्रजापति के पास हाथ में समिधा लेकर आये। देव प्रजापति ने उनसे कहा- हे इन्द्र! तुम तो यहाँ से सन्तुष्ट होकर शान्त हृदय से गये थे, फिर किस इच्छा से लौटे हो? उन्होंने कहा- भगवन्! यद्यपि यह शरीर अंधा होता है, तो भी वह (स्वप्न में विचरणशील अन्तर्मन) अनन्ध रहता है और यह स्राम होता है, तो भी वह अस्राम रहता है। इस प्रकार वह शरीर के दोषों से दोषमुक्त ही रहता है॥३॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैन्नं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ४॥

इसके वध से उसका वध नहीं होता है और इसकी स्रामता से वह स्राम नहीं होता; परन्तु ऐसा अनुभव होता है कि कोई उसे मारता है, तिरस्कृत करता है, वह शोक करता है अथवा रोदन करता है।

इसमें मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) दिखाई नहीं पड़ता। तब देव प्रजापति ने इन्द्रदेव से कहा- हे इन्द्र! यह तथ्य ऐसा ही है। इस आत्मतत्त्व की व्याख्या मैं आगे करूँगा, अभी तुम बत्तीस वर्ष और यहाँ वास करो। तब इन्द्रदेव ने वहाँ बत्तीस वर्ष व्यतीत किया। फिर देव प्रजापति ने उन्हें उपदेश दिया॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतम-भयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ १॥

'जब वह प्रसुप्त अवस्था में सम्पूर्ण रूप से आनन्दित और शान्त रहता है और स्वप्न का अनुभव भी नहीं करता, वही आत्मा है। वही अनश्वर, अभय और ब्रह्म है'। इन वचनों को सुनकर इन्द्रदेव सन्तुष्ट होकर शान्त हृदय से चले गये, किन्तु देवों तक पहुँचने के पूर्व उनमें फिर (यथार्थ बोध से) भय प्रकट हुआ। उस अवस्था में तो उसे निश्चय ही यह बोध नहीं रहता कि यह मैं हूँ और न वह अन्य प्राणियों को जानता है, उस अवस्था में तो वह विनाश जैसी स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता॥ १॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्यय-महमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ २॥

(इस प्रकार विचार करते हुए) देवराज इन्द्र पुनः प्रजापति के पास हाथ में समिधा लेकर पहुँचे। उन्हें देखकर प्रजापति ने पूछा- हे इन्द्र! तुम तो स्थिर चित्त होकर चले गये थे, अब पुनः हमारे पास किस इच्छा से आये हो? इन्द्र ने कहा- 'हे भगवन्!' इस स्थिति में तो निश्चय ही इसे यह भी आभास नहीं होता कि स्वयं ही यह मैं हूँ। न यह इन अन्य दूसरे भूतों (प्राणियों) को जानता है। यह निश्चय ही विनष्ट सा हो जाता है। इसमें मुझे इष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता॥ २॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मा-द्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतꣳ संपेदुरेतत्तद्य-दाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच॥ ३॥

प्रजापति ने पुनः उपदेश देते हुए इन्द्र से कहा- हे इन्द्र! 'यह बात ऐसी ही है'। अब मैं तुम्हें पुनः समझाऊँगा। अभी तुम पाँच साल तक यहीं पर और ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करो। तदनन्तर देवराज इन्द्र ने पाँच साल तक निवास किया। यह सभी वर्ष मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये। इसी से कहते हैं कि इन्द्र ने प्रजापति के यहाँ एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया तत्पश्चात् प्रजापति ने कहा॥ ३॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳशरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

हे इन्द्र! यह शरीर मरणधर्मा एवं सदैव मृत्यु से आच्छादित है। अविनाशी एवं अशरीरी आत्मा का यह (शरीर) वास स्थल है। सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय एवं अप्रिय से घिरा हुआ है, शरीर युक्त होते हुए इसके प्रिय व अप्रिय का विनाश नहीं होता। साथ ही अशरीर (शरीररहित) होने पर प्रिय और अप्रिय इसका स्पर्श रञ्च मात्र भी नहीं कर सकते॥ १ ॥

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

वायु शरीर से रहित है, अभ्र (बादल), विद्युत् और मेघ की गर्जना भी अशरीरी है। जिस तरह ये सभी उस आकाश से ऊपर उठकर सूर्य (सविता) की परम ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में परिणत हो जाते हैं॥ २ ॥

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्नममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वाज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥

उसी तरह यह सम्प्रसाद (जीव) आकाश से वायु आदि की भाँति इस शरीर से ऊर्ध्व की ओर उठकर परम ज्योति को पाकर अपने आत्मस्वरूप में केन्द्रित हो जाता है। वह ही उत्तम पुरुष है, ऐसी अवस्था में वह (जीव) हँसता, क्रीड़ा करता और स्त्री, यान अथवा ज्ञातिजनों (बन्धुओं) के साथ रमण करता हुआ अपने साथ प्रकट हुए इस शरीर को स्मरण न करता हुआ, सभी ओर संचरित होता है। जैसे अश्व अथवा वृषभ गाड़ी में जुता रहता है , ठीक वैसे ही यह प्राण रथ स्थानीय शरीर में जुता हुआ है॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

जहाँ जाग्रत् अवस्था में वह चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश रूप में अनुगत है, वह ही चाक्षुष अर्थात् चक्षु में रहने वाला पुरुष है। उसके ज्ञान के साधन नेत्र हैं। जो यह अनुभव करता है कि मैं इसे सूँघूँ यानी ग्रहण करूँ; वही आत्मा है। उसके गन्ध ग्रहण के लिए नासिका है तथा जो जानता है कि मैं यह शब्द उच्चारण करूँ, वह ही आत्मा है। उसके वाक्योच्चारण के लिए वाणी है और जो यह समझता है कि मैं यह श्रवण करूँ, वह भी आत्मा ही है और उसके सुनने के साधन स्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय है॥ ४ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

और जो यह अनुभव करता है कि मैं मनन करूँ, वही आत्मा है। मन ही उसका दिव्य चक्षु है। वह यह आत्मा इस दिव्य नेत्र द्वारा भोगों का दर्शन करता हुआ रमण करता है॥ ५॥

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच॥ ६॥

और जो यह सभी प्रकार के भोग इस ब्रह्मलोक में विद्यमान हैं। उन्हें वह देखता हुआ रमण करता है। उस महान् आत्मा की देवगण उपासना करते हैं। इसी कारण से उन्हें समस्त लोक और सभी तरह के भोग प्राप्त हैं। जो भी उस आत्मा को शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार समझकर प्रत्यक्ष रूप से समझता है, वह सभी लोक और सभी तरह के भोगों को पा जाता है, ऐसा प्रजापति ने कहा॥ ६॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति॥

मैं शरीर के नष्ट होने के पश्चात् श्याम (हृदय कमल में स्थित) ब्रह्म से शबल (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करूँ। साथ ही शबल ब्रह्मलोक से श्याम को प्राप्त करूँ। जिस तरह अश्व अपने रोमों को झाड़कर स्वच्छ एवं मलरहित हो जाता है, उसी प्रकार मैं पापों से निवृत्त होकर राहु के मुख से प्रकट हुए चन्द्रमा की भाँति शरीर का परित्याग कर कृतकृत्य होता हूँ। इस प्रकार मैं अकृत ब्रह्म को प्राप्त करता हूँ, ब्रह्मलोक को प्राप्त करता हूँ॥ १॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कꣳ श्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम्॥ १॥

'आकाश' इस नाम से श्रुतियों में प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। वे (नाम एवं रूप) जिस (ब्रह्म) के अन्तर्गत हैं, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है और वही अमृत है। मैं प्रजापति के सभागृह को प्राप्त करता हूँ, यश रूप आत्मा हूँ, मैं ही ब्राह्मणों के यश, क्षत्रियों के यश एवं वैश्यों के यश को प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं यशों का भी यश हूँ। मैं दन्तरहित होने पर भी 'अदत्क' अर्थात् बिना दाँतों के ही भक्षण करने वाले लालवर्ण युक्त श्वेत बिन्दु (पिच्छिल स्त्री चिह्न) को प्राप्त न करूँ अर्थात् स्त्री गर्भ में गमन न करूँ॥ १॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

इस श्रेष्ठ आत्मज्ञान का वर्णन ब्रह्माजी ने प्रजापति से किया, प्रजापति ने मनु से तथा मनु ने समस्त प्रजा वर्ग को सुनाया। जो गुरु के प्रति अपने कर्त्तव्यों को नियमानुसार पूर्ण करके वेदों के ज्ञान को प्राप्त कर आचार्य के घर (गुरुकुल) से विदा होकर अपने स्वजन सम्बन्धियों के साथ पवित्र स्थल में स्वाध्याय करता है। जो अपने पुत्रों व शिष्यों को धर्म पथ पर आरूढ़ कर समस्त इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में स्थिर कर लेता है तथा जो शास्त्रानुसार भूतों की हिंसा नहीं करता। वह निश्चित ही जीवन पर्यन्त श्रेष्ठ आचरण करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, तत्पश्चात् वापस नहीं लौटता, वापस नहीं आता (आवागमन से मुक्त हो जाता है।) ॥ १ ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि.......इति शान्तिः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है। आरण्यक के १० अध्यायों में से क्रमशः सातवें, आठवें एवं नौवें अध्यायों को ही उपनिषदीय मान्यता मिली है। इसमें तीन वल्लियाँ (शीक्षा वल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली) हैं।

शीक्षावल्ली के प्रारम्भ में अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म नामक पाँच महासंहिताओं का वर्णन है तथा उनकी फलश्रुति भी दी गयी है। साधना क्रम में ॐकार तथा भूः भुवः स्वः महः आदि व्याहृतियों के महत्त्व का उल्लेख है। अन्त में अध्ययन एवं अध्यापन करने के लिए सदाचार परक मर्यादा सूत्रों का उल्लेख करके विचार के साथ आचार की महत्ता का बोध कराया गया है।

ब्रह्मानन्दवल्ली में हृदयगुहा में स्थित परमेश्वर को जानने का महत्त्व समझाते हुए उसके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कलेवरों का विवेचन है। आनन्द की मीमांसा में लौकिक आनन्द से लेकर उसके उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्वरूपों के वर्णन के साथ ब्रह्मानन्द तक की समीक्षा की गयी है। परमात्मा के आनन्द स्वरूप को समझने वालों की स्थिति का भी वर्णन है।

भृगुवल्ली में भृगु की ब्रह्मपरक जिज्ञासा का समाधान उनके पिता वरुण ने किया है। तत्त्वज्ञान को समझाकर उन्हें तपश्चर्या द्वारा स्वयं अनुभव करने का निर्देश दिया गया है। उन्होंने क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान एवं आनन्द को ब्रह्म रूप में अनुभव किया। तब वरुण ने उन्हें अन्नादि का दुरुपयोग न करके उसके सुनियोजन का विज्ञान समझाया। अन्त में भगवद्भाव प्राप्त साधक की स्थिति तथा उसके समतायुक्त उद्गारों का उल्लेख है।

॥ शान्ति-पाठः ॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ अथ शीक्षावल्ली ॥

॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ १॥

मित्र देवता हमारे लिए कल्याणकारी हों। वरुणदेव हमारे लिए सुखप्रद हों। अर्यमादेव कल्याणकारी हों। इन्द्र तथा बृहस्पतिदेव सुखदायक हों। जिनके डग बहुत विशाल हैं, वे विष्णुदेव हमारे लिए शान्तिप्रद हों। ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायो! आपको नमस्कार हो, क्योंकि आप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहते हैं। सत्य और ऋत भी आपको कहते हैं। वह (ब्रह्म) हमारी रक्षा करे। हमारे आचार्य की रक्षा करे। हमारी तथा हमारे आचार्य दोनों की रक्षा करे। त्रिविध तापों से सर्वत्र शान्ति ॥ १ ॥

[इस मन्त्र में वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है, क्योंकि प्राण प्रवाह वायु के साथ संचरित होता है। ब्रह्म में सभी समाये हुए हैं और ब्रह्म सभी प्राणियों के जीवन रूप में संचरित है। इस सत्य के अनुरूप यह प्राणरूप-वायुमय परमात्म तत्त्व प्रत्यक्ष रूप में अनुभव गम्य है। सम्भवतः इसीलिए ऋषि ने वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है।]

॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः॥ १॥

हम शिक्षा =(शीक्षा)की व्याख्या करते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्धि - ये सब शिक्षा की सार वस्तुएँ हैं। इस प्रकार इसे शिक्षा अध्याय कहा गया है॥ १॥

[वर्ण = अ, आ, आदि, स्वर = उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि वैदिक स्वर, मात्रा= ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्रा, बल = वर्णोच्चारण में लगने वाली प्राणशक्ति, साम=मध्यम वृत्ति से उच्चारण करने की विधि तथा सन्तान=शब्दों की मिलन प्रक्रिया (सन्धि) है। शिक्षा का शीक्षा रूप वैदिक प्रयोग है।]

॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः॥ पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः॥ १॥ वायुःसंधानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्। अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्॥२॥ अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनꣳ संधानम्। इत्यधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननꣳ संधानम्। इत्यधिप्रजम्॥ ३॥

हम दोनों (शिष्य और आचार्य) का यश साथ-साथ बढ़े, हम दोनों का ब्रह्मतेज भी साथ-साथ बढ़े। अब हम पाँच अधिकरणों में संहिता की-उपनिषद् की व्याख्या करते हैं। ये पाँच अधिकरण - अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म हैं। विद्वज्जन उन्हें महासंहिता कहते हैं। अब लोक सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। इसका पूर्वरूप पृथ्वी है। उत्तररूप द्युलोक है। पृथिवी और द्यु के बीच का अन्तरिक्ष इसका संधि रूप है। वायु संधान (संयोजक) रूप है। यह लोक संबन्धी संहिता है। अब ज्योति सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। (पृथ्वी स्थित) अग्नि पूर्व रूप है। (द्युलोक स्थित) आदित्य - सूर्य उत्तर रूप है, जल इन दोनों का संधि रूप है। (अन्तरिक्ष स्थित) विद्युत् इस संधि स्थान में संयोजक है। यह ज्योति सम्बन्धी संहिता है। अब विद्या सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। गुरु इसका पूर्व रूप है। शिष्य उत्तररूप है और विद्या संधि रूप है। प्रवचन संधि में संयोजक है। यह विद्या सम्बन्धी संहिता है। अब संतति (प्रजा) सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। माता पूर्व रूप है। पिता उत्तर रूप है। सन्तान संधि रूप है। प्रजनन कर्म संयोजक है। यह संतति सम्बन्धी संहिता है॥ १-३॥

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्। इतीमा महासꣳहिताः। य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन॥ ४॥

अब आत्मा (शरीर) सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। नीचे का जबड़ा पूर्व रूप है। ऊपर का जबड़ा उत्तर रूप है। वाणी सन्धि रूप है। जिह्वा इसमें संयोजक है। यह आत्मा सम्बन्धी संहिता है। इस प्रकार ये पाँच संहिताएँ कही गयी हैं। जो पुरुष इन महासंहिताओं के सार तत्त्व को जान लेता है, वह प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस, अन्नादि भोग्य पदार्थ और स्वर्ग लोक आदि से सम्पन्न हो जाता है॥ ४॥

[सामान्य रूप से संहिता, वर्णों के संयोजित समूह को कहते हैं। आचरण सूत्रों के संयोजित समूह को आचरण संहिता कहते हैं। इसी प्रकार जब विराट् इकाइयों लोक, ज्योति आदि के संयोजित समूहों का उल्लेख होता है, तो उन्हें 'महासंहिता' कहते हैं। वर्णों की संधि के चार भाग होते हैं :- पूर्व (पहले वाला), पर या उत्तर (बाद वाला), संधि (दोनों का संयुक्त रूप) तथा संधान (संयोजक नियम)। महासंधियों के वर्णन में भी ऋषि ने इन चारों भागों का उल्लेख किया है।]

॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥ १॥

जो वेदों में सर्वश्रेष्ठ है, सर्वरूप हैं। जिनका वेदों से विशेष रूप से प्राकट्य हुआ है, वे इन्द्रदेव (परमेश्वर) मुझे मेधा सम्पन्न बनाएँ। हे देव! मैं अमृत स्वरूप परमात्मा को धारण करने वाला बनूँ। मेरा शरीर स्फूर्तियुक्त हो। मेरी जिह्वा मधुर-भाषिणी हो। मेरे कान शुभ श्रवण करने वाले हों। आप मेधा से युक्त ब्रह्म की निधि के समान हैं। मेरे द्वारा सुनी गयी वाणियाँ विस्मृत न हों (रक्षित हों)॥ १॥

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाचीरमात्मनः। वासाꣳसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा॥ २॥

हे देव! हमारे निमित्त उस श्री-सम्पदा को ले आएँ, जो तत्काल ही विविध वस्त्र, गौएँ, अन्नादि पदार्थ प्रदान करने वाली हो तथा रोमयुक्त पशुओं के साथ वैभव की वृद्धि करती हो। यह आहुति इसी निमित्त समर्पित है। ब्रह्मचारीगण हमारे पास आएँ। वे कपट रहित हों, वे प्रामाणिक ज्ञान को धारण करने वाले हों। वे इन्द्रियों का दमन करने वाले हों। वे मन का निग्रह करने वाले हों, इन सबके निमित्त आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं॥ २॥

यशो जनेऽ सानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे। निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथापः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व॥ ३॥

हम सब लोगों में यशस्वी हों। धनवानों में अधिक धनसम्पन्न हों। हे भगवन्! हम आपमें प्रविष्ट हों, आप हममें प्रविष्ट हों, हे सहस्र रूप वाले भगवन्! आपकी उपासना से हम पवित्र हों। इन सबके निमित्त आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं। जैसे जल निम्न स्थानों की ओर प्रवाहित होते हुए समुद्र में पहुँच जाता है और माह, दिनों का क्षय करते हुए संवत्सर में विलीन हो जाते हैं। हे विधातः! उसी प्रकार ब्रह्मचारीगण सब ओर से हमारे पास आएँ, आप हमारे आश्रयस्थल हैं। आप हमें प्रकाशित करें। आप हमें प्राप्त हों॥ ३॥

॥ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति । तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः ॥ १ ॥ मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींꣳषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि॥ २ ॥ मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति॥ ३ ॥

भूः, भुवः, स्वः - ये तीन व्याहृतियाँ हैं। उनसे भिन्न जो चौथी व्याहृति महः है, जिसे सर्वप्रथम महाचमस के पुत्र ने जाना था। वह महः ही ब्रह्म है। वही ब्रह्म की आत्मा है। अन्य देवता उसके अंग हैं। भूः - यह व्याहृति पृथिवी लोक है। भुवः - यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है। स्वः - यह व्याहृति स्वर्गलोक है। महः - आदित्य है। उस आदित्य से ही सम्पूर्ण लोक महिमा को प्राप्त होते हैं। भूः - यह व्याहृति ही अग्नि है। भुवः- यह व्याहृति वायु है। स्वः- यह व्याहृति आदित्य है। महः - यह व्याहृति चन्द्रमा है। चन्द्रमा से ही समस्त ज्योतियाँ महिमा को प्राप्त होती हैं। भूः - यह ऋग्वेद है। भुवः - यह सामवेद है। स्वः- यह यजुर्वेद है। महः- यह ब्रह्म है। ब्रह्म से ही समस्त वेद महिमा को प्राप्त होते हैं। भूः - यह प्राण है। भुवः- यह अपान है। स्वः- यह व्यान है। महः- यह अन्न है। अन्न से ही सभी प्राणों में बल संचार होता है। ये चारों व्याहृतियाँ चार प्रकार की हैं। एक-एक के चार-चार भेद होने से कुल सोलह व्याहृतियाँ होती हैं। इस प्रकार जो जानता है, वह ब्रह्म को जान लेता है। उस पुरुष के लिए सम्पूर्ण देवता अपने अनुदान प्रदान करते हैं॥ १-३ ॥

॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ॥ १ ॥ सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व॥ २ ॥

इस हृदयस्थ आकाश भाग में , वह मनोमय अमृत स्वरूप, प्रकाश स्वरूप परम पुरुष प्रतिष्ठित है। दोनों तालुओं के बीच जो यह स्तन के समान लटक रहा है, (उसके ऊपर) जहाँ केशों का मूल भाग है। शीर्ष कपाल को भेदकर सुषुम्ना नाड़ी जाती है, वह (सहस्रार या ब्रह्मरंध्र) इन्द्र योनि है। निर्वाण काल में साधक भूः स्वरूप अग्नि में प्रतिष्ठित होता है। भुवः स्वरूप वायु में प्रतिष्ठित होता है। स्वः स्वरूप आदित्य

में तथा महः स्वरूप ब्रह्म में अधिष्ठित होता है। (ब्रह्मवेत्ता साधक) अपने राज्य में अधिष्ठित होता है, वह सम्पूर्ण मन का स्वामी, वाणी, नेत्रों, कर्णों और विज्ञान का स्वामी हो जाता है। पूर्वोक्त साधन का यह फल मिलता है। वह ब्रह्म आकाश के सदृश विशाल है। वह सत्यरूप आत्म तत्त्व है, वह प्राणों को विश्राम देने वाला, मन को आनन्द देने वाला, शान्त और अमृत स्वरूप है। वही सर्वथा पुरातन पुरुष उपासना के योग्य है॥ १-२॥

[इन्द्र शासक-संगठक के प्रतीक हैं। मनुष्य शरीर में स्थित देवता स्वरूप प्राण धाराओं को नियमित करने की सामर्थ्य सहस्रार एवं ब्रह्मरन्ध्र में सन्निहित होने से उसे इन्द्र योनि कहा गया है।]

॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

इस अनुवाक में ऋषि ने पाँच-पाँच तत्त्वों की विभिन्न पंक्तियों शृंखलाओं का उल्लेख किया है और उन्हें एक दूसरे का पूरक कहा है-

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माꣳसꣳ स्नावास्थिमज्जा। एतदधि विधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳ स्पृणोतीति॥ १॥

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ तथा अवान्तर दिशाएँ (दिशाओं के बीच के कोण) यह लोकों की पंक्ति है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा समस्त नक्षत्र (यह ज्योति शृंखला में है)। जल, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश तथा आत्मा (यह काया से सम्बद्ध है), यह आधिभौतिक वर्णन हुआ। अब आध्यात्मिक वर्णन करते हैं- प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान (यह प्राण समूह है)। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी तथा त्वचा (यह करणों-इन्द्रियों की पंक्ति है)। चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा (यह शरीर के धातु समूह में है)। यह परिपूर्ण कल्पना करते हुए ऋषि ने कहा है- यह सब पंक्तियों का समूह है। पंक्तियों से ही पंक्तियों की पूर्ति होती है॥ १॥

॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति॥ १॥

ॐ ही ब्रह्म है। ॐ ही यह प्रत्यक्ष जगत् है। ॐ ही इसकी (जगत् की) अनुकृति है। हे आचार्य! ॐ के विषय में और भी सुनाएँ। आचार्य सुनाते हैं। ॐ से प्रारम्भ करके सामगायक सामगान करते हैं। ॐ ॐ कहते हुए ही शस्त्र रूप मन्त्र पढ़े जाते हैं। ॐ से ही अध्वर्यु प्रतिगर मन्त्रों का उच्चारण करता है। ॐ कहकर अग्निहोत्र आरम्भ किया जाता है। अध्ययन के समय ब्राह्मण ॐ कहकर ब्रह्म को प्राप्त करने की बात कहता है। ॐ के द्वारा वह ब्रह्म को प्राप्त करता है॥ १॥

॥ नवमोऽनुवाकः ॥

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने

च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ १॥

सत्य आचरण, सत्यवाणी के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें। तपश्चर्या, इन्द्रियों के दमन, मन के निग्रह के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें। प्रजा उत्पत्ति, प्रजनन, प्रजा-वृद्धि के कर्म के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें। रथीतर के पुत्र सत्यवचा ऋषि कहते हैं- सत्य ही इनमें श्रेष्ठ है। पुरुशिष्ट के पुत्र तपोनित्य नामक ऋषि कहते हैं- तप ही सर्वोत्तम है। मुद्गल के पुत्र नाक मुनि कहते हैं- शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वही तप है, वही तप है॥ १॥

[यहाँ ऋषि ने मनुष्य के लिए स्वाध्याय की अनिवार्यता प्रकट की है।]

॥ दशमोऽनुवाकः ॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीवस्वमृतमस्मि। द्रविणꣳ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥ १॥

मैं विश्व वृक्ष का उच्छेदक हूँ। मेरा यश गिरि शिखर के सदृश ऊँचा है। अन्नोत्पादक सूर्य में व्याप्त अमृत के सदृश मैं भी अतिपवित्र अमृत स्वरूप हूँ। मैं तेजोयुक्त सम्पदावान्, उत्तम मेधावान् और अमृत से अभिषिक्त हूँ- यह त्रिशङ्कु ऋषि की ज्ञान-अनुभव से युक्त वाणी है॥ १॥

॥ एकादशोऽनुवाकः ॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥ मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि॥ २॥ नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसने न प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४॥

वेद अध्यापन के बाद आचार्य आश्रम के विद्यार्थियों को शिक्षण देते हैं - सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में प्रमाद न करो। आचार्य को अभीष्ट धन प्रदान करो। प्रजाओं (सन्तान) की परम्परा विच्छिन्न न होने दो। सत्य से न डिगो, धर्म से न डिगो, शुभ कर्मों में प्रमाद न करो, प्रगति के साधन न छोड़ो, शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में प्रमाद न करो। देव और पितृ कर्मों का त्याग न करो। माता-पिता को देव रूप मानो, आचार्य को देवता समझो। अतिथि को देवरूप मानो। जो दोष रहित कर्म वर्णित हैं, उन्हीं का आचरण करो। अन्य का नहीं। हमारे (शास्त्रादि में वर्णित) जो श्रेष्ठ चरित्र हैं, उसी की उपासना करो, अन्य की नहीं। हमसे (स्वयं से) श्रेष्ठ जो ब्राह्मण (आचार्य आदि) आएँ, उन्हें उत्तम आसन देकर विश्राम देना चाहिए। दानादि (श्रद्धा पूर्वक) देने योग्य है। बिना श्रद्धा के दान देने योग्य नहीं। आर्थिक स्थिति के अनुरूप दान देने योग्य है। लज्जा (सामाजिकता की शर्म) तथा (सिद्धान्त के) भय से भी दान देना उचित है। संविद्-मैत्री आदि के निर्वाह के लिए देना चाहिए। यदि आपको कर्म और आचरण के विषय में किसी तरह का सन्देह हो। (ऐसी स्थिति में) विचारशील, परामर्शदाता, आचरणनिष्ठ, निर्मल बुद्धि वाले धर्माभिलाषी ब्राह्मण से परामर्श करना चाहिए। वे जिस व्यवहार का आदेश करें, वैसा ही व्यवहार वहाँ करना चाहिए । किसी अपराध से लाञ्छित व्यक्ति के विषय में कोई सन्देह उपस्थित हो, तो विचारशील, परामर्शकुशल, आचरणनिष्ठ, निर्मल मति वाले, धर्माभिलाषी ब्राह्मण से परामर्श करना चाहिए। वे जैसे व्यवहार का आदेश करें, वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। यही आपके लिए आदेश और उपदेश है। यही वेद आज्ञा है। यही ईश्वर का अनुशासन है। इन सिद्धान्तों की ही उपासना करनी चाहिए। यही उपास्य है॥ १-४॥

[आचार्य अपनी ओर से अनुशासन समझाते हैं; किन्तु शिष्यों को स्वयं तक सीमित नहीं रखते। शंका होने पर किसी धर्माचरण युक्त ब्राह्मण से परामर्श लेने का परामर्श देते हैं। ब्राह्मण संज्ञा उस व्यक्ति के लिए है, जो ज्ञानयुक्त और निस्पृह हैं। जिसने ज्ञान को धर्माचरण के रूप में अपने जीवन में उतार लिया है, वही व्यक्ति मोह और भय से मुक्त होकर सही परामर्श दे सकता है। आचार्य श्रेष्ठ जीवन-श्रेष्ठ सिद्धान्तों को ही उपास्य मानते हैं।]

॥ द्वादशोऽनुवाकः ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं नो इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १॥

मित्रदेव हमारे लिए कल्याणप्रद हों। वरुण देव कल्याणकारी हों। अर्यमादेव हमारे लिए कल्याणकारी हों। इन्द्रदेव, बृहस्पतिदेव भी हमारे लिए शान्तिप्रद हों। विशाल डग (पादक्षेप) वाले विष्णु देव हमारे लिए कल्याणप्रद हों। ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायुदेव! आपको नमस्कार है। आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा गया है। आप ही ऋत और सत्य नाम से कहे गये हैं। उस ब्रह्म ने हमारी और आचार्य की रक्षा की है। त्रिविध तापों से सर्वत्र शान्ति हो॥ १॥

॥ अथ ब्रह्मानन्दवल्ली ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

वह परमात्मा हम दोनों (आचार्य और शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करे। हम दोनों का साथ-साथ पोषण करे। हम दोनों साथ-साथ पराक्रम करें। हमारा अध्ययन (ज्ञान) तेजोयुक्त हो। हम परस्पर द्वेष-भाव से दूर हों। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

श्रुति में यह कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता साधक परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान-स्वरूप और अनन्त है। जो साधक परम आकाश में और प्राणियों की हृदय गुहा में सन्निहित उस ब्रह्म को जान लेता है, वह विशिष्ट ज्ञान स्वरूप उस ब्रह्म के साथ समस्त भोगों का उपभोग करता है। निश्चय ही उस परमात्मा से सर्वप्रथम आकाश तत्त्व प्रकट हुआ। तदनन्तर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी तत्त्व उत्पन्न हुआ। पृथिवी से ओषधियाँ और ओषधियों से अन्न प्राप्त हुआ। अन्न से पुरुष वृद्धि को प्राप्त हुआ। पुरुष निश्चय ही उस अन्न के रस स्वरूप में है। उसका यह (मनुष्य रूपी पक्षी का) सिर है। एक बाहु दक्षिण पंख है। अन्य बाहु वाम पंख है। आत्मा मध्य भाग है। ये पैर ही पूँछ और प्रतिष्ठा हैं। उसी विषय में ये श्लोक उल्लिखित हैं॥ १॥

॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

आगे के मन्त्रों में ईश्वर से पंचभूतों की उत्पत्ति तथा मनुष्य की काया में संव्याप्त पंच कोशों का वर्णन किया गया है। मनुष्य की काया में समाहित उन सभी कोशों का आकार मनुष्य की स्थूल काया के अनुरूप ही होता है। मनुष्य को पक्षी मानकर उसके सिर, पंख, मध्यभाग एवं पूँछ की संगति बिठाते हुए पाँचों कोषों का वर्णन किया गया है-

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

वे सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, जो पृथिवी के आश्रय में स्थित हैं। अन्न से ही वे जीवित रहते और अन्त में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। अन्न ही सभी तत्त्वों में श्रेष्ठ है। इसीलिए यह सर्वौषधिरूप कहा गया है। जो अन्नरूपी ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण अन्न को प्राप्त करते हैं। अन्न ही सभी तत्त्वों में श्रेष्ठ है। इसलिए यह सर्वौषधिरूप कहा गया है। अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। प्राणियों की वृद्धि अन्न से ही होती है। प्राणियों द्वारा अन्न खाया जाता है और अन्न भी प्राणियों को खाता है, इसीलिए वह अन्न (**अद्यते वा अत्ति च वा अन्नं**) कहा जाता है। उस अन्न रस युक्त देह से भिन्न इस देह के अन्दर प्राण रूप आत्मा पूर्ण रूप से व्याप्त है। यह प्राणरूप आत्मा निश्चय ही पुरुष के आकार का है। पुरुष की आकृति में व्याप्त होने से यह पुरुष के ही आकार का है। उस प्राणगत देह का प्राण ही सिर है। व्यान दाहिना पंख है। अपान वाम पंख है। आकाश उस देह का मध्य भाग है और पृथ्वी उसका पुच्छ एवं आधार भाग है। यह श्लोक उस प्राणगत देह के विषय में है॥ १ ॥

॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥

जो देवगण, मनुष्य और पशु आदि प्राणी हैं, वे प्राण के आश्रय से ही चेष्टा करते हैं, क्योंकि प्राण ही समस्त प्राणियों की आयु है, अतः यह सभी प्राणियों का जीवन है। जो प्राण रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे पुरुष दीर्घ आयु को प्राप्त करते हैं। निश्चय ही प्राण सम्पूर्ण प्राणियों का जीवन है, इसी से यह सभी प्राणियों की आयु कहा गया है। यही उस पूर्वोक्त अन्नमय शरीर की अन्तरात्मा है। उस प्राणमय देह के अन्तर्गत उससे भिन्न एक मनोमय आत्मा पूर्णरूप से व्याप्त है। यह निश्चय ही पुरुष के आकार का है। प्राणमय पुरुष की आकृति में व्याप्त होने से यह मनोमय देह भी पुरुष के ही आकार का है। उस मनोमय देह का सिर यजुर्वेद है। ऋग्वेद दाहिना पक्ष है। सामवेद बायाँ पक्ष है। आदेश उस देह का मध्य भाग है। अथर्वा और अङ्गिरा ऋषि द्वारा दृष्ट अथर्व के मन्त्र ही उसका पुच्छ एवं आधार भाग है। यह श्लोक उस मनोमय देह के विषय में है॥ १ ॥

॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एवं शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ १ ॥

जिस ब्रह्म के आनन्द की अनुभूति में मन के साथ वाणी भी असमर्थ रहती है, उसका बोध (आनुभविक ज्ञान) करने वाला विद्वान् कभी भयग्रस्त नहीं होता। यह मनोमय शरीर अपने पूर्ववर्ती प्राणमय शरीर का आत्मा (आधार) है। उस मनोमय शरीर से भिन्न आत्मा विज्ञानमय है, जों मनोमय शरीर में पूर्ण व्याप्त है। वह विज्ञानमय देह पुरुष के आकार का है। यह मनोमय देह के अन्तर्गत पुरुष की आकृति में समाहित है। उस विज्ञानमय देह का सिर श्रद्धा है। ऋत (सनातन सत्य) उसका दाहिना पक्ष है। सत्य (प्रत्यक्ष सत्य) उसका बायाँ पक्ष है। योग उसका मध्य भाग है। 'महः' को उसका पुच्छ और आधार भाग कहा गया है। उस विज्ञानमय देह के विषय में यह श्लोक है॥ १॥

॥ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

विज्ञान ही यज्ञों और कर्मों की वृद्धि करता है। सम्पूर्ण देवगण विज्ञान की, श्रेष्ठ ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं। जो विज्ञान को ब्रह्म स्वरूप में जानते हैं, उसी प्रकार के चिंतन में रत रहते हैं, तो वे इसी शरीर से पापों से मुक्त होकर सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करते हैं। उस विज्ञानमय देह के अन्तर्गत वह आत्मा ही ब्रह्मरूप है। उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न उसके अन्तर्गत आनन्दमय आत्मा पूर्णतः व्याप्त है। यह भी पुरुष के आकार का ही है। यह उस विज्ञानमय पुरुष देह में व्याप्त होने से पुरुष आकृति का ही है। प्रेम उस आनन्दमय शरीर का सिर है। मोद दाहिना पक्ष है। प्रमोद बायाँ पक्ष है। आनन्द उस विज्ञानमय देह का मध्यभाग है। ब्रह्म ही उसका पुच्छ एवं आधार है। उसी आनन्दमय देह के विषय में यह श्लोक है॥

॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य । अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती३ । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता ३ उ। सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

जो ब्रह्म के अस्तित्व को सत्य नहीं मानता, वह असत्य ही हो जाता है, परन्तु जो ब्रह्म को सत्य स्वीकार करता है, उसे विद्वज्जन सन्त समझते हैं। जो विज्ञानमय शरीर का आत्मा है, वही आनन्दमय शरीर का भी है। अब अनु प्रश्न प्रारम्भ होते हैं। अज्ञानी पुरुष मरने के बाद परलोक गमन करता है या नहीं,

अथवा ज्ञानी पुरुष मरने के बाद परलोक गमन करता है या नहीं ? उस परमात्मा ने अनेक रूपों में प्रकट होने की कामना की। तब उसने तप किया। तप करके उसने इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की। जगत् की उत्पत्ति के बाद वह उसी में प्रविष्ट हो गया। प्रविष्ट होने पर वह साकार और निराकार हो गया। वह वर्ण्य और अवर्ण्य हो गया तथा आश्रयरूप एवं निराश्रयरूप हो गया। वही चैतन्य एवं जड़ रूप हुआ। वही सत्य स्वरूप परमात्मा ही सत्य एवं मिथ्यारूप हो गया। विद्वज्जन कहते हैं, जो कुछ भी अनुभव में आता है, वह सत्य ही है। इसी विषय में यह श्लोक है॥ १॥

॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति ॥ १॥

सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् असत् (अव्यक्त) रूप में ही था, उससे ही यह दृश्यमान जगत् उत्पन्न हुआ है। वह ब्रह्म स्वयं ही जगत् रूप में प्रकट हुआ है; अतः वह सुकृत कहा जाता है। जो सुकृत है, वही रसरूप है। इस रस को पाकर जीव आनन्दित होता है। वही आकाश की भाँति व्यापक और आनन्द स्वरूप है। यदि वह न होता, तो कौन जीवित रहता ? कौन चेष्टाएँ करता ? निश्चय ही वही सबको आनन्द प्रदान करने वाला है। जब कोई जीवात्मा उस अदृश्य, शरीर रहित, अवर्ण्य, निराश्रय परमात्मा में निर्भय होकर स्थित हो जाता है, तो वह अभयपद को प्राप्त होता है। जब तक वह (जीवात्मा) परमात्मा से विमुक्त रहता है, तब तक भय से युक्त होता है। वही भय अहंकारी विद्वान् को भी होता है। उस सन्दर्भ में यह (अगला) मन्त्र है॥ १॥

॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपि यन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये

शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतंमनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति॥ १ ॥

इस (परब्रह्म) के भय से ही वायु बहता है। इसके भय से ही सूर्य उदित होता है। इसके भय से ही अग्नि, इन्द्र और पाँचवें मृत्यु के देवता यम-सभी अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त हैं। अब आनन्द विषयक विवेचन किया जाता है- कोई सदाचारी युवक, जो वेदों के अध्ययन से युक्त हो, सुदृढ़ अंगों वाला, बलिष्ठ, व्यवहार कुशल हो, साथ ही उसे समस्त वैभव से परिपूर्ण पृथिवी प्राप्त हो जाए, तो यह इस लोक (मनुष्य) का एक आनन्द है। जो मनुष्यलोक के सौ आनन्द हैं। वह मानव गन्धर्व के एक आनन्द के तुल्य है। वह शुद्ध अन्तःकरण वाले श्रोत्रिय मनुष्य को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है। जो मानव गन्धर्व के सौ आनन्द हैं, वे देवगन्धर्व के एक आनन्द के तुल्य है, वह कामना रहित श्रोत्रिय मनुष्य को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है। जो देव गन्धर्व के सौ आनन्द हैं, वह पितृलोक को प्राप्त हुए पितरों के एक आनन्द के तुल्य है, वह कामनाओं से विरक्त श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है। जो पितृगण स्थायी रूप से पितृलोक को प्राप्त हुए हैं, उनके सौ आनन्द आजानज संज्ञक देवों का एक आनन्द है, वह कामनाओं से विरक्त श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है। जो आजानज संज्ञक देवों के सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेव संज्ञक देवों के एक आनन्द के तुल्य है। जो मनुष्य अपने शुभकर्मों द्वारा देवत्व को प्राप्त हुए हैं, जो कामनाओं से विरत हैं, उन्हें वह आनन्द स्वाभाविक रूप से ही प्राप्त है। जो कर्मदेव संज्ञक देवों के सौ आनन्द हैं, वह देवों के एक आनन्द के तुल्य है, वह आनन्द कामना रहित श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है। जो देवों के सौ आनन्द हैं, वह इन्द्र का एक आनन्द है, वह कामनारहित श्रोत्रिय मनुष्य को सहज प्राप्त है। जो इन्द्रदेव के सौ आनन्द हैं, वह बृहस्पतिदेव के एक आनन्द के तुल्य है, जो श्रोत्रिय मनुष्य उस आनन्द की कामना से मुक्त है, उसे वह आनन्द सहज ही प्राप्त है। जो देव प्रजापति के सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मा के एक आनन्द के तुल्य है, जो श्रोत्रिय मनुष्य उस आनन्द की कामना भी नहीं रखता, उसे वह आनन्द सहज ही प्राप्त है। जो ब्रह्म इस मनुष्य में है, वही सूर्य में भी है। जो साधक इस रहस्य को जान लेता है, वह इस लोक से जाते हुए अन्नमय आत्मा को प्राप्त कर लेता है। वह इस प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्मा को भी प्राप्त कर लेता है। उसी के विषय में यह श्लोक है॥ १ ॥

[यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल पृथ्वी एवं सम्पत्ति से आनन्द प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसके लिए समग्र व्यक्तित्व ही श्रेष्ठ होना चाहिए। अगले मंत्रों में श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर आनन्द का उल्लेख है। ऋषि बार-बार कहते हैं कि वह आनन्द "श्रोत्रियस्य च अकाम हतस्य" है, अर्थात् जो ज्ञान सम्पन्न है तथा कामनाओं से आहत नहीं है, उसी के लिए यह आनन्द है। अज्ञानी हीनसुखों में ही भटक जाता है, श्रेष्ठ आनन्द तक पहुँचना ही नहीं चाहता। छाले जैसे रोगों से आहत जीभ जिस प्रकार स्वादिष्ट व्यंजनों का रस नहीं ले सकती, उसी प्रकार कामनाओं से आहत मन-अन्तःकरण श्रेष्ठ आनन्द की अनुभूति नहीं कर पाता।]

॥ नवमोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतꣳह वाव न तपति किमहꣳ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते य एवं वेद । इत्युपनिषत्॥ १ ॥

जिस ब्रह्मानन्द की अनुभूति में मन के साथ वाणी असमर्थ रहती है, उसका बोध करने वाला विद्वान् कभी भयग्रस्त नहीं होता। विद्वज्जनों को इस बात की चिन्ता संतप्त नहीं करती कि उन्होंने श्रेष्ठ कर्म क्यों नहीं किया? उन्होंने पाप कर्मों को क्यों किया? जो विद्वान् पाप-पुण्य दोनों ही कर्मों को जानता है, वह पापों से अपनी रक्षा करता है। जो विद्वान् पाप-पुण्य दोनों ही कर्मों के बन्धन को जानता है, वह दोनों ही कर्मों में आसक्त न होकर अपनी रक्षा करता है। यह उपनिषद् वाणी है॥ १ ॥

॥ अथ भृगुवल्ली ॥

॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तꣳ होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

भृगु वारुणि अपने पिता देव वरुण के पास गये और बोले - हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। देव वरुण ने उनसे कहा - अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी ये सब उस ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं। ये समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से जीवन जीते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर जिसमें लय होते हैं, उस ब्रह्म को तत्त्वतः जानने की जिज्ञासा करो। वही ब्रह्म है। इस प्रकार जानकर भृगु ऋषि तप करने लगे। तप करने के अनन्तर॥ १ ॥

॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्हें बोध हुआ कि अन्न ही ब्रह्म है। निश्चय ही सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न प्राणी अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्त में मृत्यु आने पर इस लोक से प्रयाण कर अन्न में ही प्रविष्ट होते हैं। ऐसा जानकर वे पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (उनके द्वारा पूर्ण समर्थन न मिलने पर) पुनः भृगु ऋषि बोले- भगवन्! तो ब्रह्म क्या है? ब्रह्म का बोध कराएँ।

उन्होंने कहा- तप से ब्रह्म को तत्त्वतः जानने की जिज्ञासा करो। तप ही ब्रह्म है। अतः भृगु ऋषि पुनः तप करने लगे। तप करने के अनन्तर ॥ १ ॥

॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्हें बोध हुआ कि प्राण ही ब्रह्म है। यथार्थ में सभी प्राणी प्राण से ही उत्पन्न होते हैं, उत्पत्ति के बाद प्राण से ही जीवित रहते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर प्राण में ही प्रविष्ट होते हैं। इस प्रकार जानकर वे पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (उनके द्वारा पूर्ण समर्थन न मिलने पर) पुनः भृगु ऋषि बोले- भगवन्! ब्रह्म तत्त्वतः क्या है, उसका बोध कराएँ। उन्होंने कहा-तप से ब्रह्म को तत्त्वतः जानो। तप ही ब्रह्म है, ऐसा जानकर भृगु ऋषि तप करने लगे। तप करने के अनन्तर॥ १ ॥

॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनःप्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि वास्तव में मन से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मन से ही जीवन जीते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर मन में ही प्रविष्ट होते हैं। ऐसा जानकर भृगु ऋषि पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (अपने ज्ञान बोध का पूर्ण समर्थन न मिलने पर पुनः कहा-) भगवन्! यथार्थ में ब्रह्म क्या है, उसका बोध कराएँ। देववरुण ने कहा-तप से उस ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। तप ही ब्रह्म है। भृगु ऋषि पुनः तप करने लगे। तप करने के अनन्तर..... ॥ १ ॥

॥ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि वास्तव में विज्ञान से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के बाद विज्ञान से ही जीवन जीते हैं। अन्त में प्रयाण करते हुए विज्ञान में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर वे पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (अपने बोध का पूर्ण समर्थन न मिलने पर उन्होंने पुनः कहा) - भगवन्! यथार्थ में ब्रह्म क्या है, उसका बोध कराएँ। देव वरुण ने कहा- तप से उस ब्रह्म को तत्त्वतः जानो। तप ही ब्रह्म है। भृगु ऋषि पुनः तप करने लगे। तप करने के अनन्तर...... ॥ १ ॥

॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है। वास्तव में आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के बाद आनन्द से ही जीवन जीते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट होते हैं। इस प्रकार भृगु ऋषि ब्रह्मज्ञान से पूर्ण हुए। भृगु ऋषि द्वारा अनुभूत तथा देव वरुण द्वारा वर्णित यह ब्रह्म विद्या परम व्योम (व्यापक आकाश) में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जो साधक ब्रह्म के आनन्द स्वरूप को जानता है। वह प्रचुर अन्न, पाचन शक्ति, प्रजा-पशु, ब्रह्मवर्चस तथा महान् कीर्ति से सम्पन्न होकर महान् हो जाता है॥

[ऋषि स्पष्ट करते हैं कि श्रेष्ठतम ब्रह्मविद्या किसी व्यक्ति विशेष के आश्रित नहीं है, वह परम व्योम में स्थित है। भृगु की तरह कोई भी साधक अपनी अनुभूति-सामर्थ्य को तप द्वारा प्रखर-परिष्कृत बनाकर उसका बोध प्राप्त कर सकता है।]

॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥ १ ॥

अन्न की निन्दा न करे। वह व्रत है। प्राण ही अन्न है। शरीर उस अन्न का भक्षण करने वाला है। शरीर प्राण के आश्रय में स्थित है और प्राण शरीर के आश्रय में अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो साधक इस रहस्य को जानता है, वह उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह (साधक) अन्न -पाचन शक्ति, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस तथा महान् कीर्ति से सम्पन्न होकर महान् हो जाता है॥ १ ॥

॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्न का कभी तिरस्कार न करे। वह व्रत है। जल ही अन्न है। तेजस् अन्न का भोग करने वाला है। जल में तेजस् स्थित है और तेजस् में जल अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो साधक अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है, इस रहस्य को जानता है, वह अन्नरूपी ब्रह्म में अधिष्ठित होता है। वह अन्नादि साधन, पाचन शक्ति, सन्तान, पशु, ब्रह्मवर्चस और कीर्ति से समृद्ध होकर महान् हो जाता है॥ १ ॥

[जल में तेजस् की अनुभूति सहज की जा सकती है। मोती या किसी चमकदार वस्तु की चमक (तेजस्विता) घटती है, तो कहा जाता है, उसका पानी उतर गया या 'आब' कम हो गई। 'आब' अरबी में पानी को ही कहते हैं, जो सम्भवतः संस्कृत के 'अप्' का ही परिवर्तित रूप है।]

॥ नवमोऽनुवाकः ॥

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या॥ १॥

अन्न को बढ़ाएँ। वह एक व्रत है। पृथ्वी ही अन्न है। आकाश पार्थिव अन्न का आधार रूप होने से उसका भोक्ता है। पृथ्वी में आकाश स्थित है और आकाश में पृथ्वी अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में अन्न स्थित है। जो विद्वान् इस रहस्य को जानता है, वह उसी अन्नरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नादि पदार्थ, पाचनशक्ति, संतान, पशु, ब्रह्मवर्चस और कीर्ति से समृद्ध होकर महान् हो जाता है॥ १॥

[आकाश में पृथ्वी तो प्रत्यक्ष दीखती है, पृथ्वी में आकाश समझने के लिए परमाणु संरचना (एटामिक स्ट्रक्चर) समझना होगा। परमाणु का केन्द्र नाभिक (न्यूक्लियस) होता है और आस-पास इलेक्ट्रॉन घूमते हैं। न्यूक्लियस तथा घूमने वाले इलेक्ट्रानों के बीच इतना स्थान खाली होता है, जितना सूर्य और पृथ्वी के बीच। यह स्थान ही आकाश है। इस प्रकार हर ठोस पदार्थ में पर्याप्त आकाश होता है।]

॥ दशमोऽनुवाकः ॥

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते॥ १॥ य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति॥ २॥ यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति॥ ३॥ तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः॥ ४॥ स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानंदमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु॥ ५॥

घर में आये हुए अतिथि को तिरस्कृत न करें। यह एक व्रत है। जिस प्रकार बने, बहुत सा अन्न प्राप्त करें, जिससे सर्वदा अतिथि सेवा में तत्पर रहें। यदि उसे अधिक आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो स्वयं को अधिक आदर सहित अन्न मिलता है। यदि मध्यम श्रेणी के आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो मध्यम श्रेणी के आदर सहित स्वयं को अन्न प्राप्त होता है। यदि निम्न श्रेणी के आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो स्वयं को निम्न श्रेणी के आदर सहित अन्न प्राप्त होता है। जो इस तथ्य का ज्ञाता है, वह अतिथि का उत्तम

आदर करता है। वह परमात्मा वाणी में रक्षक शक्ति के रूप में है, प्राण और अपान में प्रदाता और रक्षक दोनों सामर्थ्य वाला है। वह हाथों में कर्म करने की शक्ति, पैरों में गति सामर्थ्य, गुदा में विसर्जन शक्ति के रूप में स्थित है। यह उस ब्रह्म की मानुषी सत्ता का वर्णन है, अब उसकी दैवी सत्ता का वर्णन करते हैं। वह वृष्टि में तृप्ति है, बिजली में शक्ति है। पशुओं में यश, ग्रहों-नक्षत्रों में ज्योति, उपस्थ में प्रजनन-सामर्थ्य, वीर्य और आनन्द रूप में सन्निहित है। वह आकाश में व्यापक विश्व (प्रत्यक्ष जगत्) रूप में स्थित है। वह परमात्मा सबका आधाररूप है, ऐसा मानकर-उपासना करने वाला सबको आधार देने वाला बन जाता है। वह सबसे महान् है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला महान् बन जाता है। वह मन है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला मननशील होता है। वह नमन योग्य है, ऐसा मानने वाले उपासक के लिए सम्पूर्ण कामनाएँ नत होती हैं। वह ब्रह्म है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला ब्रह्ममय हो जाता है। वह परिमर (जिसमें विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि --ये पाँच देवता मृत्यु (अस्त) को प्राप्त होते हैं।) - आकाश-मृत्युनियामक देव है, ऐसा मानकर उपासना करने वाले के विद्वेषी शत्रु समाप्त हो जाते हैं, उसका अप्रिय चाहने वाले बन्धु भी नष्ट हो जाते हैं, जो इस मनुष्य में है, वह सूर्य में भी है, जो साधक इस प्रकार दोनों में एकत्व को जानता है, वह इस लोक से प्रयाण कर अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः प्राणमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः मनोमय आत्मा, फिर विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः वह आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है। आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होकर वह इच्छित भोग और रूप को प्राप्त करता है। फिर साम गायन करता हुआ सब लोकों में विचरण करता है॥ १-५॥

अहमन्नमह-मन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ३ ऽहमन्नादो ३ ऽहमन्नादः। अहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृद-हꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३ वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा ३ द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्णज्योतीः। य एवं वे। इत्युपनिषत् ॥ ६॥

आश्चर्य! आश्चर्य!! आश्चर्य!!! मैं (आत्मतत्त्व) ही अन्न हूँ। आश्चर्य है कि मैं (आत्मा) ही अन्न का उपभोग करने वाला हूँ । आश्चर्य है कि मैं (आत्मा) ही इनका संयोजक हूँ। मैं ही श्लोककृत् (मन्त्रद्रष्टा) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं इस प्रत्यक्ष सत्यरूप जगत् के प्रथम उत्पत्तिकर्त्ता हिरण्यगर्भ आदि अमर देवों के भी पूर्व स्थित अमरत्व का केन्द्र हूँ। जो मुझे देता है, वह देकर मेरी रक्षा करता है। मैं अन्नरूप होकर अन्न-भक्षक का भी भक्षण कर लेता हूँ। मैं सम्पूर्ण भुवनों को नगण्यरूप अनुभव करता हूँ। मेरा तेज सूर्य के समान है। इस प्रकार का बोध करने वाला विद्वान् वैसी ही सामर्थ्य वाला होता है। (इस प्रकार) यह उपनिषद् पूर्ण हुआ॥ ६॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। ....इति शान्तिः॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः॥ ....इति शान्तिः॥

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ नादबिन्दूपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् के प्रारम्भ में 'ॐकार' को हंस मानकर उसके विभिन्न अंगोपांगों का वर्णन किया गया है। फिर ॐ की १२ मात्राओं तथा उनके साथ प्राणों के विनियोग का फल कहा गया है। योगयुक्त साधक की स्थिति तथा ज्ञानी के प्रारब्ध कर्मों के क्षय का वर्णन करते हुए नाद के अनेक प्रकार तथा नादानुसंधान साधना का स्वरूप समझाया गया है। अंत में मन के प्रभावित होने, मन के लय होने तथा मनोलय की स्थिति का वर्णन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि........इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- ऐतरेयोपनिषद्)

ॐ अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः ।

मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम् ॥ १ ॥

ॐ कार रूप हंस का 'अकार' दक्षिण पक्ष (दाहिना पंख) तथा 'उकार' उत्तर पक्ष (बायाँ पंख) कहा गया है। उसकी पूँछ ही 'मकार' है और अर्धमात्रा ही उसका शीर्ष भाग है॥ १ ॥

पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते।

धर्मोऽस्य दक्षिणं चक्षुरधर्मोऽथो परः स्मृतः ॥ २ ॥

उस (ॐ कार रूप हंस) के दोनों पैर रजोगुण एवं तमोगुण हैं और (उसका) शरीर सतोगुण कहा गया है। धर्म (उसका) दक्षिण चक्षु है और अधर्म बायाँ चक्षु (नेत्र) कहा गया है॥ २ ॥

भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि।

सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जगत् ॥ ३ ॥

उस (हंस) के दोनों पैरों में भूः (पृथ्वी) लोक स्थित है। उसकी जंघाओं में भुवः (अन्तरिक्ष) लोक केन्द्रित है। स्वः (स्वर्ग-ऊर्ध्व) लोक उसके कटिप्रदेश तथा महः लोक उसके नाभि प्रदेश में स्थित है॥ ३ ॥

जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः।

भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

उसके हृदय स्थल में जनः लोक और कण्ठ प्रदेश में तपोलोक विद्यमान है। ललाट और भौंहों के मध्य में सत्य लोक स्थित है॥ ४ ॥

सहस्रार्णमतीवात्र मन्त्र एष प्रदर्शितः।

एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥ ५ ॥

न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि।

आग्नेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथापरा ॥ ६ ॥

इस प्रकार से वर्णित सहस्रावयव युक्त प्रणवरूप हंस पर आसीन होकर कर्मानुष्ठान-ध्यान आदि में रत हंस योगी- विचक्षण पुरुष ओंकार की श्रेष्ठ विधि से मनन व चिन्तन करता हुआ सहस्रों-करोड़ों पापों से निवृत्त होकर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। (ॐकार के देवता अग्नि हैं। उसका स्वरूप भी अग्नि मण्डल जैसा है। 'अकार' नामक (प्रणव की) प्रथम मात्रा 'आग्नेयी' कही गयी है और('उकार' नामक)

द्वितीया मात्रा 'वायव्या' कही गयी है। (इस वायव्या के देवता वायु हैं और यह वायुमण्डल की भाँति रंग-रूप वाली है) ॥ ५-६ ॥

भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा।
परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् 'मकार' नामक यह तृतीय 'मात्रा' सूर्य मण्डल के समतुल्य है। (इस मात्रा के देवता सूर्य हैं तथा) चतुर्थ मात्रा 'अर्धमात्रा' के रूप में 'वारुणी' कही गयी है। (इस वारुणी के देवता वरुण हैं) ॥ ७ ॥

कालत्रयेऽपि यस्येमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः।
एष ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत॥ ८ ॥

इन उपर्युक्त चारों मात्राओं में से हर एक मात्रा तीन तीन काल अथवा कला रूप है। इस प्रकार 'ॐकार' को द्वादश कलाओं से युक्त कहा गया है। धारणा, ध्यान एवं समाधि के द्वारा इसे जानने का प्रयास करना चाहिए॥

[ॐकार साधना मात्र उच्चारण से पूरी नहीं होती, दिव्य प्राण प्रवाह रूप ॐकार की अनुभूति धारणा ध्यानादि द्वारा की जाती है।]

घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथापरा ।
पतङ्गिनी तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी॥ ९ ॥

(इस प्रकार बारह कलाओं की मात्राओं में) प्रथम मात्रा 'घोषिणी' कही गई है। द्वितीय मात्रा का नाम 'विद्युन्मात्रा' है, तृतीय मात्रा 'पातङ्गी' और चतुर्थ मात्रा 'वायुवेगिनी' के नाम से जानी जाती है ॥ ९ ॥

पञ्चमी नामधेया तु षष्ठी चैन्द्र्यभिधीयते।
सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शांकरीति च ॥ १० ॥

पाँचवीं मात्रा का नाम 'नामधेया' है और छठवीं मात्रा 'ऐन्द्री' के नाम से जानी जाती है। सातवीं मात्रा का नाम 'वैष्णवी' और आठवीं मात्रा 'शाङ्करी' के नाम से प्रसिद्ध है ॥१० ॥

नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता।
एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा॥ ११ ॥

नौवीं मात्रा 'महती' तथा दसवीं मात्रा को 'धृति' (ध्रुवा) कहा गया है। ग्यारहवीं मात्रा 'नारी' (मौनी) और बारहवीं मात्रा 'ब्राह्मी' के नाम से जानी जाती है ॥ ११ ॥

प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते।
भरते वर्षराजासौ सार्वभौमः प्रजायते ॥ १२ ॥

(ॐकार की इन द्वादश कलाओं की) प्रथम मात्रा में यदि साधक अपने प्राणों का परित्याग कर देता है, तो वह भारतवर्ष में सार्वभौमिक चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में प्रादुर्भूत होता है ॥ १२ ॥

द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान्।
विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका॥ १३ ॥

(ॐकार की) द्वितीय मात्रा में जब साधक के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तब वह महान् महिमाशाली यक्ष के रूप में उत्पन्न होता है। (ॐकार की) तृतीय मात्रा में प्राण त्याग करने पर (वह) विद्याधर के रूप में और चतुर्थ मात्रा में प्राण के परित्याग करने से (वह) गन्धर्व के रूप में जन्म लेता है॥

[अपने प्राणों के स्पन्दन का ॐकार रूप महाप्राण की जिस कोटि के साथ तादात्म्य होता है, उसी के अनुरूप देहान्तर की प्राप्ति होती है।]

पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।

उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते॥ १४॥

यदि पाँचवीं मात्रा में उस (साधक) के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तो वह 'तुषित' नामक देवों के साथ निवास करता हुआ चन्द्रलोक में सम्मानित होता है॥ १४॥

षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।

अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं तथा ॥ १५॥

छठवीं मात्रा में (शरीर से प्राणों का उत्क्रमण होने पर) साधक देवराज इन्द्र के सायुज्य पद को प्राप्त करता है। सातवीं मात्रा में भगवान् विष्णु के पद-वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है तथा आठवीं मात्रा में पशुपति भगवान् शिव के रुद्रलोक में जाकर उनकी समीपता का लाभ प्राप्त करता है॥ १५॥

नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत्।

एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम्॥ १६॥

नवीं मात्रा में महः लोक को, दसवीं मात्रा में जनः लोक (ध्रुवलोक) को प्राप्त होता है। ग्यारहवीं मात्रा में तपोलोक को और बारहवीं मात्रा में साधक शाश्वत ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है॥ १६॥

ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं शिवम्।

सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः॥ १७॥

इससे भी परतर (परे), श्रेष्ठ, व्यापक, शुद्ध, निर्मल, कल्याणकारी, सदैव उदीयमान (वह) परमब्रह्म-तत्त्व है। उसी से सभी तरह की ज्योतियाँ (अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र आदि) प्रादुर्भूत हुई हैं॥ १७॥

अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत्।

अनूपमं शिवं शान्तं योगयुक्तं सदाविशेत्॥ १८॥

जब श्रेष्ठ साधक का मन समस्त इन्द्रियों एवं सत् , रज और तम आदि तीनों गुणों से परे होकर परमतत्त्व में विलीन हो जाता है, तब वह उपमारहित, कल्याणकारी, शान्तस्वरूप हो जाता है; ऐसी उच्च स्थिति में पहुँचे हुए साधकों को योग युक्त कहा जाना चाहिए॥ १८॥

तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुञ्चेत्कलेवरम्।

संस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः॥ १९॥

उस योगयुक्त और तन्मय हुए साधक को अविद्या आदि दोषों से मुक्त और योग पद्धति से स्वस्थ (आत्मा में स्थित) होकर सभी प्रकार के आसक्ति आदि दोषों से रहित हो जाना चाहिए॥ १९॥

ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः।

तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते ॥ २०॥

इस प्रकार उस (साधक) के समस्त सांसारिक बन्धनों का शमन (क्षय) हो जाता है। वह निर्मल, कैवल्यपद को प्राप्त कर स्वयं ही परमात्म स्वरूप हो जाता है। वह ब्रह्मभाव से परमानन्द को प्राप्त करके असीम आनन्द की अनुभूति करता है॥ २०॥

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि॥ २१॥

.हे ज्ञानवान् पुरुष! तुम सतत प्रयत्न करते हुए आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास करो। उसी के सच्चिन्तन में अपने समय को लगाओ। प्रारब्ध कर्मानुसार जो भी कष्ट-कठिनाइयाँ सामने आयें, उनको भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न (खिन्न-दु:खी) नहीं होना चाहिए॥ २१॥

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति।
तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥ २२॥
देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्ने विबोधतः।
कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्॥ २३॥

आत्मज्ञान के प्रादुर्भूत होने पर भी प्रारब्ध (संस्कार) स्वयं त्याग नहीं करता, किन्तु जैसे ही तत्त्वज्ञान का प्राकट्य होता है, वैसे ही प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है। जैसा कि स्वप्नलोक के देहादिक असत् होने के कारण जाग्रत् होने पर विलुप्त हो जाते हैं, विगत जन्मों में जो किये हुए कर्म हैं, उन्हीं कर्मों को प्रारब्ध कर्म की संज्ञा प्रदान की गई है॥ २२-२३॥

यत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित्।
स्वप्नदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः॥ २४॥

ज्ञानी के लिए तो जन्म-जन्मान्तर भी नहीं है। इसलिए प्रारब्ध कर्म ज्ञानी के लिए कभी भी बाधक नहीं होता। जैसे स्वप्नकालीन देह, देह नहीं होती, केवल अध्यास मात्र (रस्सी में साँप की तरह) ही होती है, वैसे ही यह जाग्रत् अवस्था का शरीर भी अध्यास मात्र ही है॥ २४॥

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः।
उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति॥ २५॥

अध्यस्त (अयथार्थ) की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? और उत्पत्ति के अभाव में उस वस्तु की स्थिति कैसे होगी? (जिस प्रकार रज्जु-रस्सी में सर्प का अध्यास होने पर रज्जु में सर्प नहीं उत्पन्न होता और न ही उस स्थान में सर्प की स्थिति ही होती है।) इसलिए इस प्रपञ्च का मुख्य उपादान कारण आत्मा ही है। जैसे कि मिट्टी के द्वारा निर्मित पात्रों का उपादान कारण मिट्टी होती है॥ २५॥

अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता।
यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात्॥ २६॥
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ।
रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ॥ २७॥

वेदान्तानुसार ये सभी सांसारिक प्रपञ्च अज्ञानान्धकार के कारण आत्मा में ही प्रतिभासित होते हैं। अज्ञानरूपी अन्धकार के विनष्ट होने पर संसार की स्थिति नहीं रह जाती। जिस तरह भ्रम बुद्धि से ग्रस्त मनुष्य रज्जु बुद्धि का परित्याग कर उसे सर्प बुद्धि से ग्रहण करता है, अर्थात् रस्सी को सर्प समझने लगता है, इसी तरह अज्ञानी (मूढ़) मनुष्य सत्य (आत्मा) का ज्ञान (बोध) न होने के कारण इस भ्रम-बुद्धिवश सांसारिक प्रपञ्च का अवलोकन करता है। जब मनुष्य ठीक तरह से उस रस्सी को पहचान लेता है, तो पूर्व में दृष्टिगोचर होने वाले सर्प की भावना नहीं रह जाती ॥ २६-२७॥

अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते।
देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः॥ २८॥

जिस तरह अधिष्ठान (आधार) स्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर प्रपञ्च (संसार) शून्यता को प्राप्त हो जाता है, ऐसी स्थिति में देह (शरीर) भी प्रपञ्चरूप (अयथार्थ) होने के कारण प्रारब्ध की स्थिति किस प्रकार रह सकती है ?॥ २८॥

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते ।
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥ २९॥

अज्ञान से ग्रसित लोगों को बोध कराने के लिए प्रारब्ध कर्म की बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही सांसारिक प्रारब्ध कर्मों का विनाश हो जाता है॥ २९॥

ब्रह्मप्रणवसंधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव॥ ३०॥

तत्पश्चात् (प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर) 'ॐकार' स्वरूप ब्रह्म की आत्मा के साथ एकता के चिन्तन से नादरूप में स्वयं प्रकाशमान शिव के कल्याणकारी स्वरूप (परब्रह्म) का प्रादुर्भाव उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार बादलों के हट जाने पर भगवान् भास्कर प्रकाशित हो जाते हैं॥ ३०॥

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥ ३१॥

योगी (साधक) को सिद्धासन से बैठने के पश्चात् वैष्णवी मुद्रा धारण करनी चाहिए। तदनन्तर दाहिने कान के अन्दर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) का सतत श्रवण करना चाहिए॥ ३१॥

[बायें पैर की एड़ी से गुदा स्थान को तथा दाहिने पैर से जननेन्द्रिय मूल को दबाकर, शरीर को सीधा रखकर त्रिबन्ध (मूल, जालन्धर, उड्डीयान) लगाने को सिद्धासन कहा जाता है तथा अपलक नेत्रों से बाह्य दृष्टि को अन्तर्लक्ष्य करके (भृकुटि-मध्य में) देखना वैष्णवी मुद्रा कहलाती है।]

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिः ।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत्॥ ३२॥

इस प्रकार नाद का किया गया अभ्यास बाह्य ध्वनियों को आवृत कर लेता है, इस तरह (योगी साधक) दोनों पक्षों 'अकार' और 'मकार' को जीतकर क्रमशः सम्पूर्ण 'ओंकार' को शनैः-शनैः आत्मसात् कर तुर्यावस्था को प्राप्त कर लेता है॥ ३२॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥ ३३॥

अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में यह महान् नाद (अनाहत ध्वनि) विभिन्न तरह से सुनायी देता है। इसके अनन्तर जब अभ्यास अधिक बढ़ जाता है, तब उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप (भेद) सुनायी पड़ने लगते हैं॥ ३३॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसंभवः।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा॥ ३४॥
अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३५॥

इस नाद की ध्वनि प्रारम्भिक काल में समुद्र, मेघ, भेरी तथा झरनों से उत्पन्न ध्वनि के समान सुनायी देती है। इसके बाद बीच की अवस्था (मध्यमावस्था) में मृदङ्ग, घंटे और नगाड़े की भाँति यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्त में अर्थात् उत्तरावस्था में किङ्किणी, वंशी, वीणा एवं भ्रमर की ध्वनि के समान मधुर नाद-ध्वनि सुनायी पड़ती है। इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए नाना प्रकार के नाद सुनायी पड़ते हैं॥३४-३५॥

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत्॥ ३६॥

निरन्तर नाद का अभ्यास करते हुए जब भेरी आदि की ध्वनि (आवाज) तेजी से सुनायी पड़ने लगे, तब उसमें भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर नाद के सुनने का विचार करना चाहिए॥ ३६॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत्॥ ३७॥

(नाद में रुचि रखने वाले साधक को चाहिए कि) वह घन नाद को छोड़कर सूक्ष्मनाद (मन्द ध्वनि) या फिर सूक्ष्म नाद का परित्याग करके घन नाद में मन को केन्द्रित करे। अन्यत्र और कहीं भी इधर-उधर मन को भ्रमित न होने दे॥ ३७॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३८॥

साधक का मन सर्वप्रथम जहाँ-कहीं किसी भी सूक्ष्म (अतिमन्द) अथवा घननाद (अभेद्यध्वनि) में लगता है। उसको (मन को) वहीं केन्द्रित करना चाहिए। ऐसा करने से वह (चित्त) स्वयमेव तन्मय (विलीन) होने लगता है॥ ३८॥

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः।
एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते॥ ३९॥

साधक का मन सभी सांसारिक बाह्य-प्रपंचों से विस्मृत होकर दूध में मिश्रित जल की भाँति नाद (ध्वनि) में एकीभूत हो जाता है। इस प्रकार वह (मन) नाद के साथ अकस्मात् ही चिदाकाश में स्वयं को विलय कर लेता है॥ ३९॥

उदासीनस्ततो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी ।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत्॥ ४०॥

संयमी पुरुष को चाहिए कि नाद-श्रवण से भिन्न विषयों-वासनाओं को उपेक्षित करके सतत अभ्यास द्वारा मन को तत्क्षण ही उस नाद में नियोजित करे और सदैव चिन्तन के द्वारा उसी में रमण करता रहे॥ ४०॥

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥ ४१॥

योगी साधक को चाहिए कि सतत चिन्तन करते हुए समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर सभी तरह की चेष्टाओं से मन को हटाकर (उस) नाद का ही अनुसन्धान (श्रवण-मनन-चिन्तन) करे; क्योंकि (चिन्तन द्वारा सहज ही) चित्त का नाद में लय हो जाता है॥ ४१॥

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा।

नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षति॥ ४२॥

जिस प्रकार भ्रमर फूलों का रस ग्रहण करता हुआ पुष्पों के गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता है, ठीक वैसे ही सतत नाद में तल्लीन रहने वाला चित्त विषय वासना आदि की आकांक्षा नहीं करता है॥ ४२॥

बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः ।

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः॥ ४३॥

यह चित्त रूपी अन्तरङ्ग भुजङ्ग (सर्प) नाद को सुनने के पश्चात् उस सुन्दर नाद की गन्ध से आबद्ध हो जाता है और तत्क्षण ही सभी तरह की चपलताओं का परित्याग कर देता है॥ ४३॥

विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति।

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः॥ ४४॥

नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥ ४५॥

अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा।

ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः॥ ४६॥

तदनन्तर (वह मन) विश्व (सांसारिकता) को विस्मृत करके तथा एकाग्रता को धारण करके (विषयों में) इधर-उधर कहीं भी नहीं दौड़ता है। विषय-वासना रूपी उद्यान में विचरण करने वाले मन रूपी उन्मत्त गजेन्द्र को वश में करने में यह नादरूपी अति तीक्ष्ण अङ्कुश ही समर्थ होता है। यह नाद मनरूपी हिरण को बाँधने में जाल का कार्य करता है और मन रूपी तरङ्ग को रोकने में तट का काम करता है। ब्रह्मरूप प्रणव में संयुक्त हुआ यह नाद स्वयं ही प्रकाश स्वरूप होता है॥ ४४-४६॥

मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते॥ ४७॥

मन वहाँ ही (उस प्रकाश तत्त्व में) विलय को प्राप्त हो जाता है। वहीं परम श्रेष्ठ भगवान् विष्णु का परम पद है। मन में आकाश तत्त्व का संकल्प तभी तक रहता है, जब तक कि शब्दों का उच्चारण और श्रवण होता है॥ ४७॥

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते ।

नादो यावन्मनस्तावन्नादान्तेऽपि मनोन्मनी॥ ४८॥

निःशब्द (शब्दरहित) होने पर तो वह (मन) परमब्रह्म के परमात्म-तत्त्व का अनुभव करने लगता है। नाद (ध्वनि) के रहने तक ही मन का अस्तित्व बना रहता है। नाद के समापन होने पर मन भी 'अमन' (शून्यवत्) हो जाता है॥ ४८॥

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्।

सदा नादानुसंधानात्संक्षीणा वासना तु या ॥ ४९॥

निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।

नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ॥ ५०॥

सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः॥ ५१॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः।
शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन॥ ५२॥

सशब्द अर्थात् शब्दयुक्त नाद (ध्वनि) के अक्षर स्वरूप ब्रह्म में क्षीण (लय) हो जाने पर वह निःशब्द परमपद कहलाता है। जब सतत नाद का अनुसन्धान करने पर समस्त विषय वासनाएँ पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती हैं, तदुपरान्त मन एवं प्राण दोनों संशयरहित हो उस निराकार परमब्रह्म में लय हो जाते हैं। करोड़ों-करोड़ नाद एवं बिन्दु उस ब्रह्मरूप प्रणव नाद में विलीन हो जाते हैं। वह योगी जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं से मुक्त होकर सभी तरह की चिन्ताओं से रहित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह योगी मरे हुए व्यक्ति की भाँति (मृतवत्) रहता है। निश्चय ही वह योगी मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है और वह (योगी) शङ्ख-दुन्दुभि आदि (लौकिक) नाद का श्रवण कभी भी नहीं करता॥ ४९-५२॥

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा॥ ५३॥

जिस अवस्था में मन 'अमन' हो जाता है, उस अवस्था के प्राप्त होने पर शरीर लकड़ी की भाँति चेष्टारहित सा हो जाता है। वह (मन) न शीत जानता है, न गर्मी जानता है और न ही वह सुख-दुःख का अनुभव करता है॥ ५३॥

न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा॥ ५४॥

वह (योगी) मान-अपमान से परे हो जाता है। समाधि द्वारा वह इन सभी का पूर्णतया परित्याग कर देता है। योगी का चित्त तीनों अवस्थाओं-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि का कभी भी अनुगमन नहीं करता है (अर्थात् उससे परे हो जाता है)॥ ५४॥

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात्॥ ५५॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विनासदृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स ब्रह्मतारान्तरनादरूप इत्युपनिषत्॥ ५६॥

(वह) योगी जाग्रत् और निद्रा (स्वप्न) की अवस्था से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हो जाता है। दृश्य वस्तु के अभाव में भी जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, बिना प्रयास के ही जिसका प्राण अपने स्थान पर सुस्थिर हो जाता है तथा बिना किसी आश्रय अथवा अवलम्बन के ही जिसका चित्त स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वह (योगी) ब्रह्ममय प्रणव नाद के अन्तर्वर्ती तुरीयावस्था (परमानंद) में सदैव स्थित हो जाता है। यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ ५५ ५६॥

ॐ वाङ्मे मनसि.........इति शान्तिः॥

॥ इति नादबिन्दूपनिषत्समाप्ता॥

॥ निरालम्बोपनिषद् ॥

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, जगत् , ज्ञान, कर्म आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। निर्विकार ब्रह्म जब प्रकृति के साथ सृष्टि का सृजन करके उसका ईशन शासन संचालन करता है, तो ईश्वर कहलाता है। इसी प्रकार विभिन्न संबोधनों को परिभाषित किया गया है। ऋषि जाति-पाँति सम्बन्धी भ्रमों का निवारण करते हुए कहते हैं कि वह आत्मा, रक्त, चमड़ा, मांस, हड्डियों आदि से सम्बन्धित नहीं है, वह तो व्यवहार के क्रम में कल्पित व्यवस्था मात्र है। इसी प्रकार अहंता, ममता आदि को त्याग कर इष्ट में समर्पित हो जाने को 'संन्यास' कहते हुए उन्हीं को मुक्त, पूज्य, योगी, परमहंस आदि उपाधियों से विभूषित होने की बात समझायी गयी है। ऐसी स्थिति प्राप्त करके ही साधक जन्म-मरण के बन्धनों को काट सकता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं........... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- ईशावास्योपनिषद्)

ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्दमूर्तये। निष्प्रपञ्चाय शान्ताय निरालम्बाय तेजसे। निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः। स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते॥ १ ॥

उस कल्याणकारी (शिव) गुरु, सत्-चित् और आनन्द की मूर्ति को नमस्कार है। उस निष्प्रपञ्च, शान्त, आलम्ब (आश्रय) रहित, तेजःस्वरूप परमात्मा को नमन है। जो निरालम्ब (परमात्म तत्त्व) का आश्रय ग्रहण करके (सांसारिक) आलम्बन का परित्याग कर देता है, वह योगी और संन्यासी है, वही कैवल्य (मोक्ष) पद प्राप्त करता है ॥ १ ॥

एषामज्ञानजन्तूनां समस्तारिष्टशान्तये। यद्यद्बोद्धव्यमखिलं तदाशङ्क्य ब्रवीम्यहम्॥ २ ॥

इस संसार के अज्ञानी जीवों के सभी अरिष्टों (कष्टों) की शान्ति के निमित्त जो-जो ज्ञान आवश्यक है, उसकी आशंका करके (उसके उत्तर के रूप में) मैं यहाँ कहता हूँ (पूछता हूँ)॥ २ ॥

किं ब्रह्म। क ईश्वरः। को जीवः। का प्रकृतिः। कः परमात्मा। को ब्रह्मा। को विष्णुः। को रुद्रः। क इन्द्रः। कः शमनः। कः सूर्यः। कश्चन्द्रः। के सुराः। के असुराः। के पिशाचाः । के मनुष्याः। काः स्त्रियः। के पश्वादयः। किं स्थावरम्। के ब्राह्मणादयः । का जातिः। किं कर्म। किमकर्म। किं ज्ञानम्। किमज्ञानम्। किं सुखम्। किं दुःखम्। कः स्वर्गः। को नरकः। को बन्धः। को मोक्षः। क उपास्यः। कः शिष्यः। को विद्वान्। को मूढः। किमासुरम्। किं तपः। किं परमं पदम्। किं ग्राह्यम्। किमग्राह्यम्। कः संन्यासीत्याशङ्क्याह ब्रह्मेति॥ ३ ॥

ब्रह्म क्या है ? ईश्वर कौन है ? जीव कौन है ? प्रकृति क्या है ? परमात्मा कौन है ? ब्रह्मा कौन है ? विष्णु कौन है ? रुद्र कौन है ? इन्द्र कौन है ? यम कौन है ? सूर्य कौन है ? चन्द्र कौन है ? देवता कौन हैं ? असुर कौन हैं ? पिशाच कौन हैं ? मनुष्य क्या हैं ? स्त्रियाँ क्या हैं ? पशु आदि क्या हैं ? स्थावर (जड़) क्या है ? ब्राह्मण आदि क्या हैं ? जाति क्या है ? कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? ज्ञान और अज्ञान क्या हैं ? सुख-दुःख क्या हैं ? स्वर्ग-नरक क्या हैं ? बंधन और मुक्ति क्या हैं ? उपासना करने योग्य कौन है ? शिष्य कौन है ? विद्वान् कौन है ? मूर्ख कौन है ? असुरत्व क्या है ? तप क्या है ? परमपद किसे कहते हैं ? ग्रहणीय और अग्रहणीय क्या हैं ? संन्यासी कौन है ? इस प्रकार शंका व्यक्त करके उन्होंने ब्रह्म आदि का स्वरूप विवेचित किया ॥ ३ ॥

स होवाच महदहंकारपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशत्वेन बृहद्रूपेणाण्डकोशेन कर्मज्ञानार्थरूपतया भासमानमद्वितीयमखिलोपाधिविनिर्मुक्तं तत्सकलशक्त्युपबृंहितमनाद्यनन्तं शुद्धं शिवं शान्तं निर्गुणमित्यादिवाच्यमनिर्वाच्यं चैतन्यं ब्रह्म। ईश्वर इति च। ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामाश्रित्य लोकान्सृष्ट्वा प्रविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृत्वादीश्वरः॥ ४॥

उन्होंने कहा कि महत् तत्त्व, अहं, पृथिवी, आपः, तेजस्, वायु और आकाश रूप बृहद् ब्रह्माण्ड कोश वाला, कर्म और ज्ञान के अर्थ से प्रतिभासित होने वाला, अद्वितीय, सम्पूर्ण (नाम रूप आदि) उपाधियों से रहित, सर्व शक्तिसम्पन्न, आद्यन्तहीन, शुद्ध, शिव, शान्त, निर्गुण और अनिर्वचनीय चैतन्य स्वरूप परब्रह्म कहलाता है। अब ईश्वर के स्वरूप का कथन करते हैं। यही ब्रह्म जब अपनी प्रकृति (शक्ति) के सहारे लोकों का सृजन करता है और अन्तर्यामी स्वरूप से (उनमें) प्रविष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा बुद्धि और इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं॥ ४॥

जीव इति च ब्रह्मविष्णवीशानेन्द्रादीनां नामरूपद्वारा स्थूलोऽहमिति मिथ्याध्यासवशाज्जीवः। सोऽहमेकोऽपि देहारम्भकभेदवशाद्बहुजीवः॥ ५॥

जब इस चैतन्य स्वरूप ईश्वर को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा इन्द्रादि नामों और रूपों के द्वारा देह का मिथ्याभिमान हो जाता है कि मैं स्थूल हूँ, तब उसे जीव कहते हैं। यह चैतन्य 'सोऽहं' स्वरूप में एक होने पर भी शरीरों की भिन्नता के कारण 'जीव' अनेकविध बन जाता है॥ ५॥

प्रकृतिरिति च ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः॥ ६॥

प्रकृति उसे कहते हैं, जो ब्रह्म के सान्निध्य से चित्र-विचित्र संसार को रचने की शक्ति वाली तथा ब्रह्म की बुद्धिरूपा शक्ति वाली है॥ ६॥

परमात्मेति च देहादेः परतरत्वाद् ब्रह्मैव परमात्मा॥ ७॥

देहादि से परे रहने के कारण ब्रह्म को ही परमात्मा कहते हैं॥ ७॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स इन्द्रः स शमनः स सूर्यः स चन्द्रस्ते सुरास्ते असुरास्ते पिशाचास्ते मनुष्यास्ताः स्त्रियस्ते पश्वादयस्तत्स्थावरं ते ब्राह्मणादयः॥ ८॥

यही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, यम, सूर्य और चन्द्र आदि देवता के रूप में; यही असुर, पिशाच, नर-नारी और पशु आदि के रूप में प्रकट होता है; यही जड़-पदार्थ और ब्राह्मण आदि भी है॥ ८॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन॥ ९॥

यह समस्त विश्व ही ब्रह्म है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ ९॥

जातिरिति च। न चर्मणो न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः। न जातिरात्मनो जातिर्व्यवहारप्रकल्पिता॥ १०॥

जाति (शरीर के) चर्म, रक्त, मांस, अस्थियों और आत्मा की नहीं होती। उसकी (मानव, पशु पक्षी या ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति की) प्रकल्पना तो केवल व्यवहार के निमित्त की गई है॥ १०॥

[ऋषि यहाँ स्पष्टता से कहते हैं कि जाति शरीर भेद से नहीं, व्यवहार भेद से निर्धारित की गयी है।]

कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म। अकर्मेति च कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यहंकारतया बन्धरूपं जन्मादिकारणं नित्यनैमित्तिकयागव्रततपोदानादिषु फलाभिसंधानं यत्तदकर्म॥ ११-१२॥

इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को कर्म कहते हैं। जिस क्रिया को 'मैं करता हूँ' इस भावपूर्वक (अध्यात्म निष्ठा से) किया जाता है, वही कर्म है। कर्त्तापन और भोक्तापन के अहंकार के द्वारा फल की इच्छा से किये गये बन्धन स्वरूप नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, व्रत, तप, दान आदि कर्म 'अकर्म' कहलाते हैं॥ ११-१२॥

ज्ञानमिति देहेन्द्रियनिग्रहसद्गुरूपासनश्रवणमनननिदिध्यासनैर्यद्यद्दृग्दृश्यस्वरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमं घटपटादिपदार्थमिवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किंचिन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम्॥ १३॥

सृष्टि की सभी बदलने वाली वस्तुओं में एक ही अपरिवर्तनशील चैतन्य तत्त्व विद्यमान है, अन्य कुछ भी नहीं है, द्रष्टा और दृश्य जो कुछ भी है, सब कुछ चैतन्य तत्त्व ही है। सबके अन्दर यह चैतन्य तत्त्व ही विद्यमान रहने पर भी ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह घट-वस्त्रादि रूप में ही परिवर्तित हो गया है। इसी साक्षात्कार की अनुभूति को ज्ञान कहते हैं। यह अनुभूति शरीर और इन्द्रिय आदि पर नियंत्रण रखने से और सद्गुरु की उपासना, उनके उपदेशों के श्रवण, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करने से होती है॥ १३॥

अज्ञानमिति च रज्जौ सर्पभ्रान्तिरिवाद्वितीये सर्वानुस्यूते सर्वमये ब्रह्मणि देवतिर्यङ्नरस्थावरस्त्रीपुरुषवर्णाश्रमबन्धमोक्षोपाधिनानात्मभेदकल्पितं ज्ञानमज्ञानम्॥ १४॥

जिस प्रकार रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार सब में विद्यमान ब्रह्म और देव, पशु-पक्षी, मनुष्य, स्थावर, स्त्री-पुरुष, वर्ण-आश्रम, बन्धन-मुक्ति आदि सभी अनात्म वस्तुओं में भेद मानना ही 'अज्ञान' है॥ १४॥

सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्॥ १५॥

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा के ज्ञान से जो आनन्दपूर्ण स्थिति बनती है, वही सुख है॥ १५॥

दुःखमिति अनात्मरूपो विषयसंकल्प एव दुःखम्॥ १६॥

अनात्म रूप (नश्वर) विषयों का सङ्कल्प (विचार) करना दुःख कहलाता है॥ १६॥

स्वर्ग इति च सत्संसर्गः स्वर्गः। नरक इति च असत्संसारविषयजनसंसर्ग एव नरकः॥ १७॥

सत् का (अनश्वर का) समागम (सत्पुरुषों का सत्संग) ही स्वर्ग है। असत् (नश्वर) संसार के विषयों (में रचे-पचे लोगों) का संसर्ग ही नरक है॥ १७॥

बन्ध इति च अनाद्यविद्यावासनया जातोऽहमित्यादिसंकल्पो बन्धः॥ १८॥

अनादि अविद्या की वासना (संस्कार) द्वारा उत्पन्न इस प्रकार का विचार कि 'मैं हूँ,' यही बन्धन है॥

पितृमातृसहोदरदारापत्यगृहारामक्षेत्रममतासंसारावरणसङ्कल्पो बन्धः॥ १९॥

माता-पिता, भ्राता, पुत्र, गृह, उद्यान तथा खेत आदि मेरे अपने हैं, यह सांसारिक विचार भी बन्धन ही हैं॥

कर्तृत्वाद्यहंकारसंकल्पो बन्धः॥ २०॥

कर्त्तापन के अहंकार का संकल्प भी बन्धनरूप है॥ २०॥

अणिमाद्यष्टैश्वर्याशासिद्धसंकल्पो बन्धः॥ २१॥

अणिमा आदि (अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये अष्ट सिद्धियाँ अथवा ऐश्वर्य हैं) आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त करने का संकल्प भी बन्धन है॥ २१॥

देवमनुष्याद्युपासनाकामसंकल्पो बन्धः॥ २२॥

मनोकामना की पूर्ति के संकल्पपूर्वक की गई देवताओं और मनुष्यों की उपासना भी बन्धन रूप है॥ २२॥

यमाद्यष्टाङ्गयोगसंकल्पो बन्धः॥ २३॥

यम आदि (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) आठ अङ्गों वाले योग का संकल्प भी बन्धन ही है॥ २३॥

वर्णाश्रमधर्मकर्मसंकल्पो बन्धः॥ २४॥

वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) और आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) धर्म-कर्म के संकल्प भी बन्धन स्वरूप हैं॥ २४॥

आज्ञाभयसंशयात्मगुणसंकल्पो बन्धः॥ २५॥

आज्ञा, भय, संशय आदि आत्म-गुणों के संकल्प भी बन्धन हैं॥ २५॥

यागव्रततपोदानविधिविधानज्ञानसंकल्पो बन्धः॥ २६॥

यज्ञ, व्रत, तप और दान के विधि-विधान तथा ज्ञान के संकल्प भी बन्धन हैं॥२६॥

केवलमोक्षापेक्षासंकल्पो बन्धः॥ २७॥

मोक्ष प्राप्ति का विचार करना भी बन्धन रूप है॥२७॥

संकल्पमात्रसंभवो बन्धः॥ २८॥

संकल्प मात्र से जो कुछ सम्भव है, वह सभी बन्धन स्वरूप है॥ २८॥

मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसारसुखदुःख विषयसमस्तक्षेत्र ममताबन्धक्षयो मोक्षः॥ २९॥

जब नित्य और अनित्य वस्तुओं के विषय में विचार करने से नश्वर संसार के सुख-दुःखात्मक सभी विषयों से ममतारूपी बन्धन विनष्ट हो जाएँ, उस (स्थिति) को मोक्ष कहते हैं॥ २९॥

उपास्य इति च सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः॥ ३०॥

समस्त शरीरों में स्थित, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला गुरु ही उपास्य (पास बैठने योग्य) है॥

शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपञ्चावगाहितज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः॥ ३१॥

जिसके हृदय में विद्या द्वारा नष्ट हुए जगत् के अवगाहन से उत्पन्न ब्रह्म रूप ज्ञान शेष रहे, वही शिष्य है॥

विद्वानिति च सर्वान्तरस्थस्वसंविद्रूपविद्विद्वान्॥ ३२॥

सबके अन्तर में स्थित आत्म तत्त्व के विज्ञानमय स्वरूप को जानने वाला ही विद्वान् है॥३२॥

मूढ इति च कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः॥ ३३॥

कर्त्तापन आदि के भाव में आरूढ़ व्यक्ति ही मूढ़ (मूर्ख) है ॥ ३३॥

आसुरमिति च ब्रह्मविष्णवीशानेन्द्रादीनामैश्वर्यकामनया निरशनजपाग्निहोत्रादिष्वन्तरात्मानं संतापयति चात्युग्ररागद्वेषविहिंसादम्भाद्यपेक्षितं तप आसुरम्॥ ३४॥

जो ब्रह्मा, विष्णु, ईशान और इन्द्र आदि देवों के ऐश्वर्य की कामनापूर्वक व्रत, जप, यज्ञ आदि में अन्तरात्मा को तपाये तथा अत्युग्र राग-द्वेष, हिंसा, दम्भ आदि दुर्गुणों से युक्त होकर जो तप करे, वह आसुरी तप कहलाता है॥ ३४॥

तप इति च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यपरोक्षज्ञानाग्निना। ब्रह्माद्यैश्वर्याशासिद्धसङ्कल्प-बीजसन्तापं तपः॥ ३५॥

ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से ब्रह्मा आदि देवों के ऐश्वर्य प्राप्त करने के सङ्कल्प बीज को संतप्त करना (जला डालना) ही (यथार्थ) तप कहा जाता है॥ ३५॥

परमं पदमिति च प्राणेन्द्रियाद्यन्तः करणगुणादेः। परतरं सच्चिदानन्दमयं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम्॥ ३६॥

प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप और नित्य मुक्त ब्रह्म का स्थान 'परमपद' कहलाता है॥ ३६॥

ग्राह्यमिति च देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यचिन्मात्रस्वरूपं ग्राह्यम्॥ ३७॥

देश, काल, वस्तु की मर्यादा से परे चिन्मात्र स्वरूप (जो कुछ है, वह) ही ग्रहण करने योग्य (ग्राह्य) है॥

अग्राह्यमिति च स्वस्वरूपव्यतिरिक्तमायामयबुद्धीन्द्रियगोचरजगत्स-त्यत्वचिन्तनमग्राह्यम्॥ ३८॥

निजस्वरूप से परे, माया द्वारा कल्पित और बुद्धि तथा इन्द्रियगम्य जगत् की सत्यता का चिन्तन 'अग्राह्य' है॥

संन्यासीति च सर्वधर्मान्परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेत्यादिमहावाक्यार्थानुभवज्ञानाद् ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति॥ ३९॥

जो समस्त धर्मों (कर्मों) में ममता एवं अहंकार का परित्याग करके इष्ट (ब्रह्म) की शरण में जाकर और 'तू वही है', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'जो कुछ भी यह है, सब कुछ निश्चित ही ब्रह्म है', 'ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है', आदि इन महावाक्यों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ', इस प्रकार का निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में लीन रहकर परम स्वतन्त्र और यतिस्वरूप होता है, वह पुरुष 'संन्यासी' कहलाता है, वही मुक्त, पूज्य, योगी, परमहंस, अवधूत और ब्राह्मण होता है॥ ३९॥

इदं निरालम्बोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहतः सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते पुनर्नाभिजायते पुनर्नाभिजायत इत्युपनिषत्॥ ४०॥

इस निरालम्ब उपनिषद् का जो (साधक) गहन अध्ययन करता है, गुरु कृपा से वह अग्निपूत (अग्नि की तरह पवित्र) और वायुपूत (वायु की तरह पावन) हो जाता है, फिर उसका पुनरावर्तन नहीं होता, वह पुनः-पुनः जगत् में जन्म नहीं लेता। निरालम्ब उपनिषद् का यही रहस्य है॥ ४०॥

॥ शान्तिपाठः॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ....इति शान्तिः॥

॥ इति निरालम्बोपनिषत्समाप्ता॥

॥ प्रणवोपनिषद् ॥

नाम के अनुरूप इसमें प्रणव ॐकार का विवेचन किया गया है। ॐकार को परब्रह्म की अक्षराभिव्यक्ति कहा गया है। इसकी तीन मात्राओं (अ, उ, म्) के साथ त्रिदेव, त्रिकाल, त्रिवेद, तीन अग्नियों की संगति बिठाई गयी है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना सहित ७२ हजार नाड़ियों में ॐकार को संव्याप्त कहा गया है। अन्त में कहा गया है कि जो साधक ॐकार के माध्यम से ब्रह्म तादात्म्य प्राप्त करते हैं, वे अमृतत्व के अधिकारी हो जाते हैं।

पुरस्ताद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।
रहस्यं ब्रह्मविद्याया धृताग्निं संप्रचक्षते॥ १॥

अब ब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु के अद्भुत कर्मों से युक्त, (संचित कर्मों को भस्मसात् करने में समर्थ) अग्नि को धारण करने वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य वर्णित किया जा रहा है॥ १॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानकालत्रयं तथा॥ २॥

ब्रह्मवेत्ताओं ने ॐकार को ही एक अद्वितीय, अविनाशी ब्रह्म कहा है, उसके शरीर, स्थान और कालत्रय (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) का विवेचन अब किया जाता है॥ २॥

तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः।
तिस्रो मात्रार्धमात्रा च प्रत्यक्षस्य शिवस्य तत्॥ ३॥

उस ॐकार रूप ब्रह्म में तीन देवता, (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), तीन लोक (भूः, भुवः, स्वः), तीन वेद (ऋक्, यजुष्, साम), तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय), तीन पूर्ण मात्रा और एक अर्धमात्रा (अ, उ, म् एवं अनुस्वार) सन्निहित है। वही उसका साक्षात् कल्याणकारी शिव स्वरूप है॥३॥

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः॥ ४॥

ऋग्वेद, पृथ्वी, गार्हपत्य अग्नि और देव ब्रह्मा - ये तत्त्व ब्रह्मवेत्ताओं ने ॐकार के तीन अक्षरों में अकार के शरीर रूप में बताये हैं॥ ४॥

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।
विष्णुश्च भगवान् देव उकारः परिकीर्तितः॥ ५॥

यजुर्वेद, अन्तरिक्ष, दक्षिणाग्नि और भगवान् विष्णु ये सब तत्त्व ॐकार के तीन अक्षरों में 'उकार' के स्वरूप में निरूपित किये गये हैं॥ ५॥

सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः॥ ६॥

सामवेद, द्युलोक, आहवनीय अग्नि और महादेव शिव- ये सब ॐकार के तीन अक्षरों में से 'मकार' के स्वरूप में निरूपित हुए हैं॥ ६॥

सूर्यमण्डलमाभाति ह्यकारश्चन्द्रमध्यगः।
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः॥ ७॥

सूर्य मण्डल का जो स्वरूप है, वह ॐकार के अक्षरों में 'अकार' का स्वरूप है। चन्द्रमण्डल का स्वरूप 'उकार' से निरूपित है, जो इस ॐकार के मध्य में अवस्थित है॥ ७॥

मकारश्चाग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्नितेजसः॥ ८॥

ॐकार का अन्तिम अक्षर मकार, उस अग्नि स्वरूप में है, जो धूम्ररहित है, विद्युत् सदृश है। ॐकार की तीनों मात्राओं को चन्द्र, सूर्य और अग्नि के तेजस् के स्वरूप में समझना चाहिए॥ ८॥

शिखा च दीपसंकाशा यस्मिन्नु परिवर्तते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता॥ ९॥

दीपक की ज्योतिशिखा के स्वरूप में, जिसमें शिखा ऊर्ध्वगामी हो, उस प्रणव अक्षर 'ॐकार' के ऊपर स्थित अर्द्धचन्द्र-अर्द्ध मात्रा को समझना चाहिए॥ ९॥

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
नासादिसूर्यसंकाशा सूर्यं हित्वा तथापरम्॥ १०॥

दूसरी कमल सूत्र (कमल नाल) के सदृश सूक्ष्म शिखा की कान्ति (मस्तक प्रदेश में) दृष्टिगोचर होती है, वह नासारन्ध्र से सूर्यवत् तेज को धारण कर सूर्यमण्डल का भेदन कर वहाँ स्थित है॥ १०॥

द्विसप्ततिसहस्राणि नाडिभिस्त्वा तु मूर्धनि।
वरदं सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥ ११॥

अग्नि स्वरूप में वह शिखा (ॐकार की अर्द्धमात्रा) बहत्तर हजार नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों को वर (जीवन-प्राण) देने वाली और सबको व्याप्त करके अवस्थित है॥ ११॥

कांस्यघण्टानिनादः स्याद्यदा लिप्यति शान्तये।
ओङ्कारस्तु तथा योज्यः श्रुतये सर्वमिच्छति॥ १२॥

जब मुमुक्षु मोक्ष प्राप्ति के निकट शान्त स्थिति को प्राप्त होता है, तो काँसे के घण्टे के समान निनाद सुनाई देता है, यह ॐ कार का ही स्वरूप है। इस स्वरूप को सभी साधक सुनने की इच्छा करते हैं॥ १२॥

यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते।
सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते इति॥ १३॥

जो साधक (उक्त) ओङ्कार स्वरूप शब्द नाद में लीन हो जाता है, वह ब्रह्मस्वरूप ही कहा जाता है। वही अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, यह सुनिश्चित है॥ १३॥

॥ इति प्रणवोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ प्रश्नोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद के पिप्पलाद शाखा का ब्राह्मण भाग है। प्रश्नोपनिषद् में जिज्ञासुओं द्वारा महर्षि पिप्पलाद से पूछे गये छः प्रश्न और उनके उत्तरों का वर्णन है। प्रथम प्रश्न में कबन्धी ने प्राण और रयि के सम्बन्ध में जानना चाहा। द्वितीय प्रश्न में भार्गव ने प्रजा के आधार विषयक तीन प्रश्न किये हैं। तीसरे प्रश्न के अन्तर्गत आश्वलायन द्वारा प्राण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में छः प्रश्न पूछे गये हैं। चौथे प्रश्न में गार्ग्य द्वारा जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में पाँच जिज्ञासाएँ प्रकट की गयी हैं। पाँचवें प्रश्न के अन्तर्गत सत्यकाम ने ॐकार-उपासना जाननी चाही है। छठा प्रश्न सुकेशा ने किया, जिसमें १६ कलायुक्त पुरुष के विषय में जिज्ञासा की गयी है। अन्त में सभी प्रश्नों के समुचित समाधान पाकर जिज्ञासुओं द्वारा महर्षि पिप्पलाद के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उनकी वन्दना की गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे देवो ! हम कानों द्वारा कल्याणमय वचनों का श्रवण करें । हम नेत्रों से शुभ दृश्य देखें और सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर वाले होकर आयु पर्यन्त देव हित में लगे रहें। इन्द्रदेव हमारे निमित्त कल्याणकारी हों, पूषादेव हमारा कल्याण करें, अरिष्टनाशक गरुड़देव हमारे लिए कल्याणकारी हों तथा बृहस्पति देव हमारे लिए स्वस्ति प्रदाता हों। त्रिविध तापों का शमन हो।

॥ प्रथमः प्रश्नः ॥

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः॥ १॥

भरद्वाज पुत्र सुकेशा, शिबि पुत्र सत्यकाम, गर्गसुत सौर्यायणि (सूर्य का पौत्र), अश्वलपुत्र कौसल्य, विदर्भवासी भार्गव और कात्यायन (कत्यवंशी) कबन्धी आदि परब्रह्म के उपासक और उसके अनुरूप अनुष्ठान में तत्पर छः ऋषिगण, परब्रह्म के प्रति जिज्ञासु भाव से हाथ में समिधा लेकर महर्षि पिप्पलाद के निकट गये॥ १॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति॥ २॥

उन (महर्षि पिप्पलाद) ने उन आगन्तुक ऋषियों से कहा कि आप ब्रह्मचर्यपूर्वक तपस्यारत रहते हुए एक वर्ष तक श्रद्धापूर्वक यहीं रहें, तत्पश्चात् आप अपनी इच्छानुसार प्रश्न करें, यदि मैं जानता होऊँगा, तो आपको अवश्य ही उनके उत्तर दूँगा॥ २॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥

(एक वर्ष पिप्पलाद ऋषि के आश्रम में निवास करने के पश्चात्) कात्यायन कबन्धी ने ऋषि पिप्पलाद के निकट जाकर पूछा भगवन्! यह प्रजा किससे प्रकट (उत्पन्न)होती है ? ॥ ३॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति॥ ४॥

महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि प्रजा वृद्धि की इच्छा वाले प्रजापति ब्रह्मा ने तप किया। तदनन्तर उन्होंने रयि और प्राण नामक एक युगल उत्पन्न किया और सोचा कि यह युगल ही अनेक प्रकार की प्रजा का उत्पादन करेगा॥ ४॥

[प्राण गति प्रदान करने वाला चेतन तत्त्व या शक्ति है तथा रयि उसे धारण करके विविध रूप देने में समर्थ प्रकृति है। वर्तमान विज्ञान की भाषा में इन्हें चेतना युक्त ऊर्जा (लाइव एनर्जी) तथा पदार्थ (मैटर) भी कह सकते हैं। दोनों के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है।]

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः॥

आदित्य ही प्राण स्वरूप और रयि ही चन्द्र स्वरूप है। इस विराट् विश्व में जो कुछ मूर्त्त और अमूर्त्त अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म है, वह सब रयि ही है, अतएव मूर्ति ही रयि है॥ ५॥

[पृथ्वी पर प्राण संचार का दृश्य स्रोत सूर्य है। सूर्य प्रकाशक-प्रेरक है, अस्तु प्राण रूप है। चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित-प्रेरित है, अस्तु रयि का प्रतीक है। स्थूल, सूक्ष्म प्रकृति के सभी घटक रयि ही कहे जाते हैं।]

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते । यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते॥ ६॥

रात्रि के समापन पर पूर्व में उदित होकर सूर्यदेव पूर्व दिशा के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करते हैं, तदनन्तर वे ही सूर्यदेव दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और दिशाओं के मध्य भागों को भी देदीप्यमान करते हैं और उन सब दिशाओं के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करते हैं॥ ६॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्॥ ७॥

वे सूर्यदेव ही वैश्वानर अग्निरूप, विश्वरूप एवं प्राणरूप होकर प्रकट होते हैं। ऋचा (वेद मंत्रों) द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है॥ ७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ ८॥

वे सूर्य सर्वरूप, सर्वाधार, रश्मिवान्, सर्वज्ञाता, तपोनिष्ठ एवं अद्वितीय हैं। वे सहस्रों किरणों वाले सूर्यदेव सैकड़ों रूपों से विद्यमान रहते हुए समस्त प्राणधारियों के प्राणस्वरूप होकर उदित होते हैं॥ ८॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेतऽऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥ ९॥

(एक दृष्टि से) संवत्सर ही प्रजापति है तथा उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। जो लोग अपने अभीष्ट की पूर्ति हेतु कर्मपथ का आश्रय लेते हैं, वे चन्द्रलोक को प्राप्त कर आवागमन को प्राप्त करते हैं। ये प्रजा की कामना करने वाले ऋषिगण दक्षिण की ओर पितृयान मार्ग से गमन करते हैं। यह पितृयान मार्ग ही रयि है॥ ९॥

[चन्द्र शब्द 'चदि' धातु से बना है। जिसका अर्थ 'सुख' है। लौकिक सुख को लक्ष्य करके अपनी ऊर्जा को नियोजित करने वाले, प्रजा उत्पन्न करने वाले जीवन-मरण का चक्र चलाने में सहायक होते हैं।]

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥

आत्मशोधी पुरुष तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या द्वारा परमात्मा को प्राप्त करके उत्तरमार्ग (उत्तरायण) द्वारा सूर्य लोक को प्राप्त करते हैं। वे सूर्यदेव ही प्राणों के आश्रय हैं, वे ही अभय हैं, वे ही अविनाशी हैं और वे ही परमगति वाले हैं। अस्तु, इस सूर्यलोक को प्राप्त करके फिर पुनरावर्तन नहीं होता। इस तथ्य को यह अगला मन्त्र स्पष्ट करता है॥ १०॥

[सूर्य (प्रेरक ऊर्जा स्रोत) को लक्ष्य करके अपनी ऊर्जा को नियोजित करने वाले साधक सृजेता (परमात्मा) से एकात्मरूप हो जाते हैं । इस प्रक्रिया में ब्रह्मचर्य, श्रद्धा आदि का प्रयोग करना होता है।]

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितमिति ॥ ११॥

कुछ विद्वान् (प्रजापति को) पाँच पैरों (पंच प्राणों या पंच तत्त्वों) और बारह आकृतियों (बारह मासों) वाला तथा द्युलोक के बीच (अन्तरिक्ष) में जल धारण करने वाला कहते हैं। अन्य विद्वानों ने उसे सात चक्रों (सात वारों) और छः अरों (छः ऋतुओं) वाला कहा है॥ ११॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेतऽ ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

(अन्य दृष्टि से) मास प्रजापति है। उसके कृष्ण पक्ष रयि तथा शुक्ल पक्ष प्राण हैं। इसलिए ये ऋषि (द्रष्टागण) शुक्लपक्ष में इष्ट कर्म करते हैं तथा अन्य विद्वान् दूसरे कृष्ण पक्ष में इष्ट कार्य संपादित करते हैं॥

[शुक्ल पक्ष में प्रकाश बढ़ता है। शुक्ल पक्ष में इष्ट कर्म का भाव है-ऊर्जा उत्पादन कर्म । कृष्णपक्ष में कर्म का भाव है-ऊर्जा नियोजन कर्म।]

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति। ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३॥

अन्य दृष्टि से अहोरात्र प्रजापति स्वरूप हैं। इनमें दिन, प्राण और रात्रि रयि हैं। इसलिए दिन के समय स्त्री से विहार करने वाले पुरुष अपने प्राण को क्षीण करते हैं, पर रात्रि में रति हेतु संयोग करने वाले पुरुष उसके कर्मफल से लिप्त नहीं होते, अतः वे ब्रह्मचारी ही माने जाते हैं॥ १३॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥ १४ ॥

अन्न ही प्रजापति है, उसी से वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्य से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है॥

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥ १५ ॥

इस प्रकार प्रजापति के इस व्रत पालन करने वाले पुरुष (कन्या-पुत्र रूप) मिथुन का उत्पादन करते हैं। तपस्वी और ब्रह्मचर्ययुक्त तथा सत्यावलम्बी पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं॥ १५॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति॥ १६॥

जिन व्यक्तियों में कुटिलता, झूठ और माया (छल-कपट) नहीं हैं, वे विशुद्ध ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं॥

॥ द्वितीयः प्रश्नः ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते? कतर एतत्प्रकाशयन्ते? कः पुनरेषां वरिष्ठः? इति॥ १॥

इसके पश्चात् विदर्भदेशीय भार्गव ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा- हे भगवन्! प्रजाधारण करने वाले देवताओं की संख्या कितनी है? उनमें से कौन देवता इसे प्रकाशित करते हैं तथा उनमें से वरिष्ठ कौन है?॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे (भार्गव ऋषि से) कहा कि निश्चित रूप से आकाश, अग्नि, जल, पृथिवी (पंचभूत) तथा मन, वाणी, नेत्र और श्रोत्र आदि (इन्द्रियाँ) ये सब भी देव ही हैं। ये समस्त देवगण प्रकट होकर कहते हैं कि हमने ही इस शरीर को धारण किया है। अस्तु, हम ही इसके आश्रयदाता हैं॥ २॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथा । अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्-बाणमवष्टभ्य विधारयामीति॥ ३॥

इन सभी देवताओं में सर्वश्रेष्ठ प्राण ने कहा कि आप मोह का परित्याग करें, मैं ही अपने पाँच विभागों (अवयवों) से इस शरीर को आश्रय प्रदान करके धारण करता हूँ ॥३॥

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजान-मुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति॥ ४॥

प्राण की इस बात पर देवताओं को विश्वास नहीं हुआ। तब प्राण के अभिमान पूर्वक ऊपर उठने और बाहर निकलने लगने के साथ ही वाक्, नेत्र, मन और श्रोत्रादि भी शरीर से बाहर निकलने लगे। जब वह रुक गया, तो उपर्युक्त सभी इन्द्रियाँ भी ठहर गयीं। जैसे मधुमक्खियों में रानी मक्खी के छत्ते से ऊपर निकलते ही, सभी मक्खियाँ उसके साथ ही बहिर्गमन करने लगती हैं और उसके बैठे रहने पर बैठी रहती हैं, इस प्रकार प्राण की वरिष्ठता सिद्ध हो जाने पर वाक् आदि सभी देवों ने प्राण की अभ्यर्थना की ॥४॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५॥

यह प्राण ही अग्नि होकर तपता है। यही सूर्य, इन्द्र, मेघ, वायु, पृथिवी एवं रयि है। सत्, असत् और अमृत भी यह प्राण ही है ॥५॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥ ६॥

जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार प्राण में ऋग्वेद की ऋचाएँ, यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय और यज्ञ-सभी सन्निहित हैं॥ ६॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण! प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७॥

'हे प्राण! आप ही प्रजापति हैं, गर्भ में आप ही निवास करते हैं और आप ही माता-पिता के समान आकृति वाले होकर जन्म लेते हैं। हे प्राण! यह प्रजा आपको ही बलि प्रदान करती है, क्योंकि आप ही सम्पूर्ण इन्द्रियों सहित प्रतिष्ठित हैं॥ ७॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि॥ ८॥

(हे प्राण!) आप ही देवताओं के लिए अग्नि हैं। पितरगणों के लिए स्वधा हैं। यह सत्य (तथ्य) अथर्वा और आङ्गिरस ऋषियों द्वारा प्रमाणित किया गया है॥ ८॥

इन्द्रस्त्वं प्राण! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥ ९॥

हे प्राण! आप ही इन्द्र हैं। अपने तेज के फलस्वरूप रुद्र हैं और सब ओर से हमारी सुरक्षा करने वाले हैं। आप ही ज्योतियों के स्वामी सूर्य हैं। आप ही अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं॥ ९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥ १०॥

हे प्राण! जब आप मेघरूप होकर वर्षण करते हैं, तब यह समस्त प्रजा प्रभूत अन्न उत्पादन की आशा से आह्लादित हो जाती है॥ १०॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः॥ ११॥

हे प्राण! आप व्रात्य (संस्कार विहीन) होकर भी एकर्षि नामक अग्नि हैं। हम आपके निमित्त जो आहार प्रदान करते हैं, आप उसके भोक्ता हैं। आप इस जगत् के स्वामी हैं। हे प्राण! आप हमारे पिता हैं तथा आप ही वायु रूप होकर आकाश में विचरण करने वाले मातरिश्वा हैं॥ ११॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥ १२॥

आपका जो स्वरूप वाणी, श्रोत्र, नेत्र और मन में संव्याप्त है, आप उसे शान्त करें (कल्याणमय करें)। आप शरीर से बहिर्गमन करने की चेष्टा न करें॥ १२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥ १३॥

इस जगत् अथवा तृतीय द्युलोक (त्रिदिव-स्वर्ग) में जो भी प्रतिष्ठित है, वह सब प्राण के ही वश में है। हे प्राण! आप हमारी उसी प्रकार रक्षा करें, जिस प्रकार माता पुत्र की सुरक्षा करती है। आप हमें श्री (समृद्धि) और प्रज्ञा प्रदान करें॥ १३॥

[भूलोक को 'प्रथम', भुवः (अन्तरिक्ष) लोक को द्वितीय तथा स्वः(स्वर्ग या त्रिदिव) लोक को 'तृतीय' की संज्ञा प्रदान की जाती है।]

॥ तृतीयः प्रश्नः ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो जायते? कथमायात्यस्मिञ्छरीरे? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते? केनोत्क्रमते? कथं बाह्यमभिधत्ते? कथमध्यात्ममिति॥ १॥

तदुपरान्त कौसल्य आश्वलायन ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा भगवन्! इस प्राण की उत्पत्ति कहाँ से होती है? यह इस शरीर में किस प्रकार प्रविष्ट होता है, यह किस प्रकार शरीर से बाहर आता है और किस प्रकार बाहरी और भीतरी शरीर को धारण करता है?॥ १॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि॥ २॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा कि आप बहुत जटिल प्रश्न पूछते हैं; किन्तु आप ब्रह्मनिष्ठ हैं, इसलिए मैं आपके प्रश्नों के उत्तर देता हूँ॥ २॥

[सामान्य रूप से प्राण तत्त्व की अनुभूति कठिन है, उसकी उत्पत्ति एवं नियोजन का क्रम और भी कठिन है; लेकिन ब्रह्मनिष्ठ उसे समझ सकते हैं, इसलिए महर्षि उनके लिए वह विषय स्पष्ट करते हैं।]

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाया-त्यस्मिञ्छरीरे॥ ३॥

इस प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है। जिस प्रकार छाया देहधारी की देह से उत्पन्न होती है अथवा छाया देहधारी के आश्रित है, उसी प्रकार प्राण आत्मा से उत्पन्न होकर, उसी के आश्रित रहता है। यह प्राण मन के संकल्प के अनुसार शरीर में प्रविष्ट होता है॥ ३॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामान-
धितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते॥ ४॥

जिस प्रकार राजा अपने विभिन्न अधिकारियों को पृथक्-पृथक् ग्रामों में नियुक्त करता है, उसी प्रकार प्राण (प्रमुख प्राण) अन्य प्राणों (इतर प्राणों-इन्द्रियों) की पृथक्-पृथक् नियुक्ति करता है॥ ४॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति॥ ५॥

वह प्राण स्वयं मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में प्रतिष्ठित होता है तथा गुदा (वायु) एवं उपस्थेन्द्रिय में अपान वायु को नियुक्त करता है। मध्य भाग में समान वायु रहता है, जो अन्न को समानतापूर्वक शरीर के विभिन्न भागों को वितरित करता है। उसी प्राण रूपी अग्नि से सात ज्वालाओं का प्रादुर्भाव होता है॥ ५॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वा-सप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥ ६॥

यह आत्मा प्राणी के हृदय प्रदेश में स्थित है। इस हृदय प्रान्त में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उन सभी नाड़ियों में प्रत्येक की सौ-सौ शाखायें हैं और उन सभी नाड़ी शाखाओं में भी प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखायें हैं। इन सब नाड़ी शाखाओं में व्यान वायु सञ्चरित होता है॥ ६॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥

इन नाड़ियों में एक नाड़ी (सुषुम्ना नाड़ी) ऊर्ध्वगामी है, जिसके माध्यम से उदान नामक वायु मनुष्य को पुण्य कृत्यों द्वारा पुण्यलोक को और पाप कृत्यों द्वारा अधम लोक को ले जाता है। यह उदान वायु पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा मनुष्य को मर्त्य लोक में प्रतिष्ठित करता है ॥ ७॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः॥ ८॥

आदित्य निश्चित रूप से बाहरी प्राण है। यह चाक्षुष (चक्षु सम्बन्धी) प्राण को अनुगृहीत करता हुआ उदित होता है । पृथ्वी का देवता प्राणी के अपान वायु को आकर्षित करता है। इन दोनों (द्यु और पृथ्वी) के बीच का रिक्त स्थान (आकाश) ही समान वायु है तथा बाह्य वायु , व्यापकता में (आन्तरिक व्यान से)समानता होने से व्यान है॥ ८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः॥ ९॥

विश्वविख्यात (आदित्यरूपी) तेज ही उदान है, जिनका तेजस् शीतल हो जाता है, उनकी इन्द्रियों का मन में विलय हो जाता है, इस स्थिति में वे पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं ॥ ९॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः। सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥ १०॥

(मरणकाल में) इस (आत्मा) का जिस तरह का मनः संकल्प होता है, वह उसी प्रकार के संकल्प के साथ प्राण को प्राप्त करता है। वह प्राण तेजस् सम्पन्न होकर जीव के संकल्पानुसार उसे विभिन्न लोकों (योनियों) में ले जाता है॥ १०॥

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥ ११॥

जो विज्ञजन प्राण तत्त्व को इस प्रकार जानते हैं, उनकी प्रजा (वंश) कभी विनाश को प्राप्त नहीं होती और वे अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। यह श्लोक इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है॥ ११॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति॥ १२॥

जो मनुष्य प्राण तत्त्व की उत्पत्ति, आगमन, स्थान व्यापकत्व तथा बाहरी और आध्यात्मिक (आन्तरिक) स्थिति के पाँचों भेदों को भली प्रकार जान लेता है, वह अमर पद प्राप्त कर लेता है-वह निश्चित ही अमरत्व को प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

॥ चतुर्थः प्रश्नः ॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति ? कान्यस्मिन् जाग्रति ? कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति ? कस्यैतत्सुखं भवति ? कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति॥ १॥

तदुपरान्त सूर्य-पौत्र गार्ग्य ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया-हे भगवन् ! इस पुरुष देह में कौन (इन्द्रियाँ) शयन करती हैं और कौन जाग्रत् रहती हैं ? कौन देवता स्वप्न देखता है और कौन सुख अनुभव करता है ? ये सब किसमें सम्प्रतिष्ठित होते हैं ? ॥ १॥

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य। मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनःपुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते॥ २॥

महर्षि पिप्पलाद ने गार्ग्य ऋषि से कहा- हे गार्ग्य! जिस प्रकार सूर्य की रश्मियाँ उसके अस्त होने पर सिमटकर उसी के तेजोमंडल में एकीभूत हो जाती हैं और सूर्योदय होने पर पुनः सर्वत्र फैल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ परमदेव मन में एकीभूत हो जाती हैं, तब यह पुरुष न देखता है, न सुनता है, न स्वाद लेता है, न सूँघता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न मल का त्याग करता है, न आनंद का अनुभव करता है और न ही किसी प्रकार की चेष्टा करता है, तब उसकी इस स्थिति को शयन करना (सो जाना) कहते हैं॥ २॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽ पानो व्यानोऽ न्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३॥

(सोते समय) इस शरीररूप पुर (नगर) में प्राणरूप अग्नि ही जाग्रत् रहता है। यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। व्यान ही अन्वाहार्यपचन नामक अग्नि है। गार्हपत्य से ले जाया गया प्राण ही 'प्रणयन प्रक्रिया' के कारण आहवनीय अग्निरूप है॥ ३॥

[ऋषि यहाँ काया में सतत चलने वाली जीवन रूपी यज्ञीय प्रक्रिया का स्वरूप व्यक्त कर रहे हैं।]

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४॥

शरीरधारी में उच्छ्वास और निःश्वास (श्वास लेना और छोड़ना) ही यज्ञाहुतियाँ हैं। उन आहुतियों को समानता पूर्वक विभक्त करने के कारण समान वायु (ही ऋत्विक्) है। मन निश्चित ही यजमान है और अभीष्ट फल उदान है। यही उदान (इच्छित फल) मन को नित्य ही ब्रह्म में स्थित करता है॥ ४॥

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति॥ ५॥

स्वप्न की स्थिति में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है। जाग्रत् अवस्था में इसने जो देखा था, उसी को पुनः (स्वप्न में) देखता है, जो सुना था उसे ही सुनता है, विभिन्न दिशाओं में अनुभव किये हुए को पुनः-पुनः अनुभव करता है। (इतना ही नहीं) यह देखे-अनदेखे, सुने-अनसुने, अनुभूत-अननुभूत, सत् और असत् समस्त पदार्थों को देखता है और स्वयं भी सर्वरूप बनकर देखता है॥ ५॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति॥

जब यह जीवात्मा तेजस् से सम्पन्न होता है, तब यह स्वप्न नहीं देखता। उस समय शरीर में यह आनन्द (सुषुप्ति सुख) अनुभव करता है॥ ६॥

स यथा सोम्य! वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥

हे सोम्य! जिस प्रकार पक्षी अपने निवास स्थान वृक्ष पर जाकर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार ये समस्त तत्त्व परम आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं॥ ७॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥ ८॥

(गत मन्त्रों में जिन तत्त्वों का संकेत है, वे ये हैं) पृथ्वी एवं उसकी तन्मात्रा (गन्ध), जल एवं उसकी तन्मात्रा (रस), आकाश एवं उसकी तन्मात्रा (शब्द), वायु और उसकी तन्मात्रा (स्पर्श), तेज (अग्नि) और उसकी तन्मात्रा (रूप), नेत्र और देखने योग्य (दृश्य), कान और सुनने योग्य (शब्द), घ्राण और सूँघने योग्य (गंध), रसना और स्वाद ग्रहण करने योग्य (रस), त्वचा और स्पर्श करने योग्य (पदार्थ), हाथ और ग्रहण करने योग्य पदार्थ, वाक् शक्ति और वक्तव्य-विषय, उपस्थ और उससे सम्बंधित विषय, गुदा और विसर्जन योग्य (मल), पैर और गन्तव्य स्थल, मन और मननीय विषय, बुद्धि और जानने योग्य विषय, अहंकार और उसका विषय, चित्त और चिंतनीय विषय, तेजस् और प्रकाशित करने योग्य पदार्थ, प्राण एवं उसके आश्रित रहने वाले पदार्थ (ये सब) परम आत्मा में विलीन हो जाते हैं॥ ८॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धाकर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९॥

यही द्रष्टा (देखने वाला), स्प्रष्टा (स्पर्श करने वाला), श्रोता (सुनने वाला), घ्राता (सूँघने वाला), रसयिता (रस लेने वाला), मन्ता (मनन करने वाला), कर्त्ता (कर्म करने वाला) और बोद्धा (जानने वाला) विज्ञानात्मा पुरुष है; जो परम अविनाशी ब्रह्म में स्थित हो जाता है॥ ९॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वो भवति॥ तदेष श्लोकः॥ १०॥

हे सोम्य! जो पुरुष, इस छायारहित, शरीररहित, अलोहित, शुभ्र अक्षर परमात्मा को भली-भाँति जानता है, वह सर्वज्ञ और सर्वरूप होकर उसी को प्राप्त हो जाता है-ऐसा इस श्लोक में भी वर्णित है ॥ १०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥ ११॥

हे सोम्य ! जिस अविनाशी परब्रह्म में समस्त देवगण, समस्त प्राण और समस्त भूत भली प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जानने वाला सर्वज्ञाता भी उसी में (परमात्मा में) प्रविष्ट हो जाता है॥ ११॥

॥ पञ्चमः प्रश्नः ॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्त-मोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति॥ १॥

इसके उपरान्त शिबि पुत्र सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा हे भगवन्! यह बताने का अनुग्रह करें कि जो मनुष्य जीवन भर (मरण पर्यन्त) ॐ का ध्यान करे, वह इस (ओंकारोपासना) द्वारा किस लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है?॥ १॥

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम। परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वा-नेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥ २॥

महर्षि पिप्पलाद ने कहा- हे सत्यकाम! यह ॐ कार ही निश्चित रूप से परब्रह्म और अपरब्रह्म है। अत: जो विद्वान् इसे इस प्रकार जानता है, वह इनमें से किसी एक (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है ॥ २॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति॥ ३॥

वह साधक यदि एक मात्रा वाले ॐकार का ध्यान करता है, तो उसके माध्यम से वह अतिशीघ्र इस जगत् को प्राप्त कर लेता है। वहाँ वह ब्रह्मचर्य, तप और श्रद्धा से सम्पन्न होकर महिमावान् होता है॥ ३॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽ न्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥ ४॥

यदि वह द्विमात्रिक ॐकार का ध्यान करे, तो उसे यजुर्वेद के मन्त्र अन्तरिक्ष में स्थित सोम लोक में ले जाते हैं। वह वहाँ (सोम लोक में) विभूतियों का अनुभव करके पुन: (मर्त्यलोक में) वापस लौट आता है॥ ४॥

य: पुनरेतन्त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्न:। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त: स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवत:॥ ५॥

जो पुरुष त्रिमात्रिक ॐकार के ध्यान द्वारा साधना करता है, वह तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त करता है। जिस प्रकार सर्प केंचुली से मुक्त होकर बाहर आ जाता है, उसी प्रकार वह पापों से छूट जाता है और साम-मन्त्रों द्वारा ब्रह्मलोक पहुँचा दिया जाता है। वह विद्वान् इस जीवनघन से भी श्रेष्ठ समस्त शरीरों में प्रविष्ट (हृदय में स्थित) परमात्मा का दर्शन करता है। ये दो श्लोक इसी तथ्य के प्रतिपादक हैं॥ ५॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य: प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ता: ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञ:॥ ६॥

ॐ कार मंत्र की तीनों मात्राएँ (अलग-अलग होने पर भी) परस्पर संबद्ध हैं - मृत्यु से युक्त हैं। ये (ध्यान प्रक्रिया में) प्रयुक्त होती हैं एवं आपस में ऐसी हैं, जिनका प्रतिकूल रूप में प्रयोग नहीं किया गया है । अस्तु, (इन्हें) बाहर-भीतर और बीच की क्रियाओं में भली प्रकार प्रयुक्त करने वाला विद्वान् पुरुष दृढ़ संकल्प वाला हो जाता है, जो कभी विचलित नहीं होता॥ ६॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति॥ ७॥

(एक मात्रिक ॐकार की साधना द्वारा) साधक को ऋग्वेद की ऋचाएँ इस लोक की प्राप्ति कराती हैं, (द्विमात्रिक ओंकार साधना से) यजुर्वेद के मंत्र अंतरिक्ष लोक की और (त्रिमात्रिक ॐकार साधना द्वारा) सामवेद के मंत्र उसे उस (तृतीय ब्रह्म लोक) लोक की प्राप्ति कराते हैं, ऐसा विद्वज्जन जानते हैं। उस ॐकार मंत्र का आश्रय लेकर ही विद्वान् उस परमब्रह्म लोक को प्राप्त करता है, जो शांतिपूर्ण, अजर-अमर भयरहित एवं सर्वोत्कृष्ट है ॥ ७॥

॥ षष्ठः प्रश्नः ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ ? तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुषः ? इति॥ १ ॥

इसके बाद भरद्वाज ऋषि के पुत्र सुकेशा ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा- हे भगवन्! कौसल देश के राजपुत्र हिरण्यनाभ ने मेरे निकट आकर जो प्रश्न किया था, वह मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ- हे भारद्वाज! क्या आप सोलह कला से सम्पन्न पुरुष के विषय में जानते हैं? मैंने उस राजकुमार से कहा- मैं उसे नहीं जानता, यदि मैं जानता होता, तो आपको क्यों नहीं बताता ? जो व्यक्ति झूठ बोलता है, वह समूल सूख जाता है, अस्तु, मैं झूठ नहीं बोल सकता। तदनन्तर वह राजकुमार चुपचाप रथारूढ़ होकर चला गया। आप हमारा समाधान करें कि वह 'पुरुष' कहाँ रहता है (जिसके विषय में राजकुमार ने पूछा था) ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति॥

आचार्य पिप्पलाद ने उनसे कहा- हे सोम्य! जिस पुरुष में षोडश कलाएँ उत्पन्न होती हैं, वह इस शरीर के ही अन्दर विद्यमान है॥ २ ॥

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

उस (देह-स्थित) पुरुष ने चिन्तन किया कि किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा और किसके प्रतिष्ठित रहने पर मैं प्रतिष्ठित रहूँगा॥ ३ ॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मंत्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च ॥ ४॥

उस पुरुष ने सर्वप्रथम प्राण का सृजन किया,तदुपरान्त प्राण से श्रद्धा,आकाश, वायु , ज्योति, जल,पृथ्वी, इन्द्रियाँ , मन और अन्न सृजा गया। अन्न से वीर्य,तप,मन्त्र,कर्म,लोक एवं नाम आदि (सोलह कलाओं)की रचना हुई॥ ४ ॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः॥ ५ ॥

जिस प्रकार नदियाँ बहते बहते समुद्र में जा मिलती हैं और उसमें ही विलीन होकर अपना नाम-रूप विनष्ट करके 'समुद्र' ही हो जाती हैं। उसी प्रकार सर्वद्रष्टा परम पुरुष की षोडश कलाएँ उस परम पुरुष में ही विलीन हो जाती हैं, उनके नाम-रूप भी विनष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ही कहलाती हैं। इसके बाद भी वह पुरुष कलारहित और अमर है, इस तथ्य के प्रतिपादन स्वरूप यह श्लोक है॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।

तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥ ६॥

रथ की नाभि में जिस तरह अरे लगे होते हैं, उसी प्रकार जिस परम पुरुष (परमेश्वर) में समस्त कलाएँ प्रतिष्ठित हैं, उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो, ताकि मृत्यु तुम्हें व्यथा न पहुँचा सके॥ ६॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति॥ ७॥

इसके बाद उन महर्षि पिप्पलाद ने समस्त ऋषियों से कहा इस परब्रह्म के विषय में मैं इतना ही ज्ञान रखता हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ ७॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ ८॥

तदुपरान्त ऋषियों ने उन (महर्षि पिप्पलाद) की अर्चना करते हुए कहा–आप हमारे पिता हैं, क्योंकि आपने हमें अविद्या (अज्ञान) के उस पार कर दिया है। आप परम ऋषि हैं, हमारा आपको नमन है–नमन है॥ ८॥

॥ शान्तिपाठः॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम........ ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः .....इति शान्तिः॥

॥ इति प्रश्नोपनिषत्समाप्ता॥

॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥

शुक्ल यजुर्वेद की काण्व-शाखा के वाजसनेयि ब्राह्मण-शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत यह उपनिषद् है। बृहत् (बड़ी) और आरण्यक (वन) में विकसित होने के कारण इसे 'बृहदारण्यक' कहा गया है। इसमें छः अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में अनेक ब्राह्मण हैं।

प्रथम अध्याय में छः ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण (अश्वमेध परक) में सृष्टि रूप यज्ञ को एक विराट् अश्व की उपमा से व्यक्त किया गया है और दूसरे में प्रलय के बाद सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। तीसरे में देवों असुरों के प्रसंग से प्राण की महिमा और उसके भेद स्पष्ट किये गये हैं। चौथे में ब्रह्म को सर्वरूप कहकर उसके द्वारा चार वर्णों के विकास का उल्लेख है। छठवें में विभिन्न अन्नों की उत्पत्ति तथा मन, वाणी एवं प्राण के महत्त्व का वर्णन है। साथ ही नाम, रूप एवं कर्म की प्रतिष्ठा भी है। दूसरे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में डींग हाँकने वाले गार्ग्य बालाकि एवं ज्ञानी राजा अजातशत्रु के संवाद के द्वारा ब्रह्म एवं आत्म तत्त्व को स्पष्ट किया गया है। दूसरे-तीसरे में प्राणोपासना तथा ब्रह्म के दो (मूर्त्त और अमूर्त्त) रूपों का वर्णन है। चौथे में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है। यह संवाद अध्याय ४ ब्राह्मण ५ में भी लगभग एक ही प्रकार से है। पाँचवें-छठें ब्रा० में मधुविद्या और उसकी परम्परा का वर्णन है। तीसरे अध्याय के नौ ब्राह्मणों के अन्तर्गत राजा जनक के यज्ञ में याज्ञवल्क्य से विभिन्न तत्त्ववेत्ताओं की प्रश्नोत्तरी है। गार्गी ने दो बार प्रश्न किए हैं, पहली बार अतिप्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने उन्हें मस्तक गिरने की बात कहकर रोक दिया। दुबारा वे सभा की अनुमति से पुनः दो प्रश्न करती हैं तथा समाधान पाकर लोगों से कह देती हैं कि इनसे कोई जीत नहीं सकेगा, किन्तु शाकल्य विदग्ध नहीं माने और अतिप्रश्न करने के कारण उनका मस्तक गिर गया। चौथे अध्याय में याज्ञवल्क्य-जनक संवाद एवं याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है। अन्त में इस काण्ड की परम्परा है। पाँचवें अध्याय में विविध रूपों में ब्रह्म की उपासना के साथ मनोमय पुरुष एवं वाक् की उपासना भी कही गयी है। मरणोत्तर ऊर्ध्वगति के साथ अन्न एवं प्राण की विविध रूपों में उपासना समझायी गयी है। गायत्री उपासना में जपनीय तीनों चरणों के साथ चौथे 'दर्शत' पद का भी उल्लेख है। छठें अध्याय में प्राण की श्रेष्ठता, पंचाग्नि विद्या, मन्थ विद्या तथा सन्तानोत्पत्ति के विज्ञान का वर्णन है। अन्त में समस्त प्रकरण के आचार्य परम्परा की शृंखला व्यक्त की गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.......इति शान्तिः ॥ – (द्रष्टव्य-ईशावास्योपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माꣳसानि। ऊवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते यद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

प्रथम ब्राह्मण में विराट् 'मेध्य अश्व' का वर्णन किया गया है। जिसके अंग-अवयव तीनों लोकों में कण-कण में संव्याप्त हैं। यह एक आलंकारिक व्याख्या है। 'अश्व' शब्द शक्ति एवं गति का परिचायक है। यह ब्रह्माण्ड

गतिशील है। इसे जो शक्ति गतिशील किये है, उसे 'अश्व' कहा गया है। अशु-व्याप्नोति के अनुसार तीव्रगति से संचरित होने वाले को 'अश्व' कहना उचित है। यह अश्व 'मेध्य' है। 'मेध' शब्द 'यज्ञ' का पर्यायवाची है। अस्तु,यह शक्ति का संचार जो विश्व का संवाहक है, निश्चित रूप से 'मेध्य' (यजनीय) है। इसका उपयोग यज्ञीय दिव्य अनुशासन में ही किया जाना चाहिए। मेध (मेधृ) धातु के तीन अर्थ हैं — मेधा, हनन और संगम- संयोजन। इस विराट् यज्ञीय प्रक्रिया को हननीय-हिंसनीय तो नहीं ही कह सकते; अस्तु, यह अर्थ यहाँ अग्राह्य है। इसे मेध्य-मेधा से प्रभावित करने योग्य या मेधा से ग्रहण करने योग्य अवश्य कह सकते हैं। यह संगम योग्य भी है ही । इसके साथ जुड़ जाना या इस शक्ति प्रवाह को अपने साथ जोड़कर रखना आवश्यक भी है।

इस यज्ञीय अश्व या विश्वव्यापी शक्ति प्रवाह का सिर उषाकाल है। आदित्य ही नेत्र हैं, वायु ही प्राण है, वैश्वानराग्नि व्यात्त (खुला हुआ) मुख है और संवत्सर ही आत्मा है। द्युलोक उस यज्ञाश्व का पृष्ठ (ऊपरी या अव्यक्त) भाग, अन्तरिक्ष उसका उदर, पृथिवी पैर रखने का स्थल, दिशाएँ पार्श्व भाग, अवान्तर दिशाएँ- पसलियाँ, ऋतुएँ अन्य अङ्ग, मास और पक्ष-सन्धिस्थल, दिन और रात्रि दोनों पैर, नक्षत्र समूह-अस्थियाँ और आकाश उसका मांस है। अपरिपक्व (उदर स्थित) अन्न-सिकता (वस्तु या सूक्ष्मकण) है, नदियाँ- नाड़ी समूह, पर्वत समूह-यकृत् और हृदयगत मांस है। वनस्पतियाँ-रोम (लोम समूह), ऊर्ध्वगामी सूर्य - नाभि से ऊपर का स्थल, अधोगामी (अस्ताचल को जाता हुआ) सूर्य-कमर से नीचे का भाग है। विद्युत् चमकना मानों इस यज्ञाश्व का जमुहाई लेना है, मेघों का गरजना उसका अँगड़ाई लेना है, जल वर्षा ही मानों उसका मूत्र त्यागना है और शब्द घोष उसकी (अश्व) वाणी है॥ १ ॥

[उपमाएँ यथार्थ का बोध कराती हैं, वे स्वयं यथार्थ नहीं होतीं। अस्तु, अश्व के अङ्गों के साथ सिर आदि की जो उपमाएँ दी गयी हैं, वे बहुत अंशों तक सटीक हैं। अश्व का उदर 'अन्तरिक्ष' को कहा गया है, अस्तु (उदर में) अपरिपक्व अन्न 'सिकता' सामान्य बालू के कण नहीं, अन्तरिक्ष में स्थित सूक्ष्म कण (सब पार्टिकल्स) समझे जाने चाहिए, जो अभी अपरिपक्व हैं-पदार्थ रूप में परिवर्तित नहीं हुए हैं।]

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः॥ २॥

विराट् विश्व अथवा यज्ञाश्व की महिमा स्वरूप सर्वप्रथम दिन का प्राकट्य हुआ, उसकी पूर्व दिशा में समुद्र योनि विद्यमान है। इसकी द्वितीय महिमा के रूप में रात्रि का प्राकट्य हुआ, उसकी पश्चिम दिशा में समुद्र योनि है। ये दोनों समुद्र योनियाँ इस यज्ञाश्व के आगे-पीछे की महिमा संज्ञा वाले ग्रह हैं। इस (विराट् अश्व) ने हय (त्याग) रूप में देवों को वहन किया, वाजी (भोग) बनकर गन्धर्वों को वहन किया, अर्वा (चंचल-आक्रामक) रूप धारण कर असुरों और अश्व (अधिक भोजन करने वाला) रूप से मानवों को वहन किया है। इस यज्ञाश्व अथवा विराट् विश्व का उद्गम स्थल और बन्धु (बाँधकर रखने वाला प्रेमी-सहयोगी) भी समुद्र ही है ॥ २॥

[हय, वाजी, अर्वा, अश्व यह सभी शब्द पर्यायवाची हैं, सभी का अर्थ गतिशील होता है; किन्तु भाव-भेद से इनमें कुछ अन्तर है। त्याग कर बढ़ने वाला 'हय' है। वाजीकरण औषधियाँ भोग शक्ति को बढ़ाने वाली होती हैं; अस्तु, वाजी योगपरक है। अर्वा चंचल-आक्रामक है और अश्व को महाशनो, बहुभोजी कहा गया है। अश्व का उद्गम स्थल और बन्धु समुद्र कहा गया है। यह सामान्य समुद्र नहीं 'आपः तत्त्व' कारण प्रकृति जिसमें हिलोरें लेती है, जिसकी लहरों से लोक - लोकान्तर बनते-बिगड़ते रहते हैं, वह विराट् सक्रिय व्योम है। वेद ने इसे ही 'समुद्रो अर्णवः' आदि कहा है।]

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मेकमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् कः ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥ १ ॥

प्रारम्भ में इस विश्व में और कुछ भी न था। सब कुछ मृत्यु से आवृत था। यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत था। क्षुधा ही मृत्यु है। (संसार को अपने अन्दर विलीन कर लेने के कारण ईश्वर को भी मृत्यु कहते हैं।) उसने सङ्कल्प किया कि मैं मन (संकल्पशक्ति) से युक्त हो जाऊँ। उसने अर्चन (इसके लिए प्रयत्न) किया, जिससे आप: (कारण रूप सक्रिय तत्त्व या प्रकृति) की उत्पत्ति हुई। यह (आप:) ही अर्क (ब्रह्माण्ड) का अर्कत्व (ऐश्वर्य) है। इस अर्क (मूल तत्त्व) को इस प्रकार जानने वाले को 'क' (सुख) की प्राप्ति होती है॥ १ ॥

[सब कुछ मृत्यु एवं क्षुधा से आवृत था, यह आलंकारिक उक्ति है। मृत्यु निष्क्रियता की स्थिति है- प्रलय की स्थिति है। ब्रह्माण्ड को अपने में लय कर लेने की ईश्वरीय इच्छा को उसकी क्षुधा कह सकते हैं। लय करने की इच्छा या क्षुधा के फलस्वरूप ही प्रलय-मृत्यु की स्थिति आती है। उसी ब्रह्म की इच्छा पुनः उगल देने की-सृष्टि को प्रकट करने की हुई, तो वह चक्र पुनः चल पड़ा। अर्क शब्द 'अर्च' धातु से बना है। इसे अर्च्+क या अर्क्+क (= अर्चक-अर्क्क) कह सकते हैं। इसे देव संज्ञक मानते हैं। इस देव रहस्य को जानने वाले को सुख या देवत्व की प्राप्ति होना उचित है।]

आपो वा अर्कस्तद्यदपाः शर आसीत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्तताग्निः ॥ २ ॥

आप: (मूलतत्त्व) ही अर्क है। उस आप: के ऊपर स्थूल भाग एकत्र हो जाने से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। तदुपरान्त उस पृथ्वी पर सृजेता के श्रम और तपश्चर्या के परिणाम स्वरूप उसका (ईश्वर का) सारभूत तेज अग्नि के रूप में प्रकट हुआ॥ २ ॥

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयः स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्वचैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥

उस परमेश्वर ने अपने (अग्निरूप अवतरण) के तृतीयांश को सूर्य, तृतीयांश को वायु (तथा शेष तृतीयांश अग्नि) इस प्रकार तीन भागों में विभक्त किया । पूर्व दिशा उस विराट् का शीर्ष भाग (सिर), ईशान दिशाएँ और आग्नेय दिशाएँ उसकी दोनों बाँहें, पश्चिम दिशा उसकी पूँछ तथा वायव्य और नैर्ऋत्य दिशाएँ उस विराट् की जंघाएँ हैं। उत्तर और दक्षिण दिशाओं को उसका पार्श्व भाग तथा द्युलोक को पृष्ठ भाग कहते हैं। अन्तरिक्ष उसका उदर प्रदेश और पृथिवी वक्षस्थल (हृदय) है। यह (अग्नि रूप विराट् तत्त्व) आप: तत्त्व में प्रतिष्ठित है। इस विराट् को जो इस प्रकार जानता है, वह प्रतिष्ठा प्राप्त करता है॥ ३ ॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनः समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत्॥ ४॥

उस विराट् ने इच्छा की कि मेरा द्वितीय (भिन्न) रूप या प्रयास भी प्रकट हो। अस्तु, उस क्षुधारूप मृत्यु ने मन के साथ वाणी की कामना की। दोनों के सम्बद्ध होने से जो रेतस् प्रकट हुआ, वही संवत्सर हुआ। उससे पूर्व संवत्सर अथवा काल नहीं था। उस संवत्सर को उतने ही समय तक वे मृत्यु स्वरूप प्रजापति गर्भ में धारण किये रहे। निर्धारित समय पूरा हो चुकने के बाद उस (संवत्सर) को प्रकट किया। उस उत्पन्न कुमार को खाने के लिए मृत्यु ने मुँह फैलाया, तब उस (कुमार के) मुख से 'भाण्' (शब्द) निकला, वही वाणी हो गई ॥ ४ ॥

[यह आलंकारिक वर्णन है। मन के साथ वाणी के संयोग से रेतस् अर्थात् प्रवहमान तेजस्-ज्ञान प्रकट हुआ। वही घनीभूत होकर संवत्सर (संवित्+सर) अर्थात् मन एवं वाणी के संयोग से बना ज्ञान सरोवर बना। वह ज्ञान काल-कवलित न हो जाये, इसलिए उसने भा=शोभायुक्त, ण=प्राण प्रयोग (शोभनीय प्राण प्रयोग अर्थात् ज्ञानयुक्त जीवों का विस्तार) किया। यह बात आगे सिद्ध होती है।]

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान् प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

उस (मृत्यु) ने कुमार को भयभीत देखकर सोचा कि यदि मैं इसका भक्षण कर लूँ, तो यह अत्यल्प अन्न ही ग्रहण करूँगा। अस्तु, मृत्यु ने मन और वाणी के संयोग से ऋक्, यजु, साम, छन्द और यज्ञ, पशु और प्रजा की रचना की। इन सभी सृजित वस्तुओं को उसने भक्षण कर लेने का विचार किया। वह सबका भक्षण करता है। ईश्वर भी सभी को अपने में लीन कर लेता है। अतः यही उस अदिति (अखण्ड रूप ईश्वर) का अदितित्व (एकरस-एकरूप) है। जो इस प्रकार इस अदिति के अदितित्व का ज्ञान रखता है, वह इन सबका अत्ता होता है अर्थात् वह समस्त वस्तुओं और अन्नों का खाने वाला (आत्मसात् करने वाला) होता है ॥ ५ ॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥ ६ ॥

उस (प्रजापति) ने कामना की कि मैं फिर से एक विराट् यज्ञ द्वारा यजन कार्य करूँ, सो उसने श्रम और तप किया। तप और श्रम से यश और बल प्रकट हुए। प्राण तत्त्व ही यश और बल (वीर्य) है। प्राणों के विस्तार के साथ ही शरीर फूलने (विस्तार पाने) लगा। तब भी उसका मन शरीर में (उस विकास प्रक्रिया में) ही लगा रहा॥ ६ ॥

[वर्तमान वैज्ञानिक-अनुसंधान के आधार पर भी सृष्टि का उद्भव बिगबैंग-महाविस्फोट के साथ प्राण-प्रक्रिया का विस्तार हुआ और दृश्य जगत् फैल गया। पहले पदार्थ अत्यधिक घनीभूत था। उसके फैलने-फूलने से ही यह मेध्य समझा जाने योग्य ब्रह्माण्ड विकसित हुआ।]

सोऽकामयत मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति ततोऽश्वः समभवद्यदश्व-त्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वं। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद तमनवरुध्यैवामन्यत तꣳ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते। एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्मायम-

ग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ सोपुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥ ७॥

तदुपरान्त उसने कामना की कि मेरा यह शरीर जानने योग्य अथवा यज्ञीय (मेध्य) हो जाए और मैं इसके माध्यम से शरीरवान् हो जाऊँ। तब यह शरीर अश्वत् (फैलकर बड़ा) हो गया। अस्तु, वह अश्व कहलाया और वह अश्व ही मेध्य (जानने योग्य या संगति बिठाने योग्य अथवा यजनीय) हुआ। यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है। इसे इस प्रकार जानने वाला ही वस्तुतः अश्वमेध को जानता है। उसने (प्रजापति ने) उस अश्वमेध को अवरोध रहित ही विचार किया (दर्शन किया)। उसने (प्रजापति ने) संवत्सर के बाद उसका (अश्व का) अपने निमित्त आलभन किया और अन्य पशुओं को भी देवों के निमित्त प्रस्तुत किया। अस्तु, यजनकर्त्ता मन्त्र से संस्कारित समस्त देवों से सम्बन्धित प्राजापत्य पशु को आलभित करते हैं। यह तप्यमान (आदित्य) ही अश्वमेध है। संवत्सर उसकी देह है। अग्नि अर्क है और समस्त लोक ही इस (अश्व) की आत्मा हैं। ये अग्नि और आदित्य दोनों ही अर्क और अश्वमेध हैं; किन्तु वे मृत्यु स्वरूप देवता एक ही हैं। इस प्रकार से मृत्यु को जानने वाला मृत्युजित् या मृत्युंजय हो जाता है। वह स्वयं भी मृत्यु स्वरूप होकर देवों में भी मुख्य स्थान प्राप्त कर लेता है॥ ७॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

उद्गीथ विद्या की यह आख्यायिका कतिपय परिवर्तनों के साथ छान्दोग्य उपनिषद् के अध्याय-१ के द्वितीय खण्ड में भी आई है-

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १ ॥

प्रजापति के पुत्रों के दो वर्ग थे- देवता और असुर। उनमें देवता अल्प और असुर बहु संख्यक थे। विभिन्न लोकों में निवास करते हुए वे परस्पर प्रतिस्पर्धा करने लगे। देवताओं ने निश्चय किया कि हम लोग यज्ञ में 'उद्गीथ' के द्वारा असुरों का अतिक्रमण करें॥ १ ॥

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत् यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥ २ ॥

तदुपरान्त देवों ने उद्गीथ गान हेतु वाणी के अभिमानी देवता वाक् से निवेदन किया। उनके निवेदन को स्वीकार कर वाक् ने उद्गीथ पाठ किया। उसने अपने भोग को देवताओं के निमित्त गाया और अपने लिए शुभ वचनों का गान किया, जिससे असुर जान गये कि देवगण उद्गाता के माध्यम से हम पर आक्रमण करेंगे। अस्तु, उन्होंने वाक् के निकट जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। वाक् का निषिद्ध (अनुचित) वचन ही वस्तुतः पाप है॥ २॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तंदेवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा॥ ३॥

तब देवों ने प्राण से कहा कि आप हमारे लिए उद्गाता बन जाएँ। प्राण ने 'तथास्तु' कहकर इसे स्वीकार कर लिया और उद्गीथ गायन सम्पन्न किया। उसने (प्राण ने) प्राण तत्त्व के भोग को देवताओं के लिए और जिस (श्रेष्ठ) गंध को वह सूँघता है, उसे अपने लिए गाया। असुरों को विदित हो गया कि देवता प्राण रूप उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। अस्तु, वे प्राण के पास गये और उसे पाप से बींध दिया। घ्राण (प्राण शक्ति) जिस अनुपयुक्त अथवा निषिद्ध को सूँघता है, वही पाप है॥ ३॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायद् यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा॥ ४॥

तब देवों ने चक्षु से उद्गीथ गान करने के लिए निवेदन किया। उसे स्वीकार कर चक्षु इन्द्रिय ने उद्गीथ गान किया। चक्षु में स्थित भोग सामर्थ्य को उसने देवों के निमित्त गाया और उसमें जो शुभ दर्शन का गुण है, उसे अपने लिए गाया। इस तथ्य को असुरगण जान गये कि देवता चक्षुरूप उद्गाता के द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे, तब असुरों ने चक्षु के निकट जाकर (आक्रमण करके) उसे पाप से विद्ध कर दिया। नेत्रेन्द्रिय जिस अनुचित को देखती है, वही पाप है॥ ४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुद्गायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳशृणोति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳशृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५॥

इसके बाद देवताओं ने श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) से कहा कि आप हमारे लिए उद्गान करें। श्रोत्र ने स्वीकार करके देवों के लिए उद्गान किया। श्रोत्रेन्द्रिय के भोग को उसने देवताओं के लिए और वह जो शुभ सुनता है, उसे अपने लिए गाया। असुर यह जान गये कि श्रोत्र रूप उद्गाता के द्वारा देवता हमारे ऊपर आक्रमण करेंगे, तब उनने श्रोत्र पर आक्रमण किया और उन्हें पाप- रूप अस्त्र से बींध दिया। अनुचित और अनुपयुक्त सुनना ही पाप है॥ ५॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उद्गायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणꣳ संकल्पयति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मेनाविध्यन्॥ ६॥

तत्पश्चात् देवताओं ने मन से उद्गान करने की प्रार्थना की । मन ने उसे स्वीकार कर लिया और उद्गान सम्पन्न किया। मन के भोगों को उसने देवताओं के लिए और उसके शुभ संकल्पों का अपने लिए गान किया। इससे असुर यह जान गये कि देवगण मनरूप उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। तब उन्होंने (असुरों ने) मन पर आक्रमण करके उसे पाप से विद्ध कर दिया। अनुपयुक्त और अशुभ संकल्प करना ही पाप है। अतः देवगण पाप का संसर्ग पाकर (असुरों द्वारा) पाप से विद्ध हुए ॥ ६॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्स्यन्स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसे तैवꣳ हैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन् परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७॥

तब देवों ने अपने मुख में निवास करने वाले प्राण से निवेदन किया कि आप हमारे निमित्त उद्गीथ पाठ करें। मुखस्थ प्राण ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उद्गीथ गान किया, जब असुरों ने यह जाना कि देवता (प्राणरूप) उद्गाता के द्वारा हमारे ऊपर आक्रमण करेंगे, तब उन्होंने प्राण के पास जाकर उसे भी पाप से विद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु मिट्टी के ढेले के पत्थर से टकराकर चूर-चूर हो जाने के समान वे असुरगण (मुखस्थ प्राण से टकराकर) विभिन्न प्रकार से छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो गये। इस प्रकार देवगण विजयी और असुर-गण पराजित हुए। जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है वह शत्रु को पराजित करके स्वयं विजयी होता है॥ ७॥

ते होचु क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरितिसोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः ॥ ८॥

इसके पश्चात् उन देवताओं ने परस्पर चर्चा की कि जिनने हमें असक्त (स्व स्वरूप से युक्त) किया अर्थात् हमारी रक्षा की और हमें देवत्व भाव को प्राप्त कराया, वे कहाँ स्थित हैं? किसी ने उत्तर दिया कि वे (मुख्य प्राण) हमारे मुख में स्थित हैं, इसीलिए उनका नाम अयास्य हुआ। अङ्गों का रस होने के कारण उन्हें आङ्गिरस भी कहते हैं॥ ८॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरꣳ ह्यस्या मृत्युर्दूरꣳ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद॥

यह (प्राण नाम वाले) देवता 'दूर' नाम से युक्त हैं, क्योंकि मृत्यु इससे दूर रहती है। जो इस (मृत्यु के प्राण से दूर रहने के रहस्य) को इस तरह जानता है, वह मृत्यु से बचा रहता है॥ ९॥

स वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

उस, इस प्राण रूप देवता ने इन्द्रियरूपी देवताओं के पाप रूपी मृत्यु को विनष्ट करके दिशाओं के सीमान्त स्थल तक पहुँचा दिया और तिरस्कारपूर्वक उसने (प्राण ने) उन्हें (पापों को) वहाँ प्रतिष्ठित कर दिया। अतः किसी को भी यह सोचकर कि मैं पापरूप मृत्यु के पाश में न फँसूँ, दिशाओं के सीमान्त प्रदेश में नहीं जाना चाहिए (अर्थात् मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए)॥ १०॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैनां मृत्युमत्यवहत् ॥ ११॥

उस प्राण देवता ने इन्द्रियादि देवताओं के पाप रूप मृत्यु को विनष्ट कर उन्हें मृत्यु के उस पार पहुँचा दिया अर्थात् मृत्यु रहित कर दिया (पाप का परित्याग कर मानव मोक्ष रूपी अमृतत्व को प्राप्त करता है)॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२॥

उस प्राण देवता ने सर्वप्रथम वाग्देवता को मृत्यु के पार किया। वाग्देवता मृत्यु के पार होते ही (अमृतत्व प्राप्त करके)अग्निरूप हो गये। अग्निरूप हुई वह वाणी ही मृत्यु का अतिक्रमण करके देदीप्यमान हो रही है॥ १२॥

अथ ह प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते॥ १३॥

तदुपरान्त उस प्राण देवता ने घ्राणशक्ति को मृत्यु के पार किया। तब (पापरूपी) मृत्यु से पार हुई वह प्राण शक्ति वायुरूप हो गई। अब वही वायु मृत्यु के पाश से मुक्त होकर प्रवाहित हो रही है॥ १३॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत् सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तास्तपति ॥ १४॥

तत्पश्चात् वह प्राण चक्षु को मृत्यु के पार ले गया। मृत्यु बन्धन से विमुक्त हुआ चक्षु आदित्य रूप हो गया। अब वही चक्षु पाप (मृत्यु) बन्धन से मुक्त होकर आदित्य रूप से तपता है-प्रकाशित होता है॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवꣳस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः॥ १५॥

इसके बाद प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु से पार किया। मृत्यु से मुक्त होकर श्रोत्र दिशारूप हो गये। इस प्रकार दिशारूप होकर श्रोत्र मृत्यु बन्धन से छूट गये॥ १५॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवꣳ ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६॥

तब उस प्राण ने मन को मृत्यु से पार किया। मृत्यु से पार होकर मन चन्द्रमा हो गया। पाप अथवा मृत्यु से मुक्त होकर वह मन ही चन्द्रमा होकर प्रकाशित हो रहा है। इस रहस्यात्मक तथ्य को जानने वाले (तत्त्वज्ञानी) के प्राण उसे मृत्यु से मुक्त कर देता है॥ १६॥

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७॥

तदुपरान्त प्राण ने अपने निमित्त अन्न का गायन (गुणगान) किया, क्योंकि जो भी अन्न ग्रहण किया जाता है, वह प्राण द्वारा ही भक्षण किया जाता है और अन्न से ही प्राण प्रतिष्ठित होता है॥ १७॥

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवꣳ ह वा एनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रति प्रतिबुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वै तमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८॥

इसके पश्चात् देवों ने प्राण से कहा कि आपने सम्पूर्ण अन्न का उद्गान अपने निमित्त ही किया है, अतः अपने उपभोग से अवशिष्ट अन्न में हमें भी भागीदार बनाएँ। प्राण ने कहा कि आप लोग अपना भाग ग्रहण करने हेतु चारों ओर से हममें प्रवेश करें। 'ऐसा ही करेंगे'- यह कहकर वे समस्त (इन्द्रियरूप) देवगण प्राण में प्रवेश कर गये। इस प्रकार प्राण द्वारा अन्न (भोज्य पदार्थ) ग्रहण किये जाने पर इन्द्रियरूप देवता भी तृप्ति अनुभव करते हैं। इस प्रकार से जानने वाले का ज्ञानीजन आश्रय ग्रहण करते हैं। वह स्वजनों का पोषक, उनमें श्रेष्ठ और अग्रगामी होता है। ज्ञानीजनों में से भी; जो इस प्रकार के ज्ञाता के विपरीत होना चाहते हैं, वे अपने आश्रित जनो का भरण-पोषण नहीं कर पाते और जो उनके अनुकूल होते हैं, वे अपने स्वजनों-आश्रितों का भरण-पोषण करने में सक्षम होते हैं॥ १८॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः प्राणो वा अङ्गानाꣳ रसः प्राणो हि वा अङ्गानाꣳ रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाꣳ रसः॥

उस प्राण तत्त्व को अयास्य तथा आङ्गिरस कहा गया है, क्योंकि वह मुख में स्थित अङ्गों का (रस) सार होता है। निश्चित ही प्राण अङ्गों का रस है, क्योंकि जब शरीर के किसी भी अङ्ग से प्राण निकल जाता है, तो वह अङ्ग सूख जाता है॥ १९॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ २० ॥

प्राण को ही बृहस्पति कहा गया है, क्योंकि वाणी बृहती है और उसके पति बृहस्पति हैं ॥ २० ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

यह ही ब्रह्मणस्पति है। वाणी ही ब्रह्म है और प्राण वाणी का स्वामी है, इसलिए [illegible] ही [illegible] है ॥

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वं [illegible] समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवमेतत्साम वेद ॥ २२ ॥

यही (प्राण) साम है। यह वाक् ही 'सा' और यह प्राण ही 'अम' है। 'सा' और 'अम' के संयोग से ही 'साम' बनता है। साम का सामत्व भी यही है, क्योंकि यह (प्राण) मक्खी जैसा है, मच्छर जैसा है, हाथी जैसा है और तीनों लोकों के तुल्य है। इसी कारण वह साम है। जो इस प्रकार साम के विषय में जानता है, वह साम के सायुज्यत्व और सालोक्यत्व को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳ सर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्चगीथा चेति स उद्गीथः ॥ २३ ॥

इसी प्राण को उद्गीथ कहते हैं। प्राण के द्वारा ही सब कुछ धारण किया हुआ होने से इसे 'उत्' कहा गया है। वाक् अर्थात् वाणी ही गीथा (गीत) है, प्राण ही उत् है और गीथा भी, इसीलिए इसे 'उद्गीथ' कहते हैं ॥ २३ ॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयता-द्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥ २४ ॥

(प्राण के विषय में) एक प्रसिद्ध आख्यायिका यह भी है कि चैकितानेय ब्रह्मदत्त ने सोमपान करते समय यह कहा कि यदि मैंने मुख में निवास करने वाले अङ्गों के रस को प्राणों से अलग जानकर उद्गान (उद्गीथगान) किया हो, तो सोमदेव मेरा सिर गिरा दें (अर्थात् मेरा अपमान कर दें अथवा मेरा सोमपान व्यर्थ कर दें)। इससे स्पष्ट होता है कि उसने प्राण और वाक् द्वारा ही उद्गान किया था ॥ २४ ॥

[मुख से - वाणी से जो व्यक्त है, वह यदि प्राणों के स्पन्दन से युक्त नहीं तो व्यर्थ है- ढोंग है। केवल रटकर बोले गये शब्दों में अनुभूतिजन्य प्राणों का संचार न होने से वे निस्तेज-निष्प्रभावी होते हैं। प्राण एवं वाक् का संयोग जीवन साधना में अनिवार्य है।]

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एवाथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

जो व्यक्ति इस साम के 'स्वर' से यथार्थ रूप से विज्ञ है, वह निश्चित ही धन-ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है। स्वर (कण्ठ की मधुरता) ही उसका धन है। अतः ऋत्विक्-कर्म सम्पादित करने वाले को स्वर में माधुर्य का समावेश करना चाहिए। उत्कृष्ट स्वर युक्त वाणी में ऋत्विक्-कर्म सम्पादित करना चाहिए; क्योंकि यज्ञ में मधुर स्वर युक्त उद्गाता का दर्शन करने की सभी इच्छा करते हैं। जो व्यक्ति साम के धन को जानता है, वह उस धन (मधुर स्वर) को अवश्य ही प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुर्वणं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६॥

जो इस साम के सुवर्ण (मधुर-स्वर या धन) को जानता है, उसे सुवर्ण (मधुर स्वररूपी धन) मिलता है; क्योंकि मधुर स्वर ही साम का सुवर्ण है। जो साम के सुवर्ण को इस प्रकार जानता है, वह निश्चित ही सुवर्ण प्राप्त करता है॥ २६॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः॥ २७॥

जो व्यक्ति साम की प्रतिष्ठा के विषय में जानते हैं, वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। व्यक्ति की वाणी ही प्रतिष्ठा स्वरूप है (उसी से प्रतिष्ठा मिलती है)। प्राण ही निश्चित रूप से वाणी में प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वह प्राण अन्न में प्रतिष्ठित होकर (अन्न की शुद्धि के साथ) गाया जाता है॥ २७॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेदसतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्मामृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तꣳस एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८॥

अब आगे पवमान-स्तोत्रों का पाठ करने का विधान वर्णित किया जाता है- प्रस्तोता (प्रस्तोता नामक ऋत्विज्) यज्ञकर्म में सामगान प्रारम्भ करने से पहले इन मंत्रों का जप करे- **'असतो मा सद्गमय,' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** अर्थात् हमें असत् से सत् की ओर ले चलो, हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। प्रस्तोता जब यह कहता है, मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, तब उसका अभिप्राय होता है- मृत्यु ही असत् और अमृत ही सत् है और मुझे मृत्यु से बचाकर अमर कर दो। जब वह यह कहता है कि मुझे तमस् से प्रकाशोन्मुख करो, तब उसका अभिप्राय होता है कि मृत्यु ही अंधेरा और अमृत ही प्रकाश है और मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। जब वह (प्रस्तोता) यह कहता है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो, तो इस कथन में तो कुछ छुपी बात है ही नहीं अर्थात् कथन स्पष्ट ही है। अन्य स्तोत्रों में उद्गाता को अपने लिए अन्न (पोषक तत्त्वों) का उद्गान करना चाहिए। इन स्तोत्रों के द्वारा यजमान इच्छित भोगों की याचना करे। इस तथ्य को जानने वाला उद्गाता अपने या यजमान के निमित्त जिस वस्तु या भोग की कामना करता है, उसी का उद्गान करता है। यह प्राण दर्शन समस्त लोकों को प्राप्त करने का साधन है। जो ज्ञानी इस साम को इस प्रकार से जानता है, उसे कुछ भी प्राप्त करने के लिए निराश होने की आवश्यकता नहीं है॥ २८॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

पुरुष के रूप में यह आत्मा (पहले एकाकी) ही था। चतुर्दिक् दृष्टिपात करने पर उसने अपने से भिन्न कुछ भी नहीं पाया, तब उसने कहा 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ। इसीलिए उसे अहम् संज्ञक कहा जाता है। इसी कारण अभी भी बुलाए जाने पर कोई व्यक्ति पहले 'अयमहम्' अर्थात् 'यह मैं हूँ' कहने के बाद ही अपना अन्य नाम बतलाता है। उस (प्रजापति) ने (समस्त पापों को) दग्ध कर दिया था, इसीलिए वह पुरुष कहलाया। जो इस प्रकार इस पुरुष (आत्मा) को जानता है, वह उस (आत्मा) से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करने वाले को भस्मीभूत कर देता है॥ १ ॥

[पुर् =प्रथमे, उष=दाहे, प्रथम-पहले ही विकारों-पापों का दाह कर देने वाला होने से 'पुरुष' कहलाता है। पुरुष कहलाने वाले में विकारों को दग्ध कर देने का पुरुषोचित पौरुष होना चाहिए।]

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद्द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

तदुपरान्त वह (पुरुष) भयभीत हो गया। इसी कारण अकेला पुरुष भयभीत होता है, तब उस पुरुष ने चिन्तन किया कि जब मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है , तब मैं किससे और क्यों भय करूँ ? यह चिन्तन करते ही उसका भय दूर हो गया; क्योंकि भय तो दूसरों से ही होता है, अकेला होने पर तो उसके भय का कोई कारण नहीं है॥ २ ॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त॥ ३ ॥

(एकाकी होने के कारण) वह रमा नहीं अर्थात् उसका मन नहीं लगा। इसी कारण एकाकी पुरुष का मन अभी भी रमता नहीं। तब उसने किसी अन्य की आकांक्षा की। तदुपरान्त स्त्री और पुरुष के सम्मिलित होने पर जितना आकार होता है, वह पुरुष उतने ही आकार का बन गया और उसने अपने शरीर को स्त्री और पुरुष इन दो भागों में विभक्त कर दिया। जिससे दोनों भाग परस्पर पति-पत्नी हुए । ऋषि याज्ञवल्क्य का कथन है कि - इसी कारण यह काया अर्द्धबृगल (द्विदल अन्न के एक दल) की भाँति है। अस्तु, यह आकाश (पुरुष का रिक्त भाग) स्त्रीत्व से पूर्ण होता है। पुरुष और स्त्री के सम्मिलन से ही मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है॥ ३ ॥

[शिव के अर्धनारी नटेश्वर की धारणा यहाँ स्पष्ट की गई है। प्रथम चरण में पुरुष एवं प्रकृति के प्रकटीकरण की घटना गर्भ से शिशु जन्म की तरह घटित नहीं हुई । दाल या सीप पकने पर उसके दो दल खुल जाने की तरह यह सृष्टि प्रक्रिया सम्पन्न हुई। ब्रह्म से पुरुष और प्रकृति, महादेव से शिव और शक्ति, प्रजापति से ब्रह्मा और सावित्री का प्राकट्य इसी प्रकार हुआ।]

सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मान एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्ताः समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताः समेवाभवत्तत एकशफमजायताजेतराभवद्बस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्ताःसमेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४॥

उस स्त्री ने सोचा कि अपने ही शरीर से मुझे प्रकट करके यह पुरुष मुझसे सम्पर्क क्यों करता है ? अच्छा हो मैं इससे बचने के लिए छिप जाऊँ, अस्तु उसने गौ का रूप धारण कर लिया, तब वह पुरुष वृषभ बन गया, जिससे गौओं और बैलों की उत्पत्ति हुई, तदुपरान्त उसने घोड़ी का शरीर धारण कर लिया, तब पुरुष अश्व हो गया , फिर वह गर्दभी बन गई और पुरुष गर्दभ बन गया, इससे एक खुर वाले पशुओं का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् वह बकरी बन गई और पुरुष बकरा बन गया, जब वह भेड़ी बन गई, तो वह भेड़ा बन गया, इस प्रकार बकरियों और भेड़ों की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटी तक सभी जोड़े सहित मिथुनों की रचना सम्पन्न हुई ॥ ४॥

[ऋषि यहाँ बहुत स्पष्टता से यह तथ्य प्रकट करते हैं कि विकासवाद के अनुसार अमीबा से धीरे-धीरे विभिन्न प्रजाति के प्राणियों के विकास की कल्पना उचित नहीं है। प्रथम- चरण में आवश्यकतानुसार जिस-जिस रूप में प्रकृति अपने संकल्प से ढलती गयी, उसी अनुरूप उसका पूरक पुरुष पक्ष भी संकल्प शक्ति से ही बना, उसके बाद मैथुनी सृष्टि का क्रम प्रारम्भ हुआ।]

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहःहीदःसर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याः हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ५॥

यह रचना करने के बाद प्रजापति रूप उस पुरुष को ज्ञान हुआ कि मैंने सबकी रचना की है, इसलिए मैं ही सृष्टि हूँ। इस प्रकार वह 'सृष्टि' नाम से युक्त हुआ। सृष्टि को इस प्रकार जानने वाला व्यक्ति उसकी सृष्टि में प्रसिद्धि प्राप्त करता है ॥ ५॥

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतस्तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवा अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदःसर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिर्यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याः हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद॥ ६॥

तदुपरान्त उस पुरुष (प्रजापति) ने मन्थन किया। उसने मुखरूपी योनि (उत्पत्ति स्थल)और दोनों हाथों से मन्थन करके अग्नि को प्रकट किया। हाथ और मुख दोनों में ही अन्दर की ओर लोम नहीं होते और योनि में भी अन्दर लोम नहीं होते। अस्तु, जो (याज्ञिक जन) एक-एक देवता (अग्नि, इन्द्र आदि) के लिए यजन करने को कहते हैं, वे इस तथ्य को नहीं जानते कि सब देवता एक ही परमेश्वर में समाहित हैं और उस एक (परमेश्वर) ने ही सृष्टि की रचना की है। जो भी द्रव पदार्थ है, वह वीर्य से उत्पन्न सोम है। निश्चित ही सोम ही अन्न, अग्नि और अन्नाद का उपभोग करने वाला है। परब्रह्म की यह महान् रचना है। यह ब्रह्मा की महान् सृष्टि (अतिसृष्टि) ही है कि उसने अमरत्व प्राप्त देवताओं का सृजन किया - स्वयं मर्त्य होकर अमृतों का निर्माण किया, इसलिए इसे अतिसृष्टि कहा जाता है। जो इस सृष्टि को इस प्रकार जानता है, वह इस (परब्रह्म) की अतिसृष्टि में (प्रसिद्धि को प्राप्त) हो जाता है॥ ६॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदꣳरूप इति स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳ श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥ ७॥

पहले (सृष्टि के आरम्भ में) यह जगत् नाम रहित था। तत्पश्चात् वह नाम और रूप से युक्त होकर प्रकट हुआ। इसीलिए कोई वस्तु अभी भी 'इस नाम और रूप से युक्त है' इस प्रकार जानी जाती है। वह (आत्मा) इस शरीर में नखों के अग्रभाग तक इस प्रकार प्रविष्ट है, जिस प्रकार उस्तरे का फल काष्ठ में प्रविष्ट रहता है और अग्नि अपने आश्रय वेदी अथवा काष्ठ में स्थित रहती है, किन्तु उसे प्रत्यक्ष देख सकना किसी के लिए सम्भव नहीं है। वह आत्मा अपूर्ण है। प्राणन प्रक्रिया (श्वास-प्रश्वास) के कारण उसे प्राण, बोलने के कारण वाणी, देखने के कारण चक्षु, सुनने के कारण श्रोत्र और मनन करने के कारण मन कहते हैं। ये सभी संज्ञाएँ उसे उसके भिन्न-भिन्न कर्मानुसार प्रदान की गई हैं। अस्तु, जो व्यक्ति इनमें से पृथक्-पृथक् की उपासना करता है, वह (इसके वास्तविक स्वरूप को) नहीं जानता, क्योंकि सभी गुण उस एक में ही एकत्र हो जाते हैं। यह आत्मा सबके लिए प्राप्त करने योग्य है; क्योंकि इसे प्राप्त कर लेने अथवा जान लेने से सम्पूर्ण विश्व को जाना जा सकता है। जिस प्रकार पद चिह्नों द्वारा खोये हुए (पशु आदि) को ढूँढ़ लिया जाता है (उसी प्रकार व्यक्ति आत्मा को जानकर उसके सूत्रों द्वारा सम्पूर्ण संसार को जान लेता है)। इस तथ्य को इस प्रकार जानने वाला कीर्ति लाभ प्राप्त करता है॥ ७॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८॥

इस प्रकार यह (आत्मा) पुत्र से भी अधिक प्रिय, सम्पदा से भी अधिक प्रिय और अन्य सभी से भी अधिक प्रिय है । शरीर के अन्दर स्थित आत्मा से भिन्न वस्तु को यदि कोई अधिक प्रिय समझता है, तो वह मानों अपने अन्तरात्मा को ही खो देता है अर्थात् आत्मा को विस्मृत कर देता है। जो साधक आत्म तत्त्व को सर्वाधिक प्रिय मानकर उसकी उपासना करता है, वह कभी मरता नहीं- अमर हो जाता है॥ ८॥

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥ ९॥

जिज्ञासु ब्राह्मणों द्वारा कहा गया है कि ब्रह्मविद्या के माध्यम से 'हम सब कुछ हो जाएँगे' अर्थात् हमें सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। इस तथ्य का क्या आधार है ? क्या अभी तक किसी ने उस ब्रह्मविद्या को भली-भाँति जान लिया है, जिसके द्वारा उसे सब कुछ प्राप्त हो गया है ?॥ ९॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्तात्तत् सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुंज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १०॥

सर्वप्रथम केवल ब्रह्म ही था। यह जानकर कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह सर्वरूप हो गया। देवताओं में से जिस-जिस ने उस ब्रह्म को जाना, वे सब ब्रह्मरूप हो गये। इसी तरह मानवों और ऋषियों में से भी जिस-जिस ने उसका ज्ञान प्राप्त किया, वे सब भी ब्रह्मस्वरूप हो गये। ऋषि वामदेव ने कहा- इसे (ब्रह्म को) जानकर मैं मनु और सूर्य हो गया। इस समय भी जो यह मानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह सर्वरूप हो जाता है। उसको पराजित करने में देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका ही आत्मस्वरूप हो जाता है। जो अपने और दूसरे में भेद देखता है, वह पशु के समान हो जाता है। जिस प्रकार विभिन्न पशु मनुष्यों को पोषित करते हैं, उसी प्रकार (देवों के लिए पशु तुल्य) मनुष्य भी अनेक देवताओं को पोषित करते हैं। एक पशु का ही अपहरण हो जाए, तो बुरा लगता है। यदि अनेक पशुओं का अपहरण हो, तब तो और भी बुरा लगेगा। इसी कारण देवगण यह नहीं चाहते कि मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकें॥ १०॥

[ऋषि का यह कथन बड़ा रहस्यात्मक है। देवता मनुष्य देह में विभिन्न इन्द्रियों, अंग-अवयवों के अधिष्ठाता बनकर स्थित हैं। आत्म चेतना जब परमात्म तत्त्व की ओर उन्मुख होती है, तो इन्द्रियों की भोगेच्छाओं से उसका लगाव हटने लगता है तथा उनमें स्थित देवता, जीवात्मा (आत्मचेतना) का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं, यही प्रक्रिया उसके ब्रह्मज्ञान में प्रविष्ट होने में बाधक बनती है।]

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात्

क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳ सित्वा॥

सबसे पहले ब्रह्म (ब्राह्मण वर्ण) ही था; किन्तु एकाकी होने के कारण वह अपनी वृद्धि करने में समर्थ न हो सका। अस्तु,उसने क्षत्रिय वर्ण का सृजन किया। देवों में वरुण, इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, मृत्यु, यम और ईशान ये सभी क्षत्रिय ही हुए, इसीलिए क्षत्रिय सर्वोत्कृष्ट हैं। इसी कारण राजसूय यज्ञों में ब्राह्मण भी क्षत्रिय से नीचे आसीन होकर उसकी (क्षत्रिय की) उपासना (सम्मान) करता है। यह ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्रिय की ही योनि है। अत: यद्यपि (राजसूय यज्ञ के क्रम में) क्षत्रिय उत्कृष्ट है, तो भी यज्ञ के पश्चात् वह ब्राह्मण का ही आश्रय ग्रहण करता है। जो क्षत्रिय ब्राह्मण को हिंसित करता है, वह अपनी ही योनि को विनष्ट करता है। वह अपने श्रेष्ठ आधार की हिंसा करने वाला व्यक्ति 'पापीयान्' (बड़ा पापी या पाप कर्म का आधार) बन जाता है॥ ११॥

[प्रारम्भ में सभी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण जैसा जीवन जीते थे। समाज बढ़ा तो रक्षा करने वालों की आवश्यकता पड़ी। रक्षक वर्ग (क्षत्रिय) का विकास उन्हीं ब्रह्मनिष्ठों के बीच से किया गया। रक्षण कार्य के सन्दर्भ में उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ माना गया।]

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥ १२॥

वह ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्रिय का सृजन करने के बाद भी अपनी वृद्धि में सक्षम नहीं हुआ, तब उसने वैश्य वर्ण का सृजन किया। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् ये समस्त देवगण वैश्य कहलाते हैं॥

[समाज का और विकास हुआ, तो पुन: उभरी आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन, वितरणपरक वैश्य वर्ण को उसी समाज में से विकसित किया गया।]

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किंच॥

इसके अनन्तर (अर्थात् क्षत्रिय और वैश्य की रचना के बाद) भी वह ब्रह्म प्रवृद्ध न हो सका, तब उसने शूद्र वर्ण की रचना की। पूषा देवता शूद्र वर्ण के हैं। यह पृथ्वी माता भी पूषा देवता ही है, क्योंकि यह समस्त प्राणियों का पोषण करती है॥ १३॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति॥ १४॥

इतने (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का सृजन करने) पर भी वह (ब्रह्म) प्रवृद्ध (सृष्टि कर्म का विस्तार) नहीं हुआ, तब उसने श्रेय स्वरूप धर्म की उत्पत्ति की। धर्म ही क्षत्रियों (शासकों) का भी क्षत्र (शासक-रक्षक है); अस्तु धर्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। राजा की तरह बलहीन व्यक्ति भी धर्म की शक्ति से अधिक बल सम्पन्नों पर नियन्त्रण करने में सक्षम होता है। धर्म ही सत्य है। इसी कारण सत्य वचन

बोलने वालों को धर्मयुक्त वचन बोलने वाला और धर्म वचन बोलने वालों को सत्यवादी कहते हैं, अस्तु, इन दोनों में कोई भेद नहीं है॥ १४॥

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विद् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳहि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविद् महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते॥ १५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णों का रचयिता ब्रह्म देवताओं में अग्नि रूप से श्रेष्ठ (ब्राह्मण) हुआ। वह (ब्रह्म) मनुष्यों में ब्राह्मण रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय रूप से क्षत्रिय, वैश्य रूप से वैश्य और शूद्र रूप से शूद्र रूप में प्रकट हुआ। इसी कारण अग्निहोत्रादि धर्मकृत्य करके मनुष्य देवों से कर्मफल की इच्छा करता है, क्योंकि ब्रह्म इन्हीं दो रूपों से अभिव्यक्त हुआ था। स्वलोक अथवा अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, अन्यथा अपने लोक और परलोक का सुधार असम्भव है। ऐसे व्यक्ति का पुण्य भी व्यर्थ ही हो जाता है, जिसने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। आत्मा के उपासक के पुण्य कृत्य कभी क्षीण नहीं होते, वरन् उसकी समस्त आकांक्षाएँ पूर्ण होती हैं॥ १५॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम्॥ १६॥

यह आत्मा समस्त जीवों का आश्रय प्रदाता है, अर्थात् उनका लोक है। यह (आत्मा) हवन-यज्ञ करने से देवताओं का लोक (आश्रयदाता) होता है। स्वाध्याय (वेदों का पठन-पाठन) करने से ऋषियों का, सन्तानोत्पादन (की इच्छा) करने तथा पिण्डदान करने से पितरों का, मनुष्यों को आश्रय स्थल और भोज्य पदार्थ देने से मनुष्यों का, पशुओं को तृण-जल आदि देने से पशुओं का तथा गृह स्थित कुत्ते, बिल्ली, पक्षी एवं चींटी आदि जीवों का आश्रय प्रदाता होता है, उससे यह उनका लोक होता है। जिस प्रकार लोक में (सभी) अपने शरीर की सुरक्षा चाहते हैं, उसी प्रकार ऐसा जानने वाले की सभी जीव सुरक्षा चाहते हैं। इस प्रकार उस कर्म की अनिवार्यता [पंच महायज्ञ प्रकरण में] ज्ञात है और इसकी मीमांसा की गई है॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छꣳश्चनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं

न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषःपाङ्क्तमिदꣳ सर्वं यदिदं किंच तदिदꣳ सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७॥

सृष्टि के प्रारम्भ में यह आत्मा बिल्कुल अकेला था, उसने स्त्री (पत्नी) की कामना की, फिर प्रजा (सन्तति) प्राप्ति की कामना की। इसके पश्चात् इच्छा की कि मेरे पास धन हो, जिससे मैं कर्म कर सकूँ। मानवों की प्रायः इसी स्तर की कामनाएँ होती हैं और वे इससे अधिक प्राप्त भी नहीं कर पाते। इन कामनाओं की पूर्ति के अभाव में वे अपने को अपूर्ण ही मानते रहते हैं। यदि वे चाहें, तो इस अपूर्णता की पूर्ति इस दृष्टिकोण द्वारा कर सकते हैं- अपने मन को आत्मा मानें, वाणी को स्त्री, प्राण को सन्तति, चक्षु को मानवी सम्पदा और श्रोत्रेन्द्रिय को दिव्य सम्पदा मानें। इस प्रकार साधन सम्पन्न पुरुष का शरीर ही कर्म है; क्योंकि शरीर से ही कर्म किया जाता है। इसलिए यह यज्ञ पाङ्क्त (पाँच-आत्मा, वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र से सम्पन्न होने वाला) है। समस्त जीवों में ये पाँचों विद्यमान हैं। अतः पशु पाङ्क्त है, पुरुष पांक्त है तथा अन्य भी जो कुछ है सब पाङ्क्त है, अर्थात् यह सृष्टि ही पञ्च तत्त्वात्मक यज्ञ स्वरूप है। इस ज्ञान को इस प्रकार जानने वाले को इन सबकी प्राप्ति हो जाती है॥ १७॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपि यच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १ ॥

परमपिता ने ज्ञान और तप के प्रभाव से सात प्रकार के अन्नों का सृजन किया। उन अन्नों में एक प्रकार का अन्न सभी के लिए, दो का देवताओं के निमित्त, तीन का अपने निमित्त और एक का पशुओं के निमित्त वितरण कर दिया। पशुओं को प्रदान किये गये उस अन्न में प्राणन क्रिया करने वाले और न करने वाले (श्वास लेने और न लेने वाले) सभी प्रतिष्ठित हैं। इन अन्नों का सदैव भक्षण किया जाता है, फिर भी ये क्षीण नहीं होते, इसका क्या कारण है? इस प्रकार सभी को सभी का अन्न भाग देने के अक्षय भाव को जो जानता है, वह अन्नोपभोग करते हुए कभी क्षीण नहीं होता अर्थात् अमृतत्व को प्राप्त होता है॥ १ ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳ ह्येतद्द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः पयो

ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्सर्वꣳ हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति ।कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते यो वै -तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते ।कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशꣳसा ॥ २॥

पिता-प्रजापति ने अपने तप और ज्ञान से जिन सात अन्नों को उत्पन्न किया, उनमें से एक अन्न (धरती से उत्पन्न खाद्य) सामान्य है। उसमें सभी की साझेदारी है, अतः सभी को समान रूप से उसका उपभोग करना चाहिए। सबके लिए निर्धारित इस अन्न का अकेले ही उपभोग करने वाला कभी पाप से विमुक्त नहीं होता। पूर्व वर्णित जिन दो अन्नों को देवताओं के निमित्त बताया गया, उनमें एक हुत अर्थात् (हवन द्वारा दिया जाने वाला) और दूसरा प्रहुत (प्रत्यक्ष में अर्पित किया जाने वाला) है। कुछ विद्वान् इसे दर्श और पूर्णमास भी कहते हैं। (क्योंकि यज्ञ देवों के लिए निर्धारित है, इसलिए) यज्ञों को काम्य (लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए) न करें। पशुओं के निमित्त दिया गया अन्न, दूध (पय-पान करने योग्य) है। मनुष्य और पशु दोनों ही उस अन्न का सेवन करते हैं। शीघ्र उत्पन्न हुए शिशु को घृत चटाते हैं अथवा स्तनपान कराते हैं। बछड़ा भी जन्म लेने के तुरन्त बाद घास ग्रहण नहीं करता, वरन् दुग्ध पान ही करता है। श्वास लेने और न लेने वाले सभी जीव दूध में ही प्रतिष्ठित हैं। अस्तु, जिनका यह कथन है कि एक वर्ष तक (दूध से) निरन्तर अग्निहोत्र करने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है (उनका यह कथन समीचीन नहीं); वरन् यह मानना चाहिए कि जिस दिन वह यज्ञ सम्पन्न करता है, उसी दिन मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसा जानने वाला देवताओं को उनके सेवन योग्य अन्न प्रदान करता है। बारम्बार भक्षित होने पर भी वह अन्न क्षीण क्यों नहीं होता? वह इसलिए क्षीण नहीं होता; क्योंकि वह पुरुष क्षयरहित है और पुनः-पुनः अन्नोत्पादन करने में समर्थ है। वह अविनाशी पुरुष कर्म और बुद्धि के संयोग से अन्नोत्पादन करता है। यदि वह पुरुष कर्म और बुद्धि से हीन हो जाए, तो अन्न और अन्नोत्पादन भी समाप्तप्राय हो जाए। उस अन्न का सेवन मुख के माध्यम से किया जाता है, इसी कारण देवताओं को भी वह प्राप्त हो जाता है और अमृतत्व प्रदायक होता है। यह इसकी (फलश्रुति) प्रशंसा है॥ २॥

['श्वास लेने वाले और न लेने वाले सभी 'पय' पर निर्भर हैं', इस कथन में 'पय' का अर्थ स्थूल दूध नहीं लिया जा सकता, यहाँ तो 'पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु, पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधाः'- आदि कहकर जिस कारण रूप पान करने योग्य पोषक प्रवाह की ओर संकेत किया जाता है, उसे ही 'पय' मानना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृति के पाश में बँधे हुए चेतन को ही पशु मानना चाहिए।]

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं

नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

उस (पुरुष) ने तीन अन्नों का चयन अपने लिए किया। ये तीन अन्न-मन, वाणी और प्राण हैं। मनोयोग से ही सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। यदि मन अन्यत्र है, तो समुचित रूप से देखा-सुना भी नहीं जाता। इसीलिए प्रायः कहा जाता है- 'मेरा मन दूसरी जगह था, इसलिए मैं नहीं देख सका' तथा 'मेरा मन यहाँ नहीं था, इसलिए मैं नहीं सुन सका।' अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति मन से ही देखता और सुनता है। काम, सङ्कल्प, श्रद्धा, संशय, अश्रद्धा, धारण शक्ति (धृति), अधृति, ह्री अर्थात् लज्जा, बुद्धि और भय ये सभी मन स्वरूप हैं। इसी कारण शरीर के पृष्ठभाग (पीठ) की ओर से स्पर्श किये जाने पर मनुष्य मन द्वारा इसे जान लेता है। समस्त शब्द ही वाक् शक्ति अर्थात् वाणी हैं, जिसके द्वारा समस्त अभिप्राय अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। शरीर स्थित पञ्चप्राण हैं- प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। आत्मा की निर्भरता (शरीर में रहने की स्थिति) इन्हीं पंच प्राणों पर आधृत है॥ ३ ॥

[जिस प्रकार हुत एवं प्रहुत से शरीर और प्रकृति में स्थित देवों को तृप्त और पुष्ट किया जाता है, उसी प्रकार मन, वाणी और प्राण से ब्रह्म को शरीरस्थ और प्रकृति में व्याप्त ब्राह्मी चेतना को तुष्ट-पुष्ट किया जा सकता है। इन तीनों का प्रयोग ब्रह्म के निमित्त ही करना चाहिए-भोगादि के लिए नहीं। जो ऐसा करता है, वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण या ब्रह्मचारी कहा जा सकता है।]

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥

पूर्व वर्णित मन, वाणी और प्राण ये ही तीनों लोक हैं। वाक् पृथिवी लोक है (इसीलिए पृथ्वी पर वाणी द्वारा ही समस्त कार्य सम्पादित होते हैं)। मन अन्तरिक्ष लोक है और प्राण द्यु (स्वर्ग) लोक है ॥ ४ ॥

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥

ये (वाणी, मन और प्राण) ही तीनों वेद हैं। वाक् शक्ति ऋग्वेद, मन यजुर्वेद और प्राण ही सामवेद है॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

ये तीनों ही देवता, पितरगण और मनुष्य हैं। वाक् शक्ति ही देवता, मन पितरगण और प्राण मनुष्य है ॥ ६ ॥

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥ ७ ॥

ये तीनों माता, पिता और प्रजा (सन्तान) हैं। वाक् माता, मन पिता और प्राण प्रजा-सन्तति रूप है॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वावति ॥ ८ ॥

ये ही विज्ञात (जाने हुए), विजिज्ञास्य (जानने योग्य) और अविज्ञात (न जाने हुए) हैं। जाना हुआ (ज्ञान) ही वाक् है। वाक् शक्ति ही विज्ञात है। यह वाक् ही ज्ञानस्वरूप होकर अपने जीवात्मा (अपने ज्ञाता) की रक्षा करती है ॥ ८ ॥

यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वावति॥

जो कुछ भी जानने योग्य है, वह मन का ही स्वरूप है। वास्तव में मन ही जानने योग्य या विजिज्ञास्य है (क्योंकि सन्देह आदि भाव मन में ही उत्पन्न होते हैं)। वही (मन ही) विजिज्ञास्य होकर उसका संरक्षण करता है॥ ९॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वावति ॥ १०॥

जो कुछ भी अनजाना (अविज्ञात) है, वह प्राणस्वरूप है; क्योंकि वह अविज्ञात (छुपा) रहकर भी शरीर का संरक्षण करता है॥ १०॥

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः॥ ११॥

उस वाक् शक्ति का शरीर, पृथिवी और ज्योतिष्मान् रूप अग्नि है। वाक् शक्ति की मात्रा जितनी ही पृथिवी है और उतना ही अग्नितत्त्व है॥ ११॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद॥ १२॥

द्युलोक मन की काया और आदित्य उसका (मन का) ज्योतिष्मान् स्वरूप है। जितने परिमाण का मन है, उतना ही द्युलोक और उतना ही आदित्य है। उन (आदित्य और अग्नि) के परस्पर संयोग से ही प्राण तत्त्व का उद्भव हुआ। प्राण को ही इन्द्र और शत्रुहीन कहा गया है। प्रतिपक्षी को ही सपत्न अर्थात् शत्रु कहते हैं। इस तथ्य को इस प्रकार जानने वाले का कोई सपत्न (शत्रु) नहीं होता॥ १२॥

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति॥ १३॥

जल उस प्राण का शरीर, चन्द्रमा ज्योतिष्मान् स्वरूप है। वहाँ प्राण के परिमाण जितना ही जल और चन्द्रमा है। ये सभी बराबर और अन्तरहित हैं। जो कोई इन्हें अन्तयुक्त समझकर उनकी उपासना करता है, उसे अन्तयुक्त लोक पर विजय प्राप्त होती है और जो अनन्त समझकर इनकी उपासना करता है,वह अनन्त लोक पर विजय प्राप्त करता है॥ १३॥

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदशकला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याꣳ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताꣳ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४॥

वह (ऊपर वर्णित) संवत्सर ही प्रजापति है। जिसकी सोलह कलाएँ हैं। रात्रियाँ उनकी पन्द्रह कलाएँ हैं। उसकी सोलहवीं कला नित्या (ध्रुवा) है। रात्रियों के माध्यम से ही वह (शुक्ल पक्ष में) प्रवृद्ध

और (कृष्ण पक्ष में) क्षीण होता है। वह प्रजापति अमावस्या की रात्रि में अपनी सोलहवीं कला के माध्यम से सबमें प्रविष्ट होकर प्रातः काल में पुनः प्रकट होता है। अस्तु, अमावस्या की रात्रि में किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और देवता को बलि प्रदान करने के निमित्त भी किसी गिरगिट तक का वध नहीं करना चाहिए॥ १४॥

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलो ऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदशकला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीर्यत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनागादित्येवाहुः॥ १५॥

षोडश कलायुक्त यह संवत्सर निश्चित ही प्रजापति है। धन उसकी पन्द्रह कलाएँ और आत्मा (शरीर) उसकी सोलहवीं कला है। वह धन से ही प्रवृद्ध और क्षीण होता है। आत्मा इसकी नाभि और धन-सम्पदा प्रधि अर्थात् रथ के पहिए का बाहरी घेरा है। इसीलिए पुरुष का यदि सर्वस्व (सम्पूर्ण धन) हरण हो जाए और आत्मा (आत्मबल) बना रहे, तो यह कहा जाता है कि केवल प्रधि बाहर से ही क्षीण हुआ है (अर्थात् सम्पूर्ण धन के नष्ट होने पर भी व्यक्ति तब तक नष्ट नहीं होता, जब तक उसका जीवन है)॥ १५॥

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाꣳ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशꣳसन्ति॥ १६॥

निश्चित ही ये तीन लोक हैं- मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक। मनुष्य लोक पुत्र के द्वारा जीता जा सकता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। पितृलोक कर्म से और देवलोक विद्या द्वारा जीता जा सकता है। समस्त लोकों में देवलोक ही उत्कृष्ट है, इसी कारण विद्या को भी सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा की जाती है॥ १६॥

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मा-देनमनुशासति स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाकृतं भवति तस्मादेनꣳ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते देवाः प्राणा अमृता आविशन्ति॥ १७॥

अब 'सम्प्रति' (इस नाम से जानी जाने वाली प्रक्रिया) कहते हैं। जब पिता दुनिया से गमन करने की स्थिति में होता है अथवा स्वयं को पुत्र का मार्गदर्शक समझता है, तो वह पुत्र से कहता है-तुम ब्रह्म हो, यज्ञ हो, लोक हो। इसका प्रत्युत्तर देते हुए पुत्र कहता है- मैं ब्रह्म हूँ, यज्ञ हूँ, लोक हूँ। [इस संवाद का भाव यह है कि पिता अपने पुत्र को ब्रह्मज्ञानी, यज्ञ परायण और लोक में कीर्तिवान् बनने का शिक्षण देता है और पुत्र उसे ग्रहण करता है।] इस विश्व में जो कुछ भी अनूक्त (स्वाध्याय या ज्ञान) है, वह सब 'ब्रह्म' से एकीकृत है, जो कुछ भी 'यज्ञ' है (किए हुए अथवा बिना किये हुए) वे सब 'यज्ञ' शब्द से एकीकृत

हैं और जो भी लोक हैं (जीते हुए अथवा बिना जीते हुए) वे 'लोक' शब्द से एकीकृत हैं। यही गृहस्थ का कर्त्तव्य है। पिता की इच्छा होती है कि पुत्र उसकी आज्ञा का पालन अवश्य करेगा। इसीलिए शिक्षित पुत्र अनुशासन का पालन करते हुए लोक में पुण्य कृत्य करता है, अतः उसे 'लोक्य' कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला पिता जब इस मर्त्य लोक से गमन करता है, तो प्राणों (अंश) के माध्यम से पुत्र में प्रतिष्ठित होता है (अर्थात् अपनी सम्पूर्ण जिम्मेदारी पुत्र को सौंपता है)। यदि किसी कारण (या प्रमादवश) पिता के द्वारा कोई करणीय कार्य शेष रह जाता है, तो पुत्र उसे पूर्ण कर देता है। इस प्रकार इह लोक में पिता को अपने पुत्र के माध्यम से ही प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। पिता के साथ उसके अमृत प्राण ही गमन करते हैं॥ १७॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति॥

मनुष्य की वाक् शक्ति पृथिवी और अग्नि से युक्त होती है। वह दिव्य वाणी कहलाती है; क्योंकि उस वाक् (वाणी) के माध्यम से वह (पिता) जो भी कहता है, वह पूर्ण होता जाता है॥ १८॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति॥

द्युलोक और आदित्य के द्वारा इसमें दिव्य मन आवेशित हो जाता है। दिव्य मन से युक्त होने के कारण यह सदैव आनन्दमग्न रहता है, कभी भी शोकग्रस्त नहीं होता॥ १९॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति॥ २०॥

जल और चन्द्रमा के माध्यम से यह प्राण तत्त्व इस तत्त्वद्रष्टा में आवेशित होता है। यह दिव्य प्राण ही है, जो सञ्चरित होते हुए और न होते हुए भी कभी व्यथित नहीं होता और न ही कभी विनष्ट होता है। इस तत्त्व को इस प्रकार जानने वाला सब प्राणियों में स्थित आत्मा प्राण देवता के समतुल्य हो जाता है। समस्त प्राणी जैसे प्राण देवता को पोषित करते हैं, ठीक उसी तरह तत्त्वदर्शी को पोषित करते हैं। लौकिक दुःखों में लिप्त रहकर ये सांसारिक प्राणी शोक ग्रस्त हो जाते हैं, किन्तु तत्त्व को जानने वाले पुरुष (दुःखों में भी) कभी शोक नहीं करते और देवत्व प्राप्त कर लेने के कारण पाप भी कभी उनके समीप नहीं आता॥ २०॥

अथातो व्रतमीमाꣳसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिर अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवꣳस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम्॥ २१॥

अब व्रत (कर्त्तव्य) के विषय में वर्णन किया जाता है। प्रजापति ने कर्मों (कर्म की साधनभूत इन्द्रियों) की रचना की। सृजित होने के बाद वे इन्द्रियाँ परस्पर स्पर्धा करने लगीं। वाक् शक्ति ने कहा (व्रत लिया) कि मैं बोलती ही रहूँगी, चक्षु ने कहा मैं देखता ही रहूँगा और श्रोत्र ने कहा मैं सुनता ही रहूँगा। इसी प्रकार अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार समस्त इन्द्रियों ने व्रत धारण किया, तब मृत्यु देवता ने श्रम करके उनमें व्याप्त होकर समस्त इन्द्रियों की कार्यप्रणाली में अपराध उत्पन्न कर दिया, उनकी कार्य क्षमता समाप्त कर दी। इसीलिए मृत्यु के समय वाणी, नेत्र और श्रोत्र सभी निष्क्रिय हो जाते हैं; परन्तु प्राण मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है। सभी इन्द्रियों ने यह जानकर प्राणतत्त्व की श्रेष्ठता को अंगीकार कर लिया, क्योंकि वह संचरित होता और न होता हुआ न कभी व्यथित होता है और न ही कभी समाप्त होता है। अस्तु, समस्त इन्द्रियाँ भी प्राणमय हो गईं। इसी कारण वे प्राण कहकर ही पुकारी जाती हैं। इस तत्त्व को जो जानता है, उसका वंश भी उसी के नाम से चलने लगता है। उस विद्वान् के प्रतिस्पर्धी शुष्कता को प्राप्त करते हुए विनष्ट हो जाते हैं, इसे अध्यात्म प्राण दर्शन कहते हैं॥ २१॥

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः॥ २२॥

अब अधिदैव दर्शन विवेचित किया जाता है- अग्नि ने व्रत लिया कि मैं निरन्तर जलता ही रहूँगा। सूर्य ने निश्चय किया कि मैं तपता ही रहूँगा और चन्द्रमा ने निश्चय किया कि मैं प्रकाशित ही होऊँगा। इसी प्रकार अन्य समस्त देवों ने भी अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार निश्चय किये। जिस प्रकार इन्द्रियों के बीच में प्राण स्थित है, ठीक उसी प्रकार (अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि) देवताओं में भी वायु तत्त्व प्रतिष्ठित है; क्योंकि अन्य देवता तो अस्त को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु वायुदेव कभी अस्त नहीं होते॥ २२॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मꣳ स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति॥ २३॥

इसी विषय को प्रतिपादित करने वाला यह श्लोक है- यह आदित्य जहाँ से उदित होता है, वहीं अस्त हो जाता है अर्थात् यह सूर्य निश्चित ही प्राण से उदित होता है और प्राण में ही अस्त हो जाता है। इस धर्म को देवों ने भी धारण किया। वह व्रत (धर्म) आज विद्यमान है और कल (भविष्य में भी) रहेगा। देवों ने जिस व्रत को उस समय धारण किया था, उसे अब भी करते हैं- अस्तु, सभी को एक ही व्रत का आचरण करना चाहिए। रेचक और पूरक क्रिया करके प्राणायाम करे, ताकि कहीं पापरूपी मृत्यु हमारा स्पर्श न कर ले (हमें जीत न ले)। यदि किसी व्रत को धारण करे, तो उसके समापन की भी इच्छा करे अर्थात् उसका विधिवत् समापन भी करे- पूर्ण भी करे। ऐसा करने से वह इस (प्राण और वायु) देवता के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है॥ २३॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳪं सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ १ ॥

इस संसार में जो कुछ भी है, वह नाम, रूप और कर्म इन तीनों का ही समुदाय है। इन नामों का उक्थ (उपादान) 'वाणी' है; क्योंकि समस्त नामों की उत्पत्ति इस वाणी से ही होती है। यह वाणी ही इन नामों का साम है, क्योंकि यही समस्त नामों के समतुल्य है। नामों का ब्रह्म भी यह (वाणी) है; क्योंकि समस्त नामों को वाणी ही धारण करती है ॥ १ ॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳪं सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥ २ ॥

समस्त रूपों का उक्थ (उपादान) चक्षु है, क्योंकि समस्त सूर्य इस चक्षु से ही उत्पन्न होते हैं। समस्त रूपों के साथ यह समान भाव रखता है, इसलिए यह चक्षु समस्त रूपों का साम है। समस्त रूपों को धारण करने से यह (चक्षु) ही इन रूपों का ब्रह्म है ॥ २ ॥

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳪं सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयᳪं सदेकमयमात्मात्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतᳪं सत्येन छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥

समस्त कर्मों का उक्थ (उपादान कारण) यह आत्मा (शरीरस्थ जीवात्मा) है, क्योंकि समस्त कर्म शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, यह समस्त कर्मों का साम है, क्योंकि यह सब कर्मों का धारणकर्ता होने से यह (आत्मा या शरीर) सब कर्मों का ब्रह्म है। आत्मा के द्वारा ही नाम, रूप और कर्म ये तीनों उत्पन्न हुए हैं। अतः ये तीन (पृथक्) होते हुए भी एक आत्मा ही है और यह आत्मा एक होते हुए भी तीन (में विभक्त) है। यह आत्मा सत्य से आच्छादित और अमृत है। प्राण ही अमृत स्वरूप है। नाम और रूप ही सत्य है। इन दोनों (अमृत और सत्य) से ही यह प्राण आच्छन्न है ॥ ३ ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ १ ॥

(कभी) गर्ग गोत्रीय बालाकि नामक वेद प्रवक्ता ने काशी नरेश अजातशत्रु से अहंकार पूर्ण वाणी में कहा कि मैं आपको ब्रह्मज्ञान का उपदेश करूँगा, तब काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा- इसके निमित्त मैं आपको एक सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ; क्योंकि प्रजाजन (ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु) 'जनक' 'जनक' कहकर उन्हीं की ओर दौड़ते रहते हैं (अर्थात् सभी प्रजाजन यही कहते हैं कि जनक बहुत बड़े दाता हैं और बहुत बड़े श्रोता भी। मुझे ब्रह्मज्ञान देने का वचन देते ही आपने मेरे लिए दोनों बातें सुगम कर दीं। इसलिए मैं आपको एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ।) ॥ १ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥ २ ॥

तब गर्गवंशी उन बालाकि ने कहा कि मैं आदित्य स्थित पुरुष की ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ। यह सुनकर अजातशत्रु ने कहा-आप ऐसा न बोलें, जो समस्त प्राणियों के मूर्धा स्वरूप हैं, दीप्तिमान् हैं एवं सबका अतिक्रमण करके स्थित हैं, उन ब्रह्म की मैं उपासना करता हूँ। ऐसा जानते हुए जो उस ब्रह्म की उपासना करता है, वह समस्त भूतों में उनकी मूर्धा (मस्तक) स्वरूप स्थित होता हुआ सबका राजा होता है ॥ २ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहत्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् उन गार्ग्य बालाकि ने कहा कि चन्द्रमा में स्थित पुरुष की मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। (यह सुनकर) राजा अजातशत्रु बोले- आप ऐसा न कहें, यह चन्द्रमा शुभ्र वस्त्र धारण करने वाला देदीप्यमान और राजा सोम है, ऐसा मानकर मैं इसकी उपासना करता हूँ। इस प्रकार जान कर इसकी उपासना करने वाले की सम्पन्नता सदैव बनी रहती है और उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

वेद प्रवक्ता बालाकि ने कहा- मैं तो विद्युत् के अन्तर्गत निहित शक्ति को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु बोले-नहीं, नहीं-ऐसा न कहो, मैं तो विद्युत् को तेजःस्वरूप मानकर उपासना करता हूँ। ऐसा मानकर जो ब्रह्म की उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है और उसकी सन्तति भी तेजस्विनी होती है ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

उन गर्गवंशी बालाकि ने कहा- आकाशस्थ पुरुष को ही ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा- नहीं व्यर्थ वार्ता न करो, मैं उस आकाश तत्त्व को पूर्ण मानकर उसकी उपासना करता हूँ। इस तथ्य को इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करने वाला सदैव प्रजा (सन्तान) और पशुओं से परिपूर्ण रहता है। उसकी प्रजा कभी विनष्ट नहीं होती॥ ५॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी॥ ६ ॥

इसके बाद बालाकि ने कहा- मैं वायु स्थित पुरुष को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ, तब राजा अजातशत्रु बोले- आप ऐसा न कहें, मैं इस वायु की इन्द्र, बैकुण्ठ और अपराजिता सेना के रूप में उपासना करता हूँ। जो इस वायु की इस प्रकार (उपर्युक्त रूप में) जानकर उपासना करता है, वह प्रसिद्ध विजयशील, अपराजित (जिसे कोई पराजित न कर सके) और शत्रु विजेता होता है॥ ६॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति॥ ७॥

वे गर्गवंशी बोले-मैं तो अग्नि में स्थित पुरुष (अथवा आग्नेय शक्ति) को ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। तब काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा-ब्रह्म के सम्बन्ध में व्यर्थ प्रलाप मत करो, मैं तो अग्नि की विषासहि (सब कुछ सहन करने की या सब कुछ आत्मसात् कर लेने की सामर्थ्य) को ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। अग्नि के सम्बन्ध में इस प्रकार जानने वाला विषासहि होता है और उसकी प्रजा भी विषासहि होती है॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८॥

तत्पश्चात् बालाकि गार्ग्य ने कहा-जल में स्थित पुरुष को ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ, यह सुनकर राजा अजातशत्रु बोले- ऐसा न कहो, मैं तो जल तत्त्व को प्रतिरूप मानकर उसकी उपासना करता हूँ। ऐसा जानकर उपासना करने वाला अपना प्रतिरूप प्राप्त करता है। उसे कभी अपना अप्रतिरूप प्राप्त नहीं होता और उससे प्रतिरूप (पुत्र) उत्पन्न होता है॥ ८॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वाꣳस्तानतिरोचते ॥ ९॥

इसके बाद वे गर्गवंशी बालाकि बोले-दर्पण स्थित छाया पुरुष को ही ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। इसके बाद अजातशत्रु ने कहा- ऐसा न कहें, मैं तो इसे देदीप्यमान (रोचिष्णु) मानकर इसकी उपासना करता हूँ। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह प्रकाशमान होता है। उसकी प्रजा (संतान) और सहचर भी प्रकाश सम्पन्न अर्थात् तेजस् सम्पन्न होते हैं॥ ९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति॥ १०॥

वे गार्ग्य बालाकि बोले- गमन करने वाले के पीछे जो शब्द होता है, मैं उसी को ब्रह्मरूप मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा कि ऐसा न कहें, मैं तो उसे प्राण के रूप में उसकी उपासना करता हूँ। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती॥ १०॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥ ११॥

वे बालाकि गार्ग्य बोले कि मैं दिशाओं में स्थित पुरुष (शक्ति) को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा-नहीं-नहीं ऐसा न कहो, मैं इसे द्वितीय और वियुक्त न होने वाला मानकर उसकी उपासना करता हूँ। उस ब्रह्म को इस प्रकार जानने वाले साथी युक्त होते हैं और वे साथी उन्हें कभी नहीं त्यागते॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति॥ १२॥

गार्ग्य ने कहा मैं छायामय पुरुष को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा कि व्यर्थ बात न करो, मैं तो छाया पुरुष को मृत्यु समझकर उसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी ऐसा जानकर उपासना करता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है तथा समय से पूर्व मृत्यु उसे विनष्ट नहीं करती॥ १२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वीह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः॥ १३॥

बालाकि ने कहा- मैं आत्मस्थ पुरुष को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा - ऐसा न कहो। मैं तो उसे ब्रह्म जिज्ञासु (आत्मन्वी) मानकर उपासना करता हूँ। उसे इस प्रकार जानकर जो उपासना करने वाला होता है, वह ब्रह्म जिज्ञासु होता है एवं उसकी प्रजा (सन्तान) भी ब्रह्म जिज्ञासु होती है। यह सुनकर बालाकि ने मौन धारण कर लिया॥ १३॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उपत्वायानीति॥ १४॥

यह स्थिति देखकर अजातशत्रु बोले कि क्या इतना ही ज्ञान है? बालाकि गार्ग्य ने कहा कि हाँ केवल इतना ही ज्ञान है। अजातशत्रु ने कहा कि इतने मात्र से तो ब्रह्मज्ञान असम्भव है। तब गार्ग्य बोले कि क्या मैं आपकी सेवा के लिए तैयार होऊँ?॥ १४॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषꣳ सुप्तमाजग्मतुस्त-मेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोमराजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिना पेषं बोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥ १५॥

(यह सुनकर) अजातशत्रु बोले- यह तो विपरीत तथ्य है कि कोई ब्राह्मण ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी क्षत्रिय के पास जाए। तो भी मैं आपको ब्रह्म का उपदेश करूँगा (अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रदान करूँगा)। तब अजातशत्रु उठे और बालाकि का हाथ पकड़कर एक सोते हुए पुरुष के पास ले गये। राजा अजातशत्रु ने उस सोते हुए पुरुष को हे ब्रह्मन्! हे श्वेताम्बरधारी, हे सोम!, हे राजन्,! आदि कहकर जगाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह जाग्रत् स्थिति में नहीं आया। इसके बाद अजातशत्रु ने उसे झकझोर कर उठाने का प्रयत्न किया, तब वह जागकर उठ बैठा॥ १५॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः॥ १६॥

इसके पश्चात् राजा अजातशत्रु ने बालाकि गार्ग्य से प्रश्न किया कि इस प्रसुप्त व्यक्ति का (जीवात्मा) विज्ञानमय पुरुष उस समय कहाँ था, जब वह सो रहा था और अब कहाँ से (जागने पर) यहाँ आ गया; किन्तु बालाकि गार्ग्य इसे नहीं जान सका अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर न दे सका॥ १६॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः॥ १७॥

तब अजातशत्रु ने कहा- जब वह (जीवात्मा) विज्ञानमय पुरुष प्रसुप्तावस्था में था, तब अपनी विज्ञान की शक्ति से समस्त इन्द्रियों की शक्ति को अपने में एकत्र कर लिया था। सुप्त स्थिति में जीवात्मा हृदयाकाश में स्थित रहकर इन्द्रियों को ग्रहण करता है। उस समय इसे 'स्वपिति' कहते हैं। उस समय प्राण, नेत्र, श्रोत्र और मन सभी गृहीत स्थिति में होते हैं॥ १७॥

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥ १८॥

जब यह जीवात्मा स्वप्नवृत्ति में होता है अथवा स्वप्नावस्था में होता है, तब उसके लोक अर्थात् कृत कर्मों के प्रतिफल उदित होते हैं। उस समय वह विभिन्न प्रकार की स्थितियों को प्राप्त करता हुआ कभी महाराजा, कभी महाब्राह्मण, कभी उच्चावस्था और कभी निम्नावस्था को प्राप्त होता है। वह प्रजा के साथ भ्रमण करने के समान ही प्राणेन्द्रियों को लेकर शरीर में यथेच्छ स्थलों पर भ्रमण करता रहता है॥ १८॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९॥

इसके बाद जब वह जीवात्मा सुषुप्तावस्था में होता है, तब उसे बाह्य जगत् का कुछ भी भान नहीं रहता। उस समय हिता नामक (अथवा हितकारिणी) बहत्तर हजार नाड़ियाँ जो हृदय प्रदेश से सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त हैं, उन्हीं के माध्यम से वह (जीवात्मा) बुद्धि के साथ सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त होकर सो जाता है। जिस प्रकार कोई बालक, महाब्राह्मण या महाराजा अतिशय आनन्द की स्थिति प्राप्त करके सो जाता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी सो जाता है (अर्थात् सुप्तावस्था में बालक, विद्वान् एवं राजा सभी एक जैसी विश्राम की स्थिति में होते हैं)॥ १९॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २०॥

जिस प्रकार मकड़ी (अपने द्वारा निर्मित) तन्तुओं पर चलकर ऊर्ध्वगमन करती है और जिस प्रकार अग्नि में अनेक छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, ठीक उसी तरह इस आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देवता और समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। इसका उपनिषदीय नाम 'सत्य का सत्य' है। निश्चित रूप से प्राण ही सत्य है और यह आत्मा उस (प्राण का) सत्य है॥ २०॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धययं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥ १॥

जो कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा (खूँटे) और दाम (बाँधने की रस्सी) के साथ इस प्राण तत्त्व रूप शिशु को जानने वाला है, वह द्वेष करने वाले सात भ्रातृव्यों (सात विरोधियों-पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि) को अवरुद्ध करने में समर्थ होता है। मध्य स्थित या मध्यम प्राण ही शिशु रूप है, उसी का यह शरीर (अधिष्ठान) है। उस शिशु का सिर ही प्रत्याधान (आश्रय स्थल), प्राण तत्त्व स्थूणा (खूँटा) एवं अन्न ही इसकी रज्जु है॥ १॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनः रुद्रो-ऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनिका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

उस (प्राण) की (सहायिका) ये सात अक्षितियाँ (क्षीण न होने वाली) उपस्थित होती हैं। उन (सप्त अक्षितियों में दोनों नेत्रों की लाल रेखाएँ रुद्र शक्ति (विद्युत्) की प्रतीक हैं। नेत्रों में जल पर्जन्य शक्ति का प्रतीक है, जो कनीनिका (पुतलियाँ) हैं, वह आदित्य शक्ति की, कालिमा अग्नि शक्ति की, श्वेत भाग इन्द्र शक्ति का, नीचे के पलक पृथिवी शक्ति के एवं ऊपर के पलक द्युलोक के प्रतीक हैं। इस प्रकार जो जानता है, उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ २ ॥

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेत्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणनेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३ ॥

इस श्लोक से उपरि निर्दिष्ट तथ्य की पुष्टि होती है। यह चमस ही नीचे की ओर मुख वाला और ऊपर की ओर जड़ से युक्त है। इसमें विभिन्न प्रकार का यश सन्निहित है। चमस के किनारे पर सात ऋषिगण निवास करते हैं तथा अष्टम वाणी निवास करती है, जो वेदों (ब्राह्मणों) द्वारा संवाद करने में समर्थ होती है। यह चमस जो नीचे की ओर मुख और ऊपर की ओर पैर वाला है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व का यश निहित है, वह वस्तुतः प्राण ही है। उसके किनारे पर सप्त ऋषियों का निवास वर्णित है। ये सात ऋषि इन्द्रियाँ हैं। आठवीं वागिन्द्रिय है, जो ब्राह्मणों द्वारा बोली जाने वाली (वेदवाणी) वर्णित है ॥ ३ ॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥

ये दोनों कान ही गोतम और भरद्वाज ऋषि हैं। इसी प्रकार दोनों चक्षु ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। नासिका के दोनों छिद्र ही वसिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं। वाणी ही अत्रि ऋषि है; क्योंकि वाणी अर्थात् रसना ही अन्न ग्रहण करने में सक्षम है और अन्न का भोग ग्रहण करने वालों में अत्रि प्रख्यात हैं, इसलिए वाक् ही अत्रि है। जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है, वह समस्त अन्नों का भोग करने वाला (सबका अत्ता) और उनका स्वामी होता है ॥ ४ ॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥

ब्रह्म के दो स्वरूप हैं- एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। इसमें मरणधर्मा व्यक्त है और अमर्त्य ही अव्यक्त है। जो मर्त्य है, वह जड़- स्थिर है और अमृत (अविनाशी) सतत गतिमान् है ॥ १ ॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च तन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः॥ २॥

वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न तत्त्व (अग्नि, जल और पृथिवी) ये सभी मूर्त मरणधर्मा एवं स्थिर हैं। इन तीनों का सारतत्त्व तप्यमान (आदित्य या यज्ञपुरुष) है॥ २॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम्॥ ३॥

वायु और अन्तरिक्ष अव्यक्त हैं, ये अमर्त्य और गतिशील हैं। इस (आदित्य या ब्रह्माण्ड) मण्डल में जो विशिष्ट तेजस् सम्पन्न पुरुष है, वही इन अमर्त्य एवं अव्यक्त भूतों का साररूप है। यह अधिदैव दर्शन है॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थित-मेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः॥

अब अध्यात्म विषय प्रतिपादित किया जाता है। देहान्तर्गत आकाश और प्राण से भिन्न जो अग्नि, जल एवं पृथिवी का अंश इस शरीर में विद्यमान है,वह मूर्त और मरणधर्मा है। नेत्र इस सत् का सार रूप है॥ ४॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्त-स्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः॥ ५॥

अब अमूर्त का वर्णन किया जाता है। प्राण और इस देह मे स्थित जो आकाश है, ये दोनों ही अमूर्त हैं, अविनाशी हैं और गतिशील हैं। इस अविनाशी अमूर्त प्राण और आकाश तत्त्व का सार ही दक्षिण नेत्र के अन्तर्गत स्थित पुरुष अथवा विशिष्ट शक्ति है॥ ५॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्॥ ६॥

(दाहिने नेत्र में निवास करने वाले) उस पुरुष (आत्मा) का रूप इस प्रकार का है, जैसे माहारजन (कुसुम्भ पुष्प का रंग या महान् रंगने वाले) से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसे पाण्डु (हल्का पीला) ऊन हो, जैसे इन्द्रगोप (वीर बहूटी) हो, जैसे आग की लपट हो तथा जैसे कोई श्वेत कमल या विद्युत् की चमक हो। जो ऐसा जानने वाला है, उसकी श्री (ऐश्वर्य) विद्युत् कान्ति के समान (सर्वत्र फैलने वाली) होती है। अब (इस कारण) ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश किया जाता है। उसके लिए सर्वोत्कृष्ट उपदेश 'नेति-नेति' है। अन्य कोई उपदेश इतना उत्कृष्ट नहीं है। उसे 'सत्य का भी सत्य' इस नाम से ही जाना जाता है। प्राण ही निश्चित रूप से सत्य है और वह (ब्रह्म) उस (प्राण)का भी सत्य है॥ ६॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति॥ १॥

महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी से कहा - हे मैत्रेयी! मैं अब वर्तमान स्थान (गृहस्थाश्रम) से ऊपर (वानप्रस्थ आश्रम में) जाना चाहता हूँ। अत: मेरी आकांक्षा है कि दूसरी धर्मपत्नी कात्यायनी और आपके बीच (सम्पत्ति का) विच्छेद (बँटवारा) कर दूँ॥ १॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति॥ २॥

(यह सुनकर) मैत्रेयी बोली- हे भगवन्! धन्य-धान्य से पूरित इस सम्पूर्ण धरती की यदि मैं स्वामिनी बन जाऊँ, तो क्या मैं अमर पद पा सकूँगी? महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, जैसे साधन-सम्पन्नों का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जायेगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं करनी चाहिए॥२॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां? यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति॥

मैत्रेयी बोली- हे स्वामी! जिस धन-ऐश्वर्य से मैं अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकती, उसे ग्रहण करके मैं क्या करूँगी? हे भगवन्! यदि आप कोई अमृतत्त्व प्राप्त करने के उपाय जानते हों, तो वह मुझे बताने का अनुग्रह करें॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति॥ ४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा-हे मैत्रेयी! तुम हमारी प्रिया हो और प्रिय लगने योग्य वचन भी बोल रही हो। तुम आकर बैठो-मैं तुम्हारे लिए अमृतत्व प्राप्त कराने वाला उपदेश प्रदान करता हूँ। तुम मेरे आदेश का निदिध्यासन (अनुपालन) करना॥ ४॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ५॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी! निश्चित ही पति की आकांक्षा पूर्ति के लिए पति प्रिय नहीं होता वरन् अपनी (आत्मीयता) आकांक्षा पूर्ति के लिए (पत्नी को) पति प्रिय होता है। इसी प्रकार पत्नी के प्रयोजन के लिए नहीं बल्कि अपने प्रयोजन के लिए (पति को) पत्नी प्रिय होती है। पुत्रों की आकांक्षा पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए (पिता को) पुत्र प्रिय होते हैं। धन के प्रयोजन पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए (व्यक्ति को) धन प्रिय होता है। ज्ञान या ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए ज्ञान या ब्राह्मण प्रिय होता है। शक्ति अथवा क्षत्रिय की आकांक्षा के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए शक्ति (क्षत्रिय को) प्रिय होती है। देवों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् स्व प्रयोजन की पूर्ति के लिए देवता प्रिय होते हैं। लोकों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपनी ही इच्छा पूर्ति के लिए लोक प्रिय होते हैं। प्राणियों के हित के लिए नहीं, वरन् अपने हित के लिए प्राणी प्रिय होते हैं। सभी के हित के निमित्त नहीं, वरन् अपने हित के निमित्त सब प्रिय होते हैं। इसलिए हे मैत्रेयी! यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यासन (अनुभव) ध्यान करने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाता है॥ ५॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा॥ ६॥

जो ब्राह्मण या ज्ञान को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में जानने वाला होता है, उसे ब्राह्मण या ज्ञान परित्यक्त कर देता है। क्षत्रिय या बल को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में देखने वाले को बल या क्षत्रिय परित्यक्त कर देता है। लोकों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को लोक त्याग देते हैं। देवताओं को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को देवता छोड़ देते हैं और समस्त प्राणियों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में देखने वाले को समस्त प्राणी त्याग देते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण (ज्ञान), क्षत्रिय (शक्ति),लोक,देवता और समस्त प्राणी ये सभी आत्मा ही हैं,उसके अतिरिक्त कुछ नहीं॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ७॥

जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि के बाहर निकलते हुए शब्दों को ग्रहण कर सकने में कोई दूसरा समर्थ नहीं है। उन (शब्दों) को केवल स्वयं दुन्दुभि अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है (उसी प्रकार आत्म चेतना से आत्मा को प्राप्त किया जाता है।) ॥ ७॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ८॥

जैसे बजाये जाते हुए शङ्ख के शब्दों को केवल वह शङ्ख या उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है, अन्य कोई ग्रहण करने में समर्थ नहीं है (उसी प्रकार आत्मा द्वारा ही आत्मा को ग्रहण किया जा सकता है)॥ ८॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ९॥

जैसे बजायी जाती हुई वीणा के शब्दों को स्वयं वह वीणा अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है,अन्य कोई नहीं (वैसे आत्मा को आत्मा अथवा उसके संचालक द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है)॥

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥ १०॥

जिस तरह चारों ओर से आधान किये हुए गीले ईंधन से उत्पन्न अग्नि से धूम्र निकलता है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, सूत्र, श्लोक, व्याख्यान और अनुव्याख्यान ये सभी उस महान् सत्ता के निःश्वास ही हैं॥ १०॥

स यथा सर्वासामपाः समुद्र एकायनमेवः सर्वेषाः स्पर्शानां त्वगेकायनमेवः सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवः सर्वेषाः रसानां जिह्वैकायनमेवः सर्वेषाः रूपाणां चक्षुरेकायनमेवः सर्वेषाः शब्दानाः श्रोत्रमेकायनमेवः सर्वेषाः संकल्पानां मन एकायनमेवः सर्वासां विद्यानाः हृदयमेकायनमेवः सर्वेषां कर्मणाः हस्तावेकायनमेवः सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवः सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवः सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवः सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥ ११॥

जिस प्रकार समस्त जल का आश्रय स्थल एकमात्र समुद्र है, समस्त स्पर्शों का अयन त्वचा है, समस्त गन्धों का आश्रय नासिका है, समस्त रसों का आश्रय रसना (जिह्वा) है, समस्त रूपों का आश्रय चक्षु है, समस्त शब्दों का आश्रय श्रोत्र, समस्त संकल्पों का आश्रय मन, समस्त विद्याओं का आश्रय हृदय, समस्त कर्मों का आश्रय हस्त, समस्त आनन्दों का आश्रय उपस्थ, समस्त विसर्गों (विसर्जनों) का आश्रय पायु (गुदा), समस्त मार्गों का आश्रय चरण और समस्त वेदों का आश्रय वाक् शक्ति (वाणी) है॥ ११॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२॥

जिस प्रकार जल के अन्दर नमक की डली डालने पर वह उसी में विलीन हो जाती है, उसे पकड़ सकना किसी के लिए सम्भव नहीं है, ठीक उसी प्रकार यह महद्भूत, अन्तहीन, पाररहित, विज्ञानघन आत्मा समस्त भूतों से ऊँचा उठकर इन्हीं में विलुप्त हो जाता है। मृत्यूपरान्त इस तत्त्व का नाम भी शेष नहीं रहता, क्योंकि वह देहेन्द्रिय भाव से मुक्त हो जाता है- ऐसा ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा ॥ १२॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥ १३॥

मैत्रेयी ने कहा- हे भगवन् ! मृत्यु के उपरान्त नाम भी नहीं बचता, आपके इस वाक्य से तो मुझे

मोहरूपी भ्रम उत्पन्न हो गया है। यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य बोले- हे मैत्रेयी! ऐसा नहीं है, मैंने भ्रम में डालने के लिए कुछ नहीं कहा है, वरन् जो कुछ कहा है, वह उस महद्भूत का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए कहा है और वह उस ज्ञान के लिए पर्याप्त है ॥ १३ ॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥ १४॥

जहाँ (अज्ञानावस्था में) द्वैत प्रतीत होता है, वहीं दूसरा दूसरे को सूँघता है, दूसरा दूसरे को देखता है, दूसरा ही दूसरे का श्रवण करता है, दूसरा ही दूसरे के प्रति कहता है, दूसरा ही दूसरे का मनन करता है और दूसरा ही दूसरे को जानता है; किन्तु जब यह सब आत्मरूप ही हो गया, तब वह किसके द्वारा किसको सूँघे, किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको सुने, किसके द्वारा किसको कहे और किसके द्वारा किसका मनन करे एवं जाने। जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसे किसके माध्यम से जाने। अस्तु, हे मैत्रेयी! विज्ञाता को कैसे जाना जा सकता है?॥ १४॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १ ॥

यह पृथ्वी समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी पृथ्वी के लिए मधु स्वरूप हैं। इस पृथ्वी में जितने भी अमर्त्य और तेजरूपी पुरुष हैं एवं इस शरीर में विनाशरहित और तेजस् सम्पन्न जो आत्मा है, वही सर्वव्यापी परमात्मा है। यही कभी नष्ट न होने वाला ब्रह्म है एवं जो कुछ भी है, सब कुछ यही है॥ १ ॥

[मधु रोचक और पोषक होता है। पृथ्वी के लिए प्राणी तथा प्राणियों के लिए पृथ्वी रोचक एवं पोषक है, इसीलिए वे एक दूसरे के मधु कहे गये हैं। यह संगति स्रष्टा का कौशल है- कमाल है। इसी प्रकार प्रकृति के अन्य घटकों के बारे में भी कहा गया है।]

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ २ ॥

यह जल समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी जल के लिए मधु तुल्य हैं। जल में स्थित जो तेजोमय अमृतस्वरूप पुरुष है और जो इस शरीर में अविनाशी आत्मास्वरूप पुरुष स्थित है, वही सर्वव्यापी परमात्मा है, वही अविनाशी ब्रह्म है। यहाँ जो कुछ भी है, सब कुछ यही है॥ २॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ३ ॥

यह अग्नि समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी इस अग्नि के लिए मधुस्वरूप हैं। इस अग्नि में स्थित तेजोमय और विनाशरहित जो पुरुष है और इस शरीर में स्थित वाङ्मय तेजस्वरूप जो पुरुष आत्मा रूप में स्थित है, वही ब्रह्म, अमर्त्य और सर्व है अर्थात् जो कुछ भी है, सब यही है॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ४ ॥

यह वायु समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव वायु के लिए मधु तुल्य हैं। वायु में संव्याप्त तेजोमय अमृत पुरुष और देह में संव्याप्त प्राणरूप अमृतमय तेजस्वी आत्मा ही ब्रह्म (परमात्मा) है। यहाँ जो कुछ भी है, सब कुछ यही है॥ ४ ॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ५ ॥

यह आदित्य समस्त प्राणियों का मधु है। समस्त प्राणी आदित्य के लिए मधु स्वरूप हैं। इस आदित्य में विद्यमान जो तेज:सम्पन्न और अविनाशी पुरुष है और इस शरीर में स्थित चाक्षुष तेज:सम्पन्न और अमृत युक्त जो सर्वव्यापी आत्मा है। यही परब्रह्म, अमर्त्य और सब कुछ है॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ ६ ॥

ये दिशाएँ समस्त प्राणियों के लिए मधु स्वरूप हैं और समस्त प्राणी दिशाओं के निमित्त मधु स्वरूप हैं। इन दिशाओं में स्थित तेज:सम्पन्न अमर पुरुष तथा शरीर में स्थित श्रोत्रमय तेज:सम्पन्न अविनाशी पुरुष (आत्मा) ही सर्वव्यापी ब्रह्म, विनाश रहित और सर्वस्वरूप अर्थात् सब कुछ है॥ ६ ॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ७ ॥

यह चन्द्रमा समस्त भूतों-प्राणियों के लिए और समस्त भूत (प्राणी) चन्द्रमा के लिए मधुरूप हैं। चन्द्रमा में स्थित तेजोमय-अविनाशी पुरुष तथा शरीर में स्थित, मन में विद्यमान तेजोयुक्त अमर पुरुष ही सर्व-व्यापक परब्रह्म है, यही अविनाशी तथा सभी कुछ है ॥ ७ ॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ ८॥

यह विद्युत् समस्त भूतों का मधु और समस्त भूत इस विद्युत् के लिए मधुरूप हैं। विद्युत् स्थित जो तेजोमय और अमर्त्य पुरुष है एवं शरीर स्थित (तैजस) जो तेज:सम्पन्न और अमर पुरुष है, वही सर्वव्यापक और कभी नष्ट न होने वाला आत्मा है, यही अमृत, यही ब्रह्म और यही सब कुछ है॥ ८॥

अयꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम्॥ ९॥

गरजते हुए मेघ प्राणियों के मधु हैं और प्राणी मेघों के मधु हैं। इस मेघ में जो तेजस्वी और अविनाशी पुरुष है तथा शरीर में जो तेजोमय-अविनाशी पुरुष है, वही आत्मा है, अनश्वर है और सब कुछ है॥ ९॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १०॥

यह आकाश समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव आकाश के लिए मधुरूप हैं। इस अन्तरिक्ष में जो तेजोयुक्त अविनाशी पुरुष स्थित है और इस शरीर में जो हृदयाकाश स्थित तेज: सम्पन्न और अनश्वर आत्मा विद्यमान है, वही सर्वव्यापक ब्रह्म और समस्त भूतों से युक्त है, यही सब कुछ है॥ १०॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ११॥

यह धर्म प्राणियों का मधु है और प्राणी धर्म के मधुरूप हैं। धर्म स्थित तेजोमय और अविनाशी पुरुष तथा शरीर स्थित तेजोमय और अमर्त्य पुरुष ही सर्वव्यापी, अविनाशी परमात्मा है। यही सभी कुछ है॥ ११॥

इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १२॥

यह सत्य सभी भूतों (प्राणियों) के लिए मधु है तथा समस्त भूत (प्राणी) सत्य के लिए मधु स्वरूप हैं। सत्य स्थित जो तेज: सम्पन्न अविनाशी पुरुष विद्यमान है और शरीर में स्थित जो सत्य स्वरूप तेज: सम्पन्न अनश्वर आत्मा है, वही अविनाशी और सर्वस्वरूप ब्रह्म है, सब कुछ यही है॥ १२॥

इदं मानुषꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्व मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं मानुषः तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १३॥

यह मनुष्य समुदाय समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी मानव समुदाय के लिए मधु हैं। मनुष्य समुदाय में स्थित जो अविनाशी और तेजःसम्पन्न पुरुष है तथा इस मानव शरीर में जो भावयुक्त तेजस्वी, अमर्त्य पुरुष है, वही सर्वव्यापक अविनाशी ब्रह्म है और सब कुछ यही है॥ १३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १४॥

यह आत्मा जीवों का मधु है और जीव इस आत्मा के मधु हैं। आत्मा में स्थित जो तेजस्वी और अविनाशी पुरुष है तथा आत्मा रूप में तेजस्वी और अविनाशी परब्रह्म है, वही सर्वव्यापक अविनाशी ब्रह्म है, यही सब कुछ है ॥ १४॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः॥ १५॥

निश्चित रूप से आत्मा ही समस्त प्राणियों का अधिपति और राजा है। जिस प्रकार रथ की नाभि में एवं नेमि में सभी अरे जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार समस्त जीव, समस्त देवता, समस्त लोक और समस्त प्राण आत्मा से जुड़े रहते हैं अथवा आत्मा में सन्निहित हैं॥ १५॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। तद्वां नरा सनये दꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाचेति॥ १६॥

इस मधु (आत्मविद्या) का वर्णन दध्यङ् आथर्वण ने अश्विनीकुमारों से किया था। ऋषि ने उनसे कहा कि हे अश्विनीकुमारो! जिस प्रकार मेघ वृष्टि को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे उग्र कर्म को प्रकट करता हूँ। अश्व के मस्तक वाले तुम दोनों के लिए यह आथर्वण मधु विद्या प्रदान कर रहा हूँ॥ १६॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचदाथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳशिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रंयद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति॥ १७॥

इस मधु विद्या को आथर्वण दध्यङ् ने अश्विनीकुमारों को प्रदान किया था। मंत्रद्रष्टा ऋषि बोले- हे अश्विनीकुमारो! आप आथर्वण के निमित्त अश्व का मस्तक लाएँ। उन्होंने सत्य की रक्षा करते हुए आपको त्वाष्टोपदेश (अर्थात् सूर्य सम्बन्धी मधुविद्या का उपदेश) किया, वह ज्ञान गोपनीय था॥ १७॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरःस पक्षी भूत्वा पुरःपुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतम्॥ १८॥

इस मधुविद्या का उपदेश आथर्वण दध्यङ् ने अश्विनीकुमारों के प्रति किया था। मन्त्रद्रष्टा ने कहा कि परब्रह्म ने सर्वप्रथम द्विपादों और चतुष्पादों वाले शरीरों का निर्माण किया। इसके पश्चात् वह विराट् पुरुष

उन शरीरों में प्रविष्ट हो गया। इसी कारण पुरुष को "पुरिशय" (पुरों-शरीरों में स्थित) कहते हैं। इस सृष्टि में ऐसा कोई नहीं है, जिसके अन्दर वह प्रविष्ट न हो ॥ १८॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥ १९॥

इस मधु का उपदेश दध्यङ् आथर्वण ने अश्विनीकुमारों को दिया था। मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा कि शरीरधारी को उसके (वास्तविक) स्वरूप में प्रकट करने के लिए वह पुरुष शरीरधारी का प्रतिरूप (जल, वायु या आकाश की तरह पात्र के आकार का) हो जाता है। वह परमात्मा एक होते हुए भी माया से अनेक रूपों वाला प्रतिभासित होता है। शरीर रूपी रथ में जुते इन्द्रियों रूपी अश्व-दस, सहस्र और अनन्त हैं। वह ब्रह्म कारण विहीन, कार्यविहीन, अन्तर और बाहर से भी विहीन है। समस्त विषयों का अनुभव करने वाला आत्मा ही ब्रह्मरूप है। समस्त वेदान्तों का उपदेश भी यही है॥ १९॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ वंशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यःशाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्ला-तादानभिम्लात-आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्यांः सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात् पाराशर्यो बैजवापायनाद्बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥ घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः॥ ३॥

अब इस (मधुकाण्ड) की वंशावली का वर्णन किया जाता है। पौतिमाष्य ने गौपवन से विद्या पायी। गौपवन ने पौतिमाष्य से और पौतिमाष्य ने गौपवन से विद्या पायी। गौपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से विद्या अर्जित की। कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से और शाण्डिल्य ने कौशिक से और गौतम से विद्या प्राप्त की। गौतम ने आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिम्लात से ज्ञान प्राप्त किया। आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने आनभिम्लात से विद्या प्राप्त की । आनभिम्लात ने गौतम के माध्यम से, गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य से ज्ञानार्जन किया। सैतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से विद्या पायी। भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम ऋषि से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने बैजवापायन से और बैजवापायन ने कौशिकायनि से विद्यार्जन किया। कौशिकायनि ने घृतकौशिक से , घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से ज्ञानार्जन किया। पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्कमुनि से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से ज्ञानार्जन किया। औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से विद्या प्राप्त की । माण्टि ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से , शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से ज्ञान लाभ प्राप्त किया। कैशोर्य काप्य ने कुमार हारित से, कुमार हारित ने गालव से, गालव ने विदर्भी कौण्डिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव ने पन्थासौभर से, पन्थासौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से विद्यार्जन किया। आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों के द्वारा, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ् आथर्वण से, दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वादैव से, अथर्वादैव ने मृत्यु प्राध्वंसन से ज्ञान प्राप्त किया। मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से एवं प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति के द्वारा ज्ञान पाया। विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग के माध्यम से, सनग ने परमेष्ठी के द्वारा और परमेष्ठी ने इस दिव्य ज्ञान को ब्रह्मा के द्वारा प्राप्त किया। ब्रह्मा स्वयंभू हैं। उन ब्रह्मा को नमन है ॥ १-३ ॥

[इस ब्राह्मण में ज्ञान-प्राप्त करने वाले ऋषियों की परम्परा का उल्लेख है। किसी-किसी ऋषि का परस्पर एक दूसरे से ज्ञान प्राप्त करने का तथा किसी-किसी को एकाधिक बार परस्पर ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है। लगता है कि सर्वोच्च शक्तिमान् की जैसी अनुभूति जिसे हुई, उन्होंने एक दूसरे को उससे लाभान्वित किया और यह एकाधिक बार भी हुआ होगा।]

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाः सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

विदेहराज जनक ने एक महान् (बड़ी) दक्षिणा वाले यज्ञ (अश्वमेध) के द्वारा यजन किया। उस यज्ञ में पाञ्चाल और कुरु प्रदेशों के बहुत से विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुए। तब राजा को यह ज्ञात करने की इच्छा हुई कि इन विद्वानों में सर्वोत्कृष्ट कौन है ? इस निमित्त उनने अपनी गोशाला की एक सहस्र गौओं के सींगों में दस-दस पाद (लगभग १०० ग्राम) स्वर्ण बँधवा दिया॥ १ ॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा ३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयः स्म इति तः ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताश्वलः ॥ २ ॥

राजा जनक ने उन ब्राह्मणों से कहा- हे पूज्य विद्वानो! आप लोगों में जो सर्वाधिक ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन गौओं को ले जाए। उन ब्राह्मणों में से किसी का भी अपने को श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ कहने का साहस न हुआ। तब महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्य ब्रह्मचारी सामश्रवा से कहा- हे सोम्य सामश्रवा! तुम इन गौओं को (हमारे निमित्त) हाँक ले जाओ। उस ब्रह्मचारी द्वारा गौओं को हाँक ले जाने पर अन्य विद्वान् ब्राह्मण बहुत क्रोधित हुए और बोले कि इसने हममें से अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ कैसे समझ लिया ? इसके पश्चात् राजा के यज्ञ के होता अश्वल ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा-हे ऋषे! क्या आप हम सभी में उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानी हैं ? ऋषि याज्ञवल्क्य बोले-ब्रह्मज्ञानियों को तो मेरा नमन है। हमें तो केवल गौओं की आकांक्षा है। तब अश्वल ने दृढ़ निश्चय करके ऋषि से प्रश्न किया॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्वं मृत्युनाप्तः सर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ३ ॥

हे याज्ञवल्क्य! यह समस्त विश्व जब मृत्यु से संव्याप्त और मृत्यु के द्वारा अधीन किया हुआ है, तब केवल यजमान ही किस तरह मृत्यु के बन्धन का अतिक्रमण कर सकता है ? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि होता नामक ऋत्विक् वाक् और अग्नि है, वह (होता-वाक् शक्ति और अग्नि के द्वारा) मृत्यु को पार कर सकता है। वही मुक्ति और अतिमुक्ति है॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तꣳ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषादित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ४॥

अश्वल ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! सब कुछ दिन और रात्रि से संव्याप्त है और सभी कुछ दिन और रात्रि द्वारा अपने वश में किया हुआ है, फिर यजमान किस प्रकार दिन और रात्रि के बन्धन से मुक्त हो सकता है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि ऋत्विक् नेत्र और सूर्य के माध्यम से (यजमान दिन और रात्रि के बन्धन से) मुक्त हो सकता है। अध्वर्यु ही यज्ञ का चक्षु है, अस्तु, नेत्र ही आदित्य और वही अध्वर्यु है। मुक्ति और अतिमुक्ति भी वही है॥ ४॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः सातिमुक्तिः॥ ५॥

अश्वल ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! सब कुछ पूर्वपक्ष (कृष्णपक्ष) और अपर पक्ष (शुक्लपक्ष) के द्वारा आवृत है और उन्हीं के द्वारा ग्रसित है, फिर यजमान किस प्रकार कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष से मुक्त हो सकता है? तब ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- ऋत्विज्, उद्गाता, वायु और प्राण के माध्यम से मुक्त हो सकता है। उद्गाता को यज्ञ का प्राण कहा गया है तथा यह प्राण ही वायु और उद्गाता है। यही मुक्ति और अतिमुक्ति स्वरूप है॥ ५॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः॥ ६॥

अश्वल ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! यह अन्तरिक्ष निरालम्ब प्रतीत होता है, फिर यजमान किस संसाधन से स्वर्गारोहण करता है? याज्ञवल्क्य बोले कि ऋत्विज्-ब्रह्मा और चन्द्रमा के माध्यम से स्वर्गारोहण करता है। मन ही चन्द्रमा है। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है। मुक्ति और अतिमुक्ति भी वही है। यजमान इसी के द्वारा अतिमुक्ति प्राप्त करता है। अब सम्पद निरूपण किया जाता है॥ ६॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥ ७॥

अश्वल ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य! आज होता यज्ञ में कितनी ऋचाओं का शस्त्रशंसन (प्रयोग) करेगा? याज्ञवल्क्य ने कहा- तीन ऋचाओं के द्वारा। अश्वल ने पूछा- उन तीन ऋचाओं के क्या नाम हैं? ऋषि ने कहा- प्रथम- पुरोनुवाक्या (यजन से पहले वाली) है, द्वितीय- याज्या (यज्ञ के समय उच्चारित) है और तृतीय - शस्या (यज्ञ के बाद की स्तुतियाँ) है। प्रश्नः- इनसे किसे जीता जाता है? उत्तरः- यह जो भी प्राणि-समुदाय है, वह सब (जीता जाता है) ॥ ७॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

अश्वल ने प्रश्न किया-हे याज्ञवल्क्य! इस यज्ञ में आज अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ प्रदान करेगा? उन्होंने कहा- 'तीन'। फिर उसने पूछा कि तीन कौन-कौन सी? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि पहली वह जो होमे जाने पर प्रज्वलित होती है, दूसरी वह जो तीव्र शब्द करती है और तीसरी आहुति वह, जो होमे जाने पर पृथ्वी में विलीन हो जाती है। अश्वल ने पुनः प्रश्न किया कि इन आहुतियों के द्वारा यजमान किस प्रकार विजय प्राप्त करता है? ऋषि ने बताया-प्रथम आहुति से यजमान देवलोक को जीत लेता है,द्वितीय के द्वारा पितृलोक को और तृतीय के द्वारा मनुष्य लोक को जीत लेता है,क्योंकि मनुष्य लोक निम्नवर्ती है॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९ ॥

अश्वल ने पूछा- यज्ञ के ब्रह्मा आज इस यज्ञ में दक्षिण दिशा की ओर से कितने देवताओं के द्वारा यज्ञ का संरक्षण करेंगे? ऋषि ने उत्तर दिया केवल एक देवता के द्वारा। अश्वल ने कहा- किस देवता के द्वारा? ऋषि ने कहा- वह देवता मन है। मन अनन्त है और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं। उस मन रूपी देवता के द्वारा यजमान अनन्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गातास्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकः शस्यया ततो ह होताश्वल उपरराम॥

अश्वल ने पूछा-हे याज्ञवल्क्य! आज उद्गाता इस यज्ञ में कितने स्तोत्रों का गायन करेगा? याज्ञवल्क्य ने कहा-तीन स्तोत्रों का। तब अश्वल ने पूछा- वे तीन स्तोत्र कौन से हैं? ऋषि ने कहा-पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या नामक वे तीन स्तोत्र हैं। अश्वल ने पूछा-इनमें शरीर में रहने वाले कौन से हैं? ऋषि ने कहा- प्राण ही पुरोनुवाक्या है, अपान ही याज्या है और व्यान ही शस्या है। अश्वल के यह पूछने पर कि इन स्तोत्रों द्वारा किस पर विजय प्राप्त की जा सकती है, ऋषि बोले-पुरोनुवाक्या से पृथिवी लोक पर, याज्या द्वारा अन्तरिक्ष लोक पर और शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है। यह सुन कर अश्वल चुप हो गये॥१० ॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये ते तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १ ॥

इसके बाद जारत्कारव आर्तभाग (जरत्कारु के पुत्र आर्तभाग) ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा - हे याज्ञवल्क्य! ग्रह और अतिग्रहों की संख्या कितनी है? ऋषि ने उत्तर दिया कि ये आठ-आठ हैं। इस पर आर्तभाग ने पूछा- वे आठ ग्रह-आठ अतिग्रह कौन-कौन हैं॥ १॥

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति॥ २॥

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले - प्राण ही ग्रह है, वह प्राण रूपी ग्रह अपान रूपी अतिग्रह के द्वारा गृहीत है, क्योंकि प्राणग्रह अपान अतिग्रह द्वारा ही सूँघने का कार्य सम्पन्न कर सकता है॥ २॥

वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३॥

वाक् शक्ति ही ग्रह है, वह नाम रूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण की हुई है, क्योंकि वाक् के द्वारा ही उच्चारण सम्पन्न होता है॥ ३॥

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति॥ ४॥

रसना ही ग्रह है, वह रसरूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण की हुई है, क्योंकि रसना के द्वारा ही स्वादानुभूति होती है॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति॥ ५॥

नेत्रेन्द्रिय ही ग्रह है, वह रूप के अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया गया है; क्योंकि नेत्रेन्द्रिय द्वारा ही रूप का दर्शन किया जा सकता है॥ ५॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति॥ ६॥

श्रोत्रेन्द्रिय ही ग्रह है, वह शब्द रूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया हुआ है; क्योंकि जीवात्मा श्रोत्र द्वारा ही शब्द का श्रवण करता है॥ ६॥

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते॥ ७॥

मन ही ग्रह है,वह कामनारूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया हुआ है; क्योंकि मन से ही कामनाएँ की जाती हैं॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याꣳ हि कर्म करोति॥ ८॥

हाथ ही ग्रह हैं, वे कर्मरूपी अतिग्रह से ग्रस्त हैं; क्योंकि व्यक्ति हाथों द्वारा ही कार्य सम्पादित करता है॥ ८॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहाअष्टावतिग्रहाः॥ ९॥

त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्श रूपी अतिग्रह से गृहीत है; क्योंकि त्वचा द्वारा ही स्पर्श की अनुभूति की जाती है। इस प्रकार ग्रह और अतिग्रह ये आठ-आठ हैं॥ ९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति॥ १०॥

आर्तभाग जारत्कारव ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! इस सृष्टि में जो कुछ है, सब मृत्यु का ही खाद्य पदार्थ है, अतः वह कौन सा देवता है, जिसका भोजन मृत्यु है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्नि ही मृत्यु है और वह अप् (कारण रूप प्रकृति अथवा जल) का भोजन है। इस तथ्य को जानने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ १०॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥ ११॥

आर्तभाग ने पुनः प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! मरने के समय इस पुरुष के प्राण उत्क्रमण (बहिर्गमन) करते हैं या नहीं? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- नहीं ऐसा नहीं है। उस पुरुष के प्राण मृत्यु के पश्चात् यहीं विलीन हो जाते हैं। वह फूल जाता है (वायु को अन्दर खींचता है) और मृत होकर वहीं शयन करता है॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति॥ १२॥

आर्तभाग ने फिर पूछा- हे याज्ञवल्क्य! मृत्यु के उपरान्त पुरुष का कौन परित्याग नहीं करता? ऋषि ने उत्तर दिया- मृत्यु के पश्चात् 'नाम' पुरुष का परित्याग नहीं करता। नाम अनन्त है और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः पुरुष अनन्तलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

यज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३॥

जारत्कारव आर्तभाग ने पुनः पूछा- हे याज्ञवल्क्य! जिस समय इस पुरुष की वाक् अग्नि में विलीन हो जाती है, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, लोम समूह ओषधियों में, केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं और रक्त तथा रेतस् का जल में स्थापन हो जाता है, उस समय वह पुरुष कहाँ निवास करता है? याज्ञवल्क्य बोले- हे सोम्य आर्तभाग! तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ, हम दोनों को ही इस प्रश्न का उत्तर समझना होगा; किन्तु इस जनसभा के बीच यह उचित नहीं है। (हम दोनों बाहर चलें) दोनों ने उठकर बाहर (एकान्त में) जाकर चिन्तन किया और लौटकर दोनों कर्म के विषय में प्रशंसा करने लगे। निश्चित ही पुण्य कृत्यों से पुण्य और पाप कृत्यों से पाप प्राप्त होता है। इसके अनन्तर जारत्कारव आर्तभाग मौन हो गये ॥ १३॥

[यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि ऋषियों के वार्तालाप जिज्ञासा समाधान के लिए, सत्य शोध के लिए ही होते थे। जो तथ्य सुनिश्चित रूप से पता था, वे वही कहते थे, जिन तथ्यों को परामर्श द्वारा स्पष्ट किया जाना है, उनके बारे में स्पष्ट रूप से सुपात्र के साथ विचार मंथन किया जाता था।]

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्र-वीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति॥ १॥

इसके बाद भुज्यु लाह्यायनि (लाह्य के पुत्र) ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य! हम लोग मद्र प्रदेश में व्रताचरण (भ्रमण) करते हुए विद्यार्थी के रूप में कपि गोत्र में उत्पन्न पतञ्चल काप्य के घर गये। काप्य की पुत्री गन्धर्व (से आवेशित) गृहीत थी। हमारे उससे यह पूछने पर कि तुम कौन हो? वह (गन्धर्व जो काप्यसुता पर आवेशित था) बोला मैं आङ्गिरस सुधन्वा हूँ। तदुपरान्त लोकों के अन्त के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए हमने उससे यह भी पूछा कि पारिक्षित कहाँ रहे? पारिक्षित कहाँ रहे? अतः हे याज्ञवल्क्य! हम आप से भी पूछते हैं कि पारिक्षित कहाँ रहे?॥ १ ॥

स होवाचोवाच वै सोगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमेव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले- उस गन्धर्व ने अवश्य ही यह उत्तर दिया होगा कि पारिक्षित वहीं चले गये, जहाँ अश्वमेध सम्पन्न करने वाले जाते हैं। भुज्यु ने पूछा- अश्वमेध सम्पादक कहाँ जाते हैं? ऋषि बोले- एक दिन और रात्रि में आदित्य का रथ जितने स्थान में चलता है, उतने को 'आह्न्य' कहते हैं। ऐसे बत्तीस आह्न्य परिमाण वाला वह लोक है। उस लोक को चारों ओर से पृथिवी और उस पृथिवी से दुगुना समुद्र उसे घेरे हुए है। उन अण्ड कपालों के बीच में छुरे की धार अथवा मक्खी के पंख जितना चौड़ा आकाश (अथवा प्रवेश मार्ग) है। इन्द्र ने उन्हें (पारिक्षित को) वायु को प्रदान किया और वायुदेव उन्हें अपने में स्थापित करके वहाँ ले गये, जहाँ अश्वमेध सम्पन्न करने वाले रहते हैं। इस प्रकार उस गन्धर्व ने वायुदेव की सराहना की। अस्तु, वायु ही व्यष्टि और समष्टि है। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। यह सुनकर भुज्यु लाह्यायनि भी चुप हो गये॥ २ ॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

इसके पश्चात् चक्रपुत्र उषस्त ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! जो प्रत्यक्ष और साक्षात् ब्रह्म है तथा सबके अन्तर में स्थित आत्मा है, उसका मेरे लिए वर्णन कीजिए। ऋषि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- तुम्हारी आत्मा ही सबके अन्तर में विराजमान है। जब उषस्त ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! सर्वान्तर कौन है? तब ऋषि ने कहा- जो प्राण के द्वारा प्राणन प्रक्रिया करता है (श्वास लेता है), वही तुम्हारा

आत्मा सर्वान्तर है, जो अपान के द्वारा अपानन क्रिया करता है, वही तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यान से व्यानन क्रिया करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर है, जो उदान से उदानन क्रिया सम्पन्न करता है, वही तुम्हारी आत्मा सर्वान्तर होकर विराजित है॥ १॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम॥ २॥

चाक्रायण उषस्त ने कहा- जिस प्रकार कोई यह कहता है कि यह गौ है, यह अश्व है, आपका यह कथन उसी प्रकार का है। अतः आप हमें साक्षात्, प्रत्यक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा के विषय में स्पष्ट रूप से बतलाएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- तुम्हारी आत्मा ही सर्वान्तर में प्रतिष्ठित है। दृष्टि के द्रष्टा को देख सकना, श्रुति के श्रोता को सुन सकना, मति के मन्ता को मनन करना और विज्ञाति के विज्ञाता को जान सकना तुम्हारे लिए असम्भव है। तुम्हारा यह आत्मा ही सर्वान्तर है, इसके अतिरिक्त सब नाशवान् (और दुःख का कारण) है। यह सुनने के पश्चात् उषस्त मौन हो गए॥ २॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतस्तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १॥

तत्पश्चात् कौषीतकेय कहोल ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य! आप साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा का हमारे प्रति वर्णन कीजिए। तब याज्ञवल्क्य ने कहा- तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर में प्रतिष्ठित है। पुनः कहोल ने पूछा कि यह सर्वान्तर आत्मा कौन सा है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा- वह भूख, प्यास, जरा, मृत्यु, शोक और मोह से परे है। इस आत्म तत्त्व को जानकर ही ब्रह्मवेत्ता पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग कर भिक्षाटन करते हुए विचरण करते हैं। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा है और वित्तैषणा ही लोकैषणा है। अतः ब्रह्मज्ञानी को चाहिए कि इन दोनों (काम्य और कामनाओं) को जानता हुआ आत्मबल सम्पन्न होकर मनन करे। अमौन (बोलने की शक्ति) और मौन साधना युक्त होकर ब्राह्मण (धन्य) होता है। ब्राह्मण होने के यही साधन हैं। इसके अतिरिक्त जो भी हैं, वह नाशवान् और दुःख केहेतु हैं। यह सुनने के बाद कौषीतकेय कहोल मौन हो गए॥ १॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ १ ॥

इसके पश्चात् वचक्नुसुता गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! जब सभी कुछ जल में ओत-प्रोत है, तब जल किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी ! जल, वायु में ओत-प्रोत है। गार्गी ने पुनः प्रश्न किया, फिर वायु किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि ने कहा- वायु, अन्तरिक्ष लोकों में ओत-प्रोत है। पुनः पूछा गया- और अन्तरिक्ष किसमें ओत-प्रोत है ? तब उत्तर दिया गया कि अन्तरिक्ष गन्धर्व लोकों में ओत-प्रोत है। गार्गी के पुनः यह पूछे जाने पर कि गन्[illegible] किसमें ओत-प्रोत हैं ? ऋषि ने उत्तर दिया आदित्य लोकों में । गार्गी ने पूछा- आदित्य लोक किसमें ओत प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा- चन्द्रलोकों में, फिर चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है ? उत्तर मिला- नक्षत्र लोकों में। नक्षत्र लोक किसमें ओत-प्रोत है ? देव लोकों में। देवलोक किसमें है ? इन्द्र लोकों में । पुनः गार्गी ने पूछा- इन्द्र लोक किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि ने कहा- प्रजापति लोकों में। प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है ? ब्रह्म लोकों में । गार्गी ने पुनः पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! फिर ब्रह्म लोक किसमें ओत-प्रोत है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा-हे गार्गी ! आप अधिक न पूछें। अधिक पूछने से कहीं ऐसा न हो कि आपका मस्तक गिर जाए। आप ऐसे देवता के विषय में अति प्रश्न कर रही हैं, जिसके विषय में अति प्रश्न करना वर्जित है। तब वाचक्नवी गार्गी चुप हो गईं ॥ १ ॥

[जो वाणी से व्यक्त नहीं हो सकता, उस विषय को केवल तर्क से सिद्ध करने का प्रयास करना अति प्रश्न है। जो विद्वान् जानबूझकर अपनी मेधा का उपयोग अहंकारवश ऐसे अनर्गल प्रसंगों में करता है, परा प्रकृति उसे दण्डित कर सकती है। अस्तु, ऋषि ने गार्गी को सावधान कर दिया और वह चुप हो गयी]

॥ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं

येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो वै तत्काप्यसूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति॥ १॥

इसके पश्चात् आरुणि उद्दालक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य! हम मद्र देश में काप्य पतञ्चल के यहाँ यज्ञ शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे। उनकी पत्नी एक गन्धर्व के द्वारा आवेशित थी। हमने उस (पत्नी पर आवेशित गन्धर्व) से पूछा- तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया कि मैं अथर्वापुत्र कबन्ध हूँ। तब उसने काप्य पतञ्चल और यज्ञ शास्त्र अध्येताओं से प्रश्न किया कि क्या आप उस सूत्र को जानते हैं, जिससे ये लोक, परलोक और समस्त प्राणी गुँथे हुए हैं। काप्य पतञ्चल ने कहा - मुझे वह सूत्र ज्ञात नहीं है। पुनः उसके यह पूछे जाने पर कि क्या आप उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानते हैं, जो इस लोक, परलोक और सभी प्राणियों का नियन्ता है? काप्य पतञ्चल ने कहा कि मुझे यह भी विदित नहीं है। उस आवेशित गन्धर्व ने पुनः कहा कि जो उस सूत्र और अन्तर्यामी का ज्ञाता है, वह ब्रह्म, लोक, वेद, देवभूतों, आत्मा और सभी का ज्ञाता हो जाता है। इसके पश्चात् गन्धर्व ने उन (काप्य आदि) से सूत्र और अन्तर्यामी को बताया। उसे मैं जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य! यदि तुम्हें उस सूत्र और अन्तर्यामी का ज्ञान नहीं है और तुम इन ब्रह्मवेत्ताओं की गौओं को ले जाते हो, तो तुम्हारा मस्तक गिर (झुक) जायेगा। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गौतम! मैं उस अन्तर्यामी को निश्चित रूप से जानता हूँ। आरुणि बोले- यह बात तो कोई भी कह सकता है कि मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानता हूँ। आप जिस प्रकार जानते हैं,उसका वर्णन करें॥ १॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञ-वल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति॥ २॥

याज्ञवल्क्य ने कहा-हे गौतम! वह सूत्र वायु ही है, क्योंकि इहलोक, परलोक और समस्त प्राणी उसी के द्वारा गुँथे हुए हैं। इसीलिए प्रायः यह कहते हैं कि मृतक के अंग गिर गये (विशीर्ण हो गये); क्योंकि हे गौतम! वे (अंग) वायुरूप सूत्र से ही संग्रथित होते हैं। उद्दालक ने कहा- हाँ यह तो ठीक है, अब अन्तर्यामी के विषय में वर्णन करो ॥ २॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ ३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- जो पृथिवी में स्थित एवं पृथिवी में संव्याप्त है, पृथिवी ही जिसका शरीर है, पर उसे पृथिवी नहीं जानती, जो पृथिवी के अन्दर विराजमान रहकर उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है॥ ३॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ४ ॥

जो जल में निवास करने वाला और उसी में संव्याप्त है, जल जिसका शरीर है, जल के भीतर रहकर वह उसका नियमन भी करता है; किन्तु जल उसे नहीं जानता, वही आत्मा अमर्त्य अन्तर्यामी है ॥ ४ ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

जो अग्नि में निवास करने वाला, अग्नि में संव्याप्त है और अग्नि ही जिसका शरीर है; किन्तु अग्नि उसे नहीं जानता, जो अग्नि के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है । ५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

जो अन्तरिक्ष में निवास करने वाला और उसी में संव्याप्त है, अन्तरिक्ष ही जिसका शरीर है और अन्तरिक्ष जिसे जानता नहीं है, अन्तरिक्ष के अन्दर रहकर ही जो उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ ६ ॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ७ ॥

जो वायु में निवासित, उसी में व्याप्त है, पर वायु द्वारा ही अज्ञात है, वायु ही जिसका देह है और जो वायु में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

जो द्युलोक में निवास करता है, उसी में संव्याप्त है; किन्तु द्युलोक जिसे नहीं जानता, द्युलोक ही जिसका शरीर है तथा जो उस द्युलोक में रहकर ही उसका नियामक है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

जो आदित्य में निवास करने वाला है, उसी में संव्याप्त है, आदित्य रूप शरीर वाला है; किन्तु आदित्य जिसे नहीं जानता, वह आदित्य के अन्दर रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और मृत्यु से परे है ॥ ९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥

जो दिशाओं में रहने वाला है, दिशाओं के अन्दर प्रतिष्ठित है, दिशाएँ ही जिसकी देह हैं; किन्तु दिशाओं द्वारा वह अज्ञात है, दिशाओं के अन्दर रहकर ही जो दिशाओं का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर है ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

जो चन्द्र और तारों में स्थित है, उन्हीं में संव्याप्त है, चन्द्र और तारा रूपी देह वाला है; किन्तु चन्द्र और तारागण उसे नहीं जानते, वह उनके अन्दर रहकर ही उनका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ ११ ॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १२ ॥

जो आकाशस्थ है, आकाश जिसका देह है, जो आकाश के भीतर रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है; किन्तु आकाश उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर है ॥ १२ ॥

यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १३ ॥

जो तमस् (अन्धकार) में स्थित है, तमरूप देहवाला है; किन्तु तम जिसे नहीं जानता, जो तम में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

जो तेज में निवास करने वाला है, तेजरूप शरीर वाला है; किन्तु तेज जिसे नहीं जानता, जो तेज में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ १४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥

जो समस्त भूतों में निवास करता है, समस्त भूत जिसके शरीर हैं; किन्तु समस्त भूत जिसे नहीं जानते, समस्त भूतों के अन्तर में स्थित रहकर, जो सबका नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी और अनश्वर है, यह अधिभूत दर्शन सम्पन्न हुआ। अब अध्यात्म दर्शन का वर्णन किया जाता है ॥ १५ ॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १६ ॥

जो प्राण के अन्दर स्थित है, प्राण ही जिसका शरीर है; किन्तु प्राण जिसे नहीं जानता, प्राण में रहकर ही वह उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमृत है ॥ १६ ॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १७ ॥

जो वाणी में निवास करता है, वाणी ही जिसकी काया है, जो वाणी में स्थित रहकर ही उसका नियमन करता है; किन्तु वाणी जिसे नहीं जानती, वह आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ १७ ॥

यश्चक्षुषि तिष्ठ॑श्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १८॥

जो नेत्रेन्द्रिय में विराजित है, नेत्र ही जिसका शरीर है, नेत्र में रहकर ही जो उसका नियमन करता है; किन्तु नेत्र उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा अन्तरात्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है॥ १८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो य॑ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्र॑ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १९॥

जो श्रोत्रेन्द्रिय में विद्यमान है, श्रोत्र ही जिसका शरीर है, जो श्रोत्र के अन्दर रहकर ही उसका नियमन करता है; किन्तु श्रोत्र उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है॥ १९॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २०॥

जो मन के अन्दर निवास करने वाला है, मन ही जिसका शरीर है, मन में रहकर ही जो मन का नियामक है; किन्तु मन उसे नहीं जानता। वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है॥ २०॥

यस्त्वचि तिष्ठ॑स्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २१॥

जो त्वचा में विराजित है, त्वचा ही जिसका शरीर है, त्वचा में रहकर ही जो त्वचा का नियमन करता है और त्वचा जिससे अपरिचित है, वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है॥ २१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञान॑ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २२॥

जो विज्ञान में निवास करने वाला है, विज्ञान ही जिसका शरीर है, जो विज्ञान में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है; किन्तु विज्ञान उससे अपरिचित है, वह अन्तरात्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है॥२२॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो य॑ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम॥ २३॥

जो वीर्य में निवास करता है, वीर्य ही जिसका शरीर है, जो वीर्य में रहकर ही वीर्य का नियन्त्रण करता है; किन्तु वीर्य उससे अपरिचित है, वह तुम्हारा आत्मा ही अनश्वर और अविनाशी है। वह दिखाई नहीं देता; किन्तु देखता है, सुनाई नहीं देता; किन्तु सुनता है, वह मनन करने का विषय नहीं है; किन्तु मनन करता है, वह स्वयं अविज्ञात है, पर सबको जानता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता, मनन करने वाला और जानने वाला नहीं है। तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है। इससे भिन्न सभी नश्वर हैं। इसके अनन्तर आरुणि उद्दालक मौन हो गये॥ २३॥

॥ अष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति॥ १ ॥

इसके पश्चात् वाचक्नवी गार्गी ने कहा-हे पूज्य ब्राह्मणो! अब मैं इन (याज्ञवल्क्य) से दो प्रश्न करूँगी। यदि ये इन दोनों के उचित उत्तर दे सकेंगे, तो यह सुनिश्चित हो जाएगा कि ये अजेय हैं (ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा में इन्हें जीतना किसी के लिए सम्भव नहीं है), तब ब्राह्मणों ने कहा ठीक है, गार्गी अब प्रश्न पूछो ॥ १ ॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति॥ २ ॥

गार्गी ने कहा हे याज्ञवल्क्य! जैसे काशी अथवा विदेह में रहने वाला कोई वीर वंशी प्रत्यञ्चा हीन धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रु पीड़ादायक बाणों को हाथ में लेकर सन्नद्ध होता है, वैसे ही मैं आपके समक्ष दो प्रश्नों को लेकर उपस्थित हुई हूँ, आप मुझे उनका उत्तर प्रदान करें। याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गी! आप अवश्य प्रश्न करें॥ २ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति॥ ३ ॥

गार्गी ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर और पृथिवी लोक से नीचे है तथा द्यौ और पृथिवी के ठीक बीच में स्थित है, जो स्वतः द्यु और पृथिवी लोक है तथा जो स्वयं भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, वह किसमें ओतप्रोत है?॥ ३ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति॥ ४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी! द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे तथा द्यु और पृथिवी के मध्य भाग में जो स्थित है, स्वयं भी जो द्यु और पृथिवी है और जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहलाता है, वह आकाश में ओत-प्रोत है॥ ४ ॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति॥ ५ ॥

गार्गी ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है, आपने मेरे (एक) प्रश्न का उत्तर दिया है। अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर भी दीजिए। याज्ञवल्क्य ने कहा कि ठीक है, उसे भी पूछिये॥ ५ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिँस्तदोतं च प्रोतं चेति॥ ६ ॥

गार्गी ने कहा- जो द्युलोक के ऊपर, पृथिवी लोक के नीचे, द्यु और पृथिवी के मध्य तथा जो स्वयं भी द्यु और पृथिवी है, जिसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहा जाता है, वह किसमें ओत-प्रोत है?॥ ६ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति॥ ७॥

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गी ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी लोक से नीचे, द्यु और पृथिवी के मध्य अवस्थित है, जो स्वयं ही द्यु और पृथिवी है, जिन्हें भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहा जाता है, वह आकाश में ओत-प्रोत है। (पुनः प्रश्न) तो फिर आकाश किसमें ओत-प्रोत है ?॥ ७॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम-लोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवायु अनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽते-जस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८॥

याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गी! उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता 'अक्षर' ऐसा कहते हैं। वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न लम्बा है, न लाल है, न स्नेहिल (चिकना) है, न छाया है, न अन्धकार है, न वायु है और न ही आकाश ही है, जो सङ्ग और रस से भी हीन है। जिसके न नेत्र हैं, न कान हैं, न वाक् है, न मन है, न तेज है और प्राण, मुख, माप आदि भी नहीं है। वह न अन्दर है, न बाहर है, न वह कुछ भक्षण करता है और न उसे अन्य कोई भक्षण कर सकता है॥ ८॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः॥ ९॥

(याज्ञवल्क्य ने आगे कहा-) हे गार्गी! इस 'अक्षर' ब्रह्म के अनुशासन में सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वी लोक, निमेष, मुहूर्त्त, दिवा-रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर आदि स्थित हैं। इसी अक्षर के अनुशासन में विभिन्न नदियाँ पर्वतों से निकल कर पूर्व तथा पश्चिम आदि दिशाओं में प्रवाहित होती हैं। हे गार्गी! इस 'अक्षर' (ब्रह्म) के अनुशासन में ही मानव दाता की प्रशंसा करते हैं, देवगण यजमान के और पितृगण दर्वी होम के अनुवर्ती होते हैं॥ ९॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः॥ १०॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी ! जो इस 'अक्षर' ब्रह्म को न जानकर इस लोक में यज्ञ आदि पुण्य कृत्य सम्पन्न करते हैं और सहस्रों वर्ष तक तप करते हैं, उनके ये सभी कर्म नाशवान् होते हैं। इस 'अक्षर' (अविनाशी ब्रह्म) को बिना जाने ही इस लोक से जो प्रयाण कर जाते हैं, वे कृपण हैं; किन्तु जो इस 'अक्षर' को जानकर इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे ब्राह्मण हैं॥ १०॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतः श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा हे गार्गी! यह 'अक्षर' स्वयं दृष्टि का विषय नहीं है; किन्तु सभी को देखने वाला है, स्वयं श्रवण का विषय नहीं है; किन्तु सबकी सुनता है, स्वयं मनन का विषय नहीं है; किन्तु सबका मन्ता है, स्वयं अविज्ञात है; किन्तु सबका ज्ञाता है। हे गार्गी! इस 'अक्षर' ब्रह्म में ही वह आकाश तत्त्व ओत-प्रोत है ॥ ११ ॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥ १२ ॥

इसके पश्चात् वाचक्नवी गार्गी बोली- हे पूजनीय ब्राह्मणो! इसी (वार्तालाप से प्राप्त हुए ज्ञान) को बहुत समझो। इन (याज्ञवल्क्य) से नमस्कार करके ही पीछा छूट जाये, तो बहुत है; क्योंकि आपमें से किसी भी ब्रह्मज्ञानी के लिए इन्हें जीत सकना सम्भव नहीं है। इसके बाद वाचक्नवी गार्गी मौन हो गईं ॥ १२ ॥

[गार्गी ब्रह्मज्ञ विदुषी थी। उसके निर्णायक कथन को सभी ने स्वीकार किया, किन्तु आने वाले क्रम में शाकल्य विदग्ध अहंकारवश नहीं माने। अगले क्रम में उन्हें उस कुचेष्टा का दण्ड भोगना पड़ा।]

॥ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

इसके उपरान्त शाकल्य विदग्ध ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! देवगण कितने हैं? यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने वैश्वदेव मन्त्रों की निविद में वर्णित देवताओं की संख्या प्रतिपादित की - तीन और तीन सौ, तीन और तीन सहस्र, इसका अभिप्राय हुआ तीन हजार तीन सौ छः। शाकल्य ने कहा- ठीक है। पुनः शाकल्य ने प्रश्न किया- देवताओं की संख्या कितनी है? याज्ञवल्क्य ने कहा- तैंतीस। इसमें सहमति देकर पुनः शाकल्य ने प्रश्न पूछा- देवता कितने हैं? तब याज्ञवल्क्य बोले- छः। इसे स्वीकार कर विदग्ध (शाकल्य) ने फिर पूछा- देवता कितने हैं? उत्तर दिया गया-तीन। शाकल्य द्वारा 'ठीक है' कहने एवं पुनः यही पूछने पर कि देवता कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा - दो । 'ठीक है' कहकर शाकल्य ने फिर पूछा- देवता कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- अध्यर्ध (डेढ़)। इस पर 'ठीक है' कहते हुए शाकल्य ने पुनः वही प्रश्न दोहराया, तब याज्ञवल्क्य ने कहा- देवता एक है। इसे स्वीकार कर शाकल्य ने कहा- वे तीन हजार तीन और तीन सौ तीन देवगण कौन से हैं? ॥ १ ॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥

याज्ञवल्क्य बोले-ये तो (तीन सौ तीन और तीन हजार तीन) देवताओं की विभूतियाँ हैं। देवगण तो केवल तैंतीस ही हैं। विदग्ध शाकल्य ने पुनः प्रश्न किया वे तैंतीस देवगण कौन से हैं? तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया-अष्ट वसु, एकादश रुद्र, बारह आदित्य ये इकतीस देवता हुए। इन्द्र और प्रजापति सहित ये तैंतीस हो जाते हैं ॥ २ ॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वꣳहितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥

शाकल्य ने प्रश्न किया-अष्ट वसु कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्र और नक्षत्र ये ही अष्टवसु हैं, इन्हीं में सम्पूर्ण जगत् सन्निहित है अथवा जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ इन्हीं में समाये हुए हैं, इसीलिए इन्हें वसुगण कहते हैं ॥ ३ ॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

शाकल्य ने फिर पूछा-ये रुद्र कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा-पुरुष में स्थित ये दस प्राण (दस इन्द्रियाँ) और ग्यारहवाँ आत्मा (मन) है, यही एकादश रुद्र हैं; क्योंकि जब ये मरणधर्मा शरीर से मृत्युकाल में उत्क्रमण करते अर्थात् निकलते हैं, उस समय से उसके प्रियजनों- परिजनों को रुलाते हैं, इसी कारण इन्हें रुद्र कहा गया है ॥ ४ ॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् शाकल्य ने पूछा-बारह आदित्य कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने बताया-वर्ष में बारह मास होते हैं, वे ही बारह आदित्य हैं; क्योंकि ये ही सभी को लेते हुए (उनकी आयु का आदान करते हुए) चलते रहते हैं ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

शाकल्य ने पुनः प्रश्न किया- इन्द्र और प्रजापति कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- स्तनयित्नु अर्थात् गरजने वाला मेघ ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है। शाकल्य ने पूछा- गर्जनशील मेघ क्या है? उत्तर मिला विद्युत्। जब शाकल्य ने यह पूछा कि यज्ञ क्या है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा- पशु ही यज्ञ है ॥ ६ ॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदꣳ सर्वं षडिति ॥ ७ ॥

शाकल्य ने प्रश्न किया- छः देवगण कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- पृथिवी, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ और आदित्य, ये ही छः देवगण हैं। ये ही सभी कुछ हैं ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति॥ ८॥

शाकल्य ने फिर पूछा- वे तीन देव कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- तीन लोक ही तीनों देवता हैं, इन्हीं में समस्त देवगण वास करते हैं। फिर शाकल्य ने पूछा वे दो देवता कौन हैं-- ऋषि ने उत्तर दिया- अन्न और प्राण ही वे दो देवता हैं। शाकल्य ने फिर पूछा- वे डेढ़ देवता कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- जो बहता है, अर्थात् यह वायु ही डेढ़ देवता है॥ ८॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म तदित्याचक्षते॥ ९॥

शाकल्य ने प्रश्न किया- पवन (वायु) तो एकाकी ही प्रवाहित होता है, फिर इसे 'डेढ़' कैसे कहते हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर देते हुए कहा-क्योंकि इसी में सभी ऋद्धि (वृद्धि) को प्राप्त होते हैं, इसलिए इसे अध्यर्ध (डेढ़) कहते हैं। शाकल्य ने पूछा-एक देव कौन सा है ? ऋषि ने कहा 'प्राण' ही एक देवता है, वही ब्रह्म है और उसी को तत् (वह) कहते हैं॥ ९॥

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच॥ १०॥

यह पृथिवी ही जिसका शरीर (आयतन) है, अग्नि ही जिसका लोक, मन ही जिसकी ज्योति और जो समस्त जीवों का आत्मा एवं सहारा है। उस सर्वात्मा एवं सभी के आश्रयरूप पुरुष को जो जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही ब्रह्मज्ञ है। यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निःसन्देह उस ब्रह्म को जानता हूँ। जिस पुरुष को तुम सब जीवों का आत्मा एवं आश्रय बताते हो, वही इस शरीर में संव्याप्त पुरुष है। याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- हे शाकल्य! अब तुम और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है ? ऋषि ने कहा- उसका देवता अमृत है॥ १०॥

काम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच॥ ११॥

शाकल्य ने कहा- काम ही जिसका शरीर है, हृदय ही जिसका लोक है, मन ही जिसकी ज्योति है एवं जो समस्त प्राणियों की आत्मा है, उस सर्वान्तरात्मा को जानने वाला ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। याज्ञवल्क्य बोले- मैं निश्चित ही उस पुरुष का ज्ञान रखता हूँ, जिसे तुम सभी भूतों की आत्मा कहते हो, वह काममय पुरुष है। हे शाकल्य! अब और प्रश्न करो। शाकल्य ने पूछा- उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा-'स्त्रियाँ' ॥ ११॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच॥ १२॥

शाकल्य ने कहा- रूप ही जिसका देह है, नेत्र ही लोक, मन ही ज्योति है तथा जो सभी का आश्रय रूप है, उस पुरुष को जानने वाला सर्वज्ञाता होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा-तुम जिस सबके आश्रयभूत पुरुष की बात कर रहे हो, उसे मैं जानता हूँ। वह पुरुष आदित्य में स्थित है। याज्ञवल्क्य ने कहा हे शाकल्य! और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा-उसका देवता कौन है? ऋषि ने उत्तर दिया-सत्य ही उसका देवता है॥ १२॥

आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच॥ १३॥

शाकल्य ने कहा- आकाश जिसका आयतन (देह) है, श्रोत्र जिसका लोक, मन जिसकी ज्योति है और जो समस्त भूतों का आश्रय रूप है, उसे जानने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य बोले मैं निश्चित रूप से उसका ज्ञान रखता हूँ। जिस पुरुष को तुम सब भूतों का आश्रय रूप मानते हो, वही श्रोत्र सम्बन्धी (अर्थात् श्रोत्र में प्रति श्रवण के समय रहने वाला) 'प्रातिश्रुत्क' पुरुष है। हे शाकल्य! अब और कुछ पूछो। शाकल्य ने पूछा- उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा-दिशाएँ ही उसकी देवता हैं॥ १३॥

तम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच॥ १४॥

शाकल्य ने कहा- तम ही जिसका आयतन (देह) है, हृदय ही जिसका लोक और मन ही जिसकी ज्योति है, उस सर्वभूतात्मा को जो जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा-मैं उस सर्वभूतात्मा को निश्चित रूप से जानता हूँ। जिसे तुम 'सर्वभूतात्मा' ऐसा जानते हो, वह छायामय पुरुष ही है। हे शाकल्य! और पूछो। शाकल्य ने पूछा-उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया-उसका देवता 'मृत्यु' है॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच॥ १५॥

शाकल्य ने फिर कहा- रूप ही जिसका शरीर, चक्षु ही देखने की शक्ति और मन ही जिसकी ज्योति है, जो सर्वभूतों में स्थित उनकी आत्मा है, उस पुरुष को जानने वाला सर्वज्ञ होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निश्चित रूप से उस ब्रह्म को जानता हूँ। तुम जिसे सर्वभूतों में स्थित आत्मा कहते हो, वह वही पुरुष है, जो दर्पण में स्थित है (अर्थात् दर्पण में दिखाई देता है)। हे शाकल्य! और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है? ऋषि ने उत्तर दिया- उसका देवता असु (अर्थात् प्राण) है॥ १५॥

आप एव यस्यायतनः हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच॥ १६॥

शाकल्य बोले जल ही उसका आयतन (देह), हृदय ही लोक और मन ही ज्योति है। उस सर्वभूतान्तरात्मा को जो जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निश्चित ही उसका ज्ञान रखता हूँ, जिसे तुम सर्वभूतान्तरात्मा कहते हो, वह जल स्थित पुरुष ही है। हे शाकल्य! और पूछो, शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा- उसके देवता वरुण हैं॥ १६॥

रेत एव यस्यायतनः हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच॥ १७॥

शाकल्य ने कहा- वीर्य ही जिसका शरीर (आयतन) है, हृदय ही जिसका लोक है, मन ही जिसकी ज्योति है, उस सर्वभूताश्रय पुरुष को जो जानता है, वह सर्वज्ञाता होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- उस पुरुष को मैं भली-भाँति जानता हूँ, जिसे आप सर्वभूतों का आश्रय कहते हो, वह पुत्ररूप पुरुष है। हे शाकल्य! और प्रश्न करो- शाकल्य के पूछने पर कि उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- प्रजापति ॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाः स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति॥ १८॥

याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से कहा- हे शाकल्य! इन ब्राह्मणों ने तुम्हें ही निश्चित रूप से अङ्गारे हटाने का चिमटा बनाया है॥ १८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः॥ १९॥

शाकल्य ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! जो आप कुरु और पांचाल देश के ब्राह्मणों पर आरोप लगाकर उन्हें तिरस्कृत करते हैं, क्या स्वयं को ब्रह्मवेत्ता मानकर ऐसा करते हैं? याज्ञवल्क्य जी बोले-मुझे देवताओं और प्रतिष्ठा के सहित दिशाओं का ज्ञान है। शाकल्य बोले-यदि आपको देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं का ज्ञान है॥ १९॥

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २०॥

तो यह बताएँ कि पूर्व दिशा में आप किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- वहाँ मैं आदित्य देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पुनः पूछा- वह आदित्य किसमें स्थित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- चक्षु में। शाकल्य ने पूछा- चक्षु किसमें प्रतिष्ठित हैं? ऋषि ने कहा- रूप में, क्योंकि चक्षुओं के द्वारा ही पुरुष रूपों को देखता है। शाकल्य ने पूछा- रूप किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय में, क्योंकि हृदय के द्वारा ही पुरुष को रूपों का ज्ञान होता है। शाकल्य ने कहा यह सत्य है ॥ २०॥

किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाᳬं ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २१॥

शाकल्य ने पूछा- दक्षिण दिशा में आप किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- यम देवता से। शाकल्य ने पूछा-वह यम देवता किसमें स्थित है? उत्तर मिला श्रद्धा में। श्रद्धा किसमें स्थित है? ऋषि ने कहा-हृदय में, क्योंकि हृदय के द्वारा ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। शाकल्य ने कहा-हे याज्ञवल्क्य! यह सत्य है॥ २१॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २२॥

शाकल्य ने आगे कहा-पश्चिम दिशा में आप किस देवता वाले हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा-पश्चिम दिशा में मैं वरुण देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पूछा- वरुण किसमें प्रतिष्ठित है? ऋषि ने उत्तर दिया-जल में। जल किसमें स्थित है? उत्तर मिला-वीर्य में। तब शाकल्य ने पूछा- वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा-हृदय में। इसलिए तो पिता के अनुरूप उत्पन्न पुत्र के लिए लोग कहते हैं कि ये मानो पिता के हृदय से निकला है, पिता के हृदय से ही निर्मित हुआ है। शाकल्य ने कहा-यह भी यथार्थ ही है॥ २२॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २३॥

शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा-आप उत्तर दिशा में किस देवता से सम्पन्न हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा- सोम देवता से। शाकल्य ने पूछा- सोम किसमें स्थित है? ऋषि ने कहा-दीक्षा में। दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- सत्य में। सत्य किसमें विद्यमान है? ऋषि ने कहा-हृदय में। क्योंकि व्यक्ति हृदय से ही सत्य को जान पाता है, अतः सत्य हृदय में ही प्रतिष्ठित है। तब शाकल्य ने कहा -हे याज्ञवल्क्य! यह भी ठीक है॥ २३॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति॥ २४॥

शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा- आप ध्रुव दिशा में किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्निदेव से युक्त हूँ। प्रश्न किया गया- अग्निदेव किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- वाक् शक्ति में। पुनः प्रश्न हुआ कि वाक् किसमें स्थित है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- वाक् हृदय में प्रतिष्ठित है। इस पर शाकल्य ने पूछा- फिर हृदय किसमें स्थित है?॥ २४॥

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्म-त्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद्विमथ्नीरन्निति॥ २५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- अरे अहल्लिक (प्रेत)! जब तुम इस (हृदय) को हमसे पृथक् मानते हो, तब तो (हृदय विहीन) इस शरीर को कुत्ते नोच कर खा जाते या पक्षीगण चोंच मार-मार कर इसे मथकर (चीरकर) खा डालते॥ २५॥

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्नवपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति तꣳ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः॥ २६॥

शाकल्य ने फिर पूछा- आप (शरीर) और हृदय (आत्मा) किसमें प्रतिष्ठित हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- प्राण में। शाकल्य ने फिर पूछा- प्राण किसमें स्थित हैं? उत्तर दिया अपान में। पूछा गया- अपान किसमें विद्यमान है? उत्तर दिया गया-व्यान में। फिर प्रश्न किया गया-व्यान किसमें स्थित है? उत्तर दिया गया-उदान में। उदान किसमें प्रतिष्ठित है? समान में। याज्ञवल्क्य ने आगे कहा-यह आत्मा नेति-नेति कहा जाता है। यह ग्रहण नहीं किया जा सकता और न ही विनष्ट किया जा सकता है। यह सङ्ग रहित अव्यवस्थित और अहिंसित है। ये आठ शरीर हैं, आठ देवता हैं और आठ पुरुष हैं। वह व्यष्टि रूप होकर इन पुरुषों को अपने हृदय में एकीकृत करके उपाधिरूप धर्मों का अतिक्रमण किए है। उपनिषद् द्वारा ज्ञातव्य उस पुरुष के विषय में मैं आपसे पूछता हूँ। यदि आप उसका स्पष्ट विवेचन न कर सकेंगे, तो आपका मस्तक गिर जायेगा; परन्तु शाकल्य के उस पुरुष को न जानने के कारण उसका मस्तक गिर गया। इतना ही नहीं उसकी अस्थियों को चोर लोग कुछ और समझकर उठा ले गये॥ २६॥

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः॥ २७॥

याज्ञवल्क्य बोले - हे तपोधन पूज्य ब्राह्मणगण! आप विद्वानों में से जो भी चाहे अथवा सभी मिलकर चाहें तो मुझसे प्रश्न कर लें। यदि आप प्रश्न न करना चाहें, तो आप में से जिसकी इच्छा हो, उससे अथवा सभी से मैं प्रश्न पूछूँ; किन्तु किसी का भी याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने का साहस न हुआ॥ २७॥

तान् हैतैः लोकैः पप्रच्छ । यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥ १॥ त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदा तृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्॥२॥ माꣳसान्यस्य शकराणि किनाटꣳस्नाव तत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥ ३॥ यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥४॥ रेतस इति मा वोचतजीवतस्तत्प्रजायते। धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः॥ ५॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥ ६॥ जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति॥ ७॥ ॥ २८॥

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन श्लोकों द्वारा प्रश्न किए- मनुष्य, वनस्पति- वृक्ष के तुल्य है, अर्थात् जो गुण धर्म वनस्पति के हैं, वही मनुष्य के भी हैं। वृक्ष में पत्ते होते हैं और मनुष्य के शरीर में रोम होते हैं, मनुष्य के शरीर में स्थित त्वचा ही वृक्ष पर लिपटी छाल होती है॥ १॥ रक्त रस है। जिस प्रकार पुरुष की त्वचा से रक्त निकलता है, उसी प्रकार वृक्ष की छाल से रस (गोंद) निकलता है। आघात लगने पर वृक्ष से भी रस निकलता है और चोट लगने पर मनुष्य के शरीर से भी रक्त बहता है॥ २॥ पुरुष शरीर का मांस, वृक्ष की भीतरी त्वचा (शकर) के समान है, मनुष्य शरीर के स्नायु तंत्र, वृक्ष के दृढ़ रेशे (किनाट) के समान है। किनाट स्नायु के समान ही स्थिर होता है। मनुष्य में स्नायु तन्त्र के अन्दर स्थित अस्थियों के समान ही वृक्ष में किनाट के अन्दर काष्ठ होता है और मनुष्य शरीर में स्थित मज्जा वृक्ष स्थित गूदे के समान है॥ ३॥ इतने पर भी (अर्थात् दोनों में से समानता होने पर भी) वृक्ष जब ऊपर से काट दिया जाता है, तो वह अपने मूल (जड़) से पुनः नए अंकुर फोड़ कर नवीन हो जाता है और यदि इसी प्रकार मृत्यु द्वारा मनुष्य को काट दिया जाए, तो वह किस मूल द्वारा उत्पन्न होगा॥ ४॥ वह (पुरुष) वीर्य से उद्भूत होता है, ऐसा भी न कहो, क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुष में ही उत्पन्न होता है, मृत पुरुष में नहीं। वृक्ष जब कट जाता है, तो वह बीज से भी नये सिरे से उत्पन्न हो जाता है और कट जाने पर भी पुनः अंकुरित हो जाता है॥ ५॥ वृक्ष यदि मूल से उखड़ जाये, तो पुनः उसका उग सकना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मृत्यु द्वारा यदि मनुष्य को काट दिया जाए, तो किस मूल (जड़) द्वारा उसका पुनः उगना (उत्पन्न होना) सम्भव है॥ ६॥ पुरुष तो उत्पन्न हुआ ही है, अतः वह दोबारा उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में मृत्यु के उपरान्त उसे कौन उत्पन्न करेगा? (इस प्रश्न का उन ब्राह्मणों ने कोई उत्तर नहीं दिया, अस्तु, श्रुति इसके विषय में कहती है) ब्रह्म विज्ञानमय व आनन्द रूप है। दानदाता की परमगति भी वही है। ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्म को जानने वाले पुरुष का परम आश्रय भी वह ब्रह्म ही है॥ ७॥ ॥ २८॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज तꣳ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानीत्युभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १॥

विदेहराज जनक सिंहासन पर आरूढ़ थे। उसी समय उनके पास महर्षि याज्ञवल्क्य जी आये। राजा जनक ने पूछा हे याज्ञवल्क्य जी! आपका आगमन किस निमित्त हुआ है? आप पशुओं की इच्छा से पधारे हैं या सूक्ष्म प्रश्नों की इच्छा से? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- राजन्! मैं दोनों प्रयोजनों से यहाँ आया हूँ॥ १॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ २॥

याज्ञवल्क्य जी ने कहा- हे राजन्! आप से किसी विद्वान् ने ब्रह्म के विषय में जो कुछ कहा हो, वह सब हम श्रवण करने के लिए आये हैं। विदेहराज जनक ने कहा- शैलिनि (शिलिन के पुत्र) जित्वा ने वाक् को ही ब्रह्म कहा है। याज्ञवल्क्य बोले- जिस प्रकार कोई, माता-पिता और गुरु के द्वारा शिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार उस जित्वा ने वाक् ही ब्रह्म है- ऐसा कहा है; क्योंकि जो वाक् रहित है (गूँगा है), क्या उसे ब्रह्म का कोई लाभ प्राप्त हो सकता है? क्या उस जित्वा ने आपको वाक् का आश्रय स्थल और उसकी प्रतिष्ठा भी बताई है, जनक ने कहा- नहीं, मुझे तो इस विषय में नहीं बताया। याज्ञवल्क्य जी बोले- यह उपदेश एक पादीय अथवा अपूर्ण है। जनक ने कहा- तो उसके विषय में सम्यक् रूप से आप ही हमें बताएँ। याज्ञवल्क्य जी ने कहा- वाक् (वाणी) ही उस ब्रह्म का आयतन अर्थात् शरीर है और आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा है। प्रज्ञा समझ कर उसकी ही उपासना करनी चाहिए। जनक जी ने पूछा- प्रज्ञता (प्रज्ञा) क्या है? ऋषि बोले वाक् ही प्रज्ञता (प्रज्ञा) है। हे राजन्! वाक् शक्ति के द्वारा ही बन्धु- बान्धवों का ज्ञान होता है तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान होता है। उसी वाक् के माध्यम से इतिहास, पुराण, उपनिषद्, विद्या, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञकर्म, हुत, अशित (भूखे व्यक्ति को भोजन कराने के धर्म), पायित (प्यासे व्यक्ति को पानी पिलाने के धर्म), इहलोक,

परलोक और समस्त भूतों का ज्ञान होता है। हे सम्राट्! वस्तुत: वाक् ही ब्रह्म है, जो ऐसा जानते हैं, उन विद्वानों का यह वाक् परित्याग नहीं करती। ऐसे विद्वान् पुरुष को सभी प्राणी उपहार प्रदान करते हैं। वह स्वयं देवता बनकर देवों के बीच निवास करता है। यह सुनकर विदेहराज जनक ने कहा- इस ज्ञान के निमित्त (दक्षिणा स्वरूप) मैं आपको ऐसी सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ, जिनसे हाथी के समान विशाल बैल उत्पन्न हों। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिता ऐसा मानते थे कि शिष्य (अथवा जिज्ञासु) को पूर्ण शिक्षण (ज्ञान) दिये बिना दक्षिणा के रूप में उसका धन ग्रहण नहीं करना चाहिए॥ २॥

[शिष्य जब वाञ्छित विद्या प्राप्त करके तुष्ट हो जाता था, तब वह स्वयं गुरु से गुरु-दक्षिणा लेने का आग्रह करता था। गुरु भी अपना दायित्व पूर्ण हुए बिना दान स्वीकार नहीं करते थे।]

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किः स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभः सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- आपसे किसी भी विद्वान् ने ब्रह्म के विषय में जो भी कुछ कहा हो, वह हमसे कहिए। विदेहराज जनक ने कहा- शुल्बपुत्र उदङ्क ने मुझसे ब्रह्म के विषय में यह कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है। (याज्ञवल्क्य ने कहा-) जिस प्रकार कोई माता-पिता और गुरु के द्वारा शिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार उदङ्क ने प्राण ही ब्रह्म है- ऐसा कहा है; क्योंकि प्राण के बिना कुछ भी कर सकना सम्भव नहीं है। याज्ञवल्क्य ने कहा- क्या उन्होंने (शौल्बायन ने) प्राण के आयतन और आश्रय स्थल के विषय में भी बताया है ? राजा जनक ने कहा- इस सन्दर्भ में उन्होंने कुछ नहीं बताया, तब याज्ञवल्क्य बोले- यह तो एक पैर वाला अथवा अपूर्ण शिक्षण हुआ। राजा जनक ने कहा- तो फिर आप ही उस ज्ञान को सम्यक् रूप से कहें। याज्ञवल्क्य बोले- प्राण का शरीर प्राण ही है, आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। प्राण को प्रिय मानकर ही उसकी उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- यह प्रियता किसे कहते हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- प्राण की कामना (प्रियता) से ही यजन न करने योग्य से यज्ञ कराया जाता है। दान न लेने योग्य से भी दान प्राप्त किया जाता है तथा इसी की प्रियता के कारण जिस दिशा में भी गमन करते हैं, उसी में मृत्यु का भय या उसकी आशंका प्रतीत होती है। हे राजन्! ये सब प्राण के निमित्त ही होता है। अत: हे सम्राट्! प्राण ही ब्रह्म है, ऐसा जानकर कार्य करने वाले का प्राण कभी परित्याग नहीं करता। समस्त भूत उसे उपहार प्रदान करते हैं। वह व्यक्ति देवता होकर उन्हीं के मध्य विराजता है। विदेहराज जनक ने कहा- ऋषिवर! हाथी के आकार वाले बैलों को प्रदान करने वाली सहस्र गौएँ मैं आपको दक्षिणा रूप में प्रदान करता हूँ। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिताश्री की यह धारणा थी कि बिना पूर्ण ज्ञान दिये शिष्य से दक्षिणा ग्रहण नहीं करनी चाहिए॥ ३॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४॥

याज्ञवल्क्य ने पुनः राजा जनक से कहा आप किसी आचार्य द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान से हमें भी अवगत कराएँ। जनक ने कहा मुझसे बर्कु वार्ष्णि (कृष्ण पुत्र) ने कहा कि चक्षु ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य बोले- माता-पिता और आचार्य से शिक्षित हुए के समान ही उन वार्ष्णि ने चक्षु को ब्रह्म कहा है, क्योंकि चक्षु के बिना कुछ देख सकना असम्भव है; किन्तु क्या उन्होंने आपको चक्षु के आयतन और आश्रय (प्रतिष्ठा) के विषय में भी कुछ बताया है? जनक ने कहा कि इसके विषय में तो उन्होंने कुछ नहीं बताया। यह तो एक पाद वाला अथवा अपूर्ण शिक्षण हुआ। राजा जनक ने कहा तो आप ही इस संदर्भ में हमें बताएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- चक्षु का आयतन (शरीर) चक्षु ही है तथा आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा है। चक्षु को सत्य मानकर उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- सत्यता किसे कहते हैं? ऋषि ने कहा हे राजन्! चक्षु ही स्वयं सत्यता है; क्योंकि चक्षु से (दर्शन करने वाले से) जब पूछा जाता है कि क्या आपने (अमुक दृश्य) देखा है? तब वह उत्तर देता है- हाँ मैंने देखा है, तो वह सत्य ही होता है। हे सम्राट्! चक्षु ही परब्रह्म है, जो ऐसा जानता है, चक्षु (स्थूल सूक्ष्म दृष्टि) उसका कभी परित्याग नहीं करते और समस्त प्राणी भी उसके अनुगत रहते हैं। वह देव बनकर देवलोक में निवास करता है। तब विदेहराज जनक ने कहा मैं आपको हाथी के तुल्य हृष्ट पुष्ट बैल प्रदान करने वाली एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा मेरे पिताश्री की मान्यता थी कि पूर्ण ज्ञान दिये बिना शिष्य से दक्षिणा ग्रहण नहीं करनी चाहिए॥ ४॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्त इत्येनदुपासीत कानन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रꣳ श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ५॥

ऋषि याज्ञवल्क्य, महाराज जनक से बोले- किसी भी आचार्य ने (ब्रह्म के विषय में) आपसे जो कुछ भी कहा हो वह आप हमें बताने का कष्ट करें। जनक बोले- भारद्वाज गोत्रीय गर्दभी (विपीत) ने मुझे बताया था कि श्रोत्र ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा जिस प्रकार कोई माता-पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार गर्दभी विपीत ने भी श्रोत्र ही ब्रह्म है, ऐसा कह दिया है, क्योंकि श्रोत्र के बिना सुन सकना संभव नहीं है। क्या उन (गर्दभी विपीत) ने उस श्रोत्र के शरीर और प्रतिष्ठा (आश्रय) के विषय में भी कुछ बताया है? जनक ने कहा- नहीं। याज्ञवल्क्य बोले- यह ज्ञान एक पद वाला अर्थात् अधूरा है। राजा ने कहा- तो फिर आप ही उसके विषय में मुझे बताएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- श्रोत्र ही, श्रोत्र की देह है और आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय है। इस श्रोत्र की उपासना इसे अनन्तरूप मानकर करनी चाहिए। जनक ने पूछा- अनन्तता क्या है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि दिशाएँ ही अनन्त हैं, क्योंकि किसी भी दिशा में गमन करने पर उसका अन्त नहीं मिलता। हे सम्राट्! दिशाओं को ही श्रोत्र मानना चाहिए और श्रोत्र ही ब्रह्म है। जो ज्ञानी इस प्रकार जानता हुआ व्यवहार करता है, श्रोत्र उसका कभी परित्याग नहीं करते। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह (ज्ञानी) देवता बनकर देवलोक में वास करता है। जनक बोले- हे ऋषिवर! मैं हाथी जैसे हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ आपको प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य जी ने कहा- मेरे पिताजी ऐसा मानते थे कि शिष्य को पूर्ण ज्ञान दिये बिना दक्षिणा का धन ग्रहण नहीं करना चाहिए॥ ५॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्त्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ६॥

याज्ञवल्क्य पुनः बोले- हे जनक! आपको किसी आचार्य ने ब्रह्म सम्बन्धी जो भी ज्ञान दिया हो, वह आप मुझसे कहें। विदेहराज जनक बोले- सत्यकाम जाबाल ने मुझसे कहा था कि मन ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य बोले कि यह तो उन्होंने माता-पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित की तरह कह दिया, क्योंकि मन के बिना कुछ भी करना असम्भव है। क्या उन्होंने मन के आश्रय और प्रतिष्ठा के विषय में भी वर्णन किया है? जनक बोले- नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा हे राजन्! उन्होंने यह तो अपूर्ण ज्ञान ही दिया है। जनक ने कहा- तो फिर आप ही उसके विषय में पूर्णरूपेण बताएँ। याज्ञवल्क्य बोले- मन का शरीर मन ही है और आकाश उसका आश्रय है। मन को आनन्द मानकर उसकी उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- कि यह आनन्दत्व क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा- राजन्! मन ही आनन्द है। मन से ही स्त्री की कामना की

जाती है और उससे अपने अनुरूप पुत्र की प्राप्ति होती है, वह पुत्र ही आनन्द है। हे सम्राट्! मन ही ब्रह्म है। जो ज्ञानी मन को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, मन उसका कभी परित्याग नहीं करता। समस्त प्राणी उसके अनुकूल हो जाते हैं। वह देवस्वरूप होकर देवताओं के मध्य निवास करता है। विदेहराज जनक ने कहा कि आपके निमित्त मैं हाथी के आकार वाले बैलों को उत्पन्न करने वाली एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिता जी का ऐसा मत था कि बिना पूर्ण शिक्षा दिये दक्षिणा की राशि ग्रहण नहीं करनी चाहिए॥ ६ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवा भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- आपको किसी भी आचार्य ने जो (ब्रह्म विषयक) ज्ञान दिया हो, वह हमें भी बताएँ। विदेहराज जनक ने कहा- विदग्ध शाकल्य ने हृदय को ही ब्रह्म बताया है। याज्ञवल्क्य बोले कि माता- पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित हुए के समान ही उन्होंने हृदय को ब्रह्म कहा है, क्योंकि हृदय हीन व्यक्ति कुछ भी कर पाने में समर्थ नहीं है। क्या उन्होंने हृदय का शरीर और आश्रय स्थल भी बताया है? जनक ने कहा- इसके विषय में उन्होंने नहीं बताया। तब याज्ञवल्क्य ने कहा- यह तो अपूर्ण शिक्षा हुई। जनक बोले- तब आप ही पूर्ण ज्ञान प्रदान कीजिए। याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय का शरीर हृदय ही है और आकाश उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय स्थल है। स्थिति मानकर हृदय की उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- स्थितता क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय ही स्थितता है। हृदय ही समस्त प्राणियों की प्रतिष्ठा (आश्रय) है, समस्त प्राणी हृदय में ही प्रतिष्ठित होते हैं। जो ज्ञानी हृदय को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, हृदय कभी उसका परित्याग नहीं करता। समस्त जीव उसके अनुगत रहते हैं और वह देवता बनकर देवताओं के मध्य निवास करता है। महाराज जनक ने कहा हाथी के समान आकार और बल वाले बैलों को पैदा करने वाली एक सहस्र गौएँ मैं आपको प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य बोले- शिष्य को ज्ञान से पूर्णरूपेण कृतार्थ किये बिना ही दक्षिणा का धन स्वीकार नहीं करना चाहिए, ऐसा मेरे पिताजी का विचार था॥ ७ ॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति॥ १ ॥

इसके पश्चात् महाराजा जनक अपने कूर्च (अपने विशिष्ट आसन) से उठकर खड़े हो गये और बोले- हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमन है। आप मुझे उपदेश प्रदान करें। याज्ञवल्क्य बोले - हे राजन्! जिस प्रकार दूर की यात्रा करने के लिए नौका अथवा रथ का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार (उपनिषदों का सहारा लेकर) आप समाहित आत्मा हो गये हैं। आपने पूज्य श्रीमन्त होकर वेदों का अध्ययन किया है, उपनिषदों का भी श्रवण किया है। यहाँ से गमन करके अब आप कहाँ पहुँचेंगे ? जनक ने कहा- यह मुझे ज्ञात नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा- आप जहाँ पहुँचेंगे, वह गन्तव्य मैं निश्चित रूप से आपको बताऊँगा। जनक ने कहा, ठीक है- बताने का अनुग्रह करें॥ १ ॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धः सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा सुनिये) दक्षिण नेत्र में जो पुरुष स्थित है, उसका नाम 'इन्ध' है। इसी 'इन्ध' को परोक्ष रूप से 'इन्द्र' कहते हैं। देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं, वे प्रत्यक्ष के प्रति द्वेष भाव रखते हैं॥ २ ॥

[देव शक्तियाँ सूक्ष्म प्राण-प्रवाह रूप हैं, उन्हें परोक्ष रूप से ही अनुभव किया जा सकता है। आँख या कान प्रत्यक्ष रूप में देखने-सुनने वाले दिखते हैं; किन्तु देखने-सुनने की क्षमता रूप देव शक्तियाँ परोक्ष ही हैं। इसीलिए देवों को परोक्ष प्रिय कहा गया है।]

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

बायें नेत्र में स्थित पुरुष वस्तुतः इन्द्र की पत्नी विराट् है। इन दोनों का मिलने का केन्द्र यही हृदयाकाश है। हृदयान्तर्गत स्थित लाल पिण्ड ही इन दोनों का अन्न है। हृदयान्तर्गत स्थित जल ही इन दोनों का आवरण वस्त्र है। हृदय के ऊपर जाने वाली नाड़ी ही इनके संचरण करने का मार्ग है। बाल के हजारवें हिस्से जितनी सूक्ष्म हिता नाम की नाड़ियाँ हैं, जो हृदय के अन्दर स्थित हैं। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा प्रवाहित हुआ अन्न सम्पूर्ण शरीर में पहुँचता है। इसी कारण यह सूक्ष्म देह, सूक्ष्म आहार ग्रहण करने वाला होता है॥ ३ ॥

[दायें और बायें नेत्रों के पति-पत्नी जैसा ऋषि का यह कथन रहस्यात्मक है। वर्तमान विज्ञान इस सन्दर्भ में अभी सीमित ज्ञान ही प्राप्त कर सका है। दोनों आँखों में सन्निहित शक्तियों को पुरुष ही कहा गया है, लेकिन वे पति-पत्नी की तरह परस्पर पूरक हैं। एक को अर्धाङ्ग ही कहा जा सकता है। नेत्र विज्ञान के डॉक्टर यह बताते हैं कि दोनों आँखों के बीच एक कोमल संवेदनात्मक रिश्ता है। यदि किसी कारण एक आँख की नर्वस् में खराबी आ जाये, तो उसके प्रति संवेदना के नाते दूसरी ओर भी कमजोरी आने लगती है। डॉक्टर इसे आप्थैल्मिक सिम्पैथी कहते हैं।]

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चःप्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि॥ ४॥

उस विद्वान् पुरुष के लिए पूर्व दिशा-पूर्व प्राण, दक्षिण दिशा-दक्षिण प्राण, पश्चिम दिशा-पश्चिम प्राण, उत्तर दिशा उत्तर प्राण, ऊर्ध्व दिशा ऊपरी प्राण, नीचे की दिशा- निचला प्राण है एवं समस्त दिशाएँ -सम्पूर्ण प्राण हैं। वह आत्मा नेति-नेति रूप से वर्णित है, वह ग्रहण न किए जाने के कारण 'अगृह्य' है, वह नष्ट न होने के कारण अशीर्य है, वह असङ्ग भी है तथा बन्धन रहित भी। वह कभी व्यथित नहीं होता। याज्ञवल्क्य ने कहा- हे जनक! आप निश्चित ही अभय हो गये हैं। जनक ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! आपने मुझे अभय ब्रह्म का ज्ञान कराया है, अतः आप भी अभय हों, आपको नमस्कार है, यह विदेहदेश और मैं (जनक) आपके अनुगामी हैं। ॥ ४॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ॥ १॥

महर्षि याज्ञवल्क्य विदेहराज जनक के पास गये। उन्होंने विचार किया कि वहाँ मैं कुछ न बोलूँगा; परन्तु पूर्व में एक बार जनक और याज्ञवल्क्य का अग्निहोत्र के विषय में वार्तालाप हुआ था, तब याज्ञवल्क्य ने जनक को इच्छानुसार प्रश्न करने का वरदान दिया था। अतः इस बार राजा जनक ने ही उनसे प्रश्न प्रारम्भ किया॥ १॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २॥

विदेहराज जनक ने प्रश्न किया हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति से युक्त है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- हे राजन्! यह पुरुष आदित्य रूप ज्योति से सम्पन्न है। यह पुरुष आदित्य ज्योति से ही प्रतिष्ठित होता है, उसी से चतुर्दिक् जाता है, कर्म सम्पादित करता है और उसी से वापस लौट आता है। जनक ने कहा हाँ, यह उचित है॥ २॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येव-मेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ ३॥

इसके उपरान्त जनक ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! सूर्यास्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति से युक्त होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उस समय यह पुरुष चन्द्रमा की ज्योति से सम्पन्न होता है। वह चन्द्रमा की ज्योति से स्थित होता, आता-जाता, कर्म करता और उसी से वापस लौट आता है। जनक ने कहा- हाँ, यह भी यथार्थ है॥ ३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ ४॥

जनक ने पुनः प्रश्न पूछा - हे याज्ञवल्क्य ! जब सूर्य और चन्द्र दोनों अस्त हो जाते हैं, तब यह पुरुष किस ज्योति से सम्पन्न होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- उस समय यह अग्नि की ज्योति से सम्पन्न होता है। यह उसी (अग्नि) की ज्योति से बैठता, गमन करता, कर्म करता और वापस भी लौट आता है। जनक इसे स्वीकारते हुए बोले- हे याज्ञवल्क्य! वस्तुतः यही सत्य है॥ ४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ ५॥

जनक ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! जब सूर्य और चन्द्र अस्त हो जाते हैं तथा अग्नि भी शान्त हो जाती है, तब यह पुरुष किस ज्योति से सम्पन्न होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- तब यह वाक् रूपी ज्योति से सम्पन्न होता है। उसी से बैठता, गमन करता, कर्म सम्पादन करता और उसी से वापस लौट आता है। हे राजन् ! जहाँ अँधेरे में हाथ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, वहाँ वाणी का उच्चारण सुनते ही यह पहुँच सकता है। जनक ने कहा- हे महात्मन्! यह तथ्य भी उचित है॥ ५॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति॥ ६॥

जनक ने पूछा हे याज्ञवल्क्य! जब सूर्य, चन्द्र अस्त हो जाते हैं, अग्नि और वाक् भी शान्त हो जाती है, तब इस पुरुष की कौन सी ज्योति होती है। याज्ञवल्क्य ने कहा- तब यह पुरुष आत्मज्योति से सम्पन्न होता है। यह उसी के द्वारा बैठता, आता-जाता, कर्म सम्पन्न करता और फिर वापस भी लौट आता है॥ ६॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोक-मतिक्रामति मृत्यो रूपाणि॥ ७॥

जनक ने प्रश्न किया- यह आत्मा कौन है ? उन्होंने उत्तर दिया- प्राणों में चित्तवृत्तियों के भीतर स्थित, विज्ञानमय ज्योति पुरुष है, वही समान रूप से दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) में संचरित होता है। वह मानो चिन्तन और चेष्टा करता हो। वह पुरुष (आत्मा) स्वप्न के रूप में इहलोक (देह और इन्द्रियों के समुच्चय) का अतिक्रमण करता है और मृत्यु के रूपों का भी उल्लंघन करता है॥ ७॥

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति॥ ८॥

यह पुरुष जब जन्म लेता है, तब देह के साथ आत्मभाव को प्राप्त होकर पापों से युक्त हो जाता है; किन्तु जब मृत्यु के उपरान्त ऊर्ध्वगमन करता है, तब पापों को परित्यक्त कर देता है॥ ८॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दाꣳश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति॥ ९॥

इस पुरुष के इहलोक और परलोक ये दो ही स्थान हैं। स्वप्न लोक इन दोनों के बीच का लोक है। इस मध्यवर्ती स्थान में रहकर पुरुष इहलोक और परलोक का दर्शन करता रहता है। परलोक में निवास करते समय वह पाप और आनन्द दोनों का दर्शन करता है। जब वह शयन करता है, तब अपनी सांसारिक भावनाओं के बनते-बिगड़ते रहने से अपने ही तेजः स्वरूप और ज्योतिः स्वरूप के कारण स्वप्न देखता है॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता॥ १०॥

उस अवस्था (स्वप्नावस्था) में न रथ होता है, न उनमें जोते जानेवाले अश्व होते हैं और न ही पथ होता है, परन्तु वह (पुरुष) स्वयं ही इन सबको निर्मित कर लेता है इसी प्रकार उस स्थिति में आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं होते, किन्तु वह उन्हें भी उत्पन्न कर लेता है। वहाँ कुण्ड, सरोवर और नदियाँ भी नहीं होतीं, किन्तु वह उनका भी निर्माण कर लेता है। वस्तुतः वही उन सबका कर्त्ता है॥ १०॥

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्याऽसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरेति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः॥ ११॥

ये श्लोक इस सन्दर्भ में है- स्वप्न की स्थिति में शरीर को निश्चेष्ट करके यह आत्मा स्वयं शयन नहीं करता, वरन् समस्त प्रसुप्त पदार्थों को जाग्रत् करता है अर्थात् उन्हें देखता है। वह हिरण्मय पुरुष एकाकी ही अपने तेज के साथ पुनः जाग्रत् स्थिति को प्राप्त करता है॥ ११॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः॥ २॥

वह अनश्वर और हिरण्मय पुरुष अपने शरीररूपी घोंसले की रक्षा करता हुआ, इस शरीर को परित्यक्त करके बहिर्गमन करता है। वह अमृत पुरुष जहाँ कामना (वासना) होती है, वहीं चला जाता है॥ १२॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभीः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥ १३॥

वह दिव्य गुण सम्पन्न पुरुष स्वप्न की अवस्था में उच्च-नीच विभिन्न भावों को प्राप्त होकर अनेक रूपों का निर्माण कर लेता है। वह कभी नारियों के साथ मोद मनाता, कभी मित्रों के साथ आनन्दित होता और कभी भय उत्पन्न करने वाले दृश्य देखता है॥ १३॥

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यंꣳहास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यतेऽथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति॥ १४॥

सभी इस पुरुष के विश्राम स्थल (शरीर) को ही देखते हैं। उसके (वास्तविक स्वरूप) को कोई नहीं देखता। उस प्रसुप्त पुरुष को अचानक नहीं जगाना चाहिए, ऐसा (वैद्य लोगों का) मत है, क्योंकि एकदम जगाने से विभिन्न इन्द्रियों में उसकी चेतना न पहुँचने से फिर चिकित्सा करना कठिन हो जाता है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह स्वप्नावस्था जाग्रत् स्थिति ही है, क्योंकि जो पुरुष (आत्मा) स्वप्नावस्था में देखता है, वही जाग्रत् अवस्था में भी देखता है, इस स्थिति में यह पुरुष स्वयं प्रकाशपुञ्ज होता है। (यह सुनकर) जनक बोले मैं आपके निमित्त एक हजार मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। हे भगवन्! अब मोक्ष सम्बन्धी उपदेश प्रदान करें॥ १४॥

स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥ १५॥

(याज्ञवल्क्य बोले-) यह जीव सुषुप्तावस्था में (प्रगाढ़ निद्रा की स्थिति में) अनेक प्रकार से विचरण करते हुए पाप और पुण्यों का दर्शन करता है। (अर्थात् भले बुरे दृश्य देखता है)। इसके उपरान्त वह जिस योनि से गया था, उसी योनि अर्थात् स्वप्नावस्था में ही लौट आता है। फिर भी वह पुरुष सबसे अनासक्त ही रहता है क्योंकि वह पुरुष स्वतः असङ्ग है। जनक ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! यह तथ्य यथार्थ है। मैं आपको सहस्र मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। आप मेरे लिए मोक्ष विषयक उपदेश करें॥ १५॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥ १६॥

यह पुरुष जब स्वप्न की स्थिति में होता है, तब वहाँ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं में विचरण करता हुआ, अनेक प्रकार के पाप-पुण्यों के दृश्य देखता हुआ लौट जाता है, जहाँ से वह आया था अर्थात् फिर से जाग्रत् स्थिति में आ जाता है; किन्तु वह उस सबसे अलिप्त ही रहता है, जो कुछ उसने वहाँ देखा था।

फिर भी वह पुरुष अनासक्त ही रहता है, इसका कारण यह है कि पुरुष वस्तुतः असङ्ग ही होता है। (यह सुनकर) जनक बोले- हाँ भगवन्! यह यथार्थ है। मैं आपको सहस्र मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। आप (आगे भी) मोक्ष सम्बन्धी उपदेश ही कीजिए॥ १६॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव॥ १७॥

यह आत्मा जाग्रत् स्थिति में विचरण करते हुए, विभिन्न पाप-पुण्यों का दर्शन करते हुए, पुनः वहीं स्वप्नावस्था में पहुँच जाता है॥ १७॥

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले ऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्ता-वनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ १८॥

जिस प्रकार कोई महामत्स्य (बड़ा मगरमच्छ) नदी के पूर्वापर (इस और उस) किनारों पर आता जाता रहता है, ठीक उसी प्रकार यह पुरुष भी स्वप्न और जाग्रतावस्था में क्रमशः आवागमन करता रहता है॥ १८॥

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति॥ १९॥

जिस प्रकार आकाश में श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण पक्षी चतुर्दिक् उड़ता हुआ थक जाता है और पंखों को सिकोड़कर अपने घोंसलों की ओर गमन करता है, उसी प्रकार यह पुरुष इस स्थान (सुषुप्ति) की ओर दौड़ता है जहाँ शयन करने पर, न तो उसे किसी भोग की कामना रहती है और न ही स्वप्न दिखाई पड़ता है॥ १९॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥ २०॥

उस पुरुष की हिता नामक नाड़ियाँ इतनी सूक्ष्म होती हैं, जितना एक बाल का हजारवाँ भाग। ये (नाड़ियाँ) श्वेत, पीली, नीली, हरी और लाल रंग वाली होती हैं। वह पुरुष स्वप्नावस्था में जब जाग्रतावस्था के समान ही भयानक दृश्य देखता है कि मुझे कोई मार रहा है, अपने वश में कर रहा है, हाथी खदेड़ रहा है अथवा मैं गड्ढे में गिर रहा हूँ, तो वह अज्ञान के कारण इन्हें यथार्थ मान लेता है और दुःखी होता है; किन्तु जब वह यह मानता है कि मैं ही देवता हूँ, राजा हूँ अथवा सब कुछ मैं ही हूँ, तब उस समय वह अपने को आनन्द लोक में अनुभव करता है, (अथवा वही उसका आनन्द होता है)॥ २०॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपꣳ शोकान्तरम् ॥ २१॥

सुषुप्तावस्था में अवस्थित उस पुरुष का रूप कामरहित, पापरहित और भयरहित होता है। जिस प्रकार अपनी निज की पत्नी का आलिङ्गन करने वाला पुरुष (पूर्णतया आत्मविभोर होने के कारण) बाहर और भीतर की सभी प्रकार की जानकारियों से अनभिज्ञ रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से एकीकृत होकर बाह्य और आभ्यान्तर विषयों से अनभिज्ञ रहता है अर्थात् उसे कोई चिन्ता नहीं सताती। उस पुरुष का यह स्वरूप निश्चित ही आप्तकाम, आत्मकाम, निष्काम तथा शोक रहित होता है॥ २१॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति॥ २२॥

सुषुप्तावस्था में पिता अपिता, माता अमाता, लोक अलोक, देव अदेव, वेद अवेद, चोर अचोर , भ्रूणघाती अभ्रूणघाती, चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस (क्षत्रिय स्त्री और शूद्र पुरुष से उत्पन्न पुरुष) अपौल्कस, संन्यासी (श्रमण) असंन्यासी, तपस्वी अतपस्वी हो जाते हैं। तब वह पुरुष समस्त पुण्यों और पापों से अनासक्त रहता है, क्योंकि उस समय वह हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर चुका होता है॥ २२॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्॥ २३॥

उस स्थिति में वह देखते हुए भी नहीं देखता। अमरत्व प्राप्त होने के कारण उसकी दृष्टि कभी विलुप्त नहीं होती। उस अवस्था में उस (पुरुष) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता, जिसे वह देख सके ॥ २३॥

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४॥

उस समय सूँघने की शक्ति होते हुए भी वह नहीं सूँघता। उसकी घ्राण शक्ति कभी समाप्त नहीं होती, क्योंकि वह अनश्वर होता है। उस अवस्था में वह क्या सूँघे? क्योंकि उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते नहि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत्॥ २५॥

वह रस ग्रहण करने में समर्थ होने पर भी रस ग्रहण नहीं करता। उसकी रस ग्रहण करने की सामर्थ्य का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अमर्त्य है। उस स्थिति में उससे भिन्न अन्य कोई पदार्थ भी तो नहीं है, जिसका वह रसपान करे॥ २५॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत्॥ २६॥

वाक्शक्ति सम्पन्न होते हुए भी वह बोलता नहीं। उसकी वाक्शक्ति का कभी विनाश नहीं होता, क्योंकि वह शाश्वत है। उससे अन्य कुछ और भी तो नहीं है, जिसके संदर्भ में वह बोले ॥ २६॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात्॥ २७॥

वह श्रवण शक्ति से युक्त होने पर भी नहीं सुनता। अमर्त्य होने के कारण उसकी श्रवण शक्ति का कभी विनाश नहीं होता। उससे भिन्न जब कुछ भी नहीं है, तो वह क्या सुने? ॥ २७॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत॥ २८॥

मनन करने की सामर्थ्य होने पर भी वह मनन नहीं करता। कभी नष्ट न होने वाला होने से उसकी मनन शक्ति कभी समाप्त नहीं होती। उसके अतिरिक्त जब अन्य कुछ है ही नहीं, तो वह मनन भी किसका करे? ॥ २८॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन् वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशत्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत्॥ २९॥

स्पर्श की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी वह स्पर्श नहीं करता। उसकी स्पर्श शक्ति का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अमरणशील है। जब उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, तो वह स्पर्श भी किसका करे?॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्॥ ३०॥

जानने की सामर्थ्य होने पर भी वह नहीं जानता। उसके ज्ञान का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अनश्वर है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, जिसे वह जाने॥ ३०॥

[उपर्युक्त स्थितियाँ सुषुप्तावस्था की हैं- अब जाग्रत् स्थिति का वर्णन है-]

यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात्॥ ३१॥

जहाँ (जाग्रत् अवस्था में) अपने से भिन्न कुछ अन्य का भाव होता है, वहाँ (उस स्थिति में) अन्य, अन्य का दर्शन करने; अन्य, अन्य को सूँघने; अन्य, अन्य का रसास्वादन करने; अन्य, अन्य को बोलने; अन्य, अन्य का स्पर्श करने और अन्य, अन्य को जानने में समर्थ होता है (अर्थात् जाग्रतावस्था में समस्त बाहरी विषयों से सम्बद्ध रहने से स्वयं से भिन्न सबकी अनुभूति होती है)॥ ३१॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- हे राजन्! जिस प्रकार अथाह जल में एक अद्वितीय द्रष्टा है, उसी प्रकार सुषुप्तावस्था में एक अद्वैत द्रष्टा है। यही ब्रह्मलोक है। यही इस पुरुष की परम गति, यही इसकी सच्ची सम्पदा है, यही इसका परम लोक और परम आनन्द है। इसी परम आनन्द के एक भाग का आश्रय ग्रहण करके समस्त भूत जीवित रहते हैं॥ ३२॥

स यो मनुष्याणाᳬं राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाःस एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति॥ ३३ ॥

जो मनुष्यों में राद्ध (सम्पूर्ण अंग अवयवों से युक्त) और समृद्धि से सम्पन्न है, समस्त मानवीय भोग्य पदार्थों से युक्त है, मनुष्यों में उत्तम और उनका अधिपति है, वही मनुष्य का परमानन्द है। मनुष्यों का सौ गुना आनन्द, पितृलोक विजेता पितरों का एक आनन्द होता है। पितृलोक विजेता पितरों के सौ आनन्द गन्धर्व लोक का एक आनन्द है। गन्धर्व लोक के सौ आनन्द देवताओं का कर्मरूपी एक आनन्द है। कर्म के माध्यम से ही देवत्व की प्राप्ति होती है। देवगणों के कर्म स्वरूप शत आनन्द, जन्मसिद्ध (अजन्मा) देवताओं के एक आनन्द के बराबर है। निष्काम वेदपाठी और पापरहित पुरुषों का भी वही एक आनन्द है। अजान देवताओं के सौ आनन्द प्रजापति लोक के एक आनन्द के समतुल्य हैं। कामना रहित श्रोत्रिय और पापरहित व्यक्तियों का भी वही एक आनन्द है। प्रजापति लोक के सौ आनन्द, ब्रह्मलोक के एक आनन्द के बराबर है। वेदपाठी, कामनारहित और पापरहित व्यक्तियों का वही एक आनन्द है। याज्ञवल्क्य ने कहा- हे सम्राट्! इसी को परमानन्द और इसी को ब्रह्मलोक कहते हैं। महाराज जनक बोले- मैं आपको एक सहस्र (गौएँ अथवा मुद्राएँ) प्रदान करता हूँ। अब आप आगे भी हमारे निमित्त मोक्ष का उपदेश करें। यह सुनकर ऋषि याज्ञवल्क्य भयभीत हो गये कि इस मेधावी राजा ने तो मुझे सब प्रश्नों के उत्तर मिल जाने तक प्रतिबन्धित कर लिया है॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव॥ ३४॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- यह पुरुष स्वप्न समाप्त हो जाने पर क्रीड़ा और विहार के पश्चात् पाप-पुण्य का दर्शन करके पुनः उसी मार्ग से जाग्रतावस्था में पहुँच जाता है, जहाँ से वह गया था॥ ३४॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायः शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥ ३५ ॥

जैसे भारवाहक शकट बोझ के कारण (चर-मर) शब्द करते हुए गतिमान् होता है, वैसे ही देहस्थित यह आत्मा प्राज्ञ आत्मा से अधिष्ठित होकर, शब्दायमान होता हुआ, ऊपर को श्वास खींचता हुआ गमन करता है॥ ३५ ॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपतावाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव॥ ३६ ॥

जिस समय यह शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त होकर कमजोर हो जाता है, उस समय यह पुरुष उसी प्रकार शरीर के अवयवों से छूटता जाता है, जिस प्रकार आम, गूलर अथवा पीपल का फल, वृक्ष से अलग होकर गिरने लगता है। यह पुरुष उसी मार्ग से अन्य योनियों में शरीर धारण करने के निमित्त चला जाता है, जिस मार्ग से आया था॥ ३६ ॥

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राःप्रत्येनसःसूतग्रामण्योऽन्नैःपानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति॥ ३७॥

जैसे क्रूरकर्मी सैनिक, दण्डाधिकारी, सारथि और ग्राम के प्रधान या नेता लोग आते हुए राजा की अन्न, पानी, निवास आदि की व्यवस्था करके स्वागतार्थ प्रतीक्षा करते रहते हैं कि ये आ रहे हैं, ये आ रहे हैं। वैसे ही ज्ञान सम्पन्न (कर्मफल जानने वाले) इस जीव की सभी भूत यह कहकर प्रतीक्षा करते रहते हैं, कि यह आ रहा है, ब्रह्म आ रहा है॥ ३७॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥ ३८॥

जिस प्रकार राजा के जाते समय उग्रकर्मा सैनिक, दण्डाधिकारी, सारथि और गाँव के मुखिया लोग उसके समक्ष उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार यह जीव जाते समय ऊपर को श्वास खींचता है, तब इस गमनशील जीव के समक्ष समस्त प्राण उपस्थित होकर उसका अनुगमन करते हैं॥ ३८॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति॥ १॥

जिस प्रकार यह जीवात्मा निर्बल होकर सम्मोहित (मूर्छित जैसा) हो जाता है, तब शरीरगत सभी प्राण उसके समक्ष उपस्थित होते हैं। इसके पश्चात् वह इनके (प्राणों के) तेजांश को भली प्रकार ग्रहण करके हृदय की ओर गमन करता है। जिस समय वह चक्षु में व्याप्त पुरुष नेत्रों से बहिर्गमन कर जाता है, तब उनकी रूप दर्शन की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है॥ १॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विज्ञानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २॥

इस प्रकार शरीरस्थ प्राण जीवात्मा में (समाहित) एकीकृत हो जाने पर यह जीव देखना बन्द कर देता है, ऐसा कहते हैं। (इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, वाक् इन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय, त्वचा, मन और बुद्धि स्थित चेतना जब उस आत्मा से एकीकृत हो बहिर्गमन करती है, तो) यह जीव न सूँघता है, न बोलता है, न स्वाद चखता है, न सुनता है, न स्पर्श करता है, न मनन करता है और न ही जानता है, ऐसा लोग कहते हैं। उस

समय उसके हृदय का अग्रभाग अत्यन्त देदीप्यमान होता है और प्राण, नेत्र, मस्तिष्क अथवा शरीर के अन्य किसी अवयव से बहिर्गमन कर जाता है। प्राण के बाहर निकलने के साथ ही समस्त इन्द्रियाँ उसका अनुगमन करने लगती हैं। उस समय यह आत्मा विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होता है और विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न प्रदेश (देह) को ही गमन करता है। उस समय उसके साथ उसकी विद्या, उसके कर्म और पूर्व प्रज्ञा (अनुभव किये गये विषयों की वासना) भी साथ चलते हैं॥ २॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽ न्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳ हरति ॥

जैसे तृण (घास पर चलने वाली) जोंक नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तृण का आश्रय ग्रहण करने के लिए अपनी देह को सिकोड़ता हुआ अन्य तृण पर रखता है, वैसे ही यह आत्मा इस (वर्तमान) शरीर का आश्रय छोड़कर अविद्या का परित्याग करके अपना उपसंहार करते हुए दूसरे नवीन शरीर का आश्रय ग्रहण कर लेता है॥ ३॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४॥

जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण लेकर उसे नवीन कल्याणकारी रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार यह आत्मा वर्तमान शरीर को चेतनारहित करके, अविद्या से मुक्ति पाकर पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य प्राणियों के नवीन स्वरूपों को धारण करता है अथवा नूतन रूपों का निर्माण करता है॥ ४॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥ ५॥

यह आत्मा ब्रह्म स्वरूप है; जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय और आकाशमय है। यह तेजोयुक्त, अतेजोयुक्त, कामयुक्त, अकामयुक्त, क्रोधयुक्त, अक्रोधयुक्त और धर्म तथा अधर्म से भी युक्त है। यह सर्वमय इदम् युक्त (प्रत्यक्ष) अदोयुक्त (परोक्ष) भी है। वह जिस तरह का कर्म और आचरण करता है, उसी तरह के भाव वाला हो जाता है। शुभ कार्य करने से वह शुभ और पाप कृत्य करने से पापी होता है। वह पुण्य कर्मों द्वारा पुण्यात्मा और पाप कर्मों द्वारा पापात्मा होता है। कुछ लोगों का कथन है कि वह पुरुष कामात्मा है। वह कामना के अनुरूप ही संकल्प करता है और संकल्प के अनुरूप ही कार्य करता है तथा कर्मानुसार ही फल प्राप्त करता है॥ ५॥

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

यह श्लोक इस सन्दर्भ में है- इस पुरुष का लिङ्ग (कारण शरीर) जिस पर आसक्त होता है, उसी की ओर अपनी इच्छा शक्ति एवं कर्म सहित गमन करता है। इहलोक में किए गये कर्मों द्वारा परलोक को प्राप्त करके उन कर्मों के भोग के निमित्त वह पुनः इहलोक में आता है। कर्मफल भोग की कामना वालों का ही निश्चित रूप से आवागमन चलता रहता है, किन्तु निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम पुरुष के प्राणों (इन्द्रियों) का उत्क्रमण (संकल्प पूर्वक गमन) नहीं होता, वह तो ब्रह्म स्वरूप बनकर ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है॥ ६ ॥

तदेष श्लोको भवति।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।
तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथा-यमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥७॥

यह श्लोक इस विषय में है- जब इस पुरुष के हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब यह मर्त्य, अमृत अर्थात् अविनाशी होकर यहीं ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। जिस प्रकार सर्प की केंचुली उसके बिल के बाहर मृत स्थिति में पड़ी रहती है और उसी प्रकार यह शरीर भी मृत पड़ा रहता है और ब्रह्मतेज से युक्त यह पुरुष जीवनमुक्त होकर शरीर के बिना ही रहता है। (यह सुनकर) विदेहराज जनक ने कहा- हे भगवन्! मैं आपको एक सहस्र गौएँ (अथवा मुद्राएँ) प्रदान करता हूँ॥ ७॥

तदेते श्लोका भवन्ति ।
अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳस्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥ ८॥

उस विषय (मोक्ष) के सन्दर्भ में ये श्लोक हैं- यह मार्ग (ज्ञानमार्ग) अति सूक्ष्म, विस्तृत और प्राचीन है, जो मुझे प्राप्त हुआ है और मैंने ही इसकी शोध की है। धैर्यशील ब्रह्मविद् पुरुषों को इहलोक में ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है और शरीर छोड़ने के पश्चात् वे उसी पथ से स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं। विमुक्त स्थिति वाले तो स्वर्ग से भी आगे ऊर्ध्व लोक को प्राप्त करते हैं॥ ८॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥ ९ ॥

ब्रह्मवेत्ता द्वारा खोजे गये उस मार्ग को कई लोग अलग-अलग रंग वाला बताते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वह श्वेत वर्ण का है, कुछ कहते हैं कि वह नीलवर्ण वाला है, कुछ उसे पीला, कुछ हरा तथा कुछ लाल वर्ण वाला बताते हैं। वह मार्ग साक्षात् परब्रह्म (परमात्म स्वरूप ब्रह्मज्ञ) द्वारा अनुभव किया हुआ है। उस मार्ग से पुण्यात्मा, तेजस्वी और ब्रह्मवेत्ता ही जाते हैं॥ ९॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥

(एकांगी जीवन जीने वाले) जो लोग केवल अविद्या (पदार्थपरक कौशल) की उपासना करते हैं, वे घने अंधेरे में (जहाँ कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ता उस स्थिति में) जा गिरते हैं। इसी प्रकार जो लोग केवल विद्या (चेतना परक कौशल) की उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार अन्धकार में पड़ जाते हैं॥ १०॥

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः॥ ११॥

जो अज्ञानी और मूढ़ जन हैं, वे मृत्यूपरान्त आनन्दहीन और अन्धकार से युक्त लोकों को प्राप्त करते हैं॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

यदि पुरुष (आत्मा को) यह ज्ञान हो जाए कि मैं क्या हूँ, तो फिर किस कामना और इच्छा से शरीर के लिए उसे दुःखी होना पड़े?॥ १२॥

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३॥

जो मननशील और प्रबुद्ध आत्मा वाला है, वह इस विषम (गहन) शरीर में प्रविष्ट होकर समस्त कर्म सम्पन्न करता है, क्योंकि वह विश्वकृत् (कृत-कृत्य) है, सब कुछ करने वाला है, उसी प्राणी का वह लोक है और वही स्वतः भी लोक है ॥ १३॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १४॥

हम इस शरीर में ही निवास करते हुए यदि उस आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं (तो कृत-कृत्य हो जाते हैं)। यदि उसे नहीं जानते, तो विनष्ट होते हैं। जो जान लेते हैं, वे अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं, इससे भिन्न तो दुःख ही उठाते हैं॥ १४॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ १५॥

जब मनुष्य उस भूतकाल और भविष्यत् काल के स्वामी, प्रकाशमान आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, तब वह उससे कभी पराङ्मुख नहीं होता॥ १५॥

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते। तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

जिसके पीछे दिन-रात्रि सहित संवत्सर अनुगमन करता हुआ, परिभ्रमण करता रहता है; ज्योतियों में परम ज्योति उस 'आयु' (रूप आत्मा) की देवगण उपासना करते हैं॥ १६॥

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

जिसके अन्दर पञ्च महाभूत, पञ्चजन और आकाश आश्रित हैं, उस आत्मा को ही मैं अविनाशी ब्रह्म मानता हूँ अथवा मैं ही वह ब्रह्मवेत्ता और अमृत हूँ॥ १७॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८॥

जो उसे प्राण का भी प्राण, चक्षु का भी चक्षु, श्रोत्र का भी श्रोत्र और मन का भी मन जानते हैं, वे उसे पुरातन और अग्रगण्य ब्रह्म मानते हैं॥ १८॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

उस ब्रह्म को एकात्मभाव से अन्तर्मुखी होकर ही देखा जाना चाहिए। इसमें नानात्व विभेद नहीं है। जो इसे नानात्व के रूप में देखता है, वह मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करता है॥ १९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्। विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥२०॥

वह ब्रह्म जो एक ही प्रकार से दर्शन करने योग्य है, वह अप्रमेय एवं निश्चल है, निर्मल है, आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है, अजन्मा है और वह महान् आत्मा अनश्वर है॥ २०॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳहि तदिति॥ २१॥

प्रज्ञावान् ब्राह्मण को चाहिए कि उसे ही जाने और उसी का चिन्तन-मनन करे। अधिक शब्दों के जंजाल में न उलझे। वह तो वाणी का व्यर्थ श्रम ही है॥ २१॥

[शब्दों से मात्र संकेत मिलते हैं, फिर तो प्रत्यक्ष अनुभव से ही उसका बोध होता है। अस्तु, यहाँ व्यर्थ वाग्-जंजाल से बचने का परामर्श दिया गया है।]

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः॥ २२॥

यह आत्मा महान्, अमृत, अज, विज्ञानमय तथा हृदयाकाशशायी है। यह सबको वश में रखने वाला तथा सबका नियन्त्रक और अधिपति है। यह पुण्य कर्मों से प्रवृद्ध नहीं होता और न ही पापकृत्यों से ह्रास को प्राप्त होता है। यह सभी प्राणियों का स्वामी, उनका ईश्वर और सर्वभूत पालक है। लोकों की मर्यादा बनाये रखने के लिए इनको धारण करने वाला सेतु है। इस आत्मा को ब्राह्मण जन वेदों का अध्ययन करके यज्ञ, दान और कामना रहित तप के द्वारा जानते हैं। इसी को जानकर वे मुनि बनते हैं। इस (आत्मारूपी) लोक की कामना करते हुए ही त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर संन्यास ग्रहण करते हैं। पहले के विद्वान

सन्तान आदि सकाम कर्मों के फल प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं करते थे अर्थात् इससे विरत रहते हुए ये सोचते थे कि हमारा लोक तो आत्म लोक है, सन्तति आदि का हम क्या करेंगे? इसी कारण वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊँचे उठकर भिक्षाटन करते थे। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा और वित्तैषणा ही लोकैषणा है। आत्मा का ज्ञान देते समय विद्वज्जन 'नेति-नेति' ही कहते हैं, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जा सकता अर्थात् अग्राह्य है। वह आत्मा असङ्ग अर्थात् आसक्ति रहित है, अहिंस्य है, बन्धन रहित अर्थात् मुक्त है, व्यथा रहित है और कभी नष्ट न होने वाला है। पाप और पुण्य दोनों को लाँघने में ये समर्थ हैं, क्योंकि ये किए हुए और न किए हुए दोनों ही प्रकार के कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥ २२॥

तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति॥ २३॥

इसी तथ्य का उल्लेख ऋचा में भी मिलता है- ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मविद्) की यह महिमा नित्य है, जो कर्म के द्वारा न प्रवृद्ध होती है और न ह्रास को ही प्राप्त होती है। उस महिमा के स्वरूप का ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसका ज्ञान प्राप्त करके फिर वह पापकर्म से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला शान्त चित्त, तपस्वी, उपरत, तितीक्षा करने वाला और समाहित चित्त वाला होकर आत्मा में ही आत्मा का दर्शन करता है, सभी को अपने आत्मा के रूप में ही देखता है। फिर कोई पाप उसे नहीं व्यापता, वह पापों को लाँघ जाता है। वह पाप शून्य, मलरहित, संशयहीन और ब्राह्मण हो जाता है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, आप यहाँ तक पहुँच गये हैं। तब जनक बोले- हे भगवन्! मैं आपको नमन करता हूँ और आपकी सेवार्थ (आपके श्री चरणों में) स्वयं को भी समर्पित करता हूँ॥ २३॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद॥ २४॥

यह महान् आत्मा जन्म न लेने वाला, अन्न भक्षक और कर्मफल प्रदाता है। इसे इस प्रकार जानने वाला मनुष्य समस्त कर्मों का फल प्राप्त कर लेता है॥ २४॥

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयः हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद॥ २५॥

यह महान् आत्मा अज, जरारहित, मृत्युरहित, अमर एवं भयरहित ब्रह्म स्वरूप है। जो अभय है, वही ब्रह्म है, ऐसा जानने वाला अभय ब्रह्म स्वरूप हो जाता है॥ २५॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन्॥ १ ॥

यह प्रख्यात है कि ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं। जिनका नाम मैत्रेयी और कात्यायनी था। इन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी सामान्य स्त्रियों की तरह ही थी। याज्ञवल्क्य ने अगले आश्रम (वानप्रस्थ) में प्रवृत्त होने की इच्छा से कहा ॥ १ ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽयमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति॥ २ ॥

पत्नी मैत्रेयी से (उन्होंने कहा)-हे मैत्रेयी! मैं अब वर्तमान स्थान (गृहस्थाश्रम) से अगले स्थान (वानप्रस्थ) में परिव्रज्या हेतु जाना चाहता हूँ। अत: मेरी आकांक्षा है कि दूसरी धर्मपत्नी कात्यायनी और आपके बीच (सम्पत्ति का) बँटवारा कर दूँ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति॥ ३ ॥

(यह सुनकर) मैत्रेयी बोली- हे भगवन्! धन-धान्य से पूरित इस सम्पूर्ण धरती की यदि मैं स्वामिनी बन जाऊँ, तो क्या मैं अमर पद पा सकूँगी? महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा- नहीं, जैसे साधन-सम्पन्नों का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जाएगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं करनी चाहिए॥ ३ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे विब्रूहीति॥ ४॥

मैत्रेयी बोली-हे स्वामी! जिस धन-ऐश्वर्य से मैं अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकती, उसे ग्रहण करके मैं क्या करूँगी? हे भगवन्! यदि आप अमृतत्व प्राप्त करने का कोई उपाय जानते हों, तो वह मुझे बताने का अनुग्रह करें॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी! तुम हमारी प्रिया रही हो और अब भी हमारे लिए प्रिय (आनन्द) की वृद्धि कर रही हो । तुम आकर बैठो- मैं तुम्हारे लिए अमृतत्व प्राप्त कराने वाला उपदेश प्रदान करता हूँ। तुम मेरे उपदेश का निदिध्यासन (अनुपालन) करना ॥ ५ ॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति न वा अरे

ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यामनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी! निश्चित ही पति की आकांक्षा पूर्ति के लिए पति प्रिय नहीं होता वरन् अपनी (आत्मीयता की) आकांक्षा पूर्ति के लिए (पत्नी को) पति प्रिय होता है। इसी प्रकार पत्नी के प्रयोजन के लिए नहीं, बल्कि अपने प्रयोजन के लिए (पति को) पत्नी प्रिय होती है। पुत्रों की आकांक्षा पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए (पिता को) पुत्र प्रिय होते हैं। धन के प्रयोजन पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए (व्यक्ति को) धन प्रिय होता है। पशुओं के प्रयोजन के निमित्त नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए पशु प्रिय होते हैं। ज्ञान या ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए ज्ञान या ब्राह्मण प्रिय होता है। शक्ति अथवा क्षत्रिय की आकांक्षा के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए शक्ति या क्षत्रिय प्रिय होते हैं। लोकों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपनी ही इच्छा पूर्ति के लिए लोक प्रिय होते हैं। देवों के प्रयोजन के लिए देव प्रिय नहीं होते अपने (आत्मीयता) प्रयोजन के लिए देव प्रिय होते हैं। वेदों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् निज के प्रयोजन के लिए वेद प्रिय होते हैं। प्राणियों के हित के लिए नहीं, वरन् अपने हित के लिए प्राणी प्रिय होते हैं। सभी के हित के निमित्त नहीं, वरन् अपने हित के निमित्त सब प्रिय होते हैं। इसलिए हे मैत्रेयी! यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यासन (अनुभव) करने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाता है॥ ६ ॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यात्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यात्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण या ज्ञान को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में जानने वाला होता है, उसे ब्राह्मण या ज्ञान परित्यक्त कर देता है। क्षत्रिय या बल को आत्मा से भिन्न किसी वस्तु में देखने वाले को बल या क्षत्रिय परित्यक्त कर देता है। लोकों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को लोक त्याग देते हैं। देवताओं को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को देवता छोड़ देते हैं। वेदों को आत्मा के

अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को वेद परित्यक्त कर देते हैं। समस्त प्राणियों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में देखने वाले को समस्त प्राणी त्याग देते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण (ज्ञान), क्षत्रिय (शक्ति), लोक, देवता, वेद और समस्त प्राणी ये सभी आत्मा ही हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं॥ ७॥

[आत्मा से भिन्न देखने पर ज्ञान, बल, लोक, देव, वेद आदि का वास्तविक लाभ मिलना बन्द हो जाता है। उनका कलेवर भर बना रहे, तो कुछ लाभ नहीं होता।]

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेर्ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ८॥

जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि के बाहर निकलते हुए शब्दों को ग्रहण कर सकने (रोक सकने) में कोई दूसरा समर्थ नहीं है, उन (शब्दों) को केवल स्वयं दुन्दुभि अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है (उसी प्रकार आत्मा को ग्रहण करने में आत्मा ही समर्थ है अथवा आत्मा के संचालक प्राण द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है)॥ ८॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दान्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ९॥

जिस प्रकार बजाये जाते हुए शङ्ख के शब्दों को केवल वह शङ्ख अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है, अन्य कोई ग्रहण करने में समर्थ नहीं है (उसी प्रकार आत्मा अथवा संचालक द्वारा ही आत्मा को ग्रहण किया जा सकता है।) ॥ ९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥ १०॥

जैसे बजायी जाती हुई वीणा के शब्दों को स्वयं वह वीणा अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है,अन्य कोई नहीं (उसी प्रकार आत्मा को आत्मा द्वारा अथवा उसके संचालक द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है)॥

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥ ११॥

जिस प्रकार चारों ओर से आधान किए हुए गीले ईंधन से उत्पन्न अग्नि से धूम्र निकलता है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, सूत्र, श्लोक, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, इष्ट (यज्ञ), हुत (यज्ञ किया हुआ), आशित (खिलाया हुआ), पायित (पिलाया हुआ), इहलोक, परलोक और समस्त प्राणी उस महान् सत्ता के निःश्वास ही हैं॥ ११॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन

एकायनमेवः सर्वासां विद्यानाः हृदयमेकायनमेवः सर्वेषां कर्मणाः हस्तावेकायनमेवः सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवः सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवः सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवः सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥ १२॥

जिस प्रकार समस्त जलों का आश्रय स्थल एक मात्र समुद्र है, समस्त स्पर्शों का अयन त्वचा है, समस्त गन्धों का आश्रय नासिका है, समस्त रसों का आश्रय रसना (जिह्वा) है, समस्त रूपों का आश्रय चक्षु है, समस्त शब्दों का आश्रय श्रोत्र, समस्त संकल्पों का आश्रय मन, समस्त विद्याओं का आश्रय हृदय, समस्त कर्मों का आश्रय हस्त, समस्त आनन्दों का आश्रय उपस्थ, समस्त विसर्गों (विसर्जनों) का आश्रय पायु (गुदा), समस्त मार्गों का आश्रय चरण है, उसी प्रकार समस्त ज्ञान (वेदों) का एक ही आश्रय वाक् शक्ति (वाणी) है॥ १२॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा-जिस प्रकार लवण (नमक) की डली बाहर और भीतर से रहित सम्पूर्ण रूप से रसघन ही है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! यह आत्मा बाह्याभ्यन्तर भेदों से शून्य प्रज्ञान घन ही है। यह विज्ञानघन आत्मा समस्त भूतों से ऊँचा उठकर उन्हीं में विलीन होकर नष्ट हो जाता है। मृत्यु के उपरान्त इस तत्त्व का नाम शेष नहीं रहता (संज्ञाविहीन हो जाता है, क्योंकि वह देहेन्द्रिय भाव से मुक्त हो जाता है) ॥१३

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४॥

मैत्रेयी ने कहा- हे भगवन्! यहीं आपने मुझे मोह में डाल दिया है। मैं इस (उपर्युक्त) तथ्य को विशेष रूप से नहीं समझ सकती। याज्ञवल्क्य बोले- हे मैत्रेयी? मैं मोह में डालने के लिए यह बात नहीं कह रहा हूँ। यह आत्मा निश्चित रूप से अमर्त्य (अविनाशी) है और उच्छेद (नष्ट होने के) धर्म वाली नहीं है॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरः रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरः शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरः स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कः रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कः शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कःस्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदः सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५॥

जहाँ (अज्ञान जनित स्थिति में) द्वैतावस्था में कोई अन्य किसी अन्य को देखता, सूँघता, रसास्वादन करता, सुनता, कहता, मनन करता, स्पर्श करता और जानता है; किन्तु जब इसके लिए सभी कुछ आत्मा ही हो गया है, तब (वहाँ) किसके द्वारा किसे देखे, किसके माध्यम से किसे सुने, किसके द्वारा किसका

रसास्वादन करे, किसके माध्यम से किसे कहे, किसके द्वारा किसका मनन करे, किससे किसका स्पर्श करे, किससे किसे जाने ? हे मैत्रेयी ? जिसके द्वारा सभी को जाना जाता है, उसे किसके द्वारा जाने ? वह आत्मा अग्राह्य है, जिसके विषय में 'नेति-नेति' ऐसा कहा गया है। उसका कभी नाश नहीं होता- वह अशीर्य (नष्ट न होने वाला) है, वह किसी से आसक्त नहीं होता- वह असङ्ग है, वह कभी बन्धन में नहीं बँधता- वह अबद्ध है। हे मैत्रेयी ! सर्वज्ञाता को किसके द्वारा जाना जाए ? अरी मैत्रेयी ! अमृतत्व की प्राप्ति के लिए इतना ज्ञान (शिक्षा) बहुत है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य (परिव्रज्या हेतु) चले गये॥ १५॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ वꣳशः (पौतिमाष्यात्) पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः॥ १॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्यन्दिनायनःसौकरायणात्सौकरायणः काषायणा-त्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः॥ २॥ घृतकौशिकाद्घृतकौशिकःपाराशर्यायणात्पाराशर्यायणःपाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजङ्घनेरौपजङ्घनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्य शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्यआङ्गिरसआभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणो दैवादथर्वादैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युःप्राध्वꣳसनःप्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकऋषेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३॥

अब (याज्ञवल्कीय काण्ड का) वंश वर्णन किया जाता है। पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने कौशिक से , कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम से (ज्ञानार्जन किया), गौतम ने आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्य से , गर्गवंशी ने गर्गवंशी से, गर्गवंशी ने गौतम से, गौतम ने सैतव से, सैतव ने पाराशर्यायण (पराशर पुत्र) से, पाराशर्यायण ने गार्ग्य पुत्र से, गार्ग्य पुत्र ने उद्दालकायन से, उद्दालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से (ज्ञानार्जन किया); कौशिकायनि ने घृतकौशिक से,

घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भरद्वाजवंशी से, भरद्वाजवंशी ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य के द्वारा, शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य के द्वारा, कैशोर्यकाप्य ने कुमार हारित के द्वारा, कुमार हारित ने गालव के माध्यम से, गालव ने विदर्भी कौडिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव के द्वारा, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्थासौभर के द्वारा, पन्थासौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से, आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों के द्वारा, अश्विद्वय ने दधीचि आथर्वण के माध्यम से, दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वादैव से, अथर्वादैव ने मृत्यु प्राध्वंसन के द्वारा, मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन के द्वारा, प्रध्वंसन ने एकर्षि के द्वारा, एकर्षि ने विप्रचित्ति के माध्यम से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि के माध्यम से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी के द्वारा और परमेष्ठी ने ब्रह्म से (ज्ञान प्राप्त किया); ब्रह्म तो स्वयंभू है, उस ब्रह्म को नमन है॥ १-३॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

ॐ पूर्णमदःपूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ ॐ ३ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदो यं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥ १॥

वह (ब्रह्म) पूर्ण है, यह (जगत् भी) पूर्ण है। (उस) पूर्ण ब्रह्म से ही यह पूर्ण विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। उस पूर्ण ब्रह्म में से इस पूर्ण जगत् को निकाल लेने पर पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है। ॐ(इस अक्षर) से संबोधित खं (अनन्त आकाश या परम व्योम) ब्रह्म है। आकाश सनातन (परमात्म रूप) है। जिस (आकाश) में वायु विचरण करता है, वह आकाश ही 'खं' है- ऐसा कौरव्यायणी पुत्र का कथन है। यह ओंकार स्वरूप ब्रह्म ही वेद है- इस प्रकार (ज्ञानी) ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो जानने योग्य है, वह सब इस ओंकार रूप वेद से ही जाना जा सकता है॥ १॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १॥

देव, मानव तथा असुर इन तीनों प्रजापति के पुत्रों ने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रजापति के यहाँ निवास किया। ब्रह्मचर्य वास पूर्ण करने के पश्चात् देवताओं ने (प्रजापति से) कहा- 'आप हमें उपदेश

दीजिए।' तब उन्हें प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश दिया और पूछा- क्या तुमने इसका तात्पर्य समझ लिया? तब उन (देवों) ने कहा 'हाँ समझ गये'। आपने हमसे (इन्द्रियों का) दमन करो - इस प्रकार कहा है। तब प्रजापति बोले- 'ठीक है', तुम समझ गये ॥ १॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २॥

इसके बाद मनुष्यों ने प्रजापति से कहा 'आप हमें उपदेश प्रदान करने की कृपा करें।' तदनन्तर उन मनुष्यों से भी प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश देकर पूछा- 'क्या तुम इसका तात्पर्य समझ गये'? तब समस्त मानवों ने कहा-'हाँ' समझ गये। उन्होंने कहा- आपने हमसे 'दान करो' इस प्रकार कहा है। प्रजापति ने कहा- हाँ, तुम सब ठीक ही समझ गये॥ २॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥ ३॥

अन्त में असुरों ने भी प्रजापति से उपदेश करने की प्रार्थना की। प्रजापति ने उनको भी उसी 'द' अक्षर का उपदेश किया और पूछा-क्या तुम सभी ने इसका अर्थ (भाव) समझ लिया? तब उन असुरों ने कहा 'हाँ' भगवन्! समझ गये, आपने हमको 'दया करो' ऐसा उपदेश प्रदान किया है। (तत्पश्चात्) प्रजापति बोले- हाँ ठीक, तुम समझ गये। प्रजापति के अनुशासन का द. द. द. .... मेघ गर्जना के रूप में दैवी वाक् आज भी अनुमोदन करता है अर्थात् दमन करो, दान करो, दया करो। इस कारण से इन तीनों दमन, दान और दया की ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए॥ ३॥

[प्रजापति के तीनों पुत्रों ने एक ही अक्षर 'द' से अपने लिए अनुकूल भाव ग्रहण कर लिया- प्रजापति सन्तुष्ट हुए। यह कैसे संभव हुआ? उत्तर है- ब्रह्मचर्य तप से शुद्ध अन्तःकरण के आधार पर यह संभव हुआ; अन्यथा पूरे वाक्य बोलने पर भी श्रोता अपने विकारों के आवरण में सत्य के स्पन्दन ग्रहण नहीं कर पाते। ऋषि आग्रह करते हैं कि आज भी हमें प्रजापति के इन तीनों निर्देशों का अनुपालन करना चाहिए। प्रश्न उठता है- हम मनुष्य हैं, तो तीनों निर्देशों का अनुपालन क्यों करें? समाधान यह है कि यदि हम ब्रह्मचर्य (ब्रह्म के अनुकूल आचरण) की साधना करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि जब अपने 'स्व' में देवत्व का उदय हो, तो उससे उत्पन्न श्रेष्ठता के अहं से बचने के लिए दमन का सहारा लें, जब मनुष्योचित भाव जागे, तो संकीर्ण स्वार्थों से बचने के लिए दान करें और जब आसुरी भाव जागे, तो क्रूरता से बचने के लिए दया का आश्रय लें।]

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳहृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद॥ १॥

यह जो हृदय है, वह प्रजापति है- ब्रह्म है, वह सब कुछ है। यह 'हृदय' तीन अक्षर (वर्णों या क्षरित न होने वाले गुणों) से युक्त है। 'हृ' यह एक अक्षर है (यह हृञ् धातु से बना है, जिसका भाव हरणशील होता है), जो यह जानता है, उसके निमित्त अपने और अन्य (प्राण प्रवाह या प्राणी) अभिहरण करते (अभीष्ट पदार्थ कहीं से प्राप्त करके देते) हैं। एक अक्षर 'द' है ('द' दानार्थ धातु से बना है) जो यह जानता है, उसके निमित्त अपने और अन्य सभी दान करते (स्नेहपूर्वक अपने पास के पदार्थ देते) हैं। एक अक्षर 'यम्' है (यह 'इण' गत्यर्थक धातु से बना है) यह जानने वाला स्वर्ग की प्राप्ति करता है॥ १॥

[हृदय के तीन भाव हैं, जो आवश्यक है और अपने पास नहीं है, उसे प्राप्त करना, जो है उसे श्रेष्ठतर प्रयोगों के लिए देना तथा अपने श्रेष्ठ लक्ष्य की ओर गतिशील रहना। तीनों भाव मिलकर मनुष्य को इस लोक एवं अन्य लोकों के अनुदानों के साथ सद्गति की प्राप्ति कराने में समर्थ होते हैं।]

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

तद्वैतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान् जित इन्नवसावसद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यꣳ ह्येव ब्रह्म ॥ १॥

यह हृदय ही सत्यरूप है, यही महान् यक्ष है तथा यही ब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध है। जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है, वह इन समस्त लोकों को जीत लेता है। जो असत् मानता है, वह उससे पराजय को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। जो इस तरह इस महान् यक्ष, आदिपुरुष (पूज्य), प्रथम उत्पन्न हुए 'सत्य ब्रह्म' को जानता है, (उसको ही उपर्युक्त फल प्राप्त होता है); क्योंकि सत्य ही ब्रह्म रूप है॥ १॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदमृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति॥ १॥

यह व्यक्त जगत् प्रारम्भिक काल से आपः (मूल क्रियाशील तत्त्व) के रूप में ही था। तत्पश्चात् उस आपः ने सत्य (यथार्थ भासित होने वाले जगत्) की सर्जना की। इसलिए सत्य ही ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म ने प्रजापति को तथा प्रजापति ने समस्त देवगणों को उत्पन्न किया। वे सभी देवगण ब्रह्मरूप सत्य की उपासना करते हैं। यह 'सत्य' नाम तीन अक्षरों से युक्त है। 'स' यह प्रथम अक्षर है, 'ती' (उच्चारण सौकर्य हेतु 'त्' को 'ती') यह द्वितीय अक्षर तथा 'यम्' यह तृतीय अक्षर हैं। इन तीनों में प्रथम और तृतीय अक्षर ही सत्य रूप है, मध्य का दूसरा अक्षर अनृत है। यह अनृत (तकार) दोनों तरफ से (सकार-यकार रूप) सत्य से व्याप्त है। अतः 'सत्य'- यह नाम सत्य प्राय ही है। इस तरह से जानने वाले को अनृत कभी भी हिंसा नहीं करता॥ १॥

[यह नश्वर पदार्थ या जगत् सत्य के सम्पुट में है, अर्थात् सत्य से उत्पन्न है और उसी में लीन होता है। यह जानने वाला नश्वर पदार्थ का सामयिक उपयोग करते हुए भी उसमें लिप्त होकर नष्ट नहीं होता, यह ऋषि का भाव है।]

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष-स्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥ २॥

वह सत्य ही आदित्य रूप है। इस सूर्य मण्डल में विद्यमान पुरुष और दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष दोनों आपस में संयुक्त हैं। वे ये दोनों पुरुष एक दूसरे में स्थित हैं। आदित्य-रश्मियों के माध्यम से चाक्षुष पुरुष में स्थित है और चाक्षुष पुरुष आदित्य में प्राण के रूप में स्थित है। जब चाक्षुष पुरुष निकलने लगता है, उस समय यह आदित्य मण्डल को ही देखता है। पुनश्च, ये किरणें लौटकर समीप नहीं आती हैं॥ २॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकः शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥ ३॥

इस आदित्य मण्डल में जो यह (सत्य नाम से युक्त) पुरुष विद्यमान है, 'भूः' उसका शिर है। (उस पुरुष का) शिर एक है तथा वह अक्षर भी एक ही है। 'भुवः' यह भुजा है, इसकी भुजाएँ दो हैं तथा ये अक्षर भी दोनों भुजाओं के रूप में (दो) हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा अर्थात् चरणों के रूप में हैं; चरण दो हैं और ये (स्वः=सुवः) अक्षर भी दो हैं। 'अहर्' (हन् धातु से बना है, अर्थ है- हननकर्ता) यह इस (पुरुष) का उपनिषद् (गूढ़ नाम) है, जो इस तरह से जानता हुआ, उस ब्रह्म की उपासना करता है, वह पापों का हनन करके उनका परित्याग कर देता है॥ ३॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकः शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४॥

यह दक्षिण नेत्र में जो पुरुष (विद्यमान) है। भूः उसका शिर है। (उस पुरुष का) शिर एक है तथा वह अक्षर भी एक ही है। 'भुवः' यह भुजा है, इसकी भुजाएँ दो हैं तथा ये अक्षर भी दोनों भुजाओं के रूप में (दो) हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा अर्थात् चरणों के रूप में हैं और ('स्वः = सुवः') अक्षर भी दो हैं। 'अहम्' (इसका भी अर्थ हननकर्ता है) उस (पुरुष) का उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो इस तरह से जानता हुआ ब्रह्म की उपासना करता है, वह पापों का हनन करके उनका परित्याग कर देता है॥ ४॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥ १॥

यह पुरुष मनोमय एवं सत्य स्वरूप प्रकाश से युक्त है। यह हृदय के अन्तः भाग में व्रीहि (धान) अथवा यव (जौ) के रूप (जैसे सूक्ष्म आकार) में प्रतिष्ठित है। (यह अनन्त हृदय में योगियों द्वारा दृष्टिगोचर होता है।) वह इन सभी का स्वामी एवं अधिष्ठाता है और जो भी कुछ (दृश्य जगत्) है, सभी को अपने शासन में रखता है॥ १॥

॥ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥

विद्युत् ही (प्रकाश स्वरूप) ब्रह्म है, इस प्रकार (प्राय: लोग) कहते हैं। पापों का खण्डन अथवा विनाश करने में सक्षम होने से ब्रह्म ही विद्युत् (प्रकाश) स्वरूप है। जो (व्यक्ति) 'विद्युत् ब्रह्म है' इस प्रकार जानता है, उसके पापों का (यह विद्युत् ब्रह्म) शमन कर देता है; क्योंकि प्रकाश के रूप में विद्युत् ही ब्रह्म है॥ १॥

॥ अष्टमं ब्राह्मणम् ॥

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

वाणी की, कामधेनु गौ के समान उपासना करे। उस गौ के स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार तथा स्वधाकार ये चार स्तन हैं। उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कार से देवताओं की जीविका चलती है, हन्तकार से मनुष्य जीवन पाते हैं तथा स्वधाकार से पितृगण जीवित रहते हैं। उस वाणी रूपी धेनु के लिए प्राण ही वृषभ है और मन ही वत्स (बछड़ा) रूप है॥ १॥

॥ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति॥ १ ॥

यह वैश्वानर अग्नि ही है, जो सभी पुरुषों के शरीर में स्थित है। जो अन्न भक्षण किया जाता है, उसका पाचन शरीर में स्थित यह वैश्वानर अग्नि ही करता है। उसी का ही यह घोष (नाद) होता है, जिसे व्यक्ति कानों को बन्द करके अनहद नाद की भाँति श्रवण करता है। जिस समय यह प्राण (पुरुष) शरीर से बाहर निकलने वाला होता है, उस समय इस नाद को नहीं श्रवण कर पाता॥ १॥

॥ दशमं ब्राह्मणम् ॥

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

जब यह पुरुष इस (मनुष्य) लोक से उन्मुक्त होकर गमन करता है, तब वह सर्वप्रथम वायु लोक को प्राप्त करता है। (तदनन्तर) वहाँ पर वह वायु उसके लिए छिद्र युक्त होकर मार्ग प्रदान कर देता है, वह छिद्र रथ के पहिये की भाँति होता है। उस (छिद्र) के द्वारा वह ऊर्ध्व की ओर आरोहण करता है। इसके पश्चात् वह सूर्यलोक में प्रतिष्ठित होता है। वहाँ पर सूर्य भी उसके लिए लम्बर नामक वाद्ययन्त्र के छिद्र की भाँति रास्ता प्रदान करता है। वहाँ से वह ऊर्ध्व की ओर आरोहण करते हुए चन्द्रलोक में पहुँचता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिए दुन्दुभि के छिद्र की तरह का मार्ग देता है। उस मार्ग के द्वारा ही वह ऊपर की ओर बढ़ता है। इसके बाद वह अशोक (अर्थात् मानसिक पीड़ा से रहित) और अहिम (अर्थात् शारीरिक दु:ख से रहित) नामक लोक में पहुँचकर वहाँ सदा अनन्त वर्षों तक (अनन्तकाल तक) निवास करता है॥ १॥

॥ एकादशं ब्राह्मणम् ॥

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद॥ १ ॥

रोगग्रस्त व्यक्ति को जो ताप-क्लेश होता है- यह निश्चित रूप से परम तप है, जो इस प्रकार श्रेष्ठ चिन्तन करता है, वह परम सत्य लोक को अपने वश में कर लेता है। मृत अवस्था को प्राप्त व्यक्ति को जो लोग जंगल (श्मशान) की ओर ले जाते हैं, यह भी श्रेष्ठ तप है, जो इस प्रकार से जानता है वह भी परम सत्य लोक को जीत लेता है। मृत व्यक्ति को जो भी अग्नि में प्रतिष्ठित करते हैं, निश्चित ही यह परम तप है, जो इस तरह से जान लेता है, वह श्रेष्ठ लोक को अपने वश में कर लेता है॥ १ ॥

॥ द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

अन्नं ब्रह्मेत्येकआहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माह प्रातृदः पितरं किꣳस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै वि अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

प्रातृद ऋषि अपने पिता से विचार विमर्श करते हुए कहते हैं- कुछ लोगों का कथन है कि अन्न ब्रह्म है, किन्तु यह बात मिथ्या लगती है; क्योंकि प्राण के अभाव में अन्न सड़ (नष्ट हो) जाता है। कुछ लोग प्राण को ही ब्रह्म कहते हैं, किन्तु यह बात भी मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि अन्न के अभाव में प्राण शुष्क पड़ जाता है। यह दोनों देव तत्त्व एक साथ मिलकर परमात्म भाव को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की विशेष अनुभूति प्राप्त करने वाले का मैं क्या शुभ अथवा क्या अशुभ करूँ? (क्योंकि कृतार्थ होने के उपरान्त उसका न तो शुभ किया जा सकता है और न तो अशुभ।) तत्पश्चात् उसके पिता ने रोकते हुए इस प्रकार कहा-'हे प्रातृद' ! ऐसा मत कहो, इन दोनों तत्त्वों की समरूपता को प्राप्त करके कौन परमभाव को प्राप्त होता है? अत: उस (प्रातृद के पिता) ने 'वी' इस प्रकार कहा। 'वी' यही अन्न रूप है। 'वी' रूप अन्न में ही ये समस्त भूत (प्राणी) समाहित हैं। 'रम्' यह प्राण है, क्योंकि रं अर्थात् प्राण में ही ये समस्त भूत (प्राणी समुदाय) रमण करते हैं। जो इस प्रकार से जानता है (वह वीर है), उसमें ये सभी प्राणी समाहित होते हैं तथा सभी प्राणी रमण करते हैं॥ १ ॥

॥ त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदꣳ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥ १ ॥

प्राण ही 'उक्थ' अर्थात् स्तोत्र है, इस कारण 'उक्थ' की प्राण के रूप में उपासना करें; क्योंकि प्राण

ही इन सभी (प्राणियों) को (ऊपर) उठाता है। इस उक्थ के द्वारा ही उक्थवेत्ता पुत्र का प्राकट्य होता है। इस तरह से जानने वाला ज्ञानी ही 'उक्थ' (प्राण) के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है॥ १॥

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥ २॥

प्राण की उपासना 'यजुः' (योग) के रूप में सम्पन्न करें। प्राण ही यजुः है, इस कारण प्राण में इन समस्त भूतों (प्राणियों) का योग होता है। समस्त भूत (प्राणी) इस (प्राण) की श्रेष्ठता के कारण ही इस यजुः रूप प्राण से संयुक्त होते हैं। अतः जो भी इस प्रकार से उपासना करता है, वह यजुः के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३॥

प्राण ही साम है; क्योंकि समस्त प्राणी साम में ही समाहित होते हैं; इस कारण 'साम' की इसी रूप में उपासना करे। सभी प्राणी उस साम के साथ ही एक रूप होते हैं एवं उसकी श्रेष्ठता को धारण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार से उपासना करने वाला व्यक्ति साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है॥

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥ ४॥

प्राण ही क्षत्र (बल) है, इसलिए प्राण की उपासना करें। प्राण ही क्षत्र है अर्थात् इस शरीर की शस्त्रादि जनित क्षति से रक्षा करता है। अतः क्षत से रक्षा करने के कारण प्राण का क्षत्रत्व प्रसिद्ध है। अन्य किसी से त्राण (रक्षा) न पाने वाले क्षत्र (प्राण) को प्राप्त करता है। जो भी व्यक्ति इस तरह जानता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है॥ ४॥

॥ चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥ १॥

इस ब्राह्मण में गायत्री के तत्त्वज्ञान एवं महात्म्य का वर्णन किया गया है-

गायत्री के प्रथम पद (चरण) का महत्त्व समझाते हुए ऋषि कहते हैं- भूमि (भू+मि=दो, इसी प्रकार), अन्तरिक्ष (चार) तथा द्यौ (दि+वौ =दो) ये कुल मिलाकर आठ अक्षर होते हैं। आठ अक्षरों से युक्त गायत्री का एक (प्रथम)पाद (तत्सवितुर्वरेण्यं) है। यह (भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ) ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। जो भी व्यक्ति इस तरह जानता है, वह तीनों लोकों के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है॥

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥ २॥

ऋचः (ऋ+चः =दो, इसी प्रकार), यजूँषि (तीन) और सामानि (तीन) ये भी कुल मिलाकर आठ अक्षर हैं। गायत्री महामन्त्र का द्वितीय पाद भी आठ अक्षरों से युक्त है। यह वेदत्रयी ऋक् ,यजुः और साम ही गायत्री का द्वितीय पाद (भर्गो देवस्य धीमहि) है। इस प्रकार से जानने वाला ज्ञानी त्रयी विद्या की उपासना का फल प्राप्त कर लेता है॥ २॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवꣳ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३॥

प्राण (प्रा+ण =दो, इसी प्रकार), अपान (तीन) और व्यान (वि+आ+न=तीन), यह भी आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरों से युक्त (धियो यो नः प्रचोदयात्) गायत्री का तृतीय पाद है। गायत्री के इस तीसरे पाद को जानने वाला (इसकी उपासना करने वाला) व्यक्ति समस्त प्राणि-समुदाय को जीत लेता है। इसके अतिरिक्त चतुर्थ दर्शत (दिखने वाला) पाद होता है। यह चतुर्थ पाद (परो रजसे सावदोम्) तुरीय कहलाता है। यह दृष्ट (दर्शनीय) जैसा है, अतः दर्शत पद है, यही 'परो रजा' है। यह सभी रज (लोकों) से परे (ऊपर) रहकर तपता-चमकता है। गायत्री के चतुर्थ पाद को इस प्रकार से जो जानता है, वह यशस्वी होता हुआ सुशोभित होता है॥ ३॥

[गायत्री का चतुर्थ पद 'परो रजसे सावदोम्' भी आठ अक्षरों वाला कहा गया है। विश्वामित्र कल्प तथा प्राचीन संध्या प्रयोगों में इसका उल्लेख मिलता है। उपनिषद् का कथन है कि गायत्री के तीन पाद ही जपनीय हैं,यह चौथा पाद 'दर्शत' पद- देखा जाने वाला- अनुभूतिगम्य कहा गया है। इसका पदच्छेद होता है- परो रजसे- असौ- अदः ॐ अर्थात् रजस् पदार्थ या प्रकाश से परे यह और वह सब ॐ अक्षररूप ब्रह्म ही है। जब साधक के प्राणों के स्पन्दन गायत्री के तीन पदों से एकात्मता स्थापित कर लेते हैं, तो चौथे पद का आभास-अनुभव होने लगता है। इसलिए इसे दर्शत पद कहा है।]

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोजीय इत्येवं वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाꣳस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूꣳ सावित्रीमन्वाहैषैव स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाꣳस्त्रायते॥ ४॥

यह गायत्री इस दर्शत पद (दर्शनीय चतुर्थ पद) में स्थित है। वह पद सत्य में स्थित है। नेत्र ही सत्य है, सुनिश्चित रूप से नेत्र ही सत्य है। इस कारण यदि दो व्यक्ति आपस में 'मैंने देखा है,' 'मैंने सुना है' इस प्रकार का विवाद करते हुए आएँ और उनमें से जो यह कहे कि 'मैंने देखा है', उसी का हमें विश्वास होगा। इस प्रकार वह सत्य बल में प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है, अतः यह सत्य प्राण में स्थित है। इसी कारण सत्य की अपेक्षा प्राण अधिक बलवान् है। इस प्रकार यह गायत्री प्राण में स्थित है। इस गायत्री ने गयों (प्राणों) का त्राण किया। प्राण ही गय है, उन प्राणों का इस (गायत्री) ने त्राण किया। इसीलिए इसे 'गायत्री' कहते हैं। आचार्य जिन ब्रह्मचारियों को इसका उपदेश देते हैं, यह (गायत्री) उन सभी के प्राणों का त्राण करती है॥ ४॥

ताःहैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति॥ ५॥

कोई-कोई आचार्य अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हैं । वे कहते हैं कि वाणी ही अनुष्टुप् है, अतः हम वाक् का ही उपदेश करते हैं। अन्य आचार्यों के मत से ऐसा उचित नहीं है। अतः गायत्री छन्दवाली सावित्री का ही उपदेश करना चाहिए। इस प्रकार से जानने वाला जो व्यक्ति साधनों का अधिकाधिक संग्रह करे, तब भी वह गायत्री महामन्त्र के एक पाद के फल के समान भी नहीं है॥ ५॥

[गायत्री छन्द वाला- आठ-आठ अक्षरों से युक्त तीन पदों वाला गायत्री मंत्र ही गुरु मंत्र के रूप में उपनिषद् द्वारा स्वीकार्य है। इससे स्पष्ट होता है कि चतुर्थ चरण युक्त गायत्री मंत्र अथवा अन्य छन्दों वाले गायत्री मंत्र 'गुरु मंत्र' के रूप में दिया जाना और प्रयुक्त किया जाना उचित नहीं है। किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।]

स य इमांस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६॥

जो व्यक्ति इन तीनों लोकों के सम्पूर्ण वैभव को दान रूप में ग्रहण करता है, उसका वह (दान) इस गायत्री के प्रथम पाद की उपासना के तुल्य है। यह जो त्रयी (वेद) विद्या है, इसको जो प्रतिग्रह (दान) रूप में ग्रहण करता है, वह दान गायत्री के द्वितीय पाद की उपासना के फल की समानता करता है तथा जो समस्त प्राणि -समुदाय को ग्रहण करता है, वह गायत्री के तृतीय पाद का फल प्राप्त करता है। 'दर्शत परो रजा' यह चतुर्थ पद है, जो कि सभी से ऊपर चमकता है। यह किसी के द्वारा सुलभ (सेवनीय) नहीं है। इस चतुर्थ पाद की समानता किसी भी प्रतिग्रह (दान) से नहीं हो सकती है॥ ६॥

[यहाँ गायत्री का उपस्थान दिया गया है। उपस्थान का अर्थ है- उप- समीप पहुँचकर की गयी स्तुति। सामान्य स्थिति में गायत्री महाशक्ति का आवाहन करके उनकी निकटता की अनुभूति के साथ यह भाव स्तुति की जाती है। उच्च स्थिति में जब साधक के प्राण परिष्कृत होकर गायत्री महाशक्ति का स्पर्श करते हैं, तब उपस्थान की स्थिति बनती है।]

तस्या उपस्थनं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृद्ध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७॥

उस गायत्री का उपस्थान इस प्रकार है- हे गायत्री! तीन लोकरूप प्रथम पाद से आप एक पदो हैं। त्रयी विद्या (तीनों वेद) रूपी द्वितीय पाद से आप द्विपदा हैं। प्राण, अपान और व्यान रूपी तृतीय पाद से आप त्रिपदा हैं तथा तुरीय पाद से आप चतुष्पदी हैं। इन सभी से ऊपर निरुपाधिरूप से आप पदरहित अर्थात्

निर्गुण हैं; क्योंकि आपको किन्हीं साधनों से नहीं जाना जा सकता है। सभी लोकों के ऊपर स्थित आपके दर्शनीय तुरीय पद को नमन है। यह (संसारगत) पापरूपी शत्रु अपने कार्य में सफलता न प्राप्त करे। इस तरह से विद्वान् व्यक्ति जिससे द्वेष करता हो, 'उसकी कामना पूरी न हो' इस प्रकार उपस्थान करे अथवा 'मैं' इस वस्तु विशेष को प्राप्त करूँ, इस कामना से उपस्थान करे॥ ७॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदिह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्संदहत्येवꣳ हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धःपूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥ ८॥

विदेहराज जनक ने (अश्वतराश्व के पुत्र) बुडिल आश्वतराश्वि से यह कहा था कि तुमने अपने आपको गायत्री महाविद्या का ज्ञाता कहा था, फिर हाथी बनकर भार क्यों वहन करते हो? ऐसा सुनकर उसने कहा- हे सम्राट्! मैं इस (गायत्री महाशक्ति) का मुख नहीं जानता था। (तदनन्तर जनक ने कहा-) इस (गायत्री महाशक्ति) का मुख 'अग्नि' है। जिस प्रकार अग्नि में जो भी (ईंधन) डाला जाता है, वह सब भस्म हो जाता है, ठीक उसी प्रकार गायत्री विद्या के निष्णात व्यक्ति को विविध कर्म करने पड़े हों, तब भी सभी पापों को जलाकर (शुद्ध कर्म भावना से) शुद्ध, पवित्र, जरा रहित-अजर और अमर हो जाता है॥

॥ पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् । ॐ ३ क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृत ꣳ स्मर। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १॥

सत्यरूपी ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय स्वर्णपात्र से आच्छादित है। हे विश्व के पोषक सूर्यदेव ! सत्य धर्म के दर्शन के लिए मैं उसे देख सकूँ, इसलिए आप उस (पर से) आवरण को हटा दें। हे पूषन् (पोषणकर्ता) ! हे एकर्षे (सर्वद्रष्टा) ! हे यम! हे सूर्य! हे प्राजापत्य! आप अपनी रश्मियों को समेटकर तेज को कम कर लें, जिससे आपका जो अतिकल्याणकारी रूप है, उस रूप को मैं देख सकूँ। यह जो आदित्यमण्डल में स्थित पुरुष है, वह अमृतस्वरूप मैं ही हूँ। प्राणवायु इस बाहर की वायु को तथा यह शरीर भस्मावशेष होकर पृथ्वी को प्राप्त करे। यह अमृत (आत्मा) आपको समर्पित है। हे प्रणवरूप विश्वकर्ता ! स्मरण करें (मेरा ध्यान रखें)। मैंने जो भी कर्म किया है, उसका स्मरण करें। हे क्रतुरूप (जीवात्मा) ! जो भी स्मरण करने योग्य है, उसी का स्मरण करें। किये हुए कृत्य का स्मरण करें। हे अग्निदेव ! आप हमें कर्मफल की प्राप्ति हेतु सुन्दर पथ (देवयान मार्ग) से ले चलें। हे देव ! आप हमारे सभी कर्मों को जानने वाले हैं। हमारे कुटिल पापों को दूर करें (नष्ट करें)। हम आपको बार-बार नमन करते हैं॥ १॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

जो ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ को जानने में सक्षम है, वह अपनी जाति में ज्येष्ठ(बड़ा) एवं श्रेष्ठ है। जो भी व्यक्तिइस तरह से (ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ की) उपासना करता है, वह व्यक्ति अपनों के बीच में तथा जिन लोगों के बीच चाहता है, उन सभी में श्रेष्ठता और महानता को प्राप्त करता है॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद॥ २ ॥

जो वसिष्ठ (श्रेष्ठता) को जानता है, वह स्वजनों के बीच में वसिष्ठ (श्रेष्ठ) होता है। वाणी ही श्रेष्ठ है। जो (व्यक्ति) इस तरह से वाणी की उपासना करता है, वह अपने आत्मीय जनों में और जिनके प्रति उसकी विशेष चाह (स्नेह) है, उन सभी में वसिष्ठ (श्रेष्ठ) होता है॥ २॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥ ३ ॥

जो प्रतिष्ठा को जानने में समर्थ है, वह देश-काल की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता दोनों स्थितियों में प्रतिष्ठित होता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि नेत्र ही समान अथवा असमान देश-काल में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार से जानने वाला (व्यक्ति) अपनी इच्छा के द्वारा समान अथवा असमान परिस्थितियों में प्रतिष्ठित होता है॥ ३ ॥

यो ह वै सम्पदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै सम्पच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः सꣳहास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४॥

जो सम्पद् (दैवी सम्पदा) को जानने में समर्थ है, वह अपनी इच्छित कामनाओं को पूर्ण करता है। श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योंकि श्रोत्र में ही समस्त वेद भली-भाँति समाये हुए हैं। जो इस प्रकार से जानता हुआ, जिस भोग की इच्छा करता है, वह उसे पूर्णरूप से प्राप्त करता है॥ ४॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳस्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

जो आयतन (आश्रय) को जानने वाला है, वह स्वयं अपने लोगों के लिए और दूसरों के लिए भी आयतन (आश्रय) रूप होता है। मन ही आयतन है, जो भी (व्यक्ति) इस प्रकार जानता है, वह स्वजनों और अन्य दूसरे लोगों को भी आश्रय प्रदान करता है॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजापतिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति प्रजापति (प्रजनन सामर्थ्य) को जानता है, वह प्रजा और पशुओं के रूप में प्रजात अर्थात् वृद्धि को प्राप्त करता है। रेतस् ही प्रजापति है, जो इस प्रकार से जानता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त होता है॥ ६॥

ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति॥ ७॥

वागादि समस्त प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ', इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा जी के पास पहुँच कर पूछने लगे कि हममें से कौन वरिष्ठ (श्रेष्ठ) है? प्रजापति ने कहा- तुममें से जिसके बाहर निकल जाने पर यह शरीर अधिक पापी अर्थात् अपवित्र माना जाता है, वही तुममें से श्रेष्ठ है॥ ७॥

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८॥

सर्वप्रथम वाणी ने शरीर को छोड़ दिया। उस (वागिन्द्रिय) ने एक वर्ष तक बाहर रहने के पश्चात् वापस आकर पूछा- मेरे अभाव में तुम सब कैसे जीवित रहे? यह सुनकर उन्होंने कहा- जिस प्रकार मूक व्यक्ति वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से श्वसन क्रिया सम्पन्न करते, चक्षु से देखते, कान से श्रवण करते हैं, मन से जानते हैं और रेतस् (वीर्य) से प्रजा की वृद्धि करते हैं (जीवित रहते हैं), उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। ऐसा श्रवण कर वागिन्द्रिय ने शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ ८॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९॥

(वाणी के पश्चात्) चक्षु एक वर्ष के लिए शरीर से बाहर चले गये। एक वर्ष के अनन्तर लौटे और बोले -'तुम मेरे बिना किस प्रकार जीवित रह सके'? उन्होंने कहा- जैसे अन्धे व्यक्ति नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया सम्पन्न करते, वागिन्द्रिय से बोलते, श्रोत्र से श्रवण करते, मन से मनन करते और रेतस् से प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं, उसी तरह हम भी जीवित रहे। नेत्रों ने इस प्रकार सुनते हुए शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ ९॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १०॥

चक्षु के उपरान्त श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहते हुए, वापस आकर वागादि अन्य इन्द्रियों से पूछा- तुम सब मेरे बिना कैसे जीवन धारण किये रहे? तब उन समस्त इन्द्रियों ने कहा- 'जिस प्रकार बधिर व्यक्ति कानों से श्रवण न करते हुए भी प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए, मन से जानते हुए और रेतस् से सन्तान की उत्पत्ति करते हुए जीवन धारण किए रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे'। यह सुनकर श्रोत्र ने पुनः शरीर में प्रवेश किया॥ १०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

इसके बाद मन ने शरीर को छोड़ दिया। एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा कि तुम मेरे बिना कैसे जीवन धारण करने में समर्थ रहे? तब उन (इन्द्रियों) ने कहा- जैसे पागल (मुग्ध) पुरुष मन से न जानने के कारण अज्ञानी की भाँति रहते हुए भी प्राणों से श्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्पन्न करते हैं, कानों से श्रवण करते हैं, चक्षु से देखते हैं, वाणी से बोलते हैं और रेतस् (वीर्य) से प्रजा (सन्तति) उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। ऐसा सुनकर मन ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ ११ ॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

मन के बाद रेतस् ने शरीर से उत्क्रमण किया। उस (रेतस्) ने भी एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा- मेरे बिना तुम कैसे, किस प्रकार जीवित रहे? तब उन इन्द्रियों ने कहा- जैसे नपुंसक व्यक्ति रेतस् के अभाव में सन्तान न उत्पन्न करते हुए भी प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए, कानों से श्रवण करते हुए और मन से मनन करते हुए (जीवन धारण किए रहता है), उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। इस प्रकार सुनकर रेतस् (वीर्य) ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ १२ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशंकून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् प्राण शरीर से उत्क्रमण करने को तत्पर हुए। जैसे सिंधु देश का श्रेष्ठ अश्व पैर बाँधने के खूँटे को उखाड़ डालता है, वैसे ही प्राण ने सभी वागादि इन्द्रियों को अपने स्थान से विचलित कर दिया। उन समस्त वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा- भगवन्! आप शरीर से बाहर न निकलें, आपके अभाव में हम जीवित नहीं रह सकते। तदनन्तर (उस) प्राण ने कहा- अच्छा, तुम सभी मुझे बलि (भेंट) प्रदान किया करो। इन्द्रियों ने तथास्तु कहते हुए उसे आश्वस्त किया॥ १३ ॥

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

उस वागिन्द्रिय ने कहा- मुझमें जो श्रेष्ठता है, अब तुम ही उस वसिष्ठ गुण से सम्पन्न हो। ऐसे ही नेत्र ने भी कहा- मैं जो प्रतिष्ठा रूप हूँ, अब तुम ही उस प्रतिष्ठा के गुण से सम्पन्न हो। श्रोत्र ने भी कहा- मैं जो सम्पदा रूप हूँ, अब तुम ही उस सम्पदा के गुण से युक्त हो। (तत्पश्चात्) मन ने कहा- मैं जो आश्रय रूप हूँ, अब तुम ही उस आश्रय के गुणों से सम्पन्न हो। (तदनन्तर) रेतस् ने कहा- मैं जो सन्तानोत्पत्ति कर्त्ता हूँ, अब तुम ही उस प्रजा की उत्पत्ति के गुणों से सम्पन्न हो। (इसके बाद) प्राण ने प्रश्न किया कि मेरा अन्न और वस्त्र क्या होगा? तब उन वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा- कीट-पतंगादि से लेकर जितने देहधारी हैं, वे सब तुम्हारे अन्न होंगे और जल ही तुम्हारा उपवीत होगा। प्राण के इस अन्न को इस तरह से जानने वाले का भक्षित अन्न अभक्ष्य नहीं होता। जल को वस्त्र रूप में जानने वाले मनीषीगण जल का आचमन करके ही भोजन ग्रहण करते हैं। प्राण को वस्त्र से रहित नहीं होने देते॥ १४॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमार३ इति स भो३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥ १॥

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पांचालों की सभा में पहुँचकर सेवकों द्वारा परिचर्या कराते हुए जीवल के पुत्र प्रवाहण के समीप आया। श्वेतकेतु को देखकर प्रवाहण ने 'ओ कुमार!' कहते हुए बुलाया। वह बोला- 'भो!'(क्या है?)। प्रवाहण ने प्रश्न किया-क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है? श्वेतकेतु ने कहा- 'हाँ'॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथासौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्याः हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि ऋषेर्वचः श्रुतम् द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥ २॥

(प्रवाहण ने पूछा-) प्रजा (जीवात्मा) शरीर को त्यागने के पश्चात् भिन्न-भिन्न मार्गों से गमन करती है, क्या तुम यह जानते हो? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया- 'नहीं' । (राजा ने पुनः प्रश्न किया-) वह पुनः इस लोक में आती है, तो क्या यह तुम्हें ज्ञात है? श्वेतकेतु ने फिर कहा 'नहीं'। (राजा ने फिर प्रश्न किया-) इस तरह असंख्यों मरकर गये हुए प्राणियों के गमन करने से वह लोक भरता क्यों नहीं? उसने उत्तर दिया 'नहीं जानता।' (राजा ने फिर पूछा-) कौन सी आहुति प्रदान करने से आपः तत्त्व ही प्राणी रूप में होकर उठने एवं बोलने में समर्थ हो जाता है? उसने उत्तर दिया- नहीं जानता। (प्रश्न पूछा गया-)देवयान मार्ग का कर्मरूपी साधन अथवा पितृयान का कर्मरूपी साधन कैसे प्राप्त होता है? क्या तुमने ऋषियों की यह वाणी सुनी है कि पितरों एवं देवताओं के इस प्रकार के दो मार्ग हैं। ये दोनों मार्ग मनुष्य से सम्बन्ध रखने

वाले हैं। इन दोनों मार्गों से गमन करने वाला जगत् ठीक प्रकार से गमन करता है, साथ ही ये मार्ग पिता और माता अर्थात् (द्युलोक और पृथ्वी लोक) के मध्य में हैं। ऐसा सुनने के पश्चात् श्वेतकेतु ने कहा- मैं इनमें से एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं जानता हूँ॥ २॥

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तꣳहोवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोचदिति कथꣳ सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतिकान्युदाजहार ॥ ३॥

इसके पश्चात् राजा ने श्वेतकेतु से रुकने के लिए निवेदन किया, लेकिन वह कुमार राजा के द्वारा की गई प्रार्थना की उपेक्षा करके चला गया। वह कुमार अपने पिता के समक्ष आकर बोला- आपने यह कहा था कि तुझे सभी विषयों की शिक्षा दे दी गयी है? (ऐसा सुनकर श्वेतकेतु के पिता ने कहा-) हे श्रेष्ठ बुद्धि वाले! क्या हुआ? कुमार ने कहा- उस (राजा) ने मुझसे पाँच प्रकार के प्रश्न पूछे थे; किन्तु मैं उनमें से एक का भी उत्तर नहीं दे सका। पिता ने पूछा- वे कौन से प्रश्न थे? पुत्र ने 'ये थे' इस प्रकार कहते हुए उन सभी प्रश्नों के प्रारूप बता दिये॥ ३॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंचन वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तꣳ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥ ४॥

श्वेतकेतु से उसके पिता ने कहा कि हे तात! हम जो कुछ भी जानते थे, वह सभी तुमको बता दिया था। अब हम दोनों ही उस क्षत्रिय बन्धु के पास चलकर ब्रह्मचर्य के व्रत को धारण करते हुए उसके समक्ष निवास करेंगे। पुत्र ने कहा- 'आप ही उनके पास जाएँ।' ऐसा सुनकर वह गौतम (श्वेतकेतु के पिता) जहाँ जैवलि प्रवाहण का कक्ष था, वहाँ पहुँचे। उसके लिए आसन प्रदान करते हुए राजा ने (सेवकों से) जल मँगाकर अर्घ्य समर्पित किया। तत्पश्चात् बोले मैं पूज्य गौतम को वर प्रदान करता हूँ अर्थात् आपका प्रयोजन पूर्ण करने के लिए तत्पर हूँ॥ ४॥

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति॥

उस (श्वेतकेतु के पिता) ने कहा- हे राजन्! आपने वर प्रदान करने के लिए प्रतिज्ञा की है। उसके अनुसार मैं कहता हूँ कि कुमार (श्वेतकेतु) से जो प्रश्न किये थे, वही प्रश्न आप मुझसे पूछने की कृपा करें॥ ५॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति॥ ६॥

राजा प्रवाहण ने कहा- हे गौतम! वह वर तो देवताओं के श्रेष्ठ वरों में से है। इसलिए आप मनुष्यों से सम्बन्धित वरों में से कोई भी वर माँग लो॥ ६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास॥ ७॥

गौतम ने कहा- आप को मालूम है कि मेरे पास तो वह सभी कुछ है; जैसे- स्वर्ण, गौ, अश्व,

परिचारिकाएँ, परिवार एवं वस्त्राभूषण आदि। इसलिए आप श्रेष्ठ एवं अनन्त फलों से युक्त तथा कभी भी नष्ट न होने वाला वर प्रदान करें। (राजा ने कहा-) हे गौतम! तुम शास्त्र द्वारा कही हुई रीति से उसे प्राप्त करने की इच्छा करो। (गौतम ने कहा-) 'अच्छा' ठीक है। मैं आपके समीप में शिष्य भाव से शिक्षा प्राप्ति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। पूर्वकाल में ब्राह्मण वाणी से ही क्षत्रिय आदि के पास उपस्थित होते थे। इस प्रकार गौतम भी कथन मात्र करके उस गुरु के समीप शिष्यभाव से रहने लगे॥ ७॥

स होवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति॥ ८॥

राजा ने कहा- हे गौतम! जैसे तुम्हारे पूर्वजों ने (पितामह आदि ने) हमारे महान् पूर्वजों के अपराध को स्वीकार नहीं किया था, उसी प्रकार तुम भी मेरी अवज्ञा न करना। यह विद्या इससे पहले और किसी भी ब्राह्मण के पास नहीं रही। इस श्रेष्ठ विद्या को मैं तुम्हारे लिए कहता हूँ; क्योंकि तुम्हारी नम्रता युक्त इस प्रकार की प्रार्थना का निषेध करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता॥ ८॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति॥ ९॥

हे गौतम! यह द्युलोक ही अग्नि है। आदित्य ही उस (अग्नि) की समिधा (ईंधन) है। रश्मियाँ ही धूम्र (धुआँ) हैं, दिन ही ज्वालाएँ हैं, दिशाएँ ही अङ्गार हैं तथा अवान्तर दिशाएँ ही चिनगारियाँ हैं, ऐसे महान् गुणों से युक्त द्युलोक रूपी इस अग्नि में देवताओं के समूह श्रद्धारूप आहुतियाँ प्रदान करते हैं, उन आहुतियों से ही राजा सोम का प्रादुर्भाव होता है॥ ९॥

पर्जन्यो वाग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्लादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति॥ १०॥

हे गौतम! पर्जन्य (अर्थात् मेघ) ही अग्नि है। संवत्सर ही उसकी समिधा है, अभ्र (बादल) ही धुआँ है, विद्युत् ही ज्वाला के रूप में है, अशनि (अर्थात् इन्द्र का वज्र) ही अङ्गारे हैं और मेघ की गर्जना ही विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) हैं। इस प्रकार इस अग्नि में समस्त देवता, सोम राजा (वाष्प) की आहुति देते हैं, इस आहुति से ही वर्षा होती है॥ १०॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमाङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ संभवति॥ ११॥

हे गौतम! यह लोक ही अग्नि है। इस (अग्नि) की समिधा पृथ्वी है, अग्नि धूम्र है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार एवं नक्षत्र ही चिनगारियाँ हैं। इस दिव्य अग्नि में देवगण वर्षा की आहुतियाँ प्रदान करते हैं। उन आहुतियों से ही श्रेष्ठ अन्न का प्रादुर्भाव होता है॥ ११॥

पुरुषो वाऽग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति॥ १२॥

हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुँह ही समिधाएँ हैं। प्राण ही धुआँ है, वाणी ही ज्वाला है, चक्षु ही अङ्गारे हैं और श्रोत्र ही विस्फुल्लिङ्ग (चिनगारी) हैं। इस (श्रेष्ठ दिव्य) अग्नि में ही समस्त देवता अन्न का होम करते हैं। उस (अन्न) की आहुति से ही रेतस् (वीर्य) प्रकट होता है॥ १२॥

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते॥ १३॥

हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ (उत्पादक अंग) ही समिधा है, लोम समूह ही धुआँ है, योनि ही ज्वाला है, सहवास ही अङ्गारे और आनन्द ही चिनगारी है। इस अग्नि में सभी देव समूह रेतस् (वीर्य) की आहुति करते हैं। उस यजन कृत्य से पुरुष की उत्पत्ति होती है। वह जीवन धारण किये रहता है, जब तक कर्म शेष रहते हैं, तब तक ही जीवित रहता है और जब मृत्यु को प्राप्त होता है॥ १३॥

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति॥ १४॥

तब इसे अग्नि के समक्ष ले जाते हैं। उस (आहुतिभूत पुरुष) का अग्नि ही अग्निरूप होता है, समिधाएँ ही समिधा रूप होती हैं। धूम्र ही धुआँ रूप होता है, ज्वाला ही ज्वाला होती है, अङ्गार ही अङ्गारे होते हैं और चिनगारियाँ ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। इस अग्नि में देवता लोग पुरुष की ही आहुति देते हैं। उस आहुति द्वारा ही मनुष्य तेजोमय रूप वाला होता है॥ १४॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाः सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥ १५॥

इस प्रकार जो (गृहस्थ और वानप्रस्थी) इस (पञ्चाग्नि विज्ञान) को जानते हैं और अरण्य (वन) में श्रद्धासिक्त हृदय से सत्य (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे आर्चिषी अवस्था अथवा ज्योति के अभिमानी देव को प्राप्त करते हैं, इससे (आर्चिषी से) वे आह्निक को अर्थात् दिन के अभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं, आह्निक से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण वाले छः महीनों को, षण्मासों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, आदित्य से वैद्युत (विद्युत् सम्बन्धी देवता) को, वैद्युत से एक मानस पुरुष इन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। वे उस ब्रह्मलोक में दीर्घकाल तक निवास करते हैं। उनका पुनरावर्त्तन (अर्थात् पुनर्जन्म) नहीं होता॥ १५॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार जो यज्ञ, दान और तपश्चर्या द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं, वे धूम (धूम के अधिष्ठाता देवता) को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि देवता को, रात्रि से कृष्ण पक्ष (कृष्णपक्ष के अधिष्ठाता देवता)को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन सूर्य वाले छः महीनों को, छः मासों से पितृलोक को एवं पितृलोक से चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं। वहाँ (चन्द्रलोक में) उस अन्न को देवतागण उसी प्रकार ग्रहण (भक्षण) करते हैं, जिस प्रकार ऋत्विक्गण सोम का पान करते हैं, जब उनके (जीवों के) पुण्यफल (कर्मफल) क्षीण हो जाते हैं, तब वे आकाश को प्राप्त करते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथ्वी को अन्नरूप में प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् पुरुष रूपी अग्नि में (उन अन्नों की) आहुति दी जाती है, जिसके द्वारा वे लोकों के उत्थानकर्त्ता होकर स्त्री रूपी अग्नि में प्रकट होते हैं। इस प्रकार (विभिन्न लोकों को बार-बार प्राप्त करते हुए) ये जीव घूमते ही रहते हैं; किन्तु जो इन दोनों (उत्तर-दक्षिण) मार्गों को नहीं जानते, वे कीट, पतङ्ग और दन्दशूक (मच्छर) आदि होते हैं॥ १६॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ संनीय जुहोति-यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳ स्वाहा॥ १ ॥

जो महत्ता प्राप्त करना चाहता हो, वह आदित्य के उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ में बारह दिन के अन्दर किसी शुभ तिथि में उपसद्व्रती (पयोव्रती) होकर गूलर काष्ठ से निर्मित कटोरे या चमस में सर्वौषधि और फल आदि को एकत्र करके, यज्ञ वेदी का परिसमूहन (सफाई) और उपलेपन (लिपाई) सम्पन्न करे। तदुपरान्त अग्नि स्थापन करे और वेदी के चारों ओर कुश-आसन बिछाकर गृह्यसूत्र में वर्णित पद्धति से घृत को संस्कारित करके, जिसका नाम पुरुष वाची हो, उस नक्षत्र (हस्त, पुष्य आदि नक्षत्र) में मन्थ (औषधियों का मिश्रित रूप) को (स्रुवा) के बीच में रखकर आहुति प्रदान करे। आहुति के साथ इस मन्त्र के माध्यम से प्रार्थना करे- हे जातवेदा (अग्ने)! मनुष्यों की कामनाओं में बाधा डालने वाले

तुममें प्रतिष्ठित जितने तिर्यग् (कुटिल) देवगण हैं, उन सभी देवों को मैं आहुति प्रदान करता हूँ। वे सभी तृप्त होकर मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। इन देवताओं के अतिरिक्त जो तिरश्ची (कुटिल) देवियाँ हैं, उनको भी मैं घृताहुति प्रदान करता हूँ। वे भी मेरी कामनाओं को पूर्ण करें॥ १॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति॥ २॥

(साधक या याजक) 'ज्येष्ठाय स्वाहा', 'श्रेष्ठाय स्वाहा' इन मन्त्रों से यज्ञ में आहुति प्रदान करता हुआ स्रुवा के अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है, 'प्राणाय स्वाहा', 'वसिष्ठायै स्वाहा' इन मन्त्रों से आहुति प्रदान करता हुआ संस्रव (स्रुवा में बचे घृत) को मन्थ में डाल देता है, 'वाचे स्वाहा', 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इन मन्त्रों से अग्नि में हवन करते हुए संस्रव को मन्थ में डाल देता है, 'चक्षुषे स्वाहा', 'सम्पदे स्वाहा' मन्त्र बोलते हुए आहुति करके अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है, 'श्रोत्राय स्वाहा', 'आयतनाय स्वाहा' उच्चारण करते हुए आहुति प्रदान करके बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है, 'मनसे स्वाहा', 'प्रजात्यै स्वाहा' मन्त्रों से आहुति करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है, 'रेतसे स्वाहा' मन्त्र के साथ आहुति देकर अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है॥ २॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति॥ ३॥

'अग्नये स्वाहा' मन्त्र से अग्नि में आहुति प्रदान करता हुआ अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है। सोमाय स्वाहा, भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, भूताय स्वाहा, भविष्यते स्वाहा, विश्वाय स्वाहा, सर्वाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए संस्रव (अवशिष्ट घृत) को मन्थ में डाल देता है॥ ३॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति॥ ४॥

इसके पश्चात् जो मन्थ (मिश्रित द्रव्य) और संस्रव (टपकाया हुआ घृत) पात्र में रखा है, उसे स्पर्श करते हुए 'भ्रमदसि' 'ज्वलदसि' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ कहता है कि आप (प्राणस्वरूप होने के कारण सर्वत्र) भ्रमणशील हैं, (अग्निरूप होने से) जाज्वल्यमान हैं, (ब्रह्मरूप होने से) पूर्ण हैं, (आकाश रूप होने से) स्तब्ध हैं,(सबके मित्र होने के कारण) जगद्रूप एक सभा तुल्य हैं। आप ही हिङ्कृत और हिङ्क्रियमाण हैं। आप ही उद्गीथ और उद्गीयमान हैं। आप ही श्रावित और प्रत्याश्रावित हैं अर्थात् आपको ही अध्वर्यु और आग्नीध्र अभिषुत करते हैं, आप ही मेघ में सम्यक् प्रकार से (विद्युत् रूप में) प्रदीप्त हैं। आप ही विभु (विभिन्न रूपों वाले) और प्रभु (समर्थ) हैं। आप ही अन्न, ज्योति और मृत्यु हैं। आप ही सबके संहारक होने से स्वयं प्रलय स्वरूप हैं॥ ४॥

अथैनमुद्यच्छत्यामꣳ स्यामꣳ हि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स माꣳ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति॥ ५॥

इसके पश्चात् मन्थ को पात्र सहित हाथ से उठाता हुआ- 'आमंसि आमंहि' आदि मन्त्रों का उच्चारण करे। कहे- आप सर्वज्ञ हैं, हम आपकी महिमा को भली-भाँति जानते हैं, आप (प्राण) ही राजा, ईशान और अधिपति हैं, हमें भी आप राजा, ईशान और अधिपति बनाएँ॥ ५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यं मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीर्भूः स्वाहा भर्गो देवस्य धीमहि मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः मधु द्यौरस्तु नः पिता भुवः स्वाहा धियो यो नः प्रयोदयान्मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ ३ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः स्वः स्वाहेति सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति॥ ६॥

इसके बाद उस मन्थ को चार ग्रासों में मन्त्रों के साथ भक्षण करे। पहले 'तत्सवितुर्वरेण्यं' आदि प्रथम मन्त्र का उच्चारण करे, जिसका अर्थ है-सविता के उस वरेण्य (वरण करने योग्य) पद का मैं ध्यान करता हूँ। 'मधुवाता ऋतायते'- वायु मधुर होकर बह रही है। 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' - नदियाँ मधु रस प्रवाहित कर रही हैं। 'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः'- ओषधियाँ हमारे लिए मधुर हों। इसके पश्चात् 'भूःस्वाहा' कहकर मन्थ का प्रथम ग्रास ग्रहण करे। इसके उपरान्त- 'भर्गो देवस्य धीमहि'- हम सविता के पापनाशक दिव्य तेज को धारण करते हैं। 'मधुनक्तमुतोषसो'-रात्रि और दिवस मधुर हों। 'मधुमत्पार्थिवꣳरजः'-पृथिवी के रजकण मधुर हों। 'मधु द्यौरस्तु नः पिता,'-पिता द्युलोक हमारे लिए मधुर हों। इतना बोलकर 'भुवः स्वाहा' मन्त्र के साथ मन्थ का द्वितीय ग्रास ग्रहण करे। तब- 'धियो यो नः प्रचोदयात्'- वे सविता देवता हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें। 'मधु मान्नो वनस्पतिः' वनस्पति हमारे निमित्त (सोम मय) हो। 'मधुमाँ३ अस्तु सूर्यः'- सूर्य हमारे लिए मधुर हो। 'माध्वीर्गावो भवन्तु नः'- गौएँ मधुर दुग्ध प्रदात्री हों। 'स्वः स्वाहा'- उच्चारण करके मन्थ का तृतीय ग्रास भक्षण करे। इसके पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री मन्त्र का

उच्चारण करके फिर - 'अहमेवेदꣳ सर्वं भूयासम्'- 'मैं ही सब कुछ हो जाऊँ' कह कर 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' मन्त्र के साथ (समस्त मन्थ का अवशिष्ट) चौथा ग्रास ग्रहण करे। इसके पश्चात् हस्तप्रक्षालन करके वेदी के पृष्ठ (पश्चिम) भाग में पूर्वाभिमुख होकर शयन करे। फिर प्रात:काल सूर्योपस्थान करते हुए कहे- आप समस्त दिशाओं रूपी पंखुड़ियों के आश्रय रूप कमल हैं, मैं भी मनुष्यों में कमल तुल्य होऊँ। इसके पश्चात् उसी मार्ग से वापिस लौटकर अग्नि (वेदी) के पश्चिम ओर बैठकर (अगले मन्त्र) वंश को जपे॥ ६॥

तꣳ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ७॥

इस मन्थ प्रक्रिया (विशिष्ट हवन पद्धति) का उपदेश अरुण पुत्र उद्दालक ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य को करते समय कहा था कि इस मन्थ को यदि कोई सिंचन के लिए (पूरी तरह) सूखे वृक्ष पर डाल देगा, तो उसमें से कोपलें फूटकर शाखाएँ निकल आएँगी॥ ७॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ८॥

इस मन्थ का उपदेश वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को करते हुए कहा था- यदि कोई सिंचन के निमित्त सूखे वृक्ष पर भी इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें नये पत्ते व शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगी॥ ८॥

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ९॥

मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य भागवित्ति चूल के प्रति इस मन्थ का उपदेश करते हुए कहा था कि यदि कोई सींचने के लिए ठूँठ वृक्ष पर भी इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें से पत्ते फूट पड़ेंगे और शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगी॥ ९॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ १०॥

भागवित्ति चूल ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण के प्रति उपदेश करते हुए, इस मन्थ के विषय में कहा था- यदि कोई सिंचन के लिए बिल्कुल शुष्क वृक्ष पर इसे (मन्थ को)डालेगा, तो उसमें से पत्ते व शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगे॥ १०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ११॥

जानकि आयस्थूण ने सत्यकाम जाबाल के प्रति इस मन्थ का उपदेश करते समय कहा था- यदि कोई सींचने हेतु सूखे वृक्ष पर इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें कोपलें और शाखाएँ निकल आएँगी॥ ११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतन्नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्॥ १२॥

इस मन्थ का उपदेश सत्यकाम जाबाल ने अपने अन्तेवासी (आश्रमवासी) शिष्यों के प्रति किया था

और कहा था कि यदि कोई सींचने के लिए शुष्क वृक्ष पर भी इसको डाल देगा, तो वह कोपल और शाखाओं से युक्त हो जायेगा। यह मन्थविधि अपुत्र और अशिष्य को नहीं बतलानी चाहिए॥ १२॥

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति॥ १३॥

यह मन्थकर्म चार औदुम्बर काष्ठ के बने पात्रों द्वारा सम्पन्न होता है। ये चार पात्र-स्रुवा, चमस, समिधा उपमन्थनी और इध्म अर्थात् समिधा हैं। इसमें दस प्रकार के ग्रामीण धान्य प्रयुक्त होते हैं। ये धान्य- व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (साँवा), प्रियङ्गु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (एक प्रकार का धान) और खलकुल (कुलथी) हैं। इन सभी को पीसकर मधु और घृत डालकर आहुति दी जाती है॥ १३॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

इस ब्राह्मण में प्राणि-जगत् की आधारभूता प्रजनन प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। यह सृष्टि यज्ञमय है, इसलिए सृष्टिचक्र को गतिशील रखने वाली प्रजनन-प्रक्रिया भी ऋषि की दृष्टि से यज्ञीय कर्मानुशासन का अंग है। इसे इसी भाव से समझा और अपनाया जाना चाहिए-

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः॥ १॥

इन पंचभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस आपः (जल) है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुष्प हैं, पुष्पों का रस (सार) फल हैं, फलों का रस पुरुष है और पुरुष का सार तत्त्व रेतस् (वीर्य) है॥ १॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳ ससृजे ताꣳसृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत्॥ २॥

प्रजापति ने इच्छा की कि इस (पुरुष अथवा) रेतस् के लिए आश्रय तैयार करूँ। उसने स्त्री (नारीत्व) का सृजन किया तथा आधार रूप में उसकी उपासना की। इसीलिए आज भी स्त्री आधार रूप में उपासित है। उस (प्रजापति) ने अपनी ग्रावा (शिलाखण्ड) जैसी सुदृढ़ सामर्थ्य से उस (स्त्री जाति) को परिपूर्ण किया। उस स्थापना से स्त्री के स्त्रीत्व की संसार में प्रतिष्ठा हुई ॥ २॥

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳसुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते॥ ३॥

ऋषि देवमानव उत्पन्न करने वाले प्रजनन यज्ञ के उपादानों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

नारी की जननेन्द्रिय ही यज्ञवेदी है, वहाँ स्थित लोम ही बर्हि (कुश का आसन) है, मध्यभाग का चर्म अधिषवण फलक है, मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है और मुष्क (पार्श्व में स्थित दो मांस पिण्ड) समिधा है। इस प्रकार इस (प्रजनन) यज्ञ का फल वाजपेय यज्ञ के समान होता है। इस प्रकार का ज्ञान रखकर प्रजनन यज्ञ सम्पन्न करने वाला यजमान (पुरुष) स्त्री के पुण्यों को प्राप्त कर लेता है; किन्तु इस प्रकार का ज्ञान न रखकर (भोग बुद्धि से)प्रजनन करने वाले के पुण्यों को स्त्रियाँ प्राप्त कर लेती हैं॥ ३॥

[जो व्यक्ति प्रजनन यज्ञ का महत्त्व समझकर प्रजनन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए निर्धारित मर्यादाओं के अनुसार रतिकर्म में प्रवृत्त होता है, उसे उस यज्ञीय प्रक्रिया की पूर्ति का पुण्य प्राप्त होना स्वाभाविक है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने असंयत कामावेग के कारण रतिक्रिया में प्रवृत्त होता है, तो उसके द्वारा मर्यादा भंग होने के कारण उसका पुण्य क्षीण होता है।]

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लो-कात्प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति॥ ४॥

इस (यज्ञ) विषय के ज्ञाता आरुणि उद्दालक तथा मौद्गल्य और कुमार हारित कहते हैं कि बहुत से ऐसे मरणधर्मा और बुद्धिहीन ब्राह्मण हैं, जो इस प्रजनन यज्ञ को इस (पवित्र) रूप में नहीं जानते। वे निरिन्द्रिय और सुकृतहीन होकर, इस रतिकर्म में आसक्त होकर परलोक (श्रेष्ठलोक) से पतित हो जाते हैं। पत्नी का ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व ही यदि कोई प्राणतत्त्वोपासक दिन अथवा रात्रि में न्यूनाधिक रूप में स्वतः स्खलित हो जाते हैं, तो उन्हें (अगले मंत्र में उल्लिखित) प्रायश्चित्त करना चाहिए॥ ४॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदप इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥ ५॥

उस गिरे हुए (अपने रेतस्) को अभिमन्त्रित करते हुए उसे हाथ से स्पर्श करे और कहे कि आज यह मेरा वीर्य जो पृथिवी पर गिरा है और पूर्व में भी कभी ओषधि तथा जल में गिरा है (अर्थात् पृथिवी, ओषधि और जल को दूषित किया है), उस वीर्य को मैं फिर से धारण करना चाहता हूँ। इस प्रकार कहने के बाद अनामिका और अङ्गुष्ठ से उसे उठाकर वक्षस्थल अथवा दोनों भौहों के बीच में लेप करे और कहे- जो यह मेरी (वीर्यरूप) इन्द्रिय शक्ति बाहर चली गई थी, वह पुनः मेरे पास आ जाए। मुझे पुनः अपना तेजस् और सौभाग्य प्राप्त हो। अग्नि देव एवं अन्य देवगण पुनः मेरे शरीर में उचित स्थान पर इसे प्रतिष्ठित कर दें॥ ५॥

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत॥

इसके बाद वह प्रायश्चित्त कर्त्ता जल में अपने प्रतिबिम्ब को देखता हुआ उस (जल) को अभिमन्त्रित

करता हुआ कहे कि देवगण मुझे तेजस्, इन्द्रिय, यश, सम्पदा और सत्कर्म प्रदान करें। इसके पश्चात् स्त्री की प्रशंसा करते हुए कहे कि मेरी यह धर्मपत्नी स्त्रियों में लक्ष्मी स्वरूपा है। तब उस मलरहित वसन अथवा धुले वस्त्र के समान पाप रहिता यशस्विनी स्त्री के पास पुरुष स्वयं भी विकार रहित आच्छादन युक्त होकर जाये, अन्यत्र (काम-वासना से किसी अन्य के पास) न जाए॥ ६॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७॥

वह स्त्री (पत्नी) यदि स्वेच्छापूर्वक स्वयं को समर्पित न करे, तो उसकी आकांक्षाएँ पूरी करके (वस्त्र, आभूषण आदि प्रदान करके) प्रेम प्रदर्शित करे। यदि इसके बाद भी वह सहमत न हो, तो दण्ड का भय दिखाकर सहमत करे। (अपना भाव व्यक्त करते हुए) पुरुष यह समझाये कि सहमत न होने से मैं अपने यश और इन्द्रियों से तुम्हारे यश का हरण कर (स्त्री की ओर से अपने ध्यान एवं इन्द्रियों का लगाव हटा) सकता हूँ। इससे स्त्री अयश हुए की तरह (समर्पित) हो जाती है॥ ७॥

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८॥

पत्नी द्वारा पति के प्रति आत्म समर्पण कर दिये जाने पर पति को चाहिए कि उसे आशीर्वाद प्रदान करे और कहे कि मैं अपनी यश स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे अन्दर यश को स्थापित करता हूँ। इस प्रकार वे दोनों यशस्वी ही होते हैं॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥ ९॥

जब पत्नी सहमत हो जाये, तो उसे अंक में लेकर संयोग के समय यह (अंगात् अंगात् संभवसि आदि) मंत्र जपे अथवा संकल्प करे- हे कामदेव या कामभाव! आप अंग-अंग में संयोग और हृदय (के भावों के साम्य) से प्रकट होते हैं। अतः आप मेरे अङ्गों के साररूप हैं। आप विष बुझे तीर से घायल हरिणी की तरह स्त्री को मदोन्मत्त करके मेरे अधीन बना दें॥ ९॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥ १०॥

यदि पुरुष की यह इच्छा हो कि समागम के समय पत्नी गर्भ धारण न करे, तो वह (पुरुष) पूर्व वर्णित क्रिया करते हुए अभिप्राणन के द्वारा रति क्रिया के समय पहले प्राणन, फिर अपानन क्रिया करे और संकल्प करे, हे स्त्री! मैं अपने रेतस् (ओज या वीर्य) और इन्द्रिय के द्वारा तेरे रेतस् (रज) को ग्रहण करता हूँ। ऐसा करने से स्त्री रज हीन हो जाती है और गर्भ नहीं ठहरता॥ १०॥

[यहाँ प्राणन और अपानन प्रक्रिया क्या है और कैसे की जाती है, यह प्रकरण शोध का विषय है। कुछ आचार्य इसे रतिक्रिया के साथ ऊर्ध्व रेतस् होने के लिए किया गया प्राणायाम कहते हैं।]

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११॥

यदि पुरुष यह आकांक्षा करे कि उसकी पत्नी गर्भ धारण करे, तो पूर्ववत् क्रिया करके पहले अपानन, फिर अभिप्राणन प्रक्रिया सम्पन्न करे। संकल्प करे- 'मैं' अपनी इन्द्रिय के रेतस् (वीर्य या ओज) को तेरे रेतस् में स्थापित करता हूँ। ऐसा करने से गर्भ स्थिर हो ही जाता है॥ ११ ॥

[गर्भ न ठहरने के क्रम में पहले प्राणन और फिर अपानन तथा गर्भ ठहराने के लिए पहले अपानन, फिर प्राणन क्रिया के निर्देश हैं। इसका अभ्यास संभवतः गुरु करा देते रहे होंगे।]

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद् द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति । स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥ १२ ॥

यदि किसी को अपनी नारी के प्रति किसी अन्य पुरुष के अवैध सम्बन्ध होने की शंका हो और वह उस पुरुष को दण्ड देना चाहे, तो कच्चे मिट्टी के पात्र में अग्नि रखे और उसमें उल्टी तरफ तिर्यक् (तिरछे) सरकंडों का बर्हिष् बिछाये, इसके पश्चात् बाणों के आकार की सींकें घृत में भिगोकर चार आहुतियाँ प्रदान करे। प्रत्येक आहुति देते समय उसका नाम लेकर कहे-हे दुष्ट पुरुष! तुमने मेरी जलती हुई अग्नि में आहुति दी है, अतः मैं तेरे प्राण और अपान को खींचता हूँ। मैं तेरे पुत्र, पशु, पुण्य, आशा और पराकाशा (प्रत्याशा) को भी ग्रहण करता हूँ। इस अभिचार कृत्य को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण जिस (परस्त्रीगामी) को शाप देता है, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह पुण्य हीन होकर परलोकवासी हो जाता है। अतः किसी ब्रह्मनिष्ठ (की पत्नी) के प्रति इस प्रकार का निकृष्ट (परस्त्री गमन का) भाव कभी मन में भी नहीं लाना चाहिए ॥१२ ॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कꣳसेन पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥ १३ ॥

जब स्त्री रजस्वला हो अर्थात् जब ऋतुकाल प्राप्त हो, तब उसे तीन दिन तक काँसे के पात्र में नहीं खाना चाहिए। चतुर्थ दिन स्नान के पश्चात् साफ-सुथरा और ऐसा वस्त्र धारण करना चाहिए, जो फटा न हो। उस स्त्री को कोई धर्महीन पुरुष (अथवा स्त्री) स्पर्श न करे। तीन रात्रियाँ बीत जाने पर उस स्त्री को धान कूटने (जैसे श्रम वाले काम) में लगाया जाना उचित है ॥ १३ ॥

[रजस्वला काल में स्त्री को अधिक शीत-उष्ण तथा श्रम से बचना चाहिए, ताकि मासिक परिशोधन क्रम में काय-ऊर्जा भली प्रकार लग सके। आहार - विहार का संयम भी बरता जाता है। तीन दिन बाद पुनः सामान्य जीवन क्रम प्रारंभ किया जाना उचित है।]

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४ ॥

जो दम्पती यह चाहते हों कि उन्हें गौरवर्ण, एक वेद के ज्ञाता और शतायु पुत्र की प्राप्ति हो, वे दूध और चावल की खीर पकाकर उसमें घृत मिला कर सेवन करें। इससे वे वैसे पुत्र को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं ॥ १४ ॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५॥

जिनकी यह आकांक्षा हो कि वे पिङ्गल वर्ण, दो वेदों के ज्ञाता और शतायु पुत्र की प्राप्ति करें, वे (दम्पती) दही में चावल का मिश्रण करके पकाएँ और उसमें घी मिश्रित करके खायें, इससे वे उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न पुत्र प्राप्ति में समर्थ होते हैं॥ १५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६॥

जिन्हें श्याम वर्ण, अरुण नेत्र और तीन वेदों के ज्ञाता पुत्र की अपेक्षा हो, वे दम्पती जल में चावल मिलाकर भात (ओदन) पकाएँ और उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इससे वे उपर्युक्त गुणों वाले पुत्र प्राप्त करने में सक्षम होते हैं॥ १६॥

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १७॥

जिन्हें विदुषी और पूर्णायुष्य वाली पुत्री की कामना हो, वे दम्पती तिल और चावल की खिचड़ी बनाकर उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इससे वे उपर्युक्त गुणसम्पन्न पुत्री की प्राप्ति में समर्थ हो जाते हैं॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥ १८॥

जिनकी यह इच्छा हो कि मेरा पुत्र प्रख्यात विद्वान्, विद्वानों की सभा में सम्मान पाने वाला कुशल वक्ता, प्रियभाषी और सभी वेदों का ज्ञाता और शतायु हो, वे दम्पती उक्षा या ऋषभ नामक ओषधि के गूदे और चावल का भात (खिचड़ी) पकाकर उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इस क्रिया से वे उपर्युक्त गुण सम्पन्न पुत्र प्राप्ति में सक्षम होते हैं॥ १८॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहानुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति॥ १९॥

इसके पश्चात् चौथे दिन प्रातः (पत्नी द्वारा कूटे हुए चावल से) स्थाली पाक पद्धति से घृत को संस्कारित करके, इन मन्त्रों के साथ आहुतियाँ प्रदान करे- अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा। तत्पश्चात् 'स्विष्टकृत् होमः' के अनन्तर अवशिष्ट चरु को पहले स्वयं ग्रहण करे और बाद में (बचा हुआ) पत्नी को खिला दे। फिर जल से पूरित पात्र को लेकर उस जल से तीन बार पत्नी का अभिषेक करे। अभिषेक करते हुए कहे- हे विश्वपोषक! सुयोग्य पुत्र की कामना करने वाली यह स्त्री, हर्ष युक्त होकर पति के साथ संयोजित हो॥ १९॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति॥ २०॥

इसके बाद इच्छित सन्तान के अनुरूप (विधान-वाली) खीर पत्नी को खिलाने के बाद शयनकाल आ जाने पर पत्नी का आलिङ्गन करता हुआ कहे हे देवी! मैं प्राण हूँ और तुम वाक् हो, मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो; मैं द्यौ हूँ और तुम पृथिवी हो; अतः आओ हम दोनों पुत्र रूपी धन प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करें॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥ २१॥

तत्पश्चात् स्त्री के ऊरुद्वय को पृथक् करके गर्भाधान कृत्य में दोनों (पति-पत्नी) के नियोजित हो जाने पर पुरुष कहे-हे प्रिये! सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तुम्हारे गर्भाशय को समर्थ बनाएँ, जिससे तुम श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दे सको। भगवान् त्वष्टा (भावी सन्तति के) अङ्गों को पुष्ट और सुन्दर बनाएँ। भगवान् प्रजापति मुझमें स्थित होकर तुम्हारे अन्दर वीर्याधान करें। भगवान् धाता तुम्हारे अन्दर गर्भ धारण करें और उसे पोषित करें। हे देवि! तुम स्वयं सिनीवाली हो, अतः गर्भधारण करो, गर्भ धारण करो। अश्विद्वय स्वयं मेरे अन्दर स्थित होकर अपने रश्मि रूपी कमलों की माला को धारण कर तुम्हारे अन्दर गर्भाधान करें॥ २१॥

हिरणमयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति॥ २२॥

दो ज्योतिर्मयी अरणियों से अश्विनीकुमारों ने मन्थन किया था। उस मन्थन से अमृतस्वरूप गर्भ (अग्नि) का प्राकट्य हुआ था। उसी प्रकार हे देवि! उस अमृत स्वरूप गर्भ को हम तेरे अन्दर स्थापित करते हैं, जिससे तुम दशम मास में इसे उत्पन्न कर सको। जिस प्रकार पृथ्वी अग्नि को गर्भरूप में धारण किए हैं, द्यौ इन्द्र को धारण किये हैं, दिशाएँ वायु को धारण किये हैं, उसी प्रकार हे देवि! तुझमें पुत्र रूप गर्भ प्रतिष्ठित करता हूँ॥ २२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वायुः पुष्करिणीꣳसमिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳसहेति॥ २३॥

प्रसवकाल में गर्भिणी स्त्री का अभिमन्त्रित जल से सिंचन करे और कहे-जिस प्रकार वायु पोखरी (सरोवर) के जल को चञ्चल कर देता है, उसी प्रकार हे देवि! तेरा भी यह गर्भ चञ्चल हो जाए और जरायु सहित बहिर्गमन करे। जीव का यह पथ जरायुयुक्त और अवरोध रहित है। हे जीवात्मन्! तुम गर्भ आवरण सहित बाहर निकलो॥ २३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसंद्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणाꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत्कर्मणात्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति॥ २४॥

यहाँ जात कर्म संस्कार का वर्णन प्रस्तुत हुआ है-

उत्पन्न होने के पश्चात् शिशु को गोद में लेकर अग्नि स्थापन करके दही मिला घी काँसे के कटोरे में रखे और उस पदार्थ के कई भाग करके '**अस्मिन्-सहस्रम् ....स्वाहा**' आदि मंत्रों से आहुतियाँ प्रदान करे। मन्त्र का भाव यह है- मैं इस घर में पुत्र रूप समृद्धि को प्राप्त हुआ हूँ। मैं सहस्रों मनुष्यों का पोषक होऊँ। इसी प्रकार इस पुत्र के घर में भी कभी सन्तति, सम्पत्ति और पशुओं की कमी न हो। मैं अपने प्राणों को तुझमें मानसिक रूप से होम करता हूँ। इस (यज्ञादि-कर्म) में मैंने जो कुछ अधिक अथवा कम किया है, विद्वान् अग्निदेव स्विष्टकृत् होकर हमारे उस कर्म को न्यून और अधिक के दोष से मुक्त करके स्विष्ट और सुहुत करें॥ २४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधिमधुघृतꣳ संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति॥ २५॥

स्विष्टकृत् होम के पश्चात् पिता शिशु के दाहिने कान को अपनी ओर करके उसमें तीन बार 'वाक्, वाक्, वाक्' कहे। इसके बाद घी, दही और मधु मिला कर उसे स्वर्ण निर्मित चम्मच में लेकर शिशु को चटाए। चटाते समय कहे कि मैं तुझे भूः, भुवः और स्वः में प्रतिष्ठित करता हूँ॥ २५॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति॥ २६॥

इसके बाद उस शिशु का नामकरण करे। तुम 'वेद' हो- यह कहे, वेद ही उस बालक का गुह्य नाम होता है॥ २६॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति॥ २७॥

तत्पश्चात् शिशु को माता की गोद में दे और उसे स्तन पिलाने के लिए कहे। स्तन पिलाते समय ये मन्त्र (यस्ते स्तनः) पढ़े-(भाव यह है) हे देवि सरस्वती! आपका स्तन इस शिशु के लिए अक्षय दुग्ध का भण्डार है, जो पोषण प्रदान करने वाला है। यह रत्नों की खान, सम्पत्ति प्रदाता और कल्याणकारी है। जिससे आप समस्त वरण करने योग्य पदार्थों को पोषण प्रदान करती हैं। ऐसे स्तन को आप इस बालक को पिलाएँ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भव यास्मान् वीरवतोऽकरदिति। तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति॥ २८॥

इसके पश्चात् शिशु की माता को 'इलासि' आदि मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित करे। कहे- हे देवि! तुम स्तुत्य मैत्रावरुणी हो। तुमने वीर पुत्र को उत्पन्न किया है और हमें वीर बालक का पिता बनाया है, इसलिए तुम वीरवती होओ। इस शिशु को देखकर जन सामान्य कहे कि यह अपने पिता और पितामह से भी श्रेष्ठ हुआ है, यह लक्ष्मी, यश और ब्रह्मवर्चस को प्राप्त कर प्रगति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। जिस ब्राह्मण के यहाँ इस प्रकार का विद्वान् पुत्र जन्म लेता है (वह भी इसी प्रकार स्तुति करने योग्य होता है।) ।२८॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ वꣳशः पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः॥ १॥ आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥२॥ याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेःकुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान्बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते॥ ३॥

अब (ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की) वंशावली का वर्णन किया जाता है। पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी सुत से, कात्यायनी सुत ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी के पुत्र से, पाराशरी सुत ने औपस्वस्ती सुत से, औपस्वस्ती सुत ने पाराशरी पुत्र से , पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी के पुत्र से, कौशिकी के पुत्र ने आलम्बी तनय और वैयाघ्रपदी तनय से , वैयाघ्रपदी तनय ने काण्वी पुत्र तथा कापी पुत्र से शिक्षा प्राप्त की। कापी पुत्र ने आत्रेयी सुत से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी सुत से, गौतमी सुत ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सी

के पुत्र से, वात्सी सुत ने पाराशरी सुत से, पाराशरी सुत ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, आर्तभागी तनय ने शौङ्गी सुत से, शौङ्गी सुत ने सांकृती पुत्र से, सांकृती पुत्र ने आलम्बायनी के पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी के पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती के पुत्र से, जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूकायनी तनय ने माण्डूकी तनय से, माण्डूकी तनय ने शाण्डिली पुत्र से, शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी के पुत्र से, राथीतरी पुत्र ने भालुकी सुत से, भालुकी सुत ने दो क्रौञ्चिकी सुतों से, दोनों क्रौञ्चिकी सुतों ने वैदभृती पुत्र से, वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से, कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीन योगी पुत्र से, प्राचीन योगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, साञ्जीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नी पुत्र से, प्राश्नीपुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से ज्ञान प्राप्त किया। आसुरि ने याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से , कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, जिह्वावान् बाध्योग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने नैध्रुवि कश्यप से, नैध्रुविकश्यप ने वाक् से, वाक् ने अम्भिणी से, अम्भिणी ने आदित्य से शिक्षा प्राप्त की। आदित्य द्वारा प्रदत्त शुक्ल यजुर्वेद की श्रुतियाँ ही वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसारित की गई हैं॥ १-३॥

समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ४॥

साञ्जीवी पुत्र तक एक ही वंश है। (इसके पश्चात्) साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनि से, माण्डूकायनि ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुर कावषेय से, तुर कावषेय ने प्रजापति से, प्रजापति ने ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त किया। ब्रह्म तो स्वयंभू है। उस स्वयंभू ब्रह्म को नमन है॥ ४॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदःपूर्णमिदं ....इति शान्तिः॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मन्त्रिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। उपनिषद्कार कहते हैं कि यह जीवात्मा स्वयं को परमात्मा का अंश अनुभव करता हुआ भी उसे सहज रूप में देख नहीं पाता। जब देहासक्ति तथा देहाभिमान रूपी अंधकार छँटता है, तभी उसे देख पाना सम्भव होता है। सामान्य रूप से लोग अविनाशी और अविचल माया का ही ध्यान करते हैं, उसमें संव्याप्त हंस रूप उस परमात्मा का अनुभव करना आवश्यक है। उसी को व्यक्त-अव्यक्त, द्वैत-अद्वैत, सूक्ष्म एवं विराट् रूपों में गाया गया है। सभी मंत्रों का रहस्य वही ब्रह्म है। ऋषि ने उसे ब्रह्मचारी, स्तंभ की तरह अडिग, संसार रूप में फलित होने वाला तथा विश्व शकट को खींचने वाला कहा है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य - ईशावास्योपनिषद्)

ॐ अष्टपादं शुचिं हंसं त्रिसूत्रमणुमव्ययम्।
त्रिवर्त्मानं तेजसोऽहं सर्वतःपश्यन्न पश्यति ॥ १ ॥

आठ चरणों वाले, पवित्र स्वरूप, हंस (परमात्मा) रूप, त्रिसूत्र (व्यष्टि, समष्टि, तदुभय) रूप अतिसूक्ष्म, अव्यय और देदीप्यमान उस परमात्म चेतना को हम (भक्ति, ज्ञान, कर्म) तीन मार्गों से सर्वत्र अनुभव करते हैं; परन्तु देख नहीं पाते ॥ १ ॥

भूतसंमोहने काले भिन्ने तमसि वैखरे। अन्तः पश्यन्ति सत्त्वस्था निर्गुणं गुणगह्वरे ॥

यद्यपि वह परमात्म चेतना निर्गुण है, तो भी वह गुण रूपी गुहा में समाया हुआ है। सामान्य पुरुष मोहादि से सम्मोहित अवस्थाजन्य अन्धकार में निमग्न रहते हैं; परन्तु सात्त्विक गुणों में अवस्थित रहने वाले पुरुष उसे अपने अन्तःकरण में देखते हैं ॥ २ ॥

अशक्यः सोऽन्यथा द्रष्टुं ध्यायमानः कुमारकैः ।
विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् ॥ ३ ॥

अन्य किसी प्रकार से भी ध्यान किया जाए, तो भी उस परमात्म चेतना को अज्ञानी पुरुष नहीं देख सकते, क्योंकि जगत् में विकारों को जन्म देने वाली, अज्ञान रूप वाली, आठरूप वाली (पंचभूत, मन, बुद्धि, अहंकार), अजन्मा (प्रकृति रूप) माया का प्रभाव अविचल रहता है ॥ ३ ॥

ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत् ॥

ध्यान (चिन्तन) के द्वारा ही उस माया के ज्ञान की प्राप्ति होती है। उसी (माया) के द्वारा यह (आध्यात्मिक-जीव) विस्तार को प्राप्त होता है और (बन्धन से मुक्त होने के लिए) प्रेरित होता है। वस्तुतः पुरुष जो (आध्यात्मिक) पुरुषार्थ करता है, उसी पुरुषार्थ के द्वारा यह जगत् अधिष्ठित है ॥ ४ ॥

गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः ॥ ५ ॥

यह गौरूपी माया उत्पत्ति और प्रलय से युक्त है, सबकी सहायिका है, प्राणि-मात्र की पोषिका है। यह श्वेत, कृष्ण और रक्तवर्णा (सत्, रज, तम) है तथा सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली है ॥ ५ ॥

पिबन्त्येनामविषयामविज्ञातां कुमारकाः ।
एकस्तु पिबते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगः ॥ ६ ॥

सभी जीव (कुमार) इस माया रूपी गौ के पय का दोहन करते हैं; परन्तु वह परम पुरुष इस माया के विषयों से भिन्न और अविज्ञात है, वह स्वयं स्वच्छन्द रहकर, सभी प्राणियों को वश में रखकर अकेला ही (सम्पूर्ण प्राणियों में आत्म रूप में) माया का पयःपान (निर्लिप्त रहकर) करता है ॥ ६ ॥

ध्यानक्रियाभ्यां भगवान्भुङ्क्तेऽसौ प्रसहद्विभुः ।
सर्वसाधारणीं दोग्ध्रीं पीयमानां तु यज्वभिः ॥ ७ ॥

सर्व साधारण द्वारा दुही जाती और याज्ञिकों द्वारा यजन की जाती हुई इस माया रूपी गौ का वह भगवान् (ऐश्वर्यशाली) ध्यान (चिन्तन) और क्रिया (यौगिक क्रिया) द्वारा उपभोग करता है और उसे अत्यन्त व्यापक बनाता जाता है ॥ ७ ॥

पश्यन्त्यस्यां महात्मानः सुवर्णं पिप्पलाशनम् ।
उदासीनं ध्रुवं हंसं स्नातकाध्वर्यवो जगुः ॥ ८ ॥

महात्मा पुरुष सु-रूप (वर्ण) वाले इस जगत् रूप पीपल का फल खाते हैं और इस जगत् की माया में उस उदासीन परम पुरुष और परमहंस को ही देखते हैं। सभी स्नातक और अध्वर्युगण उसी का गान करते हैं ॥ ८ ॥

शंसन्तमनुशंसन्ति बह्वृचाः शास्त्रकोविदाः । रथन्तरं बृहत्साम सप्तवैधैस्तु गीयते ॥

शास्त्रज्ञ जन ऋचाओं के माध्यम से तथा स्तोता जन (स्तुतियों के द्वारा) उसी परम पुरुष की स्तुति करते हैं और उसी के लिए रथन्तर संज्ञक तथा बृहत्साम का सप्तविध गान करते हैं ॥ ९ ॥

मन्त्रोपनिषदं ब्रह्म पदक्रमसमन्वितम् । पठन्ति भार्गवा ह्येते ह्यथर्वाणो भृगूत्तमाः ॥

मन्त्रों का रहस्य ही ब्रह्म है, उसी को भृगुवंशी श्रेष्ठ 'भार्गव' लोग अथर्ववेदीय पद और क्रम के अनुसार पढ़ते हैं ॥ १० ॥

सब्रह्मचारिवृत्तिश्च स्तम्भोऽथ फलितस्तथा ।
अनड्वान्रोहितोच्छिष्टः पश्यन्तो बहुविस्तरम् ॥ ११ ॥

यह परम-पुरुष ब्रह्मचारी वृत्ति वाला, स्तम्भ के सदृश अटल, जगत् रूप में फलयुक्त, जगत् रूप शकट का वाहक, रजोगुण से रहित, सत्त्वगुण सम्पन्न तथा अत्यन्त व्यापक रूप में दिखाई देने वाला है ॥ ११ ॥

कालः प्राणश्च भगवान्मृत्युः शर्वो महेश्वरः ।
उग्रो भवश्च रुद्रश्च ससुरः सासुरस्तथा ॥ १२ ॥

(षडैश्वर्य सम्पन्न) यह परमपुरुष भगवान् कालरूप, प्राणरूप, मृत्युरूप, शर्वरूप, महेश्वररूप, भवरूप, रुद्ररूप, उग्ररूप, ससुर (देवयुक्त) तथा सासुर (असुरयुक्त) भी हैं ॥ १२ ॥

प्रजापतिर्विराट् चैव पुरुषः सलिलमेव च । स्तूयते मन्त्रसंस्तुत्यैरथर्वविदितैर्विभुः ॥

वह परमदेव, प्रजापति, विराट् पुरुष और जलादि देवताओं के रूप में सबके लिए स्तुति करने योग्य है। अथर्ववेद द्वारा उसके व्यापक रूप का परिज्ञान होता है ॥ १३ ॥

तं षड्विंशक इत्येते सप्तविंशं तथापरे । पुरुषं निर्गुणं सांख्यमथर्वशिरसो विदुः ॥

कोई उसे छब्बीसवाँ तत्त्व कहते हैं, कोई सत्ताईसवाँ तत्त्व कहते हैं। अथर्वशिर (उपनिषद्) के ज्ञाता उसे निर्गुण सांख्यपुरुष कहते हैं ॥ १४ ॥

चतुर्विंशतिसंख्यातं व्यक्तमव्यक्तमेव च । अद्वैतं द्वैतमित्याहुस्त्रिधा तं पञ्चधा तथा ॥

कोई उसे चौबीस संख्यक तत्त्वों वाला (सांख्य दर्शन), कोई उसे व्यक्त (जगत्) और कोई अव्यक्त (प्रकृति) मानते हैं। कोई उसे द्वैत (जीव-ब्रह्म) और कोई अद्वैत (ब्रह्म) मानते हैं। इसी प्रकार कोई उसे तीन रूपों (ब्रह्मा, विष्णु , महेश) वाला और कोई पाँच रूपों वाला (ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गौरी और गणेश) मानते हैं॥ १५॥

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।

तमेकमेव पश्यन्ति परिशुभ्रं विभुं द्विजाः ॥ १६॥

अनेक ज्ञान दृष्टि सम्पन्न विद्वान् ब्रह्म (सबसे बड़ा तथा चैतन्य रूप) से लेकर जड़-पदार्थों तक में एक ही अतिशुभ्र (शुद्ध) व्यापक सर्वोच्च सत्ता को व्याप्त हुआ अनुभव करते हैं॥ १६॥

यस्मिन्सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम्।

तस्मिन्नेव लयं यान्ति स्त्रवन्त्यः सागरे यथा ॥ १७॥

यह सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् उस ब्रह्म में ही समाया हुआ है। जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् भी उस ब्रह्म में ही लय को प्राप्त होता है॥ १७॥

यस्मिन्भावाः प्रलीयन्ते लीनाश्चाव्यक्ततां ययुः ।

पश्यन्ति व्यक्ततां भूयो जायन्ते बुद्बुदा इव ॥ १८॥

जिस प्रकार पानी का बुल-बुला पानी से उत्पन्न होता है और पानी में ही लय हो जाता है; उसी प्रकार जिसमें सम्पूर्ण जीव-पदार्थ जन्म लेते हैं तथा जिसमें लय होकर अदृश्य हो जाते हैं, उसी को ज्ञानीजन ब्रह्म कहते हैं॥ १८॥

क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चैव कारणैर्विद्यते पुनः ।

एवं स भगवान्देवं पश्यन्त्यन्ये पुनःपुनः॥ १९॥

वह 'क्षेत्रज्ञ' रूप में सम्पूर्ण प्राणियों में अधिष्ठित होता है और वह कार्य के पीछे (समस्त) कारणों को जानने वाला होता है। ऐसे उस परम पुरुष को विद्वान् साधक बार-बार देखते हैं॥ १९॥

ब्रह्म ब्रह्मेत्यथायान्ति ये विदुर्ब्राह्मणास्तथा।

अत्रैव ते लयं यान्ति लीनाश्चाव्यक्तशालिनः॥

लीनाश्चाव्यक्तशालिन इत्युपनिषत् ॥ २०॥

जो विद्वान् (ब्रह्मवेत्ता) उस ब्रह्म को जानते हैं, वे उसी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उसी में लय होकर वे अव्यक्त रूप से सुशोभित होते हैं, यह सुनिश्चित है। यही उपनिषद् (रहस्य) है॥ २०॥

॥ शान्तिपाठः॥

॥ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं........ इति शान्तिः॥

॥ इति मन्त्रिकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ माण्डूक्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद के अन्तर्गत है। इसमें 'ॐकार' को अक्षर ब्रह्म परमात्मा का श्रेष्ठ सम्बोधन सिद्ध करते हुए उसके विभिन्न चरणों एवं मात्राओं का विवेचन किया गया है। अ, उ, म् तीन मात्राओं तथा वैश्वानर, तैजस एवं प्राज्ञ इन तीन चरणों के साथ मात्रा रहित चौथे चरण निर्विशेष का उल्लेख किया गया है। अव्यक्त परमात्मा के व्यक्त विराट् जगत् स्वरूप का भी वर्णन है। विश्व उसका स्थान है, सात लोक उसके सात अंग तथा इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि उसके मुख कहे गये हैं। परमात्मा के निराकार-साकार दोनों स्वरूपों की उपासना का मार्ग इससे प्रशस्त होता है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा..... ।स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः .... इति शान्तिः ॥

(द्रष्टव्य- प्रश्नोपनिषद्)

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर अविनाशी (ब्रह्म का प्रतीक) है, उसकी महिमा को प्रकट करने वाला यह विश्व - ब्रह्माण्ड है । भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीन कालों वाला यह संसार भी ॐकार ही है और तीन कालों से अन्य जो भी तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है ॥ १ ॥

सर्वꣳह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥ २ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म रूप ही है, यह आत्मा भी ब्रह्मरूप ही है। वह (ब्रह्म) और यह (आत्मा) चार चरण वाला स्थूल या प्रत्यक्ष, सूक्ष्म, कारण एवं अव्यक्त रूपों में प्रभावी है॥ २॥

अगले मंत्रों में चारों चरणों के स्थान और गुण-धर्मों को व्यक्त किया गया है-

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

प्रथम चरण स्थूल-वैश्वानर (प्रकट विश्व का संचालक)है, जो जाग्रत् स्थान में रहने वाला, बहिष्प्रज्ञ (बाहर बोध कराने वाला), तथा सात अंगों (सप्तलोकों या सप्त किरणों से युक्त), उन्नीस मुखों (दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा अन्तःकरण चतुष्टय) वाला तथा स्थूल का भोक्ता है॥ ३॥

स्वप्नस्थानोऽ न्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

स्वप्न के सदृश अव्यक्त विश्व जिसका अधिष्ठान (स्थान) है, जिसके द्वारा अदृश्य लोक का ज्ञान अन्तःचक्षुओं से होता है, जो सूक्ष्म विषयों (वासनादि) का भोक्ता है और ज्योतिर्मय है, वही तेजस् (ब्रह्म या आत्मा का) द्वितीय चरण है॥ ४॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

जिस अवस्था में प्रसुप्त मनुष्य किसी भोग की कामना नहीं करता और न ही स्वप्न देखता है, ऐसी सुषुप्तावस्था में जो एकाग्र वृत्ति वाला, प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप और आनन्द रूप ही है एवं जो एकमात्र आनन्द का ही भोक्ता है, जिसका मुख तेजोमय चैतन्य रूप है, वह 'प्राज्ञ' ही ब्रह्म का तृतीय चरण है ॥ ५ ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽ न्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ ६ ॥

वह ब्रह्म ही सबका ईश्वर है, वह सर्वज्ञ अन्तर्यामी और सम्पूर्ण जगत् का कारण भूत है। वही सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण है ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

जो अन्तः अथवा बाह्य प्रज्ञा वाला नहीं है, जो दोनों ओर की प्रज्ञा वाला नहीं है, जो प्रकृष्ट ज्ञानपुञ्ज नहीं है, न ज्ञान रूप है, न अज्ञान ही है, जो ज्ञानेन्द्रियगम्य नहीं है, जो कर्मेन्द्रियगम्य भी नहीं है, जो क्रिया रहित है, जो प्रतीकों से भिन्न है, जो चिन्तन की सीमा से परे तथा कथन की सीमा से भी परे है, जो एकमात्र अनुभवगम्य है, जो सम्पूर्ण प्रपञ्चों का लय स्थान है, जो शान्तस्वरूप, कल्याणरूप और अद्वैतरूप है, वही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है, वही आत्मा (या परमात्मा) है, वही जानने योग्य है ॥ ७ ॥

सोऽ यमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

वह (ब्रह्म) और यह (आत्मा) अक्षर ॐकार रूप ही है । यह ॐकार मात्राओं में सन्निहित है। इसकी मात्राएँ ही इसके चरण हैं और इसके चरण ही इसकी मात्राएँ हैं। ये मात्राएँ अकार, उकार और मकार हैं ॥ ८ ॥

[इस मंत्र में वर्णित ब्रह्म या आत्मा की मात्राएँ अनेक अर्थों में प्रकट होती हैं, ॐ में तीन मात्राएँ - अ,उ,म् हैं। विश्व त्रि आयामी (थ्री डाइमेंशनल) है। सापेक्षवाद (थ्योरी आफ रिलेटिविटी) के अनुसार समय (टाइम), आयतन (स्पेस) तथा भार (मॉस) यह तीन आयाम हैं। समय में भी भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीन मात्राएँ हैं। आयतन में लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई यह तीन आयाम हैं। गुण रूप में भी सत्, रज, तम हैं। इस प्रकार यह ब्रह्म तीन मात्राओं में व्यक्त है, यह कथन प्रमाणित होता है।]

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽ कारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वा आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

जाग्रत् स्थान वाला वैश्वानर व्याप्त होने और आदि तत्त्व होने के कारण ॐकार का प्रथम चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ज्ञानी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता हुआ सबमें वरिष्ठता पाता है ॥९ ॥

[सारे कौशल तथा स्थूल पुरुषार्थ वैश्वानर के अन्तर्गत आते हैं। उसे पाकर सब प्रकार की कामनाएँ पूर्ण होती हैं।]

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याऽ ब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

स्वप्न स्थान वाला तेजस् श्रेष्ठ होने और द्विभाव में रहने से ॐकार का द्वितीय चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला पुरुष ज्ञान का उत्कर्ष करता हुआ समान भाव में निमग्न रहता है। उसके कुल में ब्रह्म को न जानने वाला कोई नहीं रहता॥ १०॥

[तेजस् के अन्तर्गत सभी प्रकार के ज्ञान की धाराएँ आती हैं। उसे पाकर व्यक्ति ज्ञान की उच्चतम अवस्था तक पहुँच जाता है।]

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११॥

सुषुप्ति स्थान वाला प्राज्ञ विश्व का मापक (विश्व की परिसीमा) और प्रलय करने वाला होने से ॐ कार का तृतीय चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ज्ञानी सम्पूर्ण विश्व का यथार्थ स्वरूप जानता हुआ इन सबको स्वयं में लय करने वाला होता है॥ ११॥

[प्राज्ञ कारणसत्ता चेतना का ज्ञाता होता है। उस स्थिति में एक ही चेतन सर्वत्र सक्रिय दिखाई देता है। सभी को बीजरूप में स्वयं में अनुभव किया जा सकता है।]

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥ १२॥

मात्रा रहित ॐकार क्रिया से रहित है। जगत् के प्रपंचों का शमन करने वाला,कल्याणकारी एवं अद्वैत रूप है, यही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है। जो इस प्रकार का ज्ञान रखता है, वह आत्मज्ञानी ज्ञान के द्वारा आत्मा को परब्रह्म में प्रविष्ट कराता है॥ १२॥

[इस चरण में साधक निर्विकल्पक अद्वैत बोध में पहुँच जाता है।]

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा....। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ...... इति शान्तिः॥

॥ इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मुण्डकोपनिषद् ॥

यह अथर्ववेद की शौनकीय शाखा की उपनिषद् है, जिसमें तीन मुण्डक हैं तथा प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। 'मुण्डक' शब्द का तात्पर्यार्थ 'मन का मुण्डन कर अविद्या से मुक्त करने वाला ज्ञान' है। इसमें महर्षि अङ्गिरा ने शौनक जी को परा-अपरा विद्या समझायी है। प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड में ब्रह्मविद्या की परम्परा के बाद ऋषि संवाद के रूप में परा-अपरा विद्या का विवेचन है एवं परा विद्या से ब्रह्मबोध तथा परमेश्वर से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है। दूसरे खण्ड में अपरा विद्या, यज्ञ और उसके फल, भोगों से विरक्ति तथा ब्रह्मबोध के लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरु तथा अधिकारी शिष्य के सम्मिलन की आवश्यकता बतायी गयी है। द्वितीय मुण्डक में अग्नि की चिनगारियों की तरह ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति एवं लय का वर्णन करते हुए ॐ कार रूपी धनुष एवं आत्मा रूपी बाण से परमात्मा का लक्ष्यवेध, ब्रह्म का स्वरूप एवं ब्रह्म प्राप्ति का महत्त्व है। तृतीय मुण्डक में शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षियों के उदाहरण सहित अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्म प्राप्ति तथा ब्रह्मवेत्ता की गति तथा महत्ता का वर्णन है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- प्रश्नोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमं मुण्डकम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ १॥

देव ब्रह्मा सभी देवों में प्रथम उत्पन्न हुए। वे विश्व का निर्माण करने वाले हैं और चौदह भुवनों के रक्षक हैं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूता 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश दिया॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥ २॥

अथर्वा को देव ब्रह्मा ने जिस ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया था, अथर्वा ने वह विद्या अङ्गिर् (अंगी मुनि) को प्रदान की । अङ्गिर् ने उसका उपदेश भरद्वाज पुत्र सत्यवाह को दिया। सत्यवाह ने वही विद्या अङ्गिरस् को प्रदान की॥ २॥

शौनको ह वै महाशालोऽ ङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥ ३॥

प्रसिद्ध सद्गृहस्थ शौनक ने अङ्गिरस् के पास शिक्षार्थी के रूप में विधिपूर्वक जाकर पूछा-हे भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है॥ ३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥

अङ्गिरस् ऋषि ने शौनक को उत्तर दिया-ब्रह्मवेत्ताओं ने ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत दो विद्याएँ जानने योग्य बतायी हैं- एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या॥ ४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

जिसमें ऋग्, यजुष्, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् का ज्ञान होता है-वह अपरा विद्या है तथा जिसमें उस अक्षर 'ब्रह्म' (ॐकार) का ज्ञान होता है, वह परा विद्या है ॥५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥

वह जो देखा न जा सके, न पकड़ा जा सके, जिसका कोई गोत्र नहीं, कोई वर्ण नहीं, जिसे चक्षु और श्रोत्र की आवश्यकता नहीं, जिसे हाथ और पैरों की आवश्यकता नहीं, जो सदैव नित्य, व्यापक, सर्वत्र व्याप्त और अत्यन्त सूक्ष्म है, जो क्षयरहित अथवा अनश्वर है, जो सम्पूर्ण भूतों का कारणभूत है, उस परब्रह्म को विवेकीजन सर्वत्र देखते हैं॥ ६॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥ ७॥

मकड़ी जैसे अपने पेट से जाले को उत्पन्न करती और अपने भीतर ही निगल लेती है,पृथ्वी जैसे विभिन्न प्रकार की ओषधियाँ उत्पन्न करती है, मनुष्य शरीर से जैसे केश और लोम (रोयें) उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अनश्वर ब्रह्म से ही यह विश्व उत्पन्न होता है॥ ७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ ८॥

तप के द्वारा ब्रह्म बढ़ता है (बीज रूप को प्राप्त होता है)। उससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण, उससे मन, उससे सत्य (पञ्चभूत), उससे लोक और मनुष्यादि, उनसे कर्म और कर्म से अमृतरूप फल प्राप्त होता है॥ ८॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ ९॥

जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, उसका तप भी ज्ञान युक्त होता है। उसी परब्रह्म से इस ब्रह्माण्ड में नाम,रूप और अन्न उत्पन्न होता है॥ ९॥

[परब्रह्म कायारहित है, इसलिए उसके द्वारा किया हुआ तप लौकिक प्रचलन के आधार पर नहीं समझा जा सकता। वह अविरल-शान्त, अगम स्थिति में संकल्प पूर्वक जो हलचल उत्पन्न करता है, वही उसका तप है।]

॥ द्वितीयः खण्डः॥

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके॥ १॥

सूक्ष्मदर्शी ज्ञानियों ने वेदमन्त्रों में जिन कर्मों का दर्शन किया, त्रेतायुग में उन्हीं का विविध प्रकार से विस्तार हुआ। हे सत्य की कामना से युक्त पुरुषो! अपने कर्मों का श्रेष्ठ फल प्राप्त करने के लिए इस जगत् में यही मार्ग है कि आप सब नित्य ही श्रेष्ठ आचरण करें ॥ १ ॥

यदा लेलायते ह्यर्चिःसमिद्धे हव्यवाहने
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीःप्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम्॥ २॥

देवताओं तक हव्य पहुँचाने वाले अग्नि के प्रदीप्त होने पर समिधाओं के बीच से जब ज्वालाएँ धधक उठें, उस समय आज्य भाग आहुतियों के बीच में श्रद्धापूर्वक क्रमशः आहुतियाँ प्रदान करें॥ २ ॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३ ॥

जिसका अग्निहोत्र दर्श (अमावस्या)-पौर्णमास (पूर्णमासी) से रहित, चातुर्मास्य सम्बन्धी यज्ञ तथा आग्रयण (शरद् ऋतु में निर्दिष्ट यज्ञ) से रहित,अतिथि पूजन से रहित, यथा समय किये जाने वाले यज्ञ तथा बलिवैश्व से रहित एवं विधि रहित है, ऐसा अग्निहोत्री अपने सात जन्मों के पुण्य का विनाश करता है ॥ ३ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४॥

काली, कराली (अत्यन्त तीक्ष्ण), मनोजवा (मन के समान चञ्चल), लाल वर्ण वाली, धूम्र वर्ण वाली, चिनगारी वाली तथा देदीप्यमान विश्वरुची ये अग्नि की सप्त जिह्वाएँ हैं॥ ४॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥

जो पुरुष इन देदीप्यमान अग्नि ज्वालाओं में यथासमय आहुतियाँ देता हुआ अग्निहोत्र कृत्य सम्पन्न करता है, उसे वे आहुतियाँ ही सूर्य रश्मियों के साथ देवाधिपति इन्द्रदेव के पास(स्वर्ग में) ले जाती हैं ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ ६ ॥

वे आहुतियाँ यजमान का सत्कार करती हुई उसे सूर्यरश्मियों के साथ ले जाती हुई कहती हैं कि आओ-आओ, यह आपके शुभ कर्मों के पुण्य(फल) से प्राप्त हुआ ब्रह्मलोक है॥ ६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ ७॥

ये यज्ञरूप अग्निहोत्रादि कर्म जिनमें अट्ठारह ऋत्विज् (१६ ऋत्विज्,यजमान और यजमान पत्नी) कहे जाते हैं। सकाम कर्म के आदेश में आने से अस्थिर एवं नाशवान् बताये गये हैं। जो मूढ़ लोग 'यही श्रेय है' कहकर इनकी प्रशंसा करते हैं, वे बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं॥ ७॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ८॥

अविद्याग्रस्त रहते हुए भी अपने को बड़ा बुद्धिमान् तथा बड़ा पण्डित समझने वाले वे मूढ़ लोग अन्धे के नेतृत्व में चलने वाले अन्धों के समान भटकते और अनेक कष्ट सहन करते हैं॥ ८॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥ ९॥

अज्ञानी पुरुष अविद्या में अनेक प्रकार से फँसकर 'हम कृतार्थ हो गये हैं', ऐसा मानते हुए अभिमान करते हैं; क्योंकि सकाम कर्म करने वाले कर्मफल में आसक्त होने से तत्त्वज्ञान नहीं समझते, अतः वे दुःखों से व्याकुल होते और कर्मफल क्षीण होने पर स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं॥ ९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥ १०॥

इष्ट और पूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानते हुए वे महामूढ़ किसी अन्य को श्रेयस्कर नहीं जानते हैं। सकाम कर्म के फल को वे स्वर्ग से भी उच्च अनुभव करते हैं; परन्तु वे इस लोक या उससे भी निम्न लोक में प्रवेश करते हैं॥ १०॥

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ ११॥

जो वन में निवास करते हुए, तपः साधना करते हुए, श्रद्धायुक्त जीवन जीते हुए और भिक्षाटन करते हुए संतोषी जीवन जीते हैं, वे मल-विक्षेपों से रहित होकर सूर्यद्वार (उत्तरायण मार्ग) से वहाँ जाते हैं, जहाँ अमर और अविनाशी ब्रह्म का परम धाम है॥ ११॥

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १२॥

कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों (की असारता) को जानकर ब्राह्मण (ब्रह्मविद्या के अधिकारी) वैराग्य को प्राप्त हो; क्योंकि केवल किये हुए (सकाम) कर्म से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः उस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को हाथ में समिधा लेकर वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १३॥

वह ज्ञानवान् गुरु पास में आये हुए उस पूर्णतया शान्तचित्त एवं जितेन्द्रिय शिष्यरूप जिज्ञासु को तत्त्वतः ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, जिससे शिष्य को सत्यस्वरूप अविनाशी ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान हो सके॥१३॥

॥ द्वितीयं मुण्डकम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ १॥

वह(ब्रह्म और)यह(जगत्)सत्य है,जैसे प्रदीप्त अग्नि के समान सहस्रों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं,वैसे ही हे प्रिय! उस ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव प्रकट होते हैं और उसमें ही विलीन भी हो जाते हैं॥१॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ २॥

वह प्रकाशमान , अमूर्तरूप ब्रह्म अन्दर-बाहर सर्वत्र विद्यमान है। वह अजन्मा, प्राणरहित, मनरहित एवं उज्ज्वल है और अविनाशी आत्मा से भी उत्कृष्ट है ॥ २॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ३॥

इसी अविनाशी ब्रह्म से प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी से आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है॥ ३॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ ४॥

अग्नि जिस (ब्रह्म) का मस्तक है, सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं, दिशाएँ अथवा सुविस्तृत वेदवाणियाँ जिसके कर्ण हैं, वायु जिसका प्राण है, सम्पूर्ण विश्व जिसका हृदय है, पृथ्वी जिसके पैरों की उत्पत्ति है, निश्चय ही वह ब्रह्म सम्पूर्ण प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में प्रतिष्ठित है॥ ४॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः॥ ५॥

उस विराट् पुरुष से ही वह अग्नि उत्पन्न हुआ है, सूर्य जिसकी समिधा रूप है। (उस आकाशस्थ अग्नि से निष्पन्न) सोम से पर्जन्य और पर्जन्य से पृथ्वी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों से पुरुष में वीर्य उत्पन्न होता है, पुरुष द्वारा उस वीर्य के सिंचन से पुरुष से ही समस्त प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं॥ ५॥

तस्मादृचः साम यजूꣳषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥ ६॥

उसी विराट् पुरुष से ऋचाएँ, साममन्त्र, यजुः, दीक्षा, सम्पूर्ण यज्ञ, समस्त कर्म तथा दक्षिणाएँ प्रकट हुईं। संवत्सर, यजमान, सब लोक (मनुष्यादि) उसी से उत्पन्न हुए। उसी के द्वारा वे लोक भी उत्पन्न हुए, जहाँ चन्द्रमा पवित्रकारक रश्मियाँ बिखेरता तथा सूर्य ऊर्जा पहुँचाता है॥ ६॥

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयाꣳसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७॥

उस विराट् पुरुष से ही विविध देवता, साध्यगण (देव विशेष), मनुष्यगण, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, धान, जौ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि (यम-नियमादि) सब उत्पन्न हुए हैं॥ ७॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८॥

उस पुरुष से ही सात प्राण (दो नेत्र,दो श्रवण, दो घ्राण, एक जिह्वा) उत्पन्न हुए। उसी से अग्नि की सात ज्वालाएँ, सात समिधाएँ (सात विषय), सात यज्ञ उत्पन्न हुए। उसी से ये सात लोक प्रकट हुए, जिनमें सात प्राण विचरते हैं। प्रत्येक प्राणीरूप गुहा में आश्रित-सन्निहित ये सात सात पदार्थ उसी से प्रकट होते हैं॥ ८॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।

अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ ९॥

उस पुरुष से ही समस्त समुद्र और सभी पर्वत एवं विभिन्न रूपों वाली नदियाँ उत्पन्न हुई हैं। उसी से सम्पूर्ण ओषधियाँ और रस की उत्पत्ति हुई। वही पुरुष सभी प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में प्रतिष्ठित है॥ ९॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।

एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥ १०॥

हे सोम्य! यह सम्पूर्ण जगत्, कर्म और तप सभी परब्रह्म रूप है। वह परम तत्त्व अमृतरूप है। जो पुरुष उस ब्रह्म को सभी प्राणियों की हृदय गुहा में अधिष्ठित जानता है, वह इस जगत् में अविद्या ग्रन्थि को खोल देता है॥ १०॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

आविःसंनिहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च

यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ १॥

यह (ब्रह्म) प्रकाशमान, सबमें व्याप्त, हृदय गुहा में विचरणशील तथा महान् पद वाला है। इस ब्रह्म में चलने वाले, श्वास लेने वाले, पलक झपकने वाले सब प्राणी समाविष्ट होते हैं। जो सत्- असत् रूप, वरणीय, वरिष्ठ और जीवात्माओं की बुद्धि से परे है, उस ब्रह्म को जानो॥ १॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥ २॥

जो देदीप्यमान है, जो अणु से भी अतिसूक्ष्म अणु है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक और उनके निवासी स्थित हैं, वही यह अविनाशी ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और वही मन भी है। वही सत्यरूप और अमृतरूप है। हे सोम्य! मनन द्वारा उसका वेधन करना चाहिए, अतः उसका वेधन करें॥ २॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥ ३॥

उपनिषद् रूप महाअस्त्र धनुष लेकर उस पर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाएँ और उसे खींचकर भावों से भरे चित्त से उस अविनाशी ब्रह्म का लक्ष्यवेधन करें॥ ३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ ४॥

प्रणव ॐकार धनुष है, अन्तरात्मा बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्यवेध माना गया है। उसे आलस्य-प्रमाद रहित मनुष्य ही वेध सकता है। बाण से लक्ष्य वेधकर एकाग्रतापूर्वक उसमें तन्मय हो जाना चाहिए॥ ४॥

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥ ५॥

जिस विराट् पुरुष में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तथा सम्पूर्ण प्राणों के साथ मन अधिष्ठित है, उस

एक आत्मा को ही जानें, उससे भिन्न अन्य विषयों को सर्वथा छोड़ दें, यही अमृतरूप ब्रह्म प्राप्ति का सेतु (साधन) है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

रथ चक्र की नाभि में जिस प्रकार अरे लगे होते हैं और जिस प्रकार शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियाँ हृदय में एकत्र होती हैं, उसी प्रकार विभिन्न रूपों में सञ्चरित होने वाला वह परब्रह्म हृदय के मध्य स्थित होता है। उस परमेश्वर का ॐ के उच्चारण द्वारा ध्यान करना चाहिए। अज्ञान-अन्धकार से पार जाने के लिए यह आवश्यक है, इस प्रकार आपका कल्याण हो ॥ ६ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥

जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी महिमा इस भूलोक में व्याप्त है, वही ब्रह्म (दिव्य ब्रह्मपुर) आकाश (हृदय गुहा) में प्रतिष्ठित है। जो मनोमय कोश से युक्त है, जो शरीर एवं प्राणों का संचालक है, जो अन्नमय कोश (अथवा स्थूल शरीर) में हृदय कमल के आश्रय से अधिष्ठित है, वह आनन्दस्वरूप, अमृतरूप परमेश्वर सर्वत्र देदीप्यमान है, उसे विवेकी पुरुष विशिष्ट अनुभवों (या ज्ञान) के आधार पर चारों ओर देखते हैं ॥ ७ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

उस परब्रह्म को तत्त्वतः जान लेने पर मनुष्य की हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके सम्पूर्ण (प्रारब्ध) कर्म भी क्षीण हो जाते हैं ॥ ८ ॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ९ ॥

प्रकाशमय सूक्ष्म कोश में निर्मल और कलारहित ब्रह्म विद्यमान है। वह शुभ्र और ज्योतिर्मय सम्पूर्ण पदार्थों का ज्योतिस्वरूप है, आत्मज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म को जानते हैं ॥ ९ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥

वहाँ (उस ब्रह्मलोक में) न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा अथवा तारे। वहाँ ये बिजलियाँ भी प्रकाशित नहीं होतीं, फिर यह अग्नि कहाँ से प्रकाशित हो सकता है? उस एक (ब्रह्म) के ही प्रकाशित होने पर सब कुछ प्रकाशित होता है, उसका ही प्रकाश इन सबमें चमकता है ॥ १० ॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥

वह ब्रह्म अमृतरूप ज्ञान ही है, ब्रह्म ही आगे और वही पीछे है, ब्रह्म ही बायीं और दायीं ओर है तथा ब्रह्म ही नीचे और ऊपर विस्तृत है। यह सम्पूर्ण जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

॥ तृतीयं मुण्डकम्॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ १ ॥

साथ-साथ रहने तथा सख्यभाव वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के पिप्पल (कर्मफल) का स्वाद लेता है और दूसरा अनशन (निराहार) पूर्वक केवल देखता रहता है॥ १॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽ नीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ २ ॥

समान वृक्ष (देह) पर निवास करने वाला जीवात्मा मोह में डूबा हुआ असमर्थ होकर शोक-संतप्त रहता है। जब वह योगियों से सेवित परमात्मा की महिमा का बोध प्राप्त करता है,तब मुक्त हो जाता है॥ २॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ ३ ॥

जब वह जीव द्रष्टारूप, प्रकाशमान, परमपुरुष, विश्व के उत्पत्तिकर्त्ता, ब्रह्मा के रचयिता को देखता है, तब वह विद्वान् पाप-पुण्य को त्याग कर निर्मल और श्रेष्ठ साम्यरूप को प्राप्त हो जाता है॥ ३॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥ ४॥

यह ब्रह्म ही सब प्राणियों के अन्दर प्राण रूप में प्रकाशित हो रहा है, जो विद्वान् इसे जानता है, वह अहंकारोक्ति नहीं करता। वह आत्मा में क्रीड़ा करने वाला और आत्मा में रमण करने वाला पुरुष जगत् में कर्म करते हुए ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठता को प्राप्त होता है॥ ४॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ ५॥

आत्मारूप उस ब्रह्म की प्राप्ति सत्यभाषण, तपश्चर्या, सम्यग्ज्ञान, ब्रह्मचर्य आदि निश्चित व्रतों से होती है। वह शुभ्र (उज्ज्वल) ज्योतिष्मान् ब्रह्म शरीर के अन्दर अधिष्ठित रहता है, उसे वही योगी देख पाते हैं जो स्वयं को दोषों से मुक्त कर लेते हैं॥ ५॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ ६ ॥

सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। सत्य से ही देवयान मार्ग परिपूर्ण है। इसके द्वारा कामनारहित ऋषिगण उस पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ सत्य के श्रेष्ठ भण्डाररूप परमात्मा का निवास है॥ ६॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥ ७॥

वह ब्रह्म (परमात्मा) अत्यन्त महान् और दिव्य है। वह सहज चिंतन की सीमा से भी परे है। वह

सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में प्रकाशित होता है। वह अत्यन्त दूर से भी अतिदूर है तथा निकट से निकटस्थ भी है। वह सूक्ष्म द्रष्टाओं की दृष्टि में प्रत्येक प्राणी के अन्दर हृदयगुहा में प्रतिष्ठित है॥ ७॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ ८॥

वह ब्रह्म (अथवा आत्मा) न नेत्रों से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से ग्रहणीय है, वह तप से अथवा कर्मों से भी ग्रहणीय नहीं है। ज्ञान प्रसाद से ज्ञानी शुद्ध अन्तःकरण वाला होता है, तब वह ध्यान के द्वारा कलारहित परमात्मा को देखता है॥ ८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ ९॥

वह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जानने योग्य है, जिसमें देह से सम्बद्ध पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है। इन्हीं प्राणों से सम्पूर्ण प्रजाओं का मन भी व्याप्त है, जिसके शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा प्रकाशित होने लगता है॥ ९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥ १०॥

निर्मल अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी जिस-जिस लोक का मन से चिन्तन करता है, जिन कामनाओं को चाहता है, वह उस-उस लोक को और उन कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, अतः ऐश्वर्यादि की इच्छा करने वाला मनुष्य आत्मज्ञानी का अर्चन करे॥ १०॥

[यहाँ एक महत्त्वपूर्ण मर्म प्रकट किया गया है। लौकिक कामनाग्रस्त मनुष्य तमाम पुरुषार्थ करके इच्छित वस्तुओं का संग्रह करने के बाद जो सुख अनुभव करता है, निर्मल अन्तःकरण वाले को वह सुखानुभूति संकल्प मात्र से हो जाती है। इसलिए ऐश्वर्य संग्रह पूर्वक सन्तोष खोजने वालों के लिए भी यही उचित है कि वे आत्मज्ञानी को श्रेष्ठ मानकर उनका अनुगमन करें।]

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥ १॥

आत्मज्ञानी साधक उस निर्मल और ज्योतिर्मय ब्रह्म के परमधाम को जान लेता है, जिसमें यह सम्पूर्ण विश्व समाहित है। जो साधक निष्काम भाव से परमेश्वर की उपासना करते हैं, वे विवेकी पुरुष इस शरीर के जन्म-चक्र (देह के बन्धन) को लाँघ जाते हैं॥ १॥

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ २॥

जो कामनाओं को मन में रखते हुए उनकी पूर्ति चाहता है, वह उनकी पूर्ति के कारण वहाँ-वहाँ उत्पन्न होता रहता है। परन्तु जो कामनाओं से पूर्णतया तुष्ट हो चुके हैं, उस कृतार्थ हुए पुरुष की सभी कामनाएँ इस शरीर में (शरीर के साथ ही) विलीन हो जाती हैं॥ २॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥ ३॥

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होता है, न मेधा (विशिष्ट बुद्धि) से अथवा बहुत श्रवण करने से ही प्राप्त होता है। जो पुरुष केवल उस आत्मा की प्राप्ति की इच्छा करता है, उसी (इच्छा) से वह प्राप्त होता है। उसी साधक के लिए यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है॥ ३॥

[लौकिक ज्ञान प्राप्त करने की विधियों से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता । लौकिक ज्ञान पदार्थ की तरह हैं, जिन्हें पुरुषार्थ पूर्वक हस्तगत किया जा सकता है। आत्मज्ञान चेतना युक्त है, वह साधक की पात्रता देखकर स्वयं ही अपने स्वरूप को उद्‌घाटित करता है।]

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ ४॥

यह आत्मा न तो बलहीन पुरुष को प्राप्त होता है,न प्रमादयुक्त व्यक्ति को और न ही तत्त्वरहित (ज्ञान रहित) तपश्चर्या से वह प्राप्त होता है। जो ज्ञानी पुरुष इन उपायों से (ज्ञानयुक्त तप से) यत्न करता है, उसे यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट करा देता है॥ ४॥

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ ५॥

कामना से रहित विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषिगण ज्ञान से तृप्त होकर परम शान्त रहते हुए उस परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। वे विवेकी पुरुष उस सर्वव्यापी, सर्वरूप परमेश्वर को सर्वत्र प्राप्त कर उसमें समाहित होकर उसी में ही प्रवेश कर जाते हैं॥ ५॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ६॥

जिन्होंने वेदान्तविषयक विशिष्ट ज्ञान के द्वारा परमात्मा को निश्चयपूर्वक जान लिया है और जो वैराग्य तथा योग के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण को प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे साधक शरीर छोड़कर ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होते हैं। वे सब ओर से मुक्त होकर श्रेष्ठ अमरत्व को प्राप्त करते हैं॥ ६॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ ७॥

पन्द्रह कलाएँ और इन्द्रियाँ अपने-अपने अभिमानी देवताओं में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। सम्पूर्ण कर्म और ज्ञान से परिपूर्ण जीवात्मा श्रेष्ठ, अविनाशी परब्रह्म में एकीभूत हो जाता है॥ ७॥

[प्रश्नोपनिषद् ६.४ में पन्द्रह कलाएँ-आकाश आदि पञ्चभूत, अन्न,वीर्य,इन्द्रिय,मन, श्रद्धा,तप,मन्त्र,कर्म लोक एवं नाम वर्णित हैं। यदि स्वयं उस ब्रह्म में समर्पित होना हो,तो पहले अपनी कलाओं-विभूतियों का अभिमान त्याग करे, उन्हें प्रभु को समर्पित कर दे; तभी स्वयं जीवात्मा को परमात्मा में समर्पित करना सम्भव होता है।]

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ८॥

जिस प्रकार प्रवहमान नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं,वैसे ही ज्ञानी पुरुष नाम रूप से विमुक्त होकर उत्तमोत्तम दिव्य पुरुष को समर्पित हो जाते हैं॥ ८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ ९॥

जो विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है। उसके कुल में कोई ज्ञान से रहित नहीं होता। वह पापों से पार होकर शोक-संतापों से भी पार हो जाता है। हृदय ग्रन्थियों (आन्तरिक विकारों) से विमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त होता है॥ ९॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्-क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ १०॥

यही बात (ब्रह्मविद्या के विषय में) ऋचा में कही गयी है-

जो निष्काम भाव से कर्म करने वाले, वेद-शास्त्रों के ज्ञाता, ब्रह्म के उपासक और एकर्षि नामक अग्नि में स्वयं श्रद्धापूर्वक हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक सर्वश्रेष्ठ व्रत का पालन किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिए॥ १०॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ ११॥

उस ब्रह्म के इस सत्य को प्रथम अङ्गिरा ऋषि ने प्रकट किया था। जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया, वह इसे नहीं जान सकता। उन ब्रह्मज्ञानी पुरुषों को बारम्बार नमस्कार है॥ ११॥

॥ शान्तिपाठः॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम.....। स्वस्ति नऽइन्द्रो वृद्धश्रवाः .... इति शान्तिः॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ मुद्गलोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् में ४ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में यजुर्वेदोक्त पुरुष सूक्त के १६ मन्त्रों के भावों-रहस्यों को खोलने के लिए संकेत किए गये हैं। दूसरे खण्ड में भगवान् द्वारा शरणागत इन्द्र को दिए गये उपदेशान्तर्गत पुरुष सूक्त के दो (अव्यक्त पुरुष और व्यक्त पुरुष) से सम्बन्धित खण्डों का वर्णन है। इसी में उसके अनिरुद्ध (प्रकट) पुरुष द्वारा ब्रह्माजी को अपनी काया को हव्य मानकर व्यक्त पुरुष रूप अग्नि में हवन करने का निर्देश एवं फल कहा गया है। तीसरे खण्ड में विभिन्न योनियों के साधकों द्वारा विभिन्न रूपों में उस पुरुष की उपासना किए जाने तथा उस पुरुष को जानने का फल वर्णित है। चौथे खण्ड में उक्त पुरुष की विलक्षणता तथा उसके प्रकट होने के विभिन्न घटकों का वर्णन करते हुए साधना द्वारा पुरुष रूप ही हो जाने का कथन है। अंत में इस गुह्य ज्ञान को प्रकट करने के अनुशासन को स्पष्ट किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

वाङ्मे मनसि..........इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य -ऐतरेयोपनिषद्)

ॐ पुरुषसूक्तार्थनिर्णयं व्याख्यास्यामः। पुरुषसंहितायां पुरुषसूक्तार्थः संग्रहेण प्रोच्यते।

'पुरुष सूक्त' द्वारा मान्य अर्थ-निर्णय की व्याख्या करता हूँ- (इसका विवेचन करते हुए भगवान् वासुदेव ने देवराज इन्द्र से कहा था।) पुरुष संहिता में इस सूक्त का अर्थ संक्षिप्त रूप से कहा जा रहा है-

सहस्रशीर्षेत्यत्र सशब्दोऽनन्तवाचकः । अनन्तयोजनं प्राह दशाङ्गुलवचस्तथा ॥ १ ॥

'पुरुष सूक्त' में प्रयुक्त 'सहस्र' शब्द अनन्त का बोध कराता है। इसी प्रकार यह 'दशाङ्गुलम्' पद भी अनन्त योजनों (दूरी) की सूचना प्रदान करता है॥ १ ॥

[यहाँ प्रयुक्त 'सशब्दो' के स्थान पर 'सहस्रो' पाठ भी उपलब्ध होता है, जो अधिक समीचीन है।]

तस्य प्रथमया विष्णोर्देशतो व्याप्तिरीरिता।

द्वितीयया चास्य विष्णोः कालतो व्याप्तिरुच्यते ॥ २ ॥

'पुरुष सूक्त' के इस प्रथम मन्त्र 'सहस्रशीर्षा०' में भगवान् विष्णु की सर्वव्यापी विभुता का विशद वर्णन किया गया है। पुरुष सूक्त का द्वितीय मन्त्र (पुरुषऽएवेदं०) इन्हीं लोकनायक विष्णु की शाश्वत व्याप्ति का संकेत करता है। वे सर्व-कालव्यापी हैं। हर समय विद्यमान रहते हैं॥ २ ॥

विष्णोर्मोक्षप्रदत्वं च कथितं तु तृतीयया ।

एतावानिति मन्त्रेण वैभवं कथितं हरेः ॥ ३ ॥

'पुरुषसूक्त' का तृतीय मन्त्र उन विराट् पुरुष भगवान् विष्णु को मोक्ष प्रदान करने वाला बतलाता है। 'एतावानस्य०' इस तृतीय मन्त्र में भगवान् श्री हरि के वैभव का -उनकी सामर्थ्य का विस्तार से वर्णन किया गया है॥ ३ ॥

एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः ।

त्रिपादित्यनया प्रोक्तमनिरुद्धस्य वैभवम् ॥ ४ ॥

तीन मन्त्रों के इस समूह में भगवान् के चतुर्व्यूह से सम्बन्धित स्वरूप का उल्लेख है। 'त्रिपाद्०' इस चतुर्थ मंत्र में चतुर्व्यूह के अनिरुद्ध स्वरूप का विस्तृत वैभव वर्णित किया गया है॥ ४॥

तस्माद्विराडित्यनया पादनारायणाद्धरेः ।

प्रकृतेः पुरुषस्यापि समुत्पत्तिः प्रदर्शिता ॥ ५॥

'पुरुष सूक्त' के इस पञ्चम मंत्र 'तस्माद्विराड्०' में पाद विभूति रूप भगवान् नारायण द्वारा श्री हरि की आश्रयभूता प्रकृति (माया) और पुरुष (जीव) का प्राकट्य दर्शाया गया है॥ ५॥

यत्पुरुषेणेत्यनया सृष्टियज्ञः समीरितः।

सप्तास्यासन्परिधयः समिधश्च समीरिताः॥ ६॥

इसी सूक्त के 'यत्पुरुषेण०' मन्त्र के द्वारा सृष्टि स्वरूप यज्ञ का प्रतिपादन किया गया है एवं 'सप्तास्यासन् परिधयः०' द्वारा उस सृष्टि रूप यज्ञ कार्य में प्रयुक्त समिधा का विवेचन किया गया है॥ ६॥

तं यज्ञमिति मन्त्रेण सृष्टियज्ञः समीरितः।

अनेनैव च मन्त्रेण मोक्षश्च समुदीरितः॥ ७॥

यही सृष्टियज्ञ इसी सूक्त के अगले मन्त्र 'तं यज्ञम्०' के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। साथ ही मोक्ष का वर्णन भी इसी मन्त्र के द्वारा किया गया है॥ ७॥

तस्मादिति च मन्त्रेण जगत्सृष्टिः समीरिता ।

वेदाहमिति मन्त्राभ्यां वैभवं कथितं हरेः॥ ८॥

'पुरुष सूक्त' के 'तस्माद्०' आदि सात मन्त्रों द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। 'वेदाहम्०' इत्यादि दो मन्त्रों के द्वारा भगवान् श्री हरि के वैभव (कीर्ति) का विशेष वर्णन प्राप्त होता है॥ ८॥

यज्ञेनेत्युपसंहारः सृष्टेर्मोक्षस्य चेरितः ।

य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति ॥ ९॥

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त०' मन्त्र के द्वारा सृष्टि एवं मोक्ष का उपसंहारात्मक वर्णन किया गया है। इस भाँति जो भी 'पुरुष सूक्त' को ज्ञान के द्वारा आत्मसात् करता है, वह अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ तथा मुद्गलोपनिषदि पुरुषसूक्तस्य वैभवं विस्तरेण प्रतिपादितम् । वासुदेव इन्द्राय भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्मश्रवणाय प्रणतायेन्द्राय परमरहस्यभूतं पुरुषसूक्ताभ्यां खण्डद्वयाभ्यामुपादिशत्॥ १॥

इस प्रकार मुद्गलोपनिषद् (के प्रथम खण्ड के) द्वारा 'पुरुषसूक्त' के जिस विशिष्ट वैभव का प्रतिपादन हुआ है, उस विशेष भगवद्ज्ञान का उपदेश भगवान् श्री वासुदेव ने इन्द्र को प्रदान किया था। उस सूक्ष्म तत्त्वज्ञान को पुनः श्रवण करने के लिए इन्द्रदेव नतमस्तक होकर भगवान् वासुदेव की शरण में

उपस्थित हुए। भगवान् ने उस परम कल्याणकारी रहस्य का ज्ञान पुरुषसूक्त के दो खण्डों में इन्द्रदेव को प्रदान किया॥ १॥

द्वौ खण्डावुच्येते । योऽयमुक्तः स पुरुषो नामरूपज्ञानागोचरं संसारिणामतिदुर्ज्ञेयं विषयं विहाय क्लेशादिभिः संक्लिष्टदेवादिजिहीर्षया सहस्त्रकलावयवकल्याणं दृष्टमात्रेण मोक्षदं वेषमाददे । तेन वेषेण भूम्यादिलोकं व्याप्यानन्तयोजनमत्यतिष्ठत्॥ २॥

'पुरुष सूक्त' के दो खण्ड निर्धारित किये गये हैं। इस सूक्त में जिस विराट् पुरुष का उल्लेख किया गया है, वह नाम-रूप एवं ज्ञान से परे होने के कारण विश्व के समस्त जीवों (प्राणियों) के लिए अगम्य है। अतः अपने इस अगम्य रूप को त्याग कर क्लेशादि में पड़े हुए देवादि विशिष्ट प्राणियों के उद्धार एवं समस्त जीवों के कल्याण की इच्छा से उन्होंने अनन्त कलाओं वाले रूप को धारण किया। यह रूप दर्शन मात्र से ही मोक्ष प्रदान करने वाला है। उसी रूप (वेष) से पृथिवी आदि लोकों में व्याप्त होकर उन्होंने अपना विस्तार अनन्त योजनों तक कर लिया॥ २॥

पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चासीत्। स च सर्वस्मान्महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान्॥ ३॥

सृष्टि रचना के पहले पूर्ण पुरुष भगवान् श्रीनारायण ही भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन कालों के रूप में विद्यमान थे। वे (नारायण) ही इन समस्त प्राणियों को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। वे ही महान् शक्तिशाली जनों में विशिष्ट हैं। उन (विराट् पुरुष) से अधिक विशिष्ट अन्य कोई भी नहीं है। वही सर्व शक्तिमान् हैं॥ ३॥

महापुरुष आत्मानं चतुर्धा कृत्वा त्रिपादेन परमे व्योम्नि चासीत्। इतरेण चतुर्थेनानिरुद्धनारायणेन विश्वान्यासन्॥ ४॥

उन परम पुरुष (परमात्मा) ने स्वयं को चार भागों में विभक्त करके चतुर्व्यूहों के रूप में उत्पन्न किया । उनमें से तीन अंशों (वासुदेव, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण रूप) का निवास परमधाम वैकुण्ठ में है। चतुर्थ अंश व्यूह स्वरूप अनिरुद्ध नाम से प्रसिद्ध भगवान् श्रीनारायण के द्वारा ही सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि हुई॥ ४॥

[उस विराट् पुरुष के तीन चरण उच्च लोकों में ही निरुद्ध (नियंत्रित-रोके हुए) रहते हैं। एक चरण अनिरुद्ध (जिसे व्यक्त होने से रोका नहीं गया) होता है ; उसी व्यक्त चरण से यह सृष्टि उपजी है। शेष तीन नाम मन्त्र में व्यक्त नहीं हैं, फिर भी अनिरुद्ध के आधार पर भगवान् के इन नामों को विद्वानों ने मान्य किया है। ये चरण वासुदेव-सबको वास देने वाले, प्रद्युम्न- विशेष रूप से प्रकाशमान तथा संकर्षण-आकर्षण करने वाले हैं, फिर भी अव्यक्त हैं।]

स च पादनारायणो जगत्स्त्रष्टुं प्रकृतिमजनयत्। स समृद्धकायः सन्सृष्टिकर्म न जज्ञिवान्। सोऽनिरुद्धनारायणस्तस्मै सृष्टिमुपादिशत्। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि याजकानि ध्यात्वा कोशभूतं दृढं ग्रन्थिकलेवरं हविर्ध्यात्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा वसन्तकालमाज्यं ध्यात्वा ग्रीष्ममिध्मं ध्यात्वा शरदृतुं रसं ध्यात्वैवमग्नौ हुत्वाङ्गस्पर्शात्कलेवरो वज्रं हीष्यते। ततः स्वकार्यान्सर्वप्राणिजीवान्सृष्ट्वा पश्चाद्याः प्रादुर्भविष्यन्ति। ततः स्थावरजङ्गमात्मकं जगद्भविष्यति॥ ५॥

उन चतुर्थपादात्मक नारायण ने विश्व की रचना के निमित्त प्रकृति को प्रादुर्भूत किया। (प्रकृतिरूप) ब्रह्मा जी शरीर प्राप्त करने के उपरान्त भी सृष्टि रचना के रहस्य को नहीं समझ सके। तदनन्तर उन अनिरुद्ध स्वरूप नारायण ने ब्रह्माजी को सृष्टि संरचना का उपदेश दिया। उन्होंने कहा- हे ब्रह्मन्! आप अपनी वागादि सभी इन्द्रियों को यज्ञकर्त्ताओं के रूप में मानें। कमलकोश से प्रकट, सुदृढ़ शक्ति सम्पन्न अपने शरीर को हवि रूप में जानें। वसन्त ऋतु को घृत, ग्रीष्म ऋतु को समिधा तथा शरद् ऋतु को रसरूप में अनुभव करें। इस तरह से अग्नि में यज्ञ करने के उपरान्त आपका शरीर अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न हो जाएगा। और इस शरीर के स्पर्श से वज्र भी कुण्ठित हो जायेगा। तत्पश्चात् इस यज्ञकर्म के प्रतिफल स्वरूप समस्त प्राणि - समुदाय प्रकट होंगे। इस प्रकार सभी स्थावर-जङ्गम से परिपूर्ण यह समस्त विश्व दृष्टिगोचर होने लगेगा॥ ५॥

एतेन जीवात्मनोर्योगेन मोक्षप्रकारश्च कथित इत्यनुसंधेयम्॥ ६॥

इस प्रकार जीव और आत्मा के मिलन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन किया गया है॥ ६॥

य इमं सृष्टियज्ञं जानाति मोक्षप्रकारं च सर्वमायुरेति॥ ७॥

जो भी साधक इस सृष्टि-यज्ञ और मोक्ष की विधि को समझता है, वह व्यक्ति पूर्ण आयुष्य प्राप्त करने में समर्थ होता है॥ ७॥

॥ तृतीयः खण्डः॥

एको देवो बहुधा निविष्ट अजायमानो बहुधा विजायते॥ १॥

(इस सृष्टि में) अनेक रूपों में समाविष्ट हुआ वह एक ही देव है, जो स्वयं अजन्मा रहते हुए भी विभिन्न प्रकार से उत्पन्न होता रहता है॥ १॥

तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति। सामेति छन्दोगाः। एतस्मिन्हीदं सर्वं प्रतिष्ठितम्। विषमिति सर्पाः। सर्प इति सर्पविदः। ऊर्गिति देवाः। रयिरिति मनुष्याः। मायेत्यसुराः। स्वधेति पितरः। देवजन इति देवजनविदः। रूपमिति गन्धर्वाः। गन्धर्व इत्यप्सरसः॥ २॥

उसी (विराट् पुरुष) की उपासना समस्त अध्वर्युओं ने अग्निदेव के रूप में की है। यजुर्वेदीय याज्ञिक उस (देव) को 'यह यजुः है' ऐसा मानते हुए सर्व यज्ञीय कर्मों में नियोजित करते हैं। सामगान वाले उस (देव) को साम के रूप में जानते हैं। इसी (विराट् पुरुष) रूप में निश्चित ही वह सर्वत्र विद्यमान है। सर्प (गतिशील प्राण) उसे (विराट् पुरुष को) विष रूप में स्वीकार करते हैं तथा सर्पवेत्ता (योगी) सर्प-प्राण-रूप से उसे प्राप्त करते हैं। देवगण उसे अमृत रूप में ग्रहण करते हैं तथा सामान्य जन इसे (जीवन) धन समझकर जीवनयापन करते हैं। असुर (इन्हें) माया के रूप में जानते हैं, पितर स्वधा (अर्थात् पितृ भोजन के रूप में) मानते हैं, देवोपासक इसे देव रूप में स्वीकार करते हैं। गन्धर्वगण रूप-सौन्दर्य के रूप में जानते हैं तथा अप्सराएँ गन्धर्व के रूप में उस (विराट् देवपुरुष) को जानती हैं॥ २॥

तं यथायथोपासते तथैव भवति। तस्माद् ब्राह्मणः पुरुषरूपं परंब्रह्मैवाहमिति भावयेत्। तद्रूपो भवति। य एवं वेद॥ ३॥

उस (श्रेष्ठ परमात्मतत्त्व) की (जो साधक) जिस-जिस भाव से उपासना करता है, वह परमात्मतत्त्व उसके लिए उसी ही भाव (रूप) का हो जाता है। अत: ब्रह्मज्ञानी जनों को 'पूर्ण पुरुष रूप' परम ब्रह्म 'मैं स्वयं ही हूँ' इस प्रकार का भाव अपने अन्त:करण में रखना चाहिए। इस प्रकार के भाव से वह (साधक) उसी देव स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जो भी मनुष्य (साधक) इस रहस्य को इस भाँति समझता है, वह स्वयमेव उसी के अनुरूप हो जाता है॥ ३॥

॥ चतुर्थ: खण्ड:॥

तद्ब्रह्म तापत्रयातीतं षट्कोशविनिर्मुक्तं षडूर्मिवर्जितं पञ्चकोशातीतं षड्भाव - विकारशून्यमेवमादिसर्वविलक्षणं भवति॥ १॥

वह ब्रह्म (पूर्ण पुरुष) त्रिताप शून्य, छ: कोषों से परे , षड् ऊर्मियों से रहित, पंच कोषों से रहित और षड्भाव विकारों से अतीत है। इस प्रकार (वह ब्रह्म) सभी से विलक्षण है॥ १॥

तापत्रयं त्वाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकं कर्तृकर्मकार्यज्ञातृज्ञानज्ञेयभोक्तृ-भोगभोग्यमिति त्रिविधम्॥ २॥

ये 'त्रिताप' आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक हैं, जो कर्त्ता, कर्म, कार्य; ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा भोक्ता, भोग, भोग्य इस प्रकार ये तीनों एक-एक होते हुए भी त्रिविध अर्थात् तीन-तीन प्रकार के हैं॥ २॥

त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जा: षट्कोशा:॥ ३॥

छ: कोश (धातु) क्रमश: चर्म, मांस, अस्थि, स्नायु (नसें), रक्त एवं मज्जा कहे गये हैं॥ ३॥

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यरिषड्वर्ग:॥ ४॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य- ये छ: षड्रिपु कहे गये हैं॥ ४॥

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इति पञ्चकोशा:॥ ५॥

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये शरीर के पाँच कोश हैं॥ ५॥

प्रियात्मजननवर्धनपरिणामक्षयनाशा: षड्भावा:॥ ६॥

छ:भावविकार क्रमश: प्रिय होना, प्रादुर्भूत होना, वर्द्धित होना, परिवर्तित होना, क्षय अर्थात् न्यूनातिन्यून होते जाना तथा विनाश होना बताये गये हैं॥ ६॥

अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षडूर्मय:॥ ७॥

छ: ऊर्मियाँ क्रमश: क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु कही गयी हैं॥ ७॥

कुलगोत्रजातिवर्णाश्रमरूपाणि षड्भ्रमा:॥ ८॥

कुल (वंश), गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम एवं रूप (सौन्दर्य) ये षड्भ्रम कहे गये हैं॥ ८॥

एतद्योगेन परमपुरुषो जीवो भवति नान्य:॥ ९॥

इन सभी के योग से (वह) परम पुरुष ही जीव (प्राणिरूप में परिणत) होता है, अन्य और कोई दूसरा समर्थ नहीं हो सकता॥ ९॥

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। अरोगी भवति। श्रीमांश्च भवति। पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति। विद्वांश्च भवति। महापातकात्पूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। अगम्यागमनात्पूतो भवति। मातृगमनात्पूतो भवति। दुहितृस्नुषाभिगमनात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। वेदिजन्महानात्पूतो भवति। गुरोरशुश्रूषणात्पूतो भवति। अयाज्ययाजनात् पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। उग्रप्रतिग्रहात्पूतो भवति। परदारगमनात्पूतो भवति। कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादिभिरबाधितो भवति। सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। इह जन्मनि पुरुषो भवति ॥ १० ॥

जो (भी व्यक्ति) इस उपनिषद् का प्रतिदिन अध्ययन करता है, वह अग्नि की भाँति पवित्र होता है। वह वायु की तरह शुद्ध होता है। वह आदित्य के समान प्रखर (गतिशील) होता है। वह सभी रोगों से रहित हो जाता है। वह श्री-सम्पन्न एवं पुत्र-पौत्रादि से समृद्ध हो जाता है। वह विद्वान् हो जाता है। महान् पातक (पाप) से पवित्र हो जाता है। अनाचरण जन्य दोष से मुक्त हो जाता है। वह माता के प्रति कदाचरण से मुक्त हो जाता है। (वह) पुत्री एवं बहिन के प्रति विकारों से मुक्त हो जाता है। सुवर्ण आदि धन की चोरी के पाप भावों से मुक्त हो जाता है। वेदाध्ययन करके उसे भूल जाने से उत्पन्न पाप से मुक्त हो जाता है। गुरु की सेवा- शुश्रूषा में उत्पन्न (आलस्य-प्रमादादि) पाप भावों से रहित हो जाता है। यज्ञीय कार्यों में अयाज्य (अपवित्र पदार्थों) के यजन आदि पापों से रहित हो जाता है। अभक्ष्य आहार आदि पाप प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है। उग्र प्रतिग्रह (निकृष्ट-दान) से भी पवित्र हो जाता है। परस्त्री के प्रति पाप दृष्टि से मुक्त हो जाता है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, क्रोधादि पापों से नहीं बँधता। (वह व्यक्ति) सभी पापों से रहित हो जाता है और इसी जन्म में ही पूर्ण पुरुष अर्थात् परमात्मा के ज्ञान से युक्त होकर पुरुष (श्रेष्ठ पुरुष या पवित्र) हो जाता है॥ १० ॥

[उपनिषद् के इस वाक्य का अर्थ विवेकपूर्वक किया जाना चाहिए। बहुधा लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि पाप वृत्तियों के वशीभूत होकर जो पापकर्म करता है, उसके दण्ड से मुक्त हो जाता है; लेकिन ऋषि कहते हैं कि वह ज्ञानी विभिन्न पाप वृत्तियों-अन्तरंग दोषों से मुक्त हो जाता है, न कि पाप कर्मों के दण्ड से। ज्ञानी अपनी ज्ञान दृष्टि से वास्तविकता को पहचान लेता है, इसलिए पाप वृत्तियों के प्रलोभन में फँसता ही नहीं है।]

तस्मादेतत्पुरुषसूक्तार्थमतिरहस्यं राजगुह्यं देवगुह्यं गुह्यादपि गुह्यतरं नादीक्षितायोपदिशेत्। नानूचानाय। नायज्ञशीलाय। नावैष्णवाय। नायोगिने। न बहुभाषिणे। नाप्रियवादिने। नासंवत्सरवेदिने। नातुष्टाय। नानधीतवेदायोपदिशेत्॥ ११ ॥

इस प्रकार इस 'पुरुषसूक्त' का अर्थ अति रहस्यमय है। यह सूक्त राजगुह्य, देवगुह्य तथा गूढ़ से भी अतिगूढ़ (छिपा हुआ) है। जो (गुरु द्वारा) दीक्षित न किया गया हो, उसे इस (सूक्त) का उपदेश न करे। जो प्रबुद्ध होने पर भी जिज्ञासा के भाव से प्रश्न न पूछता हो, जो अयज्ञीय हो, अवैष्णव, अयोगी, बहुभाषी एवं अप्रियभाषी हो, जो प्रति संवत्सर (वर्ष) में एक बार वेदों का स्वाध्याय न कर ले, जो तुष्ट न हो अर्थात् असंतोषी हो तथा जिस व्यक्ति ने वेदों का अध्ययन (पठन-पाठन) न किया हो, उसको इस (पुरुष सूक्त) का उपदेश नहीं करना चाहिए॥ ११ ॥

गुरुरप्येवंविच्छुचौ देशे पुण्यनक्षत्रे प्राणानायम्य पुरुषं ध्यायन्नुपसन्नाय शिष्याय दक्षिणकर्णे पुरुषसूक्तार्थमुपदिशेद्विद्वान्। न बहुशो वदेत्। यातयामो भवति। असकृत्कर्णमुपदिशेत्। एतत्कुर्वाणोऽध्येताध्यापकश्च इह जन्मनि पुरुषो भवतीत्युपनिषत्॥ १२ ॥

इस पुरुष सूक्त के अर्थ के इस प्रकार भली-भाँति से जानने वाला वेदविद् गुरु भी शुद्ध पवित्र देश में, पुण्य (शुभ) नक्षत्र में, प्राणायाम करके, परम पुरुष का चिन्तन करता हुआ अति विनम्रता से समीप में आये हुए शिष्य को ही उसके दाहिने श्रोत्र में उपदेश दे। अधिक वार्ता न करे, नहीं तो वह श्रेष्ठ ज्ञान (उपदेश) यातयामत्व (नि:सारता) रूप दोष से दूषित हो जाता है। इस प्रकार इस सूक्त के अर्थ का बहुशः उपदेश करे। ऐसे शिष्य (अध्येता) और गुरु (ज्ञानदाता) दोनों इसी जन्म में पूर्ण पुरुष (ब्रह्ममय) हो जाते हैं॥ १२॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि......... इति शान्तिः।

॥ इति मुद्गलोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मैत्रायण्युपनिषद्[✪] ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें राजा बृहद्रथ को उपदेश देते हुए मुनि शाकायन्य ने बतलाया कि यह ज्ञान भगवान् मैत्रेय से प्राप्त हुआ था। इसमें उन्होंने प्राणों के भेद बतलाते हुए आत्मा और भूतात्मा का अन्तर स्पष्ट किया है। जीवन रूपी रथ में ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम, कर्मेन्द्रियाँ घोड़े, अन्तःप्रकृति चाबुक तथा आत्मा को संचालक कहा गया है। ईंधन समाप्त हो जाने पर जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही वृत्तियाँ समाप्त होने पर चित्त शान्त हो जाता है। परमात्मा की सर्वरूपता ॐ कार एवं उद्गीथ की एकरूपता समझाते हुए अन्त में गायत्री महामंत्र के विभिन्न पदों की व्याख्या तथा उपासना का महत्त्व समझाया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- केनोपनिषद्)

॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥

ॐ बृहद्रथो ह वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शारीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनिरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद् भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित्त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीत्येतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्कामान्वृणीष्वेति शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद॥ १॥

बृहद्रथ नामक राजा को अपने शरीर की नश्वरता का विवेक जाग्रत् होने पर अतितीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया। इस कारण वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर वन में चला गया। वहाँ जाकर उस (राजा) ने लम्बे समय तक कठोर तप किया। वह प्रतिदिन सूर्य की ओर देखते हुए अपने दोनों हाथ ऊपर करके खड़ा रहता। एक सहस्र वर्ष के उपरान्त उसकी उग्र तपस्या के परिणाम स्वरूप शाकायन्य नामक आत्मवेत्ता महामुनि उस (राजा) के समक्ष आये। उन (मुनि) का तेज धूम्ररहित अग्नि की भाँति था। उन श्रेष्ठ मुनि ने राजा से कहा- हे राजन्! उठो-उठो, वरदान माँगो। उस राजा ने उन (मुनि) को नमस्कार करते हुए कहा- हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ, हमने सुना है कि आप ब्रह्मतत्त्ववेत्ता हैं। अत: आप हमें सत्यज्ञान रूप वरदान प्रदान करें। ऐसा सुनकर उन श्रेष्ठ मुनि ने कहा- हे इक्ष्वाकुवंशीय राजन्! तुम अन्य कोई दूसरा वर माँग लो। इस तरह के प्रश्नों को मत पूछो, जिन्हें प्राचीनकाल से ही अत्यन्त कठिन एवं दुरूह माना जाता रहा है। ऐसा सुनकर राजा बृहद्रथ ने उन मुनि श्रेष्ठ शाकायन्य के चरणों में प्रणाम करते हुए इस प्रकार कहा- ॥ १॥

✪ यह उपनिषद् 'निर्णय सागर प्रेस' (पंचम संस्करण १९४८) तथा मोतीलाल बनारसीदास (प्रथम संस्करण १९७०) द्वारा प्रकाशित संग्रहों में सात प्रपाठकात्मक है, किन्तु 'सर्व हितैशी कम्पनी, रामघाट काशी' (१९३८) एवं अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित (१९२१) संग्रह में चार प्रपाठक ही हैं, जबकि पू० गुरुदेव द्वारा प्रकाशित (१९६१) संग्रह में पाँच प्रपाठक हैं, इसी (पू० गुरुदेव के) आधार पर यहाँ भी पाँच प्रपाठक प्रस्तुत किए गये हैं।

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥ २ ॥

हे भगवन्! यह शरीर हड्डी, त्वचा, स्नायु, मज्जा, मांस, वीर्य, रक्त, अश्रु, विष्ठा, मल, मूत्र, वायु, पित्त, कफ आदि से परिपूर्ण है। यह शरीर दुर्गन्ध से युक्त एवं तत्त्वरहित है, तब कामनाजन्य भोगों की फिर क्या आवश्यकता है?॥ २॥

कामक्रोधलोभभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्यु-रोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥ ३ ॥

(हे भगवन्!) काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्ष्या, प्रियवस्तु (पदार्थ) के वियोग तथा अप्रिय के मिलनजन्य दुःख, क्षुधा-पिपासा, जरा-मरण, शोक आदि से यह शरीर अत्यन्त परेशान रहता है, ऐसी स्थिति में कामनाओं, उपभोगों की क्या आवश्यकता?॥३॥

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादयस्तृणवन्नश्यतयोद्भूत-प्रध्वंसिनः ॥ ४ ॥

(हे भगवन्!) यह सम्पूर्ण संसार क्षण भङ्गुर है। मनुष्यादि समस्त भूत-प्राणियों को (मैं) निरन्तर विनष्ट होते हुए देखता रहता हूँ। ऐसे ही अनेकानेक वे सभी क्षुद्र जीव दंश, मच्छर-कीटादि उत्पन्न होकर कुछ ही समय में काल-कवलित हो जाते हैं॥ ४॥

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित्सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्व यौवनाश्ववध्रियाश्वाश्वपतिः शशबिन्दुर्हरिश्चन्द्रोऽम्बरीषोऽननूक्तः स्वयातिर्ययातिरनरण्यो-क्षसेनोत्थमरुत्तभरतप्रभृतयो राजानो मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वास्माल्लोकादमुं लोकं प्रयान्ति ॥ ५ ॥

इन (समस्त क्षुद्र जीवों) की क्या गणना, इनसे भिन्न महान् धनुर्धारी, शूरवीर व अन्य और कितने ही सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वध्रियाश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, अननूक्त स्वयाति, ययाति, अनरण्य, उक्षसेन, उत्थ, मरुत् और भरत आदि ये सभी चक्रवर्ती नरेश अपने बान्धवों सहित देखते-देखते ही इस लोक के महान् ऐश्वर्य को त्यागकर अकस्मात् ही शरीर त्यागकर परलोक के लिए प्रयाण कर गये॥ ५॥

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये गन्धर्वासुरयक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनां निरोधनं पश्यामः ॥ ६ ॥

(हे श्रेष्ठ मुने!) मात्र मनुष्य ही नहीं, बल्कि असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत समुदाय, पिशाच, सर्प, ग्रह और उपग्रह आदि को भी हम विनष्ट होते हुए देखते हैं॥६॥

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासमृदिहावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ॥ ७ ॥

इसके पश्चात् (राजा बृहद्रथ ने उन श्रेष्ठ मुनि शाकायन्य से कहा-) हे भगवन् ! यदि इन (चेतन प्राणियों) को भी छोड़ दें, तब भी अचेतन वस्तुओं में भी जैसे, बड़े-बड़े सागर शुष्क हो जाते हैं, पर्वत - शृङ्खलाएँ विशृङ्खलित हो जाती हैं, ध्रुव प्रदेश भी अपने स्थान पर केन्द्रित नहीं रह पाते, वृक्ष भी धराशायी हो जाते हैं, पृथ्वी भी अपने एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकती, समस्त देवगण भी अपने पद से च्युत होते देखे जाते हैं; तब फिर ऐसी स्थिति में इस अहंकार से युक्त नश्वर संसार में विषय-वासनाओं के भोगों में आसक्त रहने वाले तो बारम्बार इस नश्वर जगत् में जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध हुए - से दृष्टिगोचर होते हैं। इस कारण हे श्रेष्ठ मुने! इस अज्ञानान्धकार रूपी कूप में स्थित मण्डूक (मेंढक) की भाँति इस नश्वर जगत् में मैं भी पतितावस्था में स्थित हूँ। कृपया आप मुझे अपनी गति प्रदान करें अर्थात् मेरा उद्धार करें। मैं आपकी ही शरण में हूँ। आप ही एक मात्र हमारे आधार हैं॥ ७॥

॥ द्वितीयः प्रपाठकः॥

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मजः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं वाव खल्वात्मा ते कतमो भगवान्वर्ण्य इति तं होवाचेति ॥ १॥

तत्पश्चात् यह (राजा बृहद्रथ की गाथा को) सुनकर श्रेष्ठ मुनि शाकायन्य ने अति प्रसन्न होकर कहा- हे महाराज बृहद्रथ! तुम इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न नरेश ध्वजशीर्ष के पुत्र हो। तुम सभी तरह से कृतकृत्य होते हुए 'मरुत्' के नाम से प्रख्यात हो। यह आत्मा क्या एवं कैसा है? मैं अब तुम्हें इसके सारतत्त्व को बताने का प्रयास करता हूँ। राजा बृहद्रथ ने कहा- हे श्रेष्ठ मुने! आप मुझे तत्सम्बन्धित विषय के सन्दर्भ में अवश्य ही बताने की कृपा करें॥ १॥

अथ य एषो बाह्यावष्टम्भनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तो व्यथमानोऽव्यथमानस्तमः प्रणुदत्येष आत्मेत्याह भगवानथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति॥ २॥

तदनन्तर महर्षि कहने लगे - हे राजन्! बाह्य इन्द्रियों का निरोध करने से (उन्हें अन्तर्मुखी बनाने से) प्राणतत्त्व रूपी यह आत्मा योग के माध्यम से ऊर्ध्व की ओर गमन करता है। वह दुःख रूप प्रतिभासित होते हुए भी वास्तव में दुःखरहित है तथा अज्ञानरूप अन्धकार को विनष्ट करने में समर्थ है। यही आत्मा इस नश्वर शरीर से बहिर्गमन करने पर परम ज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्व को वरण करके स्वयमेव अपने स्वरूप में विलीन हो जाता है। यह आत्मतत्त्व अमृतयुक्त, भयरहित तथा स्वयं ही ब्रह्मरूप है॥ २॥

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं भगवता मैत्रेयेण व्याख्याताहं ते कथयिष्यामीत्यथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजस ऊर्ध्वरेतसो वालखिल्या इति श्रूयन्तेऽथैते प्रजापतिमब्रुवन्भगवञ्शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वीदृशो महिमातीन्द्रियभूतस्य येनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयितास्य को भगवन्नेतदस्माकं ब्रूहीति तान्होवाच ॥ ३॥

हे राजन्! जिस (अविनाशी ब्रह्मविद्या) का सभी उपनिषदें एक स्वर से उपदेश करती हैं, उस ब्रह्मविद्या के ज्ञान को भगवान् मैत्रेय ने मुझे बताया है, वही श्रेष्ठ ज्ञान मैं तुम्हें बतलाता हूँ। साधना द्वारा जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे तेजस्वी एवं ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले मुनि वालखिल्य के नाम से जाने जाते हैं। ऐसा ही एक बार उन श्रेष्ठ मुनि ने ब्रह्मा जी से प्रश्न किया- हे ब्रह्मन्! यह शरीर गाड़ी की भाँति अचेतन है, तो फिर ऐसा कौन सा अतीन्द्रिय तत्त्व है, किस श्रेष्ठ तत्त्व की ऐसी महिमा है ? जिससे कि यह शरीर चैतन्य की भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इस शरीर को जो प्रेरित करता है, उसे वाणी से भी परे (श्रेष्ठ) बताया गया है। हे भगवन्! उसी (श्रेष्ठ तत्त्व) को हमारे समक्ष बताने की कृपा करें॥ ३॥

यो ह खलु वाचोपरिस्थः श्रूयते स वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तः प्राणोऽनीशात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भगवन्कथमनेनेदृशेनानिच्छेनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति कथमिति तान्होवाच॥ ४॥

(ब्रह्मा जी ने मुनि से कहा) उस श्रेष्ठ तत्त्व को शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, जीवन प्रदान करने वाला, अनन्त, अविनाशी, शाश्वत, सनातन, स्थिर, अजन्मा एवं स्वतन्त्र रूप से निवास करने वाला आत्मा कहा जाता है। उसी की ही यह महान् महिमा है। उस आत्मा से ही इस अचेतन शरीर को चेतन की भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। वही चेतन आत्म तत्त्व प्रेरणा प्रदान करने वाला है। यह सुनने के बाद महामुनि वालखिल्य जी ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन्! यह आत्मा अनिच्छित होते हुए भी चैतन्यरूप से इस शरीर में कैसे स्थिर है ? इस शरीर को यह प्रेरित क्यों करता है ? तथा इस आत्मा की यह महिमा किस प्रकार की है ?॥ ४॥

स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृश्यः पुरुषसंज्ञको बुद्धिपूर्वमिहैवावर्ततेंऽशेन सुषुप्तस्यैव बुद्धिपूर्वं निबोधयत्यथ यो ह खलु वावैतस्यांशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वाक्षस्तेन चेतनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भगवन्नीदृशस्य कथमंशेन वर्तनमिति तान्होवाच ॥ ५॥

ब्रह्मा जी ने कहा - (हे मुने!) यह आत्मा सूक्ष्म, अग्राह्य और अदृश्य रूप है, इस कारण इसे 'पुरुष' नाम की संज्ञा द्वारा जाना जाता है। यह आत्मा अपने एक अंश से इस शरीर में अपने प्रयोजन के अभाव में भी बुद्धिपूर्वक सतत आता रहता है। सोते हुए को वह युक्तिपूर्वक बोध कराते हुए चैतन्य रूप से सभी प्राणियों में प्रतिष्ठित करता है। वही प्रत्येक शरीर में क्षेत्रज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित है; वही प्रकाश, संकल्प, प्रयास, अहंकार, लिंग (पुरुष-स्त्री आदि) और प्रजापति के रूप में समस्त विश्व को देखने वाला है। उसी की चेतना से शरीर चैतन्ययुक्त है। वही इस शरीर को क्रियान्वयन हेतु प्रेरित करता है। वालखिल्य ने पुनः प्रश्न किया - हे भगवन्! यह आत्मा अखण्ड होने पर भी किस तरह अंश रूप में यहाँ स्थिर है ? ॥ ५॥

प्रजापतिर्वा एषोऽग्रेऽतिष्ठत्स नारमतैकः स आत्मानमभिध्यायद्बह्वीः प्रजा असृजत्ता अस्यैवात्मप्रबुद्धा अप्राणा स्थाणुरिव तिष्ठमाना अपश्यत्स नारमत सोऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरं प्रविशानीत्यथ स वायुमिवात्मानं कृत्वाभ्यन्तरं प्राविशत्स एको नाविशत्स पञ्चधात्मानं प्रविभज्योच्यते यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति॥ ६॥

ब्रह्माजी ने कहा- हे महर्षे! सर्वप्रथम एकमात्र प्रजापति ही एकाकी रूप में थे। वे अकेले रमण (अपने को सन्तुष्ट) नहीं कर सके, तब उन्होंने अपनी आत्मा का ध्यान किया। इसके फलस्वरूप उन्होंने विभिन्न रूपों में प्रजा का सृजन किया। अपने द्वारा उत्पन्न किये वे प्राणी उन्हें (स्वयं को) निष्प्राण एवं खम्भे की भाँति (निश्चेष्ट) मालूम पड़े। तदनन्तर (ऐसी उस क्रिया, ज्ञान एवं शक्ति से रहित प्रजा को देखकर) उन्होंने विचार किया कि इस प्रजा को (क्रिया, ज्ञान और शक्ति से युक्त) सचेतन करने के लिए मैं (प्रजापति) इनके अन्त:करण में प्रविष्ट करूँ। ऐसा सोचकर उन्होंने स्वयं को वायु रूप में परिणत करके, उन सभी (अपने द्वारा उत्पन्न किए हुए प्राणियों) में प्रविष्ट हो गये । वे एक होते हुए भी पाँच रूपों में विभक्त हो गये। जो प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के रूप में जाने गये ॥ ६ ॥

अथ योऽयमूर्ध्वमुत्क्रामतीत्येष वाव स प्राणोऽथ योयमवाञ्चं संक्रामत्येष वाव सोऽपानोऽथ योऽयं स्थविष्ठमन्नधातुमपाने स्थापयत्यणिष्ठं चाङ्गेऽङ्गे समं नयत्येष वाव स समानोऽथ योऽयं पीताशितमुद्गिरति निगिरतीति चैष वाव स उदानोऽथ येनैताः शिरा अनुव्याप्ता एष वाव स व्यानः ॥ ७ ॥

जो ऊर्ध्व की ओर गमन करता है, वह प्राण कहलाता है। जो नीचे की ओर जाता है, वह अपान के नाम से जाना जाता है। जो अत्यन्त स्थूल अन्न एवं धातु को पाचन तन्त्र (ऊर्जा को) के माध्यम से अपान में प्रतिष्ठित करता है तथा सूक्ष्म रूप से अंग-प्रत्यंग में समान रूप से पहुँच जाए, उसे समान कहते हैं। जो खाये-पिये पदार्थ को उगलता और निगलता है, उसे उदान कहते हैं और जिस वायु से समस्त नाड़ियाँ परिपूर्ण हैं, वही व्यान कहलाता है ॥ ७ ॥

अथोपांशुरन्तर्याम्यभिभवत्यन्तर्याममुपांशुमेतयोरन्तराले चौष्ण्यं प्रास्त्रवद्यदौष्ण्यं स पुरुषोऽथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरोऽप्यन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यदेतत्कर्णावपिधाय शृणोति सयदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति ॥ ८ ॥

जो समीप रहते हुए भी अन्तर्यामी (अन्तरिक्ष को जानने वाला) है तथा जो एक प्रहर के अन्तराल में पराभव कर देता है, ऐसे उन दोनों के मध्य में जो उष्णता बरसती है, वह उष्णता ही पुरुष है। जो पुरुष है, वही वैश्वानर नामक अग्नि है। अन्यत्र भी यह कहा गया है कि अन्त:करण में विद्यमान 'पुरुष' ही वैश्वानर रूप 'अग्निपुरुष' के नाम से जाना जाता है। इस (वैश्वानर रूप अग्नि) से खाया हुआ भोजन पचता है। जो ग्रहण किया गया है, उसी का शब्द अन्त:करण में सुनाई पड़ता है। कानों को बन्द करने पर यही ध्वनि अन्दर से आती हुई सुनाई पड़ती है। जब शरीर से प्राणों के निकलने का समय होता है, तब यह ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनायी नहीं पड़ती ॥ ८ ॥

स वा एष पञ्चधात्मानं प्रविभज्य निहितो गुहायां मनोमयः प्राणशरीरो बहुरूपः सत्यसंकल्प आत्मेति स वा एषोऽस्य हृदन्तरे तिष्ठन्नकृतार्थोऽमन्यतार्थानसानि तत्स्वानीमानि भित्त्वोदितः पञ्चभी रश्मिभिर्विषयानत्तीति बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया रथः शरीरं मनो नियन्ता प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदनेन खल्वीरितं परिभ्रमतीदं शरीरं चक्रमिव मृते च नेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ॥ ९ ॥

वह यह प्रजापति रूपी आत्मा स्वयं ही अपने को पाँच भागों में विभक्त करके हृदयरूपी गुहा (गुफा) क्षेत्र में प्रतिष्ठित है। यही आत्मा मनोमय रूप में, प्राणमय रूप में एवं तेजोमय रूप में, संकल्प रूप में तथा आकाशात्म रूप में अवस्थित है। इस प्रकार यह आत्मा हृदय प्रदेश में स्थित रहते हुए इन्द्रियों का अनुभव न करता हुआ स्वयं को अकृतार्थ अनुभव करने लगा। तदनन्तर अपने आप को कृतकृत्य करने हेतु पाँच द्वारों (इन्द्रियों) का बेधन करके प्रादुर्भूत हुआ। ये पाँच द्वार ही (श्रोत्रादि) पाँच इन्द्रियों के रूप में परिणत हो गये, जिनसे वह विषयों का उपभोग करता है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम हैं तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं। शरीर को रथ एवं मन को सारथि की संज्ञा प्रदान की गई है और स्वभाव (प्रकृति) को चाबुक कहा गया है। इस चाबुक से प्रेरणा प्राप्त करके यह शरीर चक्र की भाँति गमन करता है। इस प्रकार यह आत्मा ही इस शरीर को सचेतन बनाए हुए है तथा इसे प्रेरित करता रहता है॥ ९॥

स वा एष आत्मेत्यदो वशं नीत एव सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमान इव प्रतिशरीरेषु चरत्यव्यक्तत्वात्सूक्ष्मत्वाददृश्यत्वादग्राह्यत्वान्निर्ममत्वाच्चानव-स्थोऽकर्ता कर्तेवावस्थितः॥ १०॥

ऐसा प्रतीत होता है कि यह आत्मा ही शरीर के वशीभूत होकर शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप बन्धन में फँस गया है। इसी कारण वह (आत्मा) विविध शरीरों में संचरित होता रहता है, परन्तु चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में वह अव्यक्त,सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य, ममता से रहित एवं अवस्था (जाग्रत्, स्वप्र,सुषुप्ति)रहित है। अतः वह (आत्मा) अकर्त्ता होते हुए भी कर्त्तारूप में प्रतीत होता है॥ १०॥

स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चालेपोऽव्यग्रो निःस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्य चरितभुग्गुणमयेन पटेनात्मानमन्तर्धायावस्थित इत्यवस्थित इति॥ ११॥

यह (आत्मा) शुद्ध, स्थिर, अचल, निर्लिप्त, उद्विग्नता रहित, निःस्पृह द्रष्टा की भाँति रहते हुए अपने द्वारा किये गये कर्मों के फल का उपभोग करता हुआ-सा प्रतीत होता है। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उस आत्मा ने अपने रूप को तीन गुणों (सत्,रज, तम,) रूपी वस्त्र द्वारा आच्छादित कर रखा है॥ ११॥

॥ तृतीयः प्रपाठकः॥

ते होचुर्भगवन्यद्येवमस्यात्मनो महिमानं सूचयसीत्यन्यो वा परः कोऽयमात्मा सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां वा गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति कतम एष इति तान्होवाच॥ १॥

महर्षि ने पुनः प्रश्न किया - हे भगवन् ! इस आत्मा की महिमा का वर्णन यदि इस प्रकार है, तो पुनः वह (आत्मा) श्रेष्ठ एवं निकृष्ट कर्मों के बन्धन में बँधा हुआ तथा अच्छी-बुरी योनियों में घूमता हुआ क्या कोई अन्य आत्मा है? सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से अभिभूत ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी गतियों में विचरण करने वाला कौन है?॥ १॥

अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्मा योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीत्यस्योपव्याख्यानं पञ्च तन्मात्राणि भूतशब्देनोच्यन्ते पञ्च महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ तेषां यः समुदायः

शरीरमित्युक्तमथ यो ह खलु वाव शरीरमित्युक्तं स भूतात्मेत्युक्तमथास्ति तस्यात्मा बिन्दुरिव पुष्कर इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरित्यतोऽभिभूतत्वात्संमूढत्वं प्रयात्यसंमूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद्गुणौघैस्तृप्यमानः कलुषीकृतश्चास्थिरश्चञ्चलो लोलुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चाभिमानत्वं प्रयात इत्यहं सो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनात्मानं जालेनेव खचरः कृतस्यानुफलैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति॥ २॥

(हे श्रेष्ठ महर्षे!) जो शुभ - अशुभ कर्मों के कारण अधोगामी हुआ है, वह तो दूसरा भूतात्मा (जीवात्मा) के नाम से जाना जाता है तथा वह कर्मानुसार अच्छी बुरी योनियों में गमन करता है, ऊँची-नीची गतियों को प्राप्त करता है, साथ ही सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से प्रभावित होता है। पंचभूतों और तन्मात्राओं को 'भूत' कहा जाता है। इनका समुच्चय ही शरीर है। इस कारण से इस शरीर को भूतात्मा (भूतात्मक) कहा जाता है। शरीर में निवास करने वाली यह आत्मा तो कमल के पत्तों में रहने वाली बूँदों की भाँति है; किन्तु वह अपने प्राकृतिक गुणों से प्रभावित-पराजित होकर मूढ़ बन गया है। इस कारण वह अपने अन्दर उपस्थित प्रेरक परमात्मतत्त्व को नहीं देख सकता। इस तरह वह सद्गुणों से तृप्त होता हुआ पापयुक्त, अस्थिर, चञ्चल, लोलुप, विषयासक्त, व्यग्र एवं अभिमानी होकर अहंकार युक्त हो जाता है। उसके अन्दर यह भाव आने लगते हैं कि 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है', इस प्रकार वह पक्षी की भाँति जालरूपी विकारों में फँस जाता है। वह अपने द्वारा कृत-कर्मों के फलस्वरूप खुद ही आबद्ध होकर विचरण करता है॥ २॥

अथान्यत्राप्युक्तं यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारयितान्तःपुरुषोऽथ यथाग्निनायःपिण्डो वाभिभूतः कर्तृभिर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्येवं वाव खल्वसौ भूतात्मान्तःपुरुषेणाभिभूतो गुणैर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्यथ यत्त्रिगुणं चतुरशीतिलक्षयोनिपरिणतं भूतत्रिगुणमेतद्वै नानात्वस्य रूपं तानि ह वा इमानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव चक्रिणेत्यथ यथायःपिण्डे हन्यमाने नाग्निरभिभूयत्येवं नाभिभूयत्यसौ पुरुषोऽभिभूयत्ययं भूतात्मोपसंश्लिष्टत्वादिति॥ ३॥

अन्य स्थलों पर भी कहा गया है कि कर्त्तापन तो इस भूतात्मा का ही है। अन्तःकरण में विद्यमान रहने वाली पवित्रात्मा तो मात्र प्रेरणा प्रदान करने वाली है। जिस प्रकार लोहे को अग्नि में तप्त करके लुहार उसे विभिन्न रूपों में परिणत कर देता है, उसी प्रकार यह भूतात्मा शुद्ध आत्मा के द्वारा तप्त तथा सद्गुणों के द्वारा सतत प्रहार करने पर वह अन्य अनेक रूपों में परिणत हो जाता है। अर्थात् वह गुणों से युक्त हो चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है, यही अनेकत्व का स्वरूप है। जिस प्रकार चक्र (चाक) को संचालित करने वाला कुम्हार चाक से अलग रहता है, उसी तरह आत्मा (सत्, रज और तम) इन तीनों गुणों से पृथक् है। जिस प्रकार लौह खण्ड को पीटने से उसमें स्थित अग्नि नहीं पीटी जाती, वैसे ही शुद्ध आत्मा विकाररहित होता है, परन्तु उस (शुद्ध आत्मा) को भूतात्मा के संसर्ग का दोष लग जाता है॥ ३॥

[लाल गर्म लोहा अग्नि जैसा दिखने लगता है, उसी स्थिति में उसे हथौड़े से पीटकर इच्छित आकार दिया जा सकता है। इसी प्रकार आत्म तत्त्व के संसर्ग से पंचभूत जब चेतनायुक्त दिखते हैं, तभी उन्हें गुणों के प्रहार या दबाव से इच्छित आकार दिया जाता है।]

अथान्यत्राप्युक्तं शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविद्ध्युपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इवावसन्नेति॥ ४॥

इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर यह भी संकेत मिलता है कि स्त्री-पुरुष के संयोग से जिस शरीर का प्रादुर्भाव होता है, वह चेतना शून्य है तथा नरक जैसा प्रतीत होता है। मूत्र द्वार से बहिर्गमन होने वाला यह शरीर हड्डियों के द्वारा गठित किया गया है। मांस से अनुलिप्त है तथा चर्म के द्वारा आबद्ध किया गया है। मल, मूत्र, पित्त, कफ, मज्जा, मेद, वसा आदि से युक्त है। इसके अतिरिक्त अन्य कई तरह के मलों से भी परिपूर्ण है। यह शरीर ऐसा लगता है कि सभी विकार युक्त पदार्थों का कोषागार ही है ॥ ४॥

अथान्यत्राप्युक्तं संमोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री व्रणो जरा शोकः क्षुत्पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं वैकारुण्यं मूढत्वं निर्व्रीडत्वं निकृतत्वमुद्धतत्वमसमत्वमिति तामसान्वितस्तृष्णा स्नेहो रागो लोभो हिंसा रतिर्दृष्टिर्व्यापृतत्वमीर्ष्या काममस्थिरत्वं चञ्चलत्वं जिहीर्षार्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहावलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्वभिषङ्ग इति राजसान्वितैः परिपूर्ण एतैरभिभूत इत्ययं भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति ॥ ५ ॥

एक अन्य स्थान में यह भी कहा गया है कि मोह, भय, विषाद, निद्रा, तन्द्रा, वृद्धावस्था, शोक, दु:ख, भूख, प्यास, कार्पण्य (दीनता), क्रोध, नास्तिकता, अज्ञान, मात्सर्य, विकार, मूढ़ता, निर्लज्जता, उद्धतता, विषमता, कृतघ्नता आदि तमोगुण के विकारों से यह शरीर परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त तृष्णा, स्नेह, रोग, लोभ, हिंसा, काम-दृष्टि, व्यापार, ईर्ष्या, स्वेच्छाचारिता, चंचलता, किसी की वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा, धनोपार्जन की इच्छा, मित्रों का अनुग्रह, परिग्रह का आश्रय, इन्द्रियों का अप्रिय विषयों से द्वेष और प्रिय विषयों से आसक्ति आदि रजोगुण से युक्त विकार भी उस भूतात्मा में विद्यमान रहते हैं। इन सभी विकारों के द्वारा यह भूतात्मा पराभव को प्राप्त होता है तथा पुन: अनेक रूपों को प्रात करता है ॥ ५ ॥

॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥

ते ह खल्वथोर्ध्वरेतसोऽतिविस्मिता अतिसमेत्योचुर्भगवन्नमस्ते त्वं नः शाधि त्वमस्माकं गतिरन्या न विद्यत इत्यस्य कोऽतिथिर्भूतात्मनो येनेदं हित्वात्मन्येव सायुज्यमुपैति तान्होवाच ॥ १ ॥

ब्रह्मा जी के द्वारा दिये हुए उपदेश को सुनकर ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचारी) श्रेष्ठ मुनि वालखिल्य जी अत्यधिक विस्मित हुए एवं निकट में जाकर कहा-हे भगवन्! आपको नमस्कार है। आप ही हमें शरण देने वाले हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई हमारा शरण स्थल नहीं। अत: आप हमें यह समझाएँ कि इस भूतात्मा का अतिथि कौन है, जिसके लिए यह सर्वस्व त्यागकर आत्मा में ही सायुज्य प्राप्त करता है ?॥ १ ॥

अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषूर्मय इव निवर्तकमस्य यत्पुराकृतं समुद्रवेलेव दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागमनं सदसत्फलमयैर्हि पाशैः पशुरिव बद्धं बन्धनस्थस्येवास्वातन्त्र्यं यमविषयस्थस्येव बहुभयावस्थं मदिरोन्मत्त इवामोदमदिरोन्मत्तं पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विपद्दष्टं महान्धकार इव रागान्धमिन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरममित्यथोक्तम् । शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः । येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥ २ ॥

ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि हे श्रेष्ठ मुने! एक अन्य स्थान में कहा गया है कि जैसे बड़ी-बड़ी नदियों में तरंगें उठती रहती हैं, वैसे ही भूतात्मा में पूर्वकाल में किये हुए कर्म पाये जाते हैं। उन किये हुए कर्मों का फल इसे भोगना ही पड़ता है। पुन: जिस तरह समुद्र का किनारा लहरों के अन्त होने के लिए आवश्यक है, उसी तरह भूतात्मा के लिए मृत्यु भी अति आवश्यक है, वह शुभ व अशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप बन्धनों में पशुओं की तरह आबद्ध हुआ परतन्त्र- सा बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह (भूतात्मा) यम के राज्य में ही निवास करता है। इस तरह वह भूतात्मा हमेशा डरा हुआ सा ही बना रहता है। विषय-वासना की सुखरूपी मदिरा का पान करके वह मतवाला हो जाता है। पापरूपी भूत के द्वारा आवेशित हुआ वह यत्र-तत्र भटकता रहता है। इस प्रकार वह विपत्ति में विषधर सर्प-दंश की भाँति दु:ख भोगता है। विषय-वासनाओं की इच्छा के अनुरूप घने अन्धकार में रहता हुआ वह अन्धा ही हो जाता है। जादूगर के जादू की भाँति वह माया से परिपूर्ण है, स्वप्नवत् वह मिथ्या ही परिलक्षित होता है। केले के वृक्ष के अन्त: भाग की भाँति वह सार रहित है और नट (तमाशा दिखाने वाले) की भाँति वह प्रतिक्षण नवीन से नवीनतम वेशों को धारण करता रहता है तथा चित्रों से सुसज्जित दीवार की तरह उसका बाह्य आवरण ही सुन्दर रहता है। इसके पश्चात् यह भी कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय साररहित हैं। उन सार रहित विषयों में आसक्त हुआ भूतात्मा स्वयं को ही यथार्थतया स्मरण नहीं रख पाता है ॥ २॥

अयं वाव खल्वस्य प्रतिविधिर्भूतात्मनो यदेव विद्याधिगमस्य धर्मस्यानुचरणं स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमणं स्वधर्म एव सर्वं धत्ते स्तम्बशाखेवेतराण्यनेनोर्ध्वभाग्भवत्यन्यथाध: पतत्येष स्वधर्माभिभूतो यो वेदेषु न स्वधर्मातिक्रमेणाश्रमी भवत्याश्रमेष्वेवावस्थितस्तपस्वी चेत्युच्यत एतदप्युक्तं नातपस्कस्यात्मध्यानेऽधिगम: कर्मशुद्धिर्वेत्येवं ह्याह। तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मन: । मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तत इति ॥ ३॥

इस भूतात्मा की मुक्ति का उपाय ब्रह्मा जी इस प्रकार बताते हैं- ज्ञान की प्राप्ति जिस धर्म से हो सके, ऐसे श्रेष्ठ धर्म का आचरण करना चाहिए तथा अपने आश्रम धर्म का सदा पालन करना चाहिए । अन्य धर्म तो गुल्म (तृण) की शाखा की भाँति असत्य हैं। अत: वह (भूतात्मा) अपने धर्म के द्वारा ही प्रगति को प्राप्त करता है, अन्य तरह के धर्मों से तो उसे अवनति की ओर ही जाना पड़ता है। वेद में वर्णित स्वधर्म का परित्याग करने वाला आश्रमी नहीं कहा जा सकता। जो (व्यक्ति) आश्रम धर्म का निर्वाह करता है, वही तपस्वी है। यह भी कहा गया है कि जो तपस्वी नहीं है, उसका ध्यान आत्मा में नहीं एकाग्र होता। इस कारण से उसकी कर्म शुद्धि नहीं हो पाती। तप के माध्यम से ज्ञान की उपलब्धि होती है और ज्ञान की प्राप्ति होने पर मन अपने वश में हो जाता है। मन के वशीभूत होने पर आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है और आत्मा की उपलब्धि से इस संसार सागर से मुक्ति मिल जाती है॥ ३॥

[आश्रम का अर्थ होता है, जहाँ आश्रित-स्थित है। जो चेतना अग्नि में स्थित है, वह अग्नि के अनुरूप धर्म का पालन करती है, जो जल में अथवा वायु में है; वह उसी के अनुरूप धर्म का पालन करती है। इसी तरह मनुष्य शरीरस्थ चेतना-आत्मा को मानव धर्म का तथा उसके अन्तर्गत देश, काल, पात्र के अनुरूप धर्म का पालन करना चाहिए। इसी धर्म पालन रूप तप से कर्मशुद्धि द्वारा मोक्ष का अधिकार बनता है।]

अत्रैते श्लोका भवन्ति-

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।

तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥ क॥

यहाँ ब्रह्मा जी ने कुछ श्लोकों के द्वारा भी श्रेष्ठ मुनि वालखिल्य जी को समझाने का प्रयास किया है-

जैसे अग्नि में लकड़ी के जलकर समाप्त होने पर अग्नि स्वयं ही अपने स्थान में शान्त हो जाती है, वैसे ही वृत्तियों का क्षय होने पर चित्त स्वयं ही अपने उत्पत्ति स्थल में शान्त हो जाता है॥ क॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः ।
इन्द्रियार्था विमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ ख॥

अपने उद्गम स्थल में शान्त मन जब सत्य की ओर गमन करता है, तब कर्म के वशीभूत इन्द्रियों के प्रति आसक्ति आदि भोग विषय उसे असत्य प्रतीत होते हैं॥ ख॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्॥ ग॥

चित्त ही संसार है, इस कारण प्रयत्नपूर्वक चित्त का शोधन करना चाहिए। जिस प्रकार (व्यक्ति) का चित्त होता है, उसी प्रकार ही उसे गति (दशा) प्राप्त होती है। यही सनातन नियम है॥ ग॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते॥ घ॥

चित्त के शान्त होने पर शुभ और अशुभ कर्म विनष्ट हो जाते हैं। चित्त के द्वारा शान्त हुआ व्यक्ति जब (चिन्तन के माध्यम से) आत्मा में स्थित होता है, तभी उसे अक्षय आनन्द की अनुभूति होती है॥ घ॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥ ङ॥

मनुष्य का चित्त जितना अधिक विषय-वासनाओं (भोगों) में आसक्त होता है, यदि उतना ही कहीं (उसका चित्त) 'ब्रह्म' के प्रति आसक्त हो जाए , तो फिर उसे वासनादि विषयों के बन्धन से मुक्ति क्यों न मिल जाए? ॥ ङ॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥ च॥

शुद्ध और अशुद्ध यह दो स्थितियाँ मन की कही गयी हैं। कामनाओं के संकल्प से युक्त (मन) अशुद्ध है तथा कामनाओं का परित्याग कर देने वाला मन ही शुद्ध है॥ च॥

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम्॥ छ॥

लय और विक्षेपरहित 'मन' पूर्णरूपेण निश्चल (स्थिर) हो जाता है और जब मनोभावों (काममाओं) का समापन हो जाता है, तभी वह परम-पद रूप को प्राप्त होता है॥ छ॥

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः॥ ज॥

जब तक मन का क्षय (विनाश) न हो, तब तक ही उसका हृदय में निरोध करना चाहिए। मात्र यही ज्ञान एवं मोक्ष का सार है, अन्य शेष का तो ग्रन्थों में विस्तार किया गया है॥ ज॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥झ॥

समाधि के द्वारा जिसके मल का परिशोधन हो गया है तथा जो आत्मा में विलीन हो गया है, ऐसा 'चित्त' ही आनन्दानुभूति की प्राप्ति कर सकता है। तब उसका वर्णन वाणी के द्वारा करने में कोई भी समर्थ नहीं है, उसको तो मात्र अन्तःकरण के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है ॥ झ॥

अपामपोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्।

एवमन्तर्गतं चित्तं पुरुषः प्रतिमुच्यते॥ ञ॥

जैसे जल में जल, अग्नि में अग्नि और आकाश में आकाश का विलय हो जाने पर उसके सभी भिन्न-भिन्न रूप परिलक्षित नहीं होते, वैसे ही चित्त का (आत्मा में) विलय हो जाने पर 'पुरुष' मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ ञ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति॥ ट॥

'मन' ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयों में आसक्त हुआ मन ही बन्धन का कारण है तथा विषयों से रहित अर्थात् विषयों में आसक्त न रहने वाला 'मन' ही मुक्ति का कारण है॥ ट॥

अथ यथेयं कौत्सायनिस्तुतिः-त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं

रुद्रस्त्वं प्रजापतिः। त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥ ठ॥

इसी प्रकार कौत्सायनि ऋषि की भी प्रशंसोक्ति है-'तुम ब्रह्मा हो, विष्णु हो, रुद्र हो। तुम प्रजापति हो, तुम अग्नि हो, तुम वरुण हो, तुम वायु हो, तुम इन्द्र हो और तुम्हीं निशाकर (चन्द्रमा) हो'॥ ठ॥

त्वं मनुस्त्वं यमश्च त्वं पृथिवी त्वमथाच्युतः।

स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि ॥ ड॥

तुम मनु हो, तुम यम हो, तुम पृथ्वी हो, तुम अच्युत हो, तुम्हीं अपने विषय रूप में स्वाभाविक अर्थ हो तथा तुम्हीं स्वयं अपने-आप में भी विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठित रहते हो॥ ड॥

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।

विश्वभुग्विश्वमायस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः॥ ढ॥

हे सर्वेश्वर! आपको नमस्कार है। आप ही सम्पूर्ण विश्व की आत्मा हैं, विश्व के समस्त कार्यों को करने वाले हैं। सभी के भरण-पोषण करने वाले हैं। सब प्रकार की माया को धारण करने वाले, सर्वत्र विश्व-क्रीड़ा में प्रेम रखने वाले आप सभी के प्रभु हैं॥ ढ॥

नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च।

अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय चेति॥ ण ॥ ४॥

हे शान्त आत्मा वाले! आपको नमस्कार है। अतिशय गूढ़, अचिन्त्य, प्रमाणों से न जान सकने योग्य एवं आदि-अन्त रहित आपके लिए नमन-वंदन है॥ ण॥ ४॥

तमो वा इदमेकमास तत्पश्चात्तत्परेणेरितं विषयत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै तमसो रूपं तत्तमः खल्वीरितं तमसःसंप्रास्रवत्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तत्सत्त्वात्संप्रास्रवत्सोंऽशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अग्र्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो

विष्णुरित्यथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स एव विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा चोद्भूत उद्भूतत्वाद्भूतेषु चरति प्रतिष्ठा सर्वभूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसावात्मान्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च॥ ५॥

सृष्टि-रचना के पूर्व यह(भूतात्मा) केवल अन्धकार (अज्ञान) रूप ही था। तत्पश्चात् परमात्मा द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके इन्द्रियों के विषय रूप में परिणत हो गया । इन (रूपों) में से यह वस्तु रजोगुण के रूप में है। यह तमोगुण का भी स्वरूप है अर्थात् प्रेरणा प्राप्त तमोगुण ही तमोगुण में से प्रकट होता है। यह सत्त्व गुण का भी रूप है अर्थात् प्रेरणा प्राप्त हुआ सत्त्वगुण ही सत्त्वगुणों में से स्रवित हुआ है। जो यह चेतन सत्ता हर भूत-प्राणियों में क्षेत्रज्ञ जीव रूप से स्थिर है और परमात्मा का अंश है। वह संकल्प युक्त और अध्यवसायी, दृढ़निश्चयी है, अहंकार रूप (मैं पन) से पहचाना जाने वाला तथा समस्त प्रजा का पति है। ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र को ही परमात्मा का सबसे बड़ा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। उस परमात्मा रजोगुण अंश को 'ब्रह्मा' कहा गया है, तमोगुण अंश को 'रुद्र' और जो सतोगुण अंश है, उसे 'विष्णु' कहा गया है। इस कारण से वह एक ही परमात्मा तीन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) रूपों में, आठ (अष्टवसु) रूपों में ग्यारह(रुद्र)रूपों में, बारह (आदित्य) रूपों में तथा अन्य (असंख्य संसारी जन रूप) अगणित रूपों में उत्पन्न हुआ है। वह इस तरह 'उद्भूत' होते हुए भी प्रत्येक भूतों-प्राणियों में स्थित है। वही समस्त प्राणियों का अधिष्ठाता है और वही अन्दर-बाहर आत्मा के रूप में विद्यमान है। वही अन्दर और बाहर है॥ ५॥

॥ पंचमः प्रपाठकः ॥

द्विधा वा एष आत्मानं बिभर्त्ययं यः प्राणो यश्चासावादित्योऽथ द्वौ वा एतावास्तां पञ्चधा नामान्तर्बहिश्चाहोरात्रे तौ व्यावर्तेते असौ वा आदित्यो बहिरात्मान्तरात्मा प्राणो बहिरात्मागत्यान्तरात्मनानुमीयते। गतिरित्येवं ह्याह यः कश्चिद्विद्वानपहतपाप्मा-ध्यक्षोऽवदातमनास्तन्निष्ठ आवृत्तचक्षुः सोऽन्तरात्मागत्या बहिरात्मनोनुमीयते गतिरित्येवं ह्याहाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो यः पश्यति मां हिरण्यवत्स एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति॥ १॥

वह परमात्मा दो प्रकार की आत्माओं (स्वरूपों) को ग्रहण करता है। यह जो प्राण है तथा जो सूर्य है, यही दोनों सर्वप्रथम उत्पन्न हुए हैं। यह सूर्य बाह्य आत्मा है और प्राण अन्तः की आत्मा है। इसकी गति को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि यह अन्तरात्मा ही है। वेदों में कहा गया है कि यह आत्मा गतिरूप ही है। जिस विद्वान् के पापों का शमन हो चुका है, वह सभी का अध्यक्ष होता है। उसका मन पवित्र होता है तथा उसकी स्थिति परमात्मा में ही रहती है। उस (विद्वान्) का ज्ञान चक्षु जाग्रत् हो जाता है तथा वह अन्तरात्मा में ही स्थिर रहता है। वह गतिशील होता हुआ बहिर्गमन कर जाता है। आत्मा की गति का अनुमान लगाया जा सकता है, ऐसा वेदों ने भी प्रतिपादित किया है। सूर्य के मध्य भाग में जो 'पुरुष' स्वर्ण के रूप में दृष्टिगोचर होता है, जो हमें हिरण्यमय अर्थात् प्रकाश स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वही (पुरुष) हृदयरूपी कमल में स्थित रहते हुए अन्न को ग्रहण करता है॥ १॥

[आत्मा को गति रूप कहा गया है। सुचालक (कन्डक्टर) में इलैक्ट्रॉन तो हर समय उपस्थित रहते हैं, जब वे गतिशील होते हैं, तो विद्युत् प्रवाह का आभास होता है। इसी प्रकार आत्म-तत्त्व, परमात्म-तत्त्व सभी जगह कण-कण में विद्यमान है, जब वह संकल्पपूर्वक गतिशील होता है, तभी चेतना का आभास होता है। यह ऋषियों की अनुभूति से प्रकट हुआ तथ्य है।]

अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्दिवि श्रितः सौरः कालाख्योऽदृश्यःसर्वभूतान्नमत्ति कः पुष्करः किमयं वेद वा व तत्पुष्करं योऽयमाकाशोऽस्येमाश्चतस्रो दिशश्चतस्र उपदिशः संस्था अयमर्वागग्निः परत एतौ प्राणादित्यावेतावुपासीतोमित्यक्षरेण व्याहृतिभिः सावित्र्या चेति॥ २॥

जो (पुरुष) हृदय-कमल में विद्यमान एवं अन्न ग्रहण करता है, वही (पुरुष) इस सूर्य की अग्नि के रूप में आकाश में प्रतिष्ठित है। यही काल-नाम से युक्त (पुरुष) है। वह अदृश्य होते हुए भी सर्वभूत रूपी अन्न का भक्षण करता है। यह कमल क्या है? यह क्या जानकारी रखता है? इसका उत्तर यह है कि जो यह आकाश है, यही कमल है और इसमें निवास करने वाला वह समस्त प्रकार की जानकारी रखता है, वह इन चारों दिशाओं एवं उपदिशाओं में प्रतिष्ठित है। वह सभी से परे अर्थात् श्रेष्ठ है। इस प्राण और आदित्य की ॐकार से युक्त एवं व्याहृतियों सहित गायत्री-सावित्री महामन्त्र से उपासना करनी चाहिए॥

[ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से कही गयी है, उस आलंकारिक उक्ति को ऋषि स्पष्ट करते हुए आकाश को ही कमल कहते हैं। परम व्योम में सुप्त स्थिति में परमात्मतत्त्व के नाभिक से स्फुरणा उभरी, वह कमल नाल कहलायी। जिस क्षेत्र में स्फुरणा हुई, वह कमल कहलाया। उसी में विकसित सृजन चेतना-ब्रह्मा ने सृष्टि की।]

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ यन्मूर्तं तदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म यद्ब्रह्म तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः स वा एष ओमित्येतदात्मा स त्रेधात्मानं व्यकुरुत ओमिति तिस्रो मात्रा एताभिः सर्वमिदमोतं प्रोतं चैवास्मिन्नित्येवं ह्याहैतद्वा आदित्य ओमित्येवं ध्यायंस्तथात्मानं युञ्जीतेति ॥ ३॥

ब्रह्म के दो रूप हैं- मूर्त और अमूर्त। जो मूर्तरूप है, वह असत्य है और जो अमूर्त रूप है, वह सत्य है, वही (यथार्थ) ब्रह्म है। जो ब्रह्म है, वही ज्योति है और जो ज्योति है, वही आदित्य है। वही ॐकार (प्रणव) है, वही आत्मा है। उसने अपने स्वरूप को तीन प्रकार से प्रकट किया है। ॐकार तीन मात्राओं से युक्त है। इसी ॐकार में सभी तत्त्व विद्यमान हैं, इस तरह श्रुति में वर्णन मिलता है। आदित्य ही ॐकार स्वरूप ब्रह्म है, ऐसा ध्यान करते हुए पुरुष को चाहिए कि वह आत्मा का उसके साथ संयोजन करे॥ ३॥

अथान्यत्राप्युक्तमथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसावादित्य उद्गीथ एव प्रणव इत्येवं ह्याहोद्गीथः प्रणवाख्यं प्रणेतारं नामरूपं विगतनिद्रं विजरमविमृत्युं पुनः पञ्चधा ज्ञेयं निहितं गुहायामित्येवं ह्याहोर्ध्वमूलं वा आब्रह्मशाखा आकाशवाय्वग्न्युदकभूम्यादय एकेनात्तमेतद्ब्रह्म तत्तस्यैतत्ते यदसावादित्य ओमित्येतदक्षरस्य चैतत्तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताजस्रमित्येकोऽस्य रसं बोधयीत इत्येवं ह्याहैतदेवाक्षरं पुण्यमेतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ ४॥

तत्पश्चात् एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि जो उद्गीथ (उद्=प्राण, गीथ= अभिव्यक्ति) है। वही ॐकार है। जो ॐकार (प्रणव) है, वही उद्गीथ है। जो प्रारम्भिक नाम से युक्त तत्त्व है, वही

सभी को प्रादुर्भूत करने वाला है। वह नाम तथा रूप से युक्त है, निद्रारहित और वृद्धावस्था से रहित है, मृत्यु रहित है। इस प्रकार से उसे पाँच भागों (रूपों) में जानना चाहिए। वह हृदय रूप गुफा में ही निवास करता है, ऐसा श्रुति का मत है। इस ॐकार रूप परमात्मा का मूल ऊर्ध्व की ओर और जहाँ तक ब्रह्म है, वहाँ तक इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं। वे समस्त शाखाएँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि के रूप में हैं। इस एक ही तत्त्व के माध्यम से यह सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है। वही ब्रह्म है। यह समस्त विश्व उस (ॐकार) का ही स्वरूप है। यह सूर्य भी ॐकार का ही रूप है। अतः ॐकार के द्वारा उस (सूर्य) की सदा प्रार्थना करनी चाहिए। इसी एकमात्र ॐकार से ही उसके रस का बोध किया जा सकता है, ऐसा श्रुतियों का मत है। यही पवित्र 'अक्षर रूप ब्रह्म है', इसी ॐकाररूप अक्षर का बोध करके मनुष्य जो भी चाहे, इच्छानुसार प्राप्त कर सकता है॥ ४॥

अथान्यत्राप्युक्तं स्तनयत्येषास्य तनूर्या ओमिति स्त्रीपुंनपुंसकमिति लिङ्गवत्-येषाथाग्निर्वायुरादित्य इति भास्वत्येषाथ रुद्रो विष्णुरित्यधिपतिरित्येषाथ गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीय इति मुखवत्येषाथ ऋग्यजुःसामेति विजानात्येषाथ भूर्भुवः स्वरिति लोकवत्येषाथ भूतं भव्यं भविष्यदिति कालवत्येषाथ प्राणोऽग्निः सूर्य इति प्रतापवत्येषा-थान्नमापश्चन्द्रमा इत्याप्यायनवत्येषाथ बुद्धिर्मनोऽहंकार इति चेतनवत्येषाथ प्राणोऽपानो व्यान इति प्राणवत्येके त्यजामीत्युक्तैताह प्रस्तोतार्पिता भवतीत्येवं ह्याहैतद्वै सत्यकाम परं चापरं च यदोमित्येतदक्षरमिति॥ ५॥

पुनः इसके पश्चात् अन्यत्र कहा गया है कि इस (ब्रह्म) का शरीर जो शब्द उच्चारित करता है, उसे ॐ कहते हैं। यह (ॐकार) स्त्री-पुरुष एवं नपुंसक इन तीनों लिङ्गों से युक्त है। अग्नि, वायु एवं सूर्य के रूप में यह प्रकाश देने वाला है तथा ब्रह्म, रुद्र और विष्णु के रूप में अधिपति स्वरूप है। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ये ही तीनों अग्नियाँ उसके तीन मुख हैं तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को भी वह जानने में समर्थ है। भूः, भुवः और स्वः ये तीन लोक भी इसी के रूप हैं। उस ॐकार रूप ब्रह्म के भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीन काल हैं। प्राण, अग्नि और आदित्य उसके प्रताप हैं। अन्न, जल और चन्द्रमा उसके पोषक तत्त्व हैं। बुद्धि, मन और अहंकार ये तीनों उसकी चेतना हैं तथा प्राण, अपान एवं व्यान उसके प्राण हैं। ऐसा ही अनेकों ने कहा है। यह स्तुति करने वाला तथा स्वयं अर्पित करनेवाला कहा गया है, ऐसा श्रुति का वचन है। हे सत्य कामना वाले! यही (ॐकार) पर एवं अपर रूप ब्रह्म है। यह ॐकार ही अक्षर है॥ ५॥

अथ व्यात्तं वा इदमासीत्सत्यं प्रजापतिस्तपस्तत्प्वा अनुव्याहरद्भूर्भुवः स्वरित्येषा हाथ प्रजापतेः स्थविष्ठा तनूर्या लोकवतीति स्वरित्यस्याः शिरो नाभिर्भुवो भूः पादा आदित्यश्चक्षुरायत्तः पुरुषस्य महतो मात्राश्चक्षुषा ह्ययं मात्राश्चरति सत्यं वै चक्षुरक्षिण्युपस्थितो हि पुरुषः सर्वार्थेषु वदत्येतस्माद्भूर्भुवः स्वरित्युपासीतान्नं हि प्रजापति-र्विश्वात्मा विश्वचक्षुरिवोपासितो भवतीत्येवं ह्याहैषा वै प्रजापतिर्विश्वभृत्तनूरेतस्यामिदं सर्वमन्तर्हितमस्मिंश्च सर्वस्मिन्नेषान्तर्हितेति तस्मादेषोपासीतेति॥ ६॥

इसके अनन्तर इस (ॐकाररूप ब्रह्म) ने जो विस्तार किया, वही सत्य है। प्रजापति ने कठोर तप

करके उन तीन व्याहृतियों भूः, भुवः और स्वः का उच्चारण किया। यही (व्याहृतियाँ) प्रजापति का स्थूल शरीर है। इसका निर्माण लोकों के द्वारा हुआ है। स्वः उसका मस्तक है, भुवः नाभि है, भूः पैर हैं और आदित्य उसके नेत्र हैं। यह सब उसके अधीन है। महापुरुषों की ये मात्राएँ (अंश) हैं। यह (पुरुष) नेत्रों के द्वारा इन मात्राओं में गमन करता है। सत्य ही नेत्र हैं। नेत्र में स्थित पुरुष ही सभी पदार्थों के विषय में बतलाता है। अतः भूः, भुवः और स्वः इस विधि के अनुसार ही उपासना करनी चाहिए। अन्न ही प्रजापति है। वह सभी का आत्मा तथा सभी का चक्षु है, वह उपास्य है, ऐसा वेद भी कहते हैं। यह प्रजापति ही समस्त विश्व को धारण करने वाला शरीर है, इसमें वह सभी कुछ स्थित है तथा वह इन सभी में विद्यमान है। अतः इसी श्रेष्ठ तत्त्व की उपासना करनी चाहिए॥ ६ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणाय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै तेऽवस्थिता योऽस्य भर्गः कं संचिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ धियो यो नः प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योऽस्माकं प्रचोदयादित्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्ग इति यो ह वा अस्मिन्नादित्ये निहितस्तारकेऽक्षिणि वैष भर्गाख्यो भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गो भर्जति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ भ इति भासयतीमाँल्लोकान् र इति रञ्जयतीमानि भूतानि ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भरगत्वाद्भर्गः। शश्वत्सूयमानत्वात्सूर्यः सवनात्सविताऽऽदानादादित्यः पवनात्पावमानोऽथायनादादित्य इत्येवं ह्याह खल्वात्मनात्मामृताख्यश्चेता मन्ता गन्ता स्त्रष्टाऽऽनन्दयिता कर्ता वक्ता रसयिता घ्राता स्पर्शयिता च विभुर्विग्रहे सन्निविष्ट इत्येवं ह्याहाथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयते चैव स्पर्शयति सर्वमात्मा जानीतेति यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं किं तदङ्ग वाच्यम् ॥ ७ ॥

'तत्सवितुर्वरेण्यं' यही उस सविता का प्रकाश है अथवा स्वयं ही यह आदित्य है और यही समस्त प्राणि-समुदाय को उत्पन्न करने वाला 'सविता' है। ऐसा जानकर आत्मतत्त्व की इच्छा रखने वाले को, उसी को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ऐसा ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले कहते हैं। अब 'भर्गो देवस्य धीमहि' इस पद का विवेचन करते हैं; इसके अनुसार क्योंकि वह 'भर्ग' सम्मुख ही उपस्थित रहता है। उनका जो 'भर्ग' है, वह बुद्धि (ज्ञान) को प्राप्त करता रहता है। ब्रह्मवादी प्रायः प्रश्न करते रहते हैं कि हम किसका चिंतन करें? तो इसका उत्तर यह है कि हम उस 'भर्ग शक्ति' का ही ध्यान करें। अब 'धियो यो नः प्रचोदयात्' की विवेचना करते हैं। इसके अनुसार बुद्धि को ही 'धी' कहते हैं।'जो हमारी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करता है - सन्मार्ग की ओर उन्मुख करता है' ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं। 'भर्ग' वही है, जो सूर्य में निहित है। आँख की पुतली में भी 'भर्ग' स्थित है। इसकी कान्ति से मनुष्य गति करता है, अतः यह 'भर्ग' है अथवा यह सभी को तप्त करता है, इस कारण से यह 'भर्ग' कहलाता है। यह रुद्र को ब्रह्म मानने वालों के विचार हैं। 'भ' अर्थात् लोकों को प्रकाशित करने वाला, 'र' अर्थात् समस्त प्राणियों का रञ्जन करने वाला एवं 'ग' अर्थात् प्राणियों-प्रजाओं के गमनागमन का आधार स्वरूप, इस प्रकार भ, र, ग होने से भर्ग है। निरन्तर प्रसव (जन्म देने) के कारण सूर्य कहलाता है, सबको प्रादुर्भूत करने के कारण

'सविता' कहलाता है। सबको प्रकाश देने के कारण आदित्य और सबको पवित्र करता है, इससे पवमान कहलाता है अथवा सभी की ओर गमन करने से तथा सभी का अयन (आश्रय स्थल) होने से उसे 'आदित्य' कहते हैं। वह स्वयं ही आत्मा है। इसका नाम अमृत है, सर्वज्ञ है, चिन्तन करता है, गति करता है, सृजन करता है, आनन्द प्रदान करता है, स्वयं कहता है, स्वाद लेता है, सूँघता है, स्पर्श करता है, समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और उत्तम स्वाद से युक्त है, ऐसा (वेद) कहते हैं। जहाँ पर विज्ञान द्वैत (दो) रूप में होता है, वहाँ जो सुनता है, देखता है, सूँघता है, स्वाद लेता है और स्पर्श करता है, वह सब आत्मा ही है, इस तरह से तुम ऐसा निश्चय रखो। जहाँ विज्ञान अद्वैत हो जाता है, वहाँ कार्य और कारण से रहित, वर्णनातीत, उपमारहित तथा व्याख्या विहीन हो जाता है। ऐसे उस 'भर्ग-शक्ति' के संदर्भ में क्या कहा जाए?॥ ७॥

एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड्ढिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निना पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनानन्देनैष वाव विजिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वारण्यं गत्वाथ बहिःकृतेन्द्रियार्थान्स्वशरीरादुपलभतेऽथैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

(हे श्रेष्ठ मुने!) यही आत्मा है, यही सबका नियन्ता, ईश्वर, शंकर, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शास्ता (उपदेशक), विष्णु , नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और चन्द्र भी वही है। जो इस अग्नि के रूप में तप है और सहस्रों के चक्षु रूप में प्रकाशमय आनन्द से परिपूर्ण है, वही जानने योग्य है। सभी प्राणियों को अभय-दान प्रदान करके तपोवन में जाकर उस 'ॐकार' का अनुसंधान करना चाहिए। (जो मनुष्य) इन्द्रियों के विषय-भोगों का बहिष्कार करते हैं, उनको अपने शरीर में से ही वह (प्रकाश तत्त्व) प्राप्त हो जाता है। यही विश्वरूप, मनोहर, जन्म ग्रहण करने वालों का पूर्ण ज्ञाता है, सभी का परम आश्रय स्थल और ज्योतिरूप से तप्त (प्रकाशित) होता है। यह सूर्य-सविता (परमात्मा) सहस्रों रश्मियों से युक्त, सैकड़ों तरह से वर्तमान तथा समस्त प्रजाजनों का प्राणरूप होकर प्रकट होता है॥ ८॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु..........इति। शान्तिः॥

॥ इति मैत्रायण्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ शिवसङ्कल्पोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् 'ईशोपनिषद्' की तरह ही शुक्ल यजुर्वेद का अंश (अध्याय ३४ मन्त्र १-६) है। इसमें केवल छः मंत्र हैं, जिनमें मन की अद्भुत सामर्थ्यों का वर्णन करते हुए उस मन को 'शिव संकल्प' युक्त बनाने की प्रार्थना की गयी है। मनुष्य का मन बड़ा सामर्थ्यवान् है, उसमें जो संकल्प जाग जाएँ, उससे उसे विरत करना बड़ा कठिन है। इसलिए ऋषि उसे शुभ-कल्याणकारी संकल्पयुक्त बनाने के लिए ही प्रार्थना करते हैं। मंत्रों का गठन इतना सारगर्भित एवं भावपूर्ण बन पड़ा है कि उन्हें स्वतंत्र रूप से एक उपनिषद् की मान्यता दी गयी है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ १ ॥

हे परमात्मन्! जो मन जाग्रत् अवस्था में दूर-दूर तक गमन करता है और उसी प्रकार सुप्तावस्था में भी दूर-दूर तक जाता है; वही (मन) निश्चित रूप से इन्द्रियों का प्रकाशक है, जीवात्मा का एकमात्र माध्यम है, ऐसा हमारा वह मन श्रेष्ठ कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ १ ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २ ॥

हे परमेश्वर! जिस मन के द्वारा मनीषीगण यज्ञ आदि सत्कर्मों का सम्पादन करते हैं। जो सबके शरीर में विद्यमान है तथा यज्ञादिकों में अपूर्व एवं आदरणीय भाव से सुशोभित रहता है, वह हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ २ ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३ ॥

हे प्रभो! जो मन प्रखर ज्ञान से सम्पन्न, चेतनशील, धैर्य सम्पन्न है, जो समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में अमर प्रकाश-ज्योतिःरूप में स्थित है, जिसके बिना कोई भी कार्य किया जाना सम्भव नहीं हो पाता; वह हमारा मन श्रेष्ठ- कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो ॥ ३ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४ ॥

जिस अविनाशी मन की सामर्थ्य से सभी कालों का ज्ञान (प्रत्यक्षीकरण) किया जाता है तथा जिसके द्वारा सप्त होतागण यज्ञ का विस्तार करते हैं, ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ४ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ५ ॥

जिस (मन) में वैदिक ऋचाएँ प्रतिष्ठित हैं, जिसमें साम और यजुर्वेद के मन्त्र उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जिस प्रकार रथ के पहिये में 'अरे' स्थित होते हैं तथा जिस मन में प्रजाजनों के समस्त ज्ञान समाहित हैं, ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ५ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६ ॥

जिस प्रकार कुशल 'सारथि' लगाम के नियन्त्रण से गतिमान् अश्वों को गन्तव्य पथ पर अभीष्ट दिशा में ले जाता है, उसी प्रकार जो मन मनुष्यों को लक्ष्य तक पहुँचाता है, जो जरारहित, अतिवेगशील(मन) इस हृदय स्थान में स्थित है; ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ६ ॥

॥ शुकरहस्योपनिषद् ॥

यह कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इस उपनिषद् में महर्षि व्यास जी के आग्रह पर भगवान् शिव ने शुकदेव जी को उपदेश दिया है। शुकदेवजी ने उनसे चार महावाक्यों १. ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म, २. ॐ अहं ब्रह्मास्मि, ३. ॐ तत्त्वमसि एवं ४. ॐ अयमात्मा ब्रह्म के सम्बन्ध में षडङ्गन्यास पूर्वक जानना चाहा। उपनिषद् के पहले -दूसरे खण्डों में उक्त घटना, प्रश्न तथा न्यासादि का वर्णन है। तीसरे खण्ड में चारों महावाक्यों की व्याख्या पदविन्यास पूर्वक की गई है। अंत में इस ज्ञान को हृदयंगम करने से शुकदेव जी की चेतना का चराचर के साथ संयुक्त हो जाने का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अमृतनादोपनिषद्)

अथातो रहस्योपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब रहस्योपनिषद् का वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

देवर्षयो ब्रह्माणं संपूज्य प्रणिपत्य पप्रच्छुर्भगवन्नस्माकं रहस्योपनिषदं ब्रूहीति ॥ २ ॥

एक बार देवर्षियों ने देव ब्रह्माजी की पूजा की और हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए उनसे निवेदन किया - भगवन्! आप हमारे लिए रहस्योपनिषद् का उपदेश करें ॥ २ ॥

सोऽब्रवीत्-पुरा व्यासो महातेजाः सर्ववेदः तपोनिधिः। प्रणिपत्य शिवं साम्बं कृताञ्जलिरुवाच ह ॥ ३ ॥

इस पर ब्रह्मा जी ने कहा-प्राचीनकाल में महातेजस्वी, तपोनिष्ठ, सम्पूर्ण वेदों के विग्रह स्वरूप श्री वेदव्यास जी ने पार्वती सहित भगवान् शिव को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की ॥ ३ ॥

श्रीवेदव्यास उवाच-

देवदेव महाप्राज्ञ पाशच्छेददृढव्रत। शुकस्य मम पुत्रस्य वेदसंस्कारकर्मणि ॥ ४ ॥
ब्रह्मोपदेशकालोऽयमिदानीं समुपस्थितः। ब्रह्मोपदेशः कर्त्तव्यो भवताद्य जगद्गुरो ॥

श्री वेदव्यास बोले-हे देवों के देव-महादेव! महाप्राज्ञ! हे जगत् पाशों के उच्छेदक! हे सुदृढ़ व्रतधारी! मेरे पुत्र शुकदेव के वेदाध्ययन संस्कार कर्म में प्रणव और गायत्री मन्त्रोपदेश का समय आ गया है। हे जगद्गुरो! आप उसके लिए मन्त्रोपदेश कर्त्तव्य को स्वीकार करें ॥ ४-५ ॥

ईश्वर उवाच -

मयोपदिष्टे कैवल्ये साक्षाद्ब्रह्मणि शाश्वते ।
विहाय पुत्रो निर्वेदात्प्रकाशं यास्यति स्वयम् ॥ ६ ॥

भगवान् शिव ने कहा- हे महामुने ! यदि मैं तुम्हारे पुत्र को शुद्धस्वरूप साक्षात् सनातन परब्रह्म का उपदेश करूँगा, तो वह सब कुछ त्यागकर, वैराग्यवान् होकर स्वयं ही प्रकाशस्वरूप को प्राप्त हो जाएगा ॥६ ॥

श्री वेदव्यास उवाच -

यथा तथा वा भवतु ह्युपनायनकर्मणि। उपदिष्टे मम सुते ब्रह्मणि त्वत्प्रसादतः ॥

श्री वेदव्यास जी ने निवेदन किया- चाहे जैसा भी हो, मेरे पुत्र के उपनयन संस्कार कर्म में आप अनुग्रहपूर्वक उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें ॥ ७ ॥

सर्वज्ञो भवतु क्षिप्रं मम पुत्रो महेश्वर। तव प्रसादसंपन्नो लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम्॥

हे महेश्वर! मेरा पुत्र शीघ्र ही सर्वज्ञानी हो और आपके अनुग्रह का पात्र बनकर वह चतुर्विध मुक्ति (सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सालोक्य) को प्राप्त हो जाए ॥ ८॥

तच्छ्रुत्वा व्यासवचनं सर्वदेवर्षिसंसदि।
उपदेष्टुं स्थितः शम्भुः साम्बो दिव्यासने मुदा॥ ९॥

श्री वेदव्यास जी की प्रार्थना स्वीकार कर भगवान् शिव भगवती उमा सहित देवर्षियों की सभा में उपदेश देने के लिए गये और प्रसन्नतापूर्वक एक दिव्य आसन पर अधिष्ठित हुए॥ ९॥

कृतकृत्यः शुकस्तत्र समागत्य सुभक्तिमान्।
तस्मात् स प्रणवं लब्ध्वा पुनरित्यब्रवीच्छिवम्॥ १०॥

वहाँ शुकदेव मुनि भगवान् शिव से भक्तिपूर्ण अवस्था में सत्संग का लाभ लेकर कृतकृत्य हुए। प्रणव दीक्षा लेकर पुनः वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे॥ १०॥

श्रीशुक उवाच-

देवादिदेव सर्वज्ञ सच्चिदानन्दलक्षण। उमारमण भूतेश प्रसीद करुणानिधे॥ ११॥

मुनि शुकदेव जी ने निवेदन किया- हे देवों के आदि देव! हे सर्वज्ञ! हे सच्चिदानन्द स्वरूप! हे उमापते! आप सम्पूर्ण प्राणियों पर कृपा करने वाले करुणा के भण्डार हैं, आप मुझ पर प्रसन्न हों॥ ११॥

उपदिष्टं परंब्रह्म प्रणवान्तर्गतं परम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यानां प्रज्ञादीनां विशेषतः॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन षडङ्गानि यथाक्रमम्। वक्तव्यानि रहस्यानि कृपयाद्य सदाशिव।

आपने मेरे लिए प्रणव स्वरूप और उससे परे परब्रह्म का उपदेश किया है, परन्तु मैं विशेषरूप से 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' प्रभृति महावाक्यों का तत्त्व षडङ्गन्यास क्रमपूर्वक सुनने की इच्छा रखता हूँ। हे सदाशिव! कृपापूर्वक मेरे लिए उन रहस्यों को प्रकट करें॥ १२-१३॥

श्रीसदाशिव उवाच-

साधु साधु महाप्राज्ञ शुक ज्ञाननिधे मुने। प्रष्टव्यं तु त्वया पृष्टं रहस्यं वेदगर्भितम्॥

भगवान् शिव ने कहा- हे ज्ञाननिधि मुनि शुकदेव ! तुम निश्चय ही महान् प्रज्ञावान् हो। तुमने वेदों के गूढ़ रहस्यों के व्यावहारिक स्वरूप का प्रश्न किया है॥ १४॥

रहस्योपनिषन्नाम्ना सषडङ्गमिहोच्यते। यस्य विज्ञानमात्रेण मोक्षः साक्षान्न संशयः॥

सो मैं तुम्हारे लिए इस रहस्योपनिषद् नामक गूढ़ विषय का षडङ्गन्यास पूर्वक वर्णन करता हूँ। इसका (अनुभूतिजन्य) विशेष ज्ञान हो जाने से साक्षात् मोक्ष प्राप्ति में कोई संशय नहीं है॥ १५॥

अङ्गहीनानि वाक्यानि गुरुर्नोपदिशेत्पुनः।
सषडङ्गान्युपदिशेन्महावाक्यानि कृत्स्नशः॥ १६॥

उपयुक्त यही है कि गुरु के द्वारा अङ्गहीन वाक्यों का उपदेश नहीं किया जाना चाहिए, सब महावाक्यों का षडंग सहित उपदेश करना चाहिए॥ १६॥

चतुर्णामपि वेदानां यथोपनिषदः शिरः। इयं रहस्योपनिषत्तथोपनिषदां शिरः॥

जैसे चारों वेदों में उपनिषदें सर्वश्रेष्ठ हैं, वैसे सम्पूर्ण उपनिषदों में रहस्योपनिषद् सर्वश्रेष्ठ है॥ १७॥

रहस्योपनिषद्ब्रह्म ध्यातं येन विपश्चिता। तीर्थैर्मन्त्रैः श्रुतैर्जप्यैस्तस्य किं पुण्यहेतुभिः॥

जिस तत्त्वदर्शी विचारक ने इस रहस्योपनिषद् में वर्णित ब्रह्म का चिन्तन-मनन किया है, उसे पुण्यदायक कारणों तीर्थ-सेवन, मन्त्र-पाठ, वेद-पाठ तथा जप आदि करने से क्या प्रयोजन है?॥ १८॥

वाक्यार्थस्य विचारेण यदाप्नोति शरच्छतम्। एकवारजपेनैव ऋष्यादिध्यानतश्च यत्॥

सौ शरद्-ऋतुओं (वर्षों) तक महावाक्यों के अर्थों पर विचार करने से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल इन वाक्यों के ऋष्यादि के स्मरण सहित एक बार जप करने से ही प्राप्त होता है॥ १९॥

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म तर्जनीभ्यां स्वाहा। नित्यानन्दमयं ब्रह्म मध्यमाभ्यां वषट्। यो वै भूमा अनामिकाभ्यां हुम्। यो वै भूमाधिपतिः कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म हृदयाय नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म शिरसे स्वाहा। नित्यानन्दमयं ब्रह्म शिखायै वषट्। यो वै भूमा कवचाय हुम्। यो वै भूमाधिपतिः नेत्रत्रयाय वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म अस्त्राय फट्। भूर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २०॥

ॐ इस महावाक्य महामंत्र के हंस ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है, परमहंस देवता हैं, हं बीज मंत्र है, सः शक्ति है, सोऽहं कीलक है। परमहंस देवता की प्रीति के लिए महावाक्य जपने हेतु मेरे द्वारा विनियोग है। करन्यास के लिए ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय और अनन्त है, उसे नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श ब्रह्म नित्य (शाश्वत) आनन्द स्वरूप है, उसे नमन है- तर्जनी अँगुली का स्पर्श। ब्रह्म नित्यआनन्दमय है, उसे नमन है- मध्यमा अँगुली का स्पर्श। जो अति- विस्तृत है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- अनामिका अँगुली का स्पर्श। जो अतिविस्तृत का (भी) अधिपति है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- कनिष्ठिका अँगुली का स्पर्श। ब्रह्म एक एवं अद्वितीय है, उसे नमन है- करतल एवं कर पृष्ठ का स्पर्श। ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय एवं अनन्त है उसे नमन है- हृदय (स्थान) का स्पर्श। ब्रह्म नित्य आनन्द स्वरूप है, उसे नमस्कार है, सिर का स्पर्श। ब्रह्म नित्य आनन्दमय है, उसे नमन है- शिखा का स्पर्श। जो विस्तृत है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- दायें -बाँयें कन्धे का स्पर्श। जो विस्तृत का अधिपति है, (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- दोनों नेत्रों का स्पर्श। ब्रह्म एक और अद्वितीय है, उसे नमन है- दायें हाथ को सिर के ऊपर से घुमाकर बायें हाथ पर ताली बजाएँ। ॐ (परब्रह्म) भूः (भू), भुवः (अन्तरिक्ष) और स्वः (द्युलोक) में संव्याप्त है, उसे नमस्कार है- सभी दिशाओं से रक्षा का विधान॥ २०॥

ध्यानम्-

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्। एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥ २१॥

ध्यान-जो सदा ही आनन्दरूप, श्रेष्ठ सुखदायी स्वरूप वाले, ज्ञान के साक्षात् विग्रह रूप हैं। जो संसार के द्वन्द्वों (सुख-दुःखादि) से रहित, व्यापक आकाश के सदृश (निर्लिप्त) है तथा जो एक ही परमात्म तत्त्व को सदैव लक्ष्य किये रहते हैं। जो एक हैं, नित्य हैं, सदैव शुद्ध स्वरूप है, (झंझावातों में)

अचल रहने वाले, सबकी बुद्धि में अधिष्ठित, सब प्राणियों के साक्षिरूप, राग-आसक्ति आदि भावों से दूर, लोभ, मोह, अहंकार जैसे सामान्य त्रिगुणों से रहित हैं, उन सद्गुरु को हम नमस्कार करते हैं॥ २१॥

अथ महावाक्यानि चत्वारि। यथा ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म॥ १॥ ॐ अहं ब्रह्मास्मि॥ २॥ ॐ तत्त्वमसि ॥ ३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म॥ ४॥ तत्त्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जपन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तिभाजो भवन्ति॥ २२॥

अब चार महावाक्य दिये जाते हैं। ॐ प्रज्ञानम् ब्रह्म (प्रकृष्ट ज्ञान ब्रह्म है)॥ १॥ ॐ अहं ब्रह्मास्मि(मैं ब्रह्म हूँ)॥ २॥ ॐ तत्त्वमसि(वह ब्रह्म तुम्हीं हो)॥ ३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म(यह आत्मा ब्रह्म है)॥ ४॥ इनमें से यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य ब्रह्म से अभेद का प्रतिपादन करता है। जो साधक इसका जप (चिन्तन-मनन) करते हैं, वे भगवान् शिव की सायुज्य मुक्ति का फल प्राप्त करते हैं॥

आगे 'ॐ तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद के षडंग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

तत्पदमहामन्त्रस्य । हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम् । मम सायुज्यमुक्त्यर्थे जपे विनियोगः । तत्पुरुषाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ईशानाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। अघोराय मध्यमाभ्यां वषट्। सद्योजाताय अनामिकाभ्यां हुम्। वामदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। तत्पुरुषेशानाघोर-सद्योजातवामदेवेभ्यो नमः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः ॥ २३॥

तत्पुरुष को नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श। ईशान को नमन - तर्जनी का स्पर्श। अघोर को नमन-मध्यमा अँगुली का स्पर्श। सद्योजात को नमन- अनामिका का स्पर्श। वामदेव को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श तत्पुरुष, ईशान, अघोर, सद्योजात और वामदेव को नमन है- करतल-करपृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादि न्यास का क्रम है। ॐ (परमात्मा) भूः (भूलोक), भुवः (अन्तरिक्ष लोक) एवं स्वः (द्युलोक) में संव्याप्त है- उसे नमस्कार है- सभी दिशाओं से रक्षा का विधान ॥ २३॥

ध्यानम् -

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च ।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपं ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम्॥ २४॥

वह ज्ञानरूप, जानने योग्य है एवं ज्ञानगम्यता से परे भी है। वह विशुद्ध रूप, बुद्धिरूप, मुक्तरूप, अविनाशी रूप है। वही सत्य, ज्ञान, सच्चिदानंदरूप ध्यान करने योग्य है। हमें उस महातेजस्वी देव का ध्यान करना चाहिए॥ २४॥

आगे 'ॐ तत्त्वमसि' महावाक्य के 'त्वम्' पद के षडङ्ग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

त्वंपदमहामन्त्रस्य विष्णुर्ऋषिः। गायत्रीछन्दः। परमात्मा देवता। ऐं बीजम् । क्लीं शक्तिः। सौः कीलकम् । मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः। वासुदेवाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। संकर्षणाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। प्रद्युम्नाय मध्यमाभ्यां वषट्। अनिरुद्धाय अनामिकाभ्यां हुम्। वासुदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यः करतलकर-पृष्ठाभ्यां फट् । एवं हृदयादिन्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २५॥

यहाँ महामन्त्र के त्वम् पद के ऋषि- विष्णु हैं। छन्द-गायत्री है। देवता- परमात्मा है। बीज- 'ऐं' है। शक्ति- क्लीं है। कीलक-सौः है। मेरी मुक्ति के लिए जप का विनियोग है। करन्यास- वासुदेव को नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श। संकर्षण को नमन- तर्जनी का स्पर्श। प्रद्युम्न को नमन- मध्यमा का स्पर्श। अनिरुद्ध को नमन- अनामिका का स्पर्श। वासुदेव को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श। वासुदेव, संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को नमन- करतल- कर पृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादिन्यास (अंगन्यास) का क्रम है। 'भूर्भुवः स्वः ॐ' यह दिग्बन्ध है॥ २५॥

ध्यानम्-

जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्डविग्रहम्।
चित्ताहंकारयन्तारं जीवाख्यं त्वं पदं भजे॥ २६॥

आप सभी प्राणियों में जीवस्वरूप हैं, सर्वत्र अखण्ड विग्रह रूप हैं तथा हमारे चित्त और अहंकार पर नियंत्रण करने वाले हैं। जीवों के रूप में त्वं (तत्त्वमसि के अन्तर्गत) पद की हम स्तुति करते हैं॥ २६॥

आगे 'ॐ' तत्त्वमसि महामन्त्र के 'असि' पद के षडंग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

असिपदमहामन्त्रस्य मन ऋषिः। गायत्री छन्दः। अर्धनारीश्वरो देवता। अव्यक्तादिर्बीजम्। नृसिंहः शक्तिः। परमात्मा कीलकम्। जीवब्रह्मैक्यार्थे जपे विनियोगः। पृथ्वीद्व्यणुकाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। अब्द्व्यणुकाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। तेजोद्व्यणुकाय मध्यमाभ्यां वषट्। वायुद्व्यणुकाय अनामिकाभ्यां हुम्। आकाशद्व्यणुकाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादि न्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २७॥

महामन्त्र के 'असि' पद के ऋषि- मन हैं। छन्द-गायत्री है। देवता-अर्धनारीश्वर हैं। बीज-अव्यक्तादि है। शक्ति-नृसिंह है। कीलक- परमात्मा है। जीव-ब्रह्म के ऐक्य के लिए जप में निम्न विनियोग है। करन्यास- पृथ्वी द्व्यणुक को नमन- अँगूठे का स्पर्श। अप् (जल) द्व्यणुक को नमन- तर्जनी का स्पर्श। तेज (अग्नि) द्व्यणुक को नमन-मध्यमा का स्पर्श। वायु द्व्यणुक को नमन- अनामिका का स्पर्श। आकाश द्व्यणुक को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा आकाश के द्व्यणुक को नमन करतल-कर पृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादि न्यास का क्रम है। 'भूर्भुवः स्वः ॐ' यह दिग्बन्ध है॥२७॥

ध्यानम्-

जीवो ब्रह्मेति वाक्यार्थं यावदस्ति मनःस्थितिः।
ऐक्यं तत्त्वं लये कुर्वन्ध्यायेदसिपदं सदा॥ २८॥

जीव ही ब्रह्म है इस महावाक्य के अर्थ पर जो विचार करता -मन को स्थिर करता है, तथा 'असि' पद का सदैव चिन्तन-मनन करता है, वह तत्त्व को ऐक्य प्रदान करने में समर्थ होता है (पंचतत्त्व अन्त में एक- ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।)॥ २८॥

एवं महावाक्यषडङ्गान्युक्तानि॥ २९॥

इस प्रकार महावाक्यों के षडङ्गों का विवेचन किया गया॥ २९॥

अथ रहस्योपनिषद्विभागशो वाक्यार्थश्लोकाः प्रोच्यन्ते॥ ३०॥

अब रहस्योपनिषद् के वाक्यों के अर्थ वाचक श्लोकों का उपदेश किया जाता है॥ ३०॥

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च। स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम्॥

प्राणी जिसके द्वारा देखता, सुनता, सूँघता, बोलता और स्वाद-अस्वाद का अनुभव करता है, वह प्रज्ञान कहा जाता है॥ ३१॥

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु। चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि॥ ३२॥

चतुर्मुख ब्रह्मा, इन्द्रदेव, सम्पूर्ण देवता, मनुष्य, अश्व, गौ आदि पशु और अन्य सभी प्राणियों में एक ही चैतन्य सत्ता- 'ब्रह्म' अवस्थित है, वही प्रज्ञान ब्रह्म मुझमें भी समाया हुआ है॥ ३२॥

परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥ ३३॥

यह हमारा शरीर ही परिपूर्ण ब्रह्मविद्या प्राप्ति का अधिकारी है। इसमें साक्षिरूप में अवस्थित परमात्म-बुद्धि के स्फुरित होने पर उसे 'अहं' कहा जाता है॥ ३३॥

स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्॥ ३४॥

स्वतः स्थापित परिपूर्ण परमात्मा को यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से वर्णित किया गया है। 'अस्मि' शब्द से ब्रह्म और जीव की एकता का बोध होता है। इस प्रकार 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (यह अर्थ निकलता है।)॥ ३४॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्। सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥

सृष्टि के पूर्व द्वैत के अस्तित्व से रहित, नाम एवं रूप से रहित, एकमात्र, सत्यस्वरूप, अद्वितीय 'ब्रह्म' था तथा वह ब्रह्म अब भी विद्यमान है। वही ब्रह्म 'तत्' पद (तत्त्वमसि) में वर्णित है॥ ३५॥

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्। एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्॥

उपदेशों का श्रवण करने वाले शिष्य के आत्मतत्त्व को, जो शरीर-इन्द्रियों से परे है, 'त्वम्' पद से वर्णित किया गया है। 'असि' पद के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ ब्रह्म और आत्म तत्त्व के ऐक्य को अनुभव करना चाहिए ॥ ३६॥

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्। अहंकारादिदेहान्तं प्रत्यगात्मेति गीयत॥

उस ('अयमात्मा ब्रह्म' के अन्तर्गत) स्वप्रकाशित परोक्ष (प्रत्यक्ष शरीर से परे) तत्त्व को 'अयं' पद के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अहंकार से लेकर शरीर तक को प्रत्यक् आत्मा कहा गया है॥ ३७॥

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते। ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्॥

इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् में जो तत्त्व संव्याप्त है, वह ब्रह्म शब्द से वर्णित किया जाता है। वही ब्रह्म स्वयं प्रकाशित आत्मतत्त्व के रूप में (प्राणियों में) संव्याप्त है॥ ३८॥

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्।
स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः॥ ३९॥

मैं अनात्म पदार्थों में आत्म तुष्टि के कारण अविवेक की निद्रा में, 'मैं,' 'मेरे' की सम्मोहित स्थिति

में स्वप्न सदृश विचरण कर रहा था। गुरु द्वारा प्रदत्त महावाक्य पदों के उपदेश से, आत्मस्वरूप सूर्य के अभ्युदय से मैं प्रबुद्ध हुआ हूँ। (ऐसा मुनि शुकदेव अनुभव करते हैं।)॥ ३९॥

वाच्यं लक्ष्यमिति द्विधार्थसरणीवाच्यस्य हि त्वंपदे वाच्यं भौतिकमिन्द्रियादिरपि यल्लक्ष्यं त्वमर्थश्च सः। वाच्यं तत्पदमीशताकृतमतिर्लक्ष्यं तु सच्चित्सुखानन्दब्रह्म तदर्थ एष च तयोरैक्यं त्वसीदं पदम्॥ ४०॥

महावाक्यों के अर्थों के निमित्त वाच्य और लक्ष्य दोनों अर्थों का अनुसरण करना चाहिए। वाच्यानुसार भौतिक इन्द्रियादि भी 'त्वम्' पद के वाच्य होते हैं, परन्तु इन्द्रियों से परे चैतन्य परमात्मा ही लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार 'तत्' पद का वाच्य प्रभुता सम्पन्न सर्वकर्त्ता परमात्मा और लक्ष्यार्थ सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म है। यहाँ 'असि' पद से उक्त दोनों पदों के लक्ष्यार्थ द्वारा जीवात्मा और ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन हुआ है॥

[वाच्य और लक्ष्य को समझना हर मंत्र एवं महावाक्य के उपयोग के क्रम में आवश्यक है।]

त्वमिति तदिति कार्ये कारणे सत्युपाधौ द्वितयमितरथैकं सच्चिदानन्दरूपम्। उभयवचनहेतू देशकालौ च हित्वा जगति भवति सोऽयं देवदत्तो यथैकः ॥ ४१॥

कार्य और कारण रूप दो उपाधियों के द्वारा 'त्वं' और 'तत्' पदों में भेद प्रतिपादित है। उपाधिरहित होने पर दोनों ही एक सच्चिदानंद रूप हैं। जगत् में भी दोनों वचन (यह और वह) प्रत्येक देश और काल में कहा गया है। इनमें यह और वह निकाल देने पर एक ही ब्रह्म शेष रहता है, जैसे - वह देवदत्त है और यह देवदत्त है- इन दोनों वाक्यों में 'देवदत्त' एक ही है।॥ ४१॥

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ ४२॥

यह जीव कार्यरूप उपाधि वाला और ईश्वर कारण रूप उपाधि वाला है। इन कार्य और कारण रूप उपाधियों को छोड़ देने पर विशुद्ध ज्ञान रूप ब्रह्म ही शेष रहता है॥ ४२॥

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्। निदिध्यासनमित्येतत् पूर्णबोधस्य कारणम्॥

शिष्य (साधक) को पूर्ण बोध तभी हो सकता है, जब वह प्रथम गुरु के द्वारा उपदेश सुने, फिर मनन करे, तदनन्तर निदिध्यासन (अनुभूति की साधना) करे॥ ४३॥

अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्। ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम्॥

अन्य विद्याओं का भली-भाँति प्राप्त हुआ ज्ञान अवश्य ही नश्वर है, परन्तु ब्रह्म विद्या का भली प्रकार प्राप्त हुआ ज्ञान ब्रह्म प्राप्ति में समर्थ है॥ ४४॥

महावाक्यान्युपदिशेत्सषडङ्गानि देशिकः।
केवलं नहि वाक्यानि ब्रह्मणो वचनं यथा॥ ४५॥

देव ब्रह्मा जी का वचन है कि गुरु अपने शिष्य को षडंगों से युक्त महावाक्यों का उपदेश करे, महावाक्य मात्र का उपदेश ही न करे॥ ४५॥

ईश्वर उवाच-

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठ रहस्योपनिषच्छुक। मया पित्रानुनीतेन व्यासेन ब्रह्मवादिना॥

भगवान् शिव ने मुनि शुकदेव से कहा- हे शुकदेव! तुम्हारे पिता वेदव्यास जी ब्रह्मज्ञानी हैं, उन पर प्रसन्न होकर ही मैंने तुम्हारे प्रति इस रहस्योपनिषद् को कहा है ॥ ४६॥

ततो ब्रह्मोपदिष्टं वै सच्चिदानन्दलक्षणम्।

जीवन्मुक्तः सदा ध्यायन्नित्यस्त्वं विहरिष्यसि॥ ४७॥

इसमें सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म का उपदेश है, जो तप से प्राप्त किया जाता है। तुम उस ब्रह्म का चिन्तन करते हुए जीवन मुक्त (जन्म मरण के बन्धन चक्र से मुक्त) हो जाओगे ॥४७॥

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।

तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥ ४८॥

जो वेद के आरम्भ में स्वररूप ॐकार उच्चरित होता है तथा जो वेदान्त में प्रतिष्ठित है, जो प्रकृति में समग्र रूप से लीन होकर भी उससे परे है, वही महेश्वर है ॥ ४८॥

उपदिष्टः शिवेनेति जगत्तन्मयतां गतः। उत्थाय प्रणिपत्येशं त्यक्ताशेषपरिग्रहः॥

भगवान् शिव के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर मुनि शुकदेव सम्पूर्ण जगद्रूप परमेश्वर में तन्मय हो गये। तदनन्तर उठकर भगवान् को हाथ जोड़कर प्रणाम कर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके (तपोवन) चल दिये ॥ ४९॥

परब्रह्मपयोराशौ प्लवन्निव ययौ तदा। प्रव्रजन्तं तमालोक्य कृष्णद्वैपायनो मुनिः॥

उन्हें प्रव्रज्या में जाते देखकर श्री वेदव्यास जी (कृष्ण द्वैपायन मुनि) को वियोग दुःख हुआ, परन्तु मुनि शुकदेव परब्रह्म रूप सागर में निर्द्वन्द्व तैरने के समान आनन्दमग्न थे ॥ ५०॥

अनुव्रजन्नाजुहाव पुत्रविश्लेषकातरः। प्रतिनेदुस्तदा सर्वे जगत्स्थावरजङ्गमाः॥५१॥

पुत्र के वियोग में कातर हुए श्री वेदव्यास जी उनके पीछे चलते हुए उन्हें पुकारने लगे। उस समय उनकी पुकार का प्रत्युत्तर सम्पूर्ण जगत् के जड़-चेतन पदार्थों ने दिया ॥ ५१॥

तच्छ्रुत्वा सकलाकारं व्यासः सत्यवतीसुतः।

पुत्रेण सहितः प्रीत्या परानन्दमुपेयिवान्॥ ५२॥

उस उत्तर को सुनकर अपने पुत्र को सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त जानकर सत्यवती पुत्र मुनि वेदव्यास जी ने पुत्र के सहित व्यापक अनन्तरूप परब्रह्म की प्राप्ति की ॥ ५२॥

यो रहस्योपनिषदमधीते गुर्वनुग्रहात्।

सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षात्कैवल्यमश्नुते साक्षात्कैवल्यमश्नुत इत्युपनिषत्॥ ५३॥

जो साधक गुरु के अनुग्रह से इस रहस्योपनिषद् के तत्त्व दर्शन को जान लेता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर साक्षात् कैवल्य पद को प्राप्त होता है, यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ ५३॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐसहनाववतु........इति। शान्तिः॥

॥ इति शुकरहस्योपनिषत्समाप्ता॥

॥ अथ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इसमें कुल छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में जगत् का मूल कारण जानने की जिज्ञासा की गई है। चर्चा से निर्णय न हो पाने पर ध्यान द्वारा अनुभूति के आधार पर सृष्टि को क्रमशः एक चक्र, विशिष्ट प्रवाह के रूप में वर्णित किया गया है। मूल तत्त्व, परमात्मतत्त्व को जानने की आवश्यकता तथा उसका फल समझाते हुए जीव, प्रकृति एवं ईश तथा परमात्मा, भोक्ता, भोग्य आदि प्रभागों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अंत में ॐ कार साधना द्वारा तिल में तैल की तरह हृदय प्रदेश में स्थित परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार का निर्देश है। दूसरा अध्याय ध्यान योग साधना परक है। ध्यान का महत्त्व समझाते हुए उसके विधि-विधान, प्राणायाम, स्थान आदि की मर्यादाएँ समझाते हुए उन्नति के लक्षण भी दर्शाए गये हैं। योग साधना से पंचभूत सिद्धि एवं आत्म तत्त्व से ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार की फलश्रुतियाँ बतलाते हुए परमतत्त्व को नमस्कार किया गया है।

तीसरे और चौथे अध्याय में जगत् की उत्पत्ति स्थिति संचालन और विलय में समर्थ परमात्म सत्ता की सर्वव्यापकता तथा उसे जानने की महत्ता का वर्णन है। उसे नौ द्वार वाली पुरी में, इन्द्रियरहित-सर्वसमर्थ लघु से लघु और महान् से महान् कहा गया है। जीवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति को एक ही डाल पर बैठे दो पक्षियों की उपमा से समझाया गया है। उस मायापति एवं उसकी माया को जानने की प्रेरणा के साथ उसे जानने के महान् फल का वर्णन तथा मुक्ति के लिए प्रार्थना है।

अध्याय पाँच और छः में विद्या-अविद्या तथा उनके शासक परमात्मा की विलक्षणता बतलाकर परमात्मा को ही उपास्य मानने वाले औपनिषदीय ज्ञान का अनुगमन करने की बात कही गई है। जीव के कर्मानुसार उसकी विभिन्न गतियों, नाना योनियों तथा उनसे मुक्ति के उपाय कहे गये हैं। पुनः जगत् का कारण जड़ प्रकृति के स्थान पर परमात्म तत्त्व को निरूपित किया गया है। उसके लिए ध्यान, उपासना एवं ज्ञानयोग का आश्रय लेने की बात कहकर परमात्मा की सर्वव्यापकता तथा सर्वसमर्थता सिद्ध की गई है। अन्त में यह विद्या सुपात्र को ही दी जाय, यह निर्देश दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.........इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य अमृतनादोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता ऋषि कहते हैं- इस जगत् का मूल कारण ब्रह्म किस रूप में है ? हम किससे उत्पन्न हुए हैं ? हम किससे जीवित रहते हैं ? हम कहाँ प्रतिष्ठित हैं ? हे ब्रह्मज्ञ महर्षियो, हम किसकी प्रेरणा से सुख-दुःख का अनुभव करते हुए संसार-चक्र व्यवस्था में भ्रमण करते हैं ? ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

काल, स्वभाव, सुनिश्चित कर्मफल व्यवस्था, आकस्मिक घटना, पंचमहाभूत और जीवात्मा-ये इस जगत् के कारणभूत तत्त्व हैं या नहीं, इन पर सदैव विचार करना चाहिए। इन सब का समुदाय भी इस जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये आत्मा के अधीन हैं। आत्मा भी कारण नहीं, क्योंकि यह सुख-दुःख के कारणभूत कर्मफल व्यवस्था के अधीन है ॥ २ ॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥

तब उन्होंने ध्यान योग का अवलम्बन लिया, जिससे उन्हें अपने गुणों से आच्छादित ब्रह्मस्वरूप आत्मशक्ति का साक्षात्कार हुआ, जो काल, स्वभाव आदि से लेकर आत्मा तक सभी कारणों का एकमात्र अधिष्ठाता है ॥३॥

[केवल बौद्धिक विवेचन द्वारा ब्रह्म का बोध सम्भव नहीं है, ध्यान के अन्तर्गत आत्म चेतना द्वारा ही गुणों के आवरण को भेदकर उस परम तत्त्व का अनुभव किया जा सकता है।]

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥ ४॥

उन्होंने एक ऐसे चक्र को देखा, जो एक नेमि, तीन वृतों, सोलह अन्त (सिरों), पचास अरों, बीस प्रत्यरों (सहायक अरों), छः अष्टकों, एक ही पाश से युक्त, एक मार्ग के तीन विभेदों, दो निमित्त तथा मोह रूपी एक नाभि वाला था॥ ४॥

[यहाँ विश्व व्यवस्था को एक चक्र (पहिए) के रूप में वर्णित किया गया है। नेमि चक्र को बाँधे रखने वाली एक परिधि (प्रकृति) तथा तीन वृत-तीन (सत्त्व, रज, तम) गुण हैं। परिधि के अन्त- सिरे का जोड़ सोलह कलायें हैं। प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत चौथे एवं पाँचवे मन्त्र में इनका वर्णन है। ५० अरे (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि आदि पचास प्रत्यय) अन्तःकरण की वृत्तियों के ५० भेद तथा बीस सहायक अरे (दस इन्द्रियाँ, ५ विषय एवं ५ प्राण) कहे गये हैं। चक्र में अष्टक किसे कहा गया है, यह स्पष्ट नहीं है। इन छः के आठ-आठ भेद कहे गये हैं- प्रकृति, शरीरगत धातु, सिद्धियाँ, भाव, देवयोनियाँ तथा विशिष्टगुण। तीन मार्ग धर्म, अधर्म एवं ज्ञानमार्ग तथा दो निमित्त- पाप और पुण्य कर्म हैं। यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र मानकर घूम रहे हैं।]

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥ ५॥

हम एक ऐसी नदी को जानते हैं, जो पाँच स्रोतों वाली जल-धाराओं से युक्त है, जिसके पाँच उद्‌गम होने के कारण बड़ी उग्र और टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहती है, जिसमें पाँच प्राणरूप तरंगें हैं, पाँच प्रकार के मानसिक स्तर जिनके आदि मूल (कारण) हैं। जो पाँच भँवरों वाली, पाँच दुःखरूप प्रवाहों के वेग वाली, पाँच पर्वों वाली और पचास भेदों वाली है॥ ५॥

[ऋषि ने यहाँ विश्व प्रवाह को नदी के रूप में वर्णित किया है। पाँच धाराएँ-पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च उद्‌गम-पञ्च तत्त्व, पाँच प्राण की तरंगें, पाँच भँवरें-पाँच तन्मात्राएँ, पाँच दुःख-गर्भ, जन्म, रोग, जरा और मृत्यु हैं। पाँच विभाग-अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय हैं। अन्तःकरण की ५० वृत्तियाँ उसके भेद हैं। उक्त दोनों उपमाओं की विस्तृत व्याख्या आचार्य शंकर के भाष्य में देखी जा सकती है।]

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥ ६॥

सबके पोषण के आधार रूप, सबके आश्रयरूप इस विस्तृत ब्रह्मचक्र (व्यवस्था) में जीव भ्रमण करता रहता है। इस चक्र से पृथक् होकर जब वह आत्मा को और प्रेरक परमात्मा को सेवा द्वारा संतुष्ट करता है, तो वह अमृतत्व को प्राप्त होता है॥ ६॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

वेदों में वर्णित यह परब्रह्म ही पावन प्रतिष्ठा से युक्त और अविनाशी है। इसमें ही तीनों लोक स्थित हैं। ब्रह्मवेत्ता महापुरुष अपने ही अन्तस् में अधिष्ठित उस ब्रह्म को जानकर उसी में निष्ठापूर्वक लीन होकर विभिन्न योनियों के जन्म-बंधन से मुक्त हो जाते हैं॥ ७॥

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

नश्वर जगत् और अनश्वर चेतना के संयोग से निर्मित यह सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्त विश्व का पोषण वह परमात्मा करता है। जीवात्मा संसार के विषयों का भोक्ता होने के कारण उसमें फँसता है, परन्तु परब्रह्म का ज्ञान होने पर सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ ८॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

ज्ञानी- अज्ञानी, सर्वसमर्थ - असमर्थ यह दोनों (ईश और जीव) अजन्मा ही हैं। भोक्ता (जीव) के लिए एक भोग्या (प्रकृति) भी अजन्मा है। विश्वरूपों में संव्याप्त अनन्त आत्मा-अकर्त्ता (कर्त्तापन के भाव से मुक्त) है। इन तीनों (ईश्वर, जीव और प्रकृति) को जब ब्रह्मयुक्त अनुभव करे, वही यथार्थ ज्ञान है॥ ९ ॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

प्रकृति नाशवान् है, इसका भोक्ता जीवात्मा अविनाशी है, एक ही परमात्मा इसे अपने नियन्त्रण में रखता है। उस एक परमात्मा का ध्यान करने से - चिन्तन करने से, उसके तत्त्व की भावना करने से अन्त में विश्वरूप माया से निवृत्ति होती है और आगे उसी परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है॥ १०॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैःक्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११ ॥

उस परमात्मा को जान लेने पर सम्पूर्ण बन्धनों (विकारों) से मुक्ति मिलती है तथा सम्पूर्ण क्लेश क्षीण होकर जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल जाती है। उस परमात्म-तत्त्व का निरन्तर ध्यान करने से शरीर त्यागने के बाद तृतीय लोक के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के भोग से पूर्ण कामना की प्राप्ति हो जाती है और फिर अन्त में कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है॥ ११ ॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥१२ ॥

अपने भीतर अधिष्ठित इस परमात्म तत्त्व को जानना ही चाहिए, क्योंकि इससे श्रेष्ठ जानने योग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जड़ प्रकृति) और परमात्मा, इन तीनों को जो मनुष्य जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है। इन तीनों भेदों में वर्णित ये तत्त्व वस्तुतः एक ही ब्रह्म के रूप हैं॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥१३ ॥

जिस प्रकार अग्नि का उसके आश्रय स्थान काष्ठ में कोई रूप नहीं दिखता और उसके मूल तत्त्व का भी नाश नहीं होता, क्योंकि आगे प्रयत्न करने पर ईंधन रूप अपने आश्रय में उसे (अग्नि को) ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों ॐकार साधना के द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

साधक को अपनी देह को नीचे की अरणि और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन के अभ्यास से (काष्ठ में) गुह्य अग्नि की भाँति परमात्म तत्त्व को देखना चाहिए॥ १४॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५॥

जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घी, स्रोतों में जल और काष्ठों में अग्नि आदि तत्त्व छिपे रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा अपने अन्तःकरण में ही छिपा हुआ है। जो साधक परमात्मा को सत्य तथा तप के द्वारा मनन पूर्वक देखता है, परमात्मा उसी साधक के द्वारा ग्रहण किया जाता है॥ १५॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति॥ १६॥

साधक दूध में निहित घृत की भाँति आत्मा में स्थित जिस परमात्म तत्त्व को आत्म विद्या और तप के आधार से प्राप्त करता है, वह उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म ही है॥ १६॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ १॥

वह सविता (सबका उत्पादक) देवता हमारे मन तथा बुद्धि को परमात्मा में लगाते हुए हमारी इन्द्रियों को पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठा कर उसमें दिव्य अग्नि का प्रकाश स्थापित करे, ताकि हम जगत् के सार तत्त्व का ही अवलोकन करें॥ १॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या॥ २॥

हम सविता देवता की उपासना के निमित्त यज्ञादि कर्म मनोयोग पूर्वक सम्पन्न करें। इस प्रकार स्वर्गीय आनन्द की प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करें॥ २॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३॥

स्वर्ग तथा आकाश में गमन करने वाले, बृहद् प्रकाश संचरित करने वाले वे सविता देव हमारे मन तथा बुद्धि से (मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता) देवों को संयुक्त करके उन्हें प्रकाश की ओर प्रेरित करें॥३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुःपरिष्टुतिः॥ ४॥

जिसमें सभी ब्राह्मण आदि अपने मन तथा चित्त को लगाते हैं, जिनके निमित्त अग्निहोत्र आदि का विधान किया गया है, जो सभी प्राणियों के विचारों को जानते हैं, उन सवितादेव की हम महती स्तुति करें॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूराः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

हे मन और बुद्धि! तुम्हारे स्वामी और सबके आदिकारण परब्रह्म परमात्मा से मैं नमस्कार के द्वारा संयुक्त होता हूँ। मेरा श्लोक (स्तुतिकर्म) विद्वान् के यश के समान सर्वत्र फैल जाये। दिव्य लोकों में वास करने वाले सभी अमृतरूप परमात्मा के अंशधर पुत्रगण मेरी बात सुनें ॥ ५ ॥

[मन-बुद्धि विकारों के वशीभूत होकर अकड़े रहते हैं, नमन की प्रक्रिया इष्ट के प्रति समर्थन का अभ्यास है। शुद्ध होकर साधक के मन -बुद्धि जब इष्ट से संयुक्त होते हैं, तो उनकी गति और सामर्थ्य व्यापक हो जाती है। मनः शुद्धि की प्रक्रिया आगे स्पष्ट की गई है।]

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभियुज्यते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥६ ॥

जहाँ अग्नि का मंथन किया जाता है, जहाँ प्राण वायु का विधिवत् निरोध किया जाता है एवं जहाँ सोमरस का प्रखर आनंद प्रकट होता है, वहाँ मन सर्वथा शुद्ध हो जाता है ॥ ६ ॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्। तत्र योनिं कृणवसे नहि ते पूर्तमक्षिपत् ॥ ७ ॥

सविता देवता के द्वारा प्रेरित होकर हमें सबके आदि कारण परमात्मा की आराधना करनी चाहिए, (हे साधक!) तुम उसी परमात्मा का आश्रय ग्रहण करो। इससे तुम्हारे पूर्त कर्म (पुण्य कार्य-स्मार्त कर्म) भी बन्धन प्रदायक नहीं होंगे ॥ ७ ॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह सिर, ग्रीवा और वक्षःस्थल इन तीनों को सीधा और स्थिर रखे। वह उसी दृढ़ता के साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों को मानसिक पुरुषार्थ कर अन्तःकरण में सन्निविष्ट करे और ॐकार रूप नौका द्वारा सम्पूर्ण भयावह प्रवाहों से पार हो जाए ॥ ८ ॥

[इन्द्रियों की सारी सुखाकांक्षाएँ अन्तःकरण से ही उपजती हैं। अन्तःकरण में वे समाविष्ट हो जायें, तो सारे इन्द्रिय-सुखों का अनुभव अन्दर ही किया जा सकता है।]

प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि आहार-विहार की सभी क्रियाओं को विधिवत् सम्पन्न करते हुए प्राणायाम की क्रिया करके जब प्राण क्षीण हो, तो उसे नासिका से बाहर निकाल दे। जिस प्रकार सारथि दुष्ट अश्वों से युक्त रथ को अत्यन्त सावधानी से लक्ष्य की ओर ले जाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष इस मन को अत्यन्त जागरूक होकर वश में किये रहे ॥ ९ ॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

साधक को चाहिए कि वह समतल और पवित्र भूमि, कंकड़, अग्नि तथा बालू से रहित, जल के आश्रय और शब्द आदि की दृष्टि से मन के अनुकूल, नेत्रों को पीड़ा न देने वाले (तीक्ष्ण आतप से रहित), गुहा आदि आश्रय स्थल में मन को ध्यान के निमित्त अभ्यास में लगाए ॥ १० ॥

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

योग साधना प्रारम्भ करने पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वरूप सर्वप्रथम कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, जुगनू, विद्युत्, स्फटिकमणि, चन्द्रमा आदि बहुत से रूप साधक के समक्ष प्रकट होते हैं॥ ११ ॥

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ १२ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश- इन पाँचों महाभूतों का सम्यक् उत्थान होने पर इनसे सम्बंधित पाँच योग विषयक गुणों की सिद्धि होने पर जिस साधक को योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो जाता है, उसे न तो रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न ही असामयिक मृत्यु प्राप्त होती है॥ १२॥

[इस मन्त्र में प्रयुक्त 'पृथ्व्याप्यतेजो' शब्द आर्षप्रयोग प्रतीत होता है, अन्यथा इसके स्थान पर 'पृथ्व्यप्तेजो' अधिक उपयुक्त रहता।]

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥

शरीर की स्थूलता कम होना, नीरोग होना, विषयों में आसक्ति न होना, शरीर में कान्ति-तेजस्विता होना, स्वर की मधुरता, शुभ गन्ध का होना, मल-मूत्र अल्प होना, ये सब योग की पहली सिद्धि है॥१३॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥ १४॥

जिस प्रकार मिट्टी से मलिन हुआ रत्न या आभूषण शोधित होकर प्रकाशमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके शोकादि से मुक्त होता और अद्वितीय तथा कृतकृत्य हो जाता है॥ १४॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १५॥

जब योग साधना से युक्त साधक दीपक के सदृश आत्मतत्त्व के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, तब वह अजन्मा, निश्चल, सम्पूर्ण तत्त्वों से पवित्र उस परमात्मा को जानकर सम्पूर्ण विकार रूप बन्धनों से मुक्ति पा लेता है॥ १५॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ १६॥

वही एक परमात्मा सम्पूर्ण दिशाओं-अवान्तर दिशाओं में संव्याप्त है, वही सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ था, वही सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में अन्तःस्थित है, वही इस जगत् रूप में उत्पन्न हुआ है और भविष्य में भी उत्पन्न होने वाला है, वही सम्पूर्ण जीवों में स्थित है और सम्पूर्ण पक्षों वाला है॥ १६॥

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ १७॥

जो परमात्मा अग्नि में है, जो जल में है, जो समस्त लोकों में संव्याप्त है, जो ओषधियों तथा वनस्पतियों में है, उस परमात्मा के लिए नमस्कार है॥ १७॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।

य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १॥

जो एक मायापति अपनी प्रभुतासम्पन्न शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है,जो अकेला ही सृष्टि की उत्पत्ति-विकास में समर्थ है, उस परम पुरुष को जो विद्वान् जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।

प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥ २॥

वह एक परमात्मा ही रुद्र है। वही अपनी प्रभुता-सम्पन्न शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है, सभी प्राणी एक उन्हीं का आश्रय लेते हैं, अन्य किसी का नहीं। वही समस्त प्राणियों के अन्दर स्थित है, वह सम्पूर्ण लोकों की रचना करके उनका रक्षक होकर प्रलयकाल में उन्हें समेट लेता है॥ २॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

संबाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ ३॥

वह एक परमात्मा सब ओर नेत्रों वाला, बाहुओं और पैरों वाला है। वही एक मनुष्य आदि जीवों को बाहुओं से तथा पक्षी-कीट आदि को पंखों से संयुक्त करता है,वही इस द्यावा-पृथिवी का रचयिता है॥ ३॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ ४॥

जो रुद्ररूप परमात्मा सम्पूर्ण देवों की भी उत्पत्ति और उनके विकास का कारण है, जो सबका अधिपति और सर्वज्ञाता है, जिसने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया, वह परमात्मा हम सबको कल्याणकारी बुद्धि से संयुक्त करे॥ ४॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।

तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥ ५॥

पर्वत पर वास करने वाले सुखप्रदाता हे रुद्रदेव! आपका कल्याणकारी, सौम्य, पुण्य से कान्तिमान् जो रूप है, आप हमें अपने उसी सुखदायी स्वरूप से देखें॥ ५॥

यामिषुं गिरिशंत हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत्॥

हे हिमालय वासी सुखदाता! जिस बाण को आप प्राणियों की ओर फेंकने के लिए हाथ में धारण किये रहते हैं, हे हिमालय रक्षक देव! आप उसे कल्याणकारी बनाएँ, इस जगत् को, जीव समूह को हिंसित न करें॥ ६॥

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥ ७॥

जो उस जीव-जगत् से परे हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है, जो अत्यन्त व्यापक है, किन्तु प्राणियों के शरीरों के अनुरूप उन सब प्राणियों में समाया हुआ है, सम्पूर्ण जगत् को अपनी सत्ता से घेरे हुए उस महान् परमात्मा को जानकर विद्वान् पुरुष अमर हो जाते हैं ॥ ७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ८॥

मैं इस अविद्यारूप तमस् से दूर उस प्रकाशमय आदित्य स्वरूप परमात्मा को जानता हूँ, उसे जानकर ही विद्वान् मृत्यु के चक्र को पार कर सकता है,अमरत्व प्राप्ति के लिए इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं॥ ८॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ ९॥

जिससे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं, जिससे कोई भी न तो सूक्ष्म है और न ही बड़ा। जो अकेला ही वृक्ष की भाँति निश्चल आकाश में स्थित है, उस परम पुरुष से ही यह सम्पूर्ण विश्व संव्याप्त है॥ ९॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १०॥

जो उस (हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्म) से श्रेष्ठ है, वह परब्रह्म परमात्मा रूप है और दुःखों से परे है, जो विद्वान् उसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं, इस ज्ञान से रहित अन्यान्य लोग दुःख को प्राप्त होते हैं॥ १०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः॥

वह कल्याणकारी भगवान् सब ओर मुख, सिर और ग्रीवा वाला है, वह सम्पूर्ण प्राणियों की हृदय गुहा में निवास करता है। वह सर्वव्यापी और सब जगह पहुँचा हुआ है॥ ११॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः। सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥

यह परम पुरुष परमात्मा महान्, सर्व समर्थ, सबका नियन्ता, प्रकाश स्वरूप और अविनाशी है, अपनी अत्यन्त निर्मल कांति की प्राप्ति के निमित्त अन्तःकरण को प्रेरित करने वाला है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १३॥

अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला अन्तरात्मा सर्वदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट रहता है। जो विद्वान् इस हृदयगुहा में स्थित मन के स्वामी को विशुद्ध मन से साक्षात्कार करके जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥

[गीता ने भी हृदय में स्थित अंगुष्ठ मात्र जीवात्मा का उल्लेख किया है। शरीर विज्ञान के अनुसार हृदय में पेसमेकर से उसकी संगति बैठती है। हृदय की धड़कन के मूल स्पंदन वहीं से उपजते हैं।]

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

वह परमात्मा सहस्त्र सिर वाला, सहस्त्र नेत्रों वाला और सहस्त्र पैरों वाला है। वह सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से घेर कर भी दस अंगुल बाहर(सम्पूर्ण रूप से) स्थित है अथवा नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदयाकाश में स्थित है॥ १४॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ १५॥

जो भूतकाल में हो चुका है, जो भविष्यत्काल में होने वाला है और जो अन्नादि पदार्थों से पोषित हो रहा है, यह सम्पूर्ण परम पुरुष ही है और वही अमृतत्व का स्वामी है॥ १५॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

वह परम पुरुष सब जगह हाथ-पैर वाला, सब जगह आँख, सिर और मुख वाला और सब जगह कानों वाला है, वही लोक में सबको व्याप्त करके स्थित है॥ १६॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

वह परम पुरुष समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी उनके (इन्द्रियों के) विषयों-गुणों को जानने वाला है। सबका स्वामी-नियन्ता और सबका बृहद् आश्रय है॥ १७॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥ १८॥

वह परम पुरुष प्रकाश के रूप में नवद्वार वाले देहरूपी नगर में अन्तर्यामी होकर स्थित है। वही इस बाह्य-स्थूल जगत् में लीला कर रहा है॥ १८॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ १९॥

वह परम पुरुष हाथ-पैरों से रहित होकर भी वेगपूर्वक गमन करने वाला है। आँखों से रहित होकर भी देखता और कानों से रहित होकर भी सब सुनता है। वह जानने वाली चीजों को जानता है। उसे जानने वाला अन्य कोई नहीं है, उसे ज्ञानी जन महान्, श्रेष्ठ आदि कहते हैं॥ १९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ २०॥

वह परम पुरुष अतिसूक्ष्म अणु से भी सूक्ष्म है और अतिशय महान् से भी महान् है। आत्मारूप वह पुरुष इस जीव की हृदय गुहा में छिपा हुआ है। उस विषय भोग के संकल्पों से रहित, परमात्मा को जो विधाता की कृपा से देख लेता है, वह सभी संतापों से मुक्त हो जाता है॥ २०॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥ २१॥

उसे हम जानते हैं, जो जरा आदि से मुक्त सदा नित्य है। वह सबसे पुरातन पुरुष सबमें आत्मा रूप में समाहित है। वह सर्वत्र विद्यमान और अत्यन्त व्यापक है, उसे ब्रह्मवेत्ता जन जन्म-बन्धन से मुक्त तथा सदा नित्य रहने वाला बताते हैं॥ २१॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १॥

जो सृष्टि के आरम्भ में अकेले ही वर्ण (रूप-रंग) से रहित होकर और बिना किसी प्रयोजन के अपनी विविध शक्तियों के प्रयोग द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है और अन्त में सम्पूर्ण विश्व अपने में ही विलीन कर लेता है, वह परमात्मा हम सबको शुभ बुद्धि से संयुक्त करे॥ १॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥

वही (परमात्मा)अग्नि है, वही सूर्य, वायु तथा चन्द्रमा है। वही शुक्र (तेजस्वी नक्षत्र आदि) है, वही ब्रह्म, वही आपः और वही प्रजापति है॥ २॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

(हे परमेश्वर!) आप ही स्त्री और आप ही पुरुष हैं। आप ही पुत्र अथवा पुत्री हैं, आप ही वृद्ध होकर लाठी के सहारे चलते हैं तथा (प्रपंच रूप में) जन्म लेकर सर्वत्र विविध रूपों में विद्यमान हैं ॥ ३ ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

आप ही नीलवर्ण (आकाश), पतंग (सूर्य), हरितवर्ण (वनस्पति आदि), लाल आँखों वाले (नक्षत्र या अग्नि), मेघ, ऋतुएँ तथा सप्त समुद्र हैं। आप ही अनादि सत्ता वाले और सर्वत्र विद्यमान हैं, आपसे ही ये सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

['नीलः पतंगः' और 'हरितः लोहिताक्षः' के अर्थ कुछ आचार्यों ने नीला भ्रमर तथा हरे रंग का लाल आँखों वाला पक्षी (शुक) किया है; किन्तु इस मन्त्र में और अगले मन्त्र में भी प्रकृति के व्यापक घटकों का ही वर्णन है, उनके साथ यह कीट, पक्षी आदि की संगति नहीं बैठती। पतंग का अर्थ सूर्य भी होता है, अतः इनका अर्थ नीलवर्ण-आकाश सूर्य, हरित (वनस्पति आदि) तथा रक्त नेत्र वाले नक्षत्र या अग्नि मानना अधिक युक्तिसंगत है।]

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

अपने अनुरूप बहुत सी प्रजाओं को उत्पन्न करने वाली लोहित (लाल-रजस्), शुक्ल(श्वेत-सत्) एवं कृष्ण (काला-तमस्) वर्ण वाली अनादि प्रकृति (अजा) को एक अज (जीव)स्वीकार करता हुआ भोगता है और दूसरा अज (आत्मा) उपभुक्त प्रकृति का परित्याग कर देता है ॥ ५ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ ६ ॥

सदा संयुक्त रहकर मैत्री भाव से एक साथ रहने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)का आश्रय लिए हुए रहते हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) तो उस वृक्ष के फलों (कर्मफलों) को स्वाद लेकर खाता है; किन्तु दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

उस एक ही वृक्ष पर रहने वाला जीव राग-द्वेष, आसक्ति आदि में डूबकर मोहित हुआ दीनतापूर्वक शोक करता है। जब वह अनेकों साधकों द्वारा सेवित और अपने से भिन्न ईश्वर और उसकी महिमामयी सत्ता का साक्षात्कार करता है, तब वह शोक-संताप से मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ८ ॥

जिसमें सम्पूर्ण देवगण अधिष्ठित हैं, उस अनश्वर परम व्योम (धाम) में समस्त वेद (ज्ञान समुच्चय) स्थित हैं। जो विद्वान् उसे नहीं जानते, वे केवल ऋचाओं (वेदों) के द्वारा क्या कर लेंगे और जो उसे जानते हैं, वे सम्यक् रूप से उसी (परमात्मा) में कृतार्थ होकर स्थित हैं ॥ ८ ॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥ ९॥

समस्त वेद, यज्ञ, ज्योतिष्टोम आदि विशिष्ट यज्ञ, व्रत, भूत, भविष्यत् तथा जो भी कुछ वेदों द्वारा वर्णित है, वह सब मायापति ईश्वर इस अक्षर (अविनाशी प्रकृति तत्त्व) से उत्पन्न करता है और स्वयं जीवात्मा रूप में उस माया से भिन्न होकर भी उसके साथ भली-भाँति जुड़ा हुआ है॥ ९॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तं महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

प्रकृति को तो माया समझना चाहिए और परब्रह्म परमेश्वर को मायापति। उसी के अङ्गभूत (कार्य-कारण समूह) से यह सारा जगत् व्याप्त है॥ १०॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ ११॥

जो स्वयं अकेले ही प्रत्येक शरीर (चौरासी लाख योनि) का अधिष्ठाता है, जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रलयकाल में विलीन हो जाता है और सृजन काल में विविध रूपों में पुनः प्रकट भी हो जाता है। साधक उस नियामक सत्ता, वर प्रदाता, स्तुत्य परमदेव को जानकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है॥ ११॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ १२॥

जो रुद्रदेव, अन्यान्य देवों की उत्पत्ति के हेतु और ऐश्वर्यादि से उनका परिपोषण करने वाले हैं, जो सबके अधिपति और सर्वज्ञाता हैं। जिनने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखा था, वे देव हमें निर्मल बुद्धि से संयुक्त करें॥ १२॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १३॥

जो समस्त देवों के अधिपति हैं, जिसमें सम्पूर्ण लोक अधिष्ठित हैं, जो इस जगत् के दो पैर वाले (मनुष्य) और चार पैर वाले समस्त जीवसमूह के नियन्ता हैं, उन 'क' संज्ञक प्रजापति का हम हविष्यान्न आदि द्वारा पूजन करें (या उन देवाधिपति परमात्मा को छोड़कर अन्य किस देवता का यजन करें?)॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥ १४॥

सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, हृदयगुहा के गुह्य स्थान में स्थित, सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, अनेक रूप धारण करने वाले, सम्पूर्ण जगत् को अकेले ही परिव्याप्त करने वाले कल्याणकारी देव को जानकर (साक्षात्कार करके) साधक शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है॥ १४॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति॥ १५॥

वही प्रत्येक काल में समस्त लोकों (ब्रह्माण्ड) का रक्षक, सम्पूर्ण जगत् का स्वामी और सभी प्राणियों में स्थित है। जिसमें ब्रह्मर्षिगण और देवगण भी ध्यान द्वारा तल्लीन रहते हैं, उस परम पुरुष को जानकर साधक अपने मृत्यु के बन्धनों को (चक्र को)काट डालता है॥ १५॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १६॥

साधक घृत (मक्खन) के समान ऊपर रहने वाले उसके सार भाग के समान अतिसूक्ष्म और समस्त प्राणियों में अधिष्ठित कल्याणकारी देव को जानकर तथा उस सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड को अपनी सत्ता से घेरकर रखने वाले विराट् देव को जानकर, सम्पूर्ण विकाररूपी बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १६॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १७॥

यह जगत् कर्त्ता, देदीप्यमान परमात्मा सर्वदा मनुष्यों के हृदय में सम्यक् प्रकार से अवस्थित है। जो साधक अपने हृदय, बुद्धि और मन से ध्यान द्वारा योग युक्त होकर इसे जान लेते हैं,वे अमरत्व पाते हैं॥१७॥

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी॥ १८॥

जब अज्ञान का तमस् नहीं रहता (अर्थात् ज्ञान का प्रकाश उद्भूत हो जाता है), तब न दिन रहता है, न रात्रि और न सत् रहता है न असत्, केवल एक कल्याणकारी देव (शिव) रहता है। वह सर्वदा अनश्वर है, वह सविता देव का भी उपास्य है तथा उसी से पुरातन प्रकृष्ट ज्ञान (प्रज्ञा) निःसृत हुआ है॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥

इसे न तो ऊपर से, न इधर-उधर से और न मध्य से ही कोई भली-भाँति पकड़ सकता है। जिसका नाम 'महद्यशः' (सर्वत्र कीर्तिमान्) है, उसकी कोई उपमा (समानता करने वाला) भी नहीं है॥ १९॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २०॥

इस परमात्मा का कोई रूप दृष्टि के सामने नहीं ठहर पाता, उसे कोई इन आँखों से नहीं देख सकता। जो साधक अपने हृदय में अवस्थित परमात्मा को भावपूर्ण हृदय और निर्मल मन से जान लेते हैं, वे अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं॥२०॥

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रतिपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥ २१॥

हे रुद्रदेव (संहारक देव)! आप जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हैं, ऐसा जानकर कोई भीरु (मृत्यु के भय से डरने वाला मेरे जैसा) आपके आश्रय में आता है, (और कहता है कि) आप अपने कल्याणकारी रूप (दक्षिणमुख) से मेरी सर्वदा रक्षा करें (तो निश्चय ही आपको वैसा ही करना चाहिए)॥ २१॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥ २२॥

हे रुद्रदेव! हम विविध हविष्यान्न लेकर सदैव आपका आवाहन (यजन) करते हैं। आप कुपित होकर हमारे वीर पुरुषों का नाश न करें। न हमारे पुत्रों में, न पौत्रों में, न हमारी आयु में, न हमारी गौओं में और न हमारे अश्वों में कोई कमी करें॥ २२॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ १॥

(कार्य) ब्रह्म से भी उत्कृष्ट, वह अनन्त सत्ता अविनाशी है, जिसमें विद्या और अविद्या दोनों निहित हैं और जो प्राणियों की हृदय गुहा में निहित है। क्षरणशील (नश्वर तो) 'अविद्या' है और अविनाशी (जीवात्मा) 'विद्या' है। जो विद्या और अविद्या दोनों पर शासन करता है,वह इन दोनों से भिन्न सत्ता है॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥ २॥

जो अद्वितीय परमात्मा प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जो सम्पूर्ण (चौरासी लाख) योनियों को विभिन्न रूप प्रदान करता है। जिसने सबसे पहले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को विशिष्ट ज्ञान-सम्पदा से सम्पन्न किया तथा उन्हें उत्पन्न होते हुए देखा था (वही विद्या-अविद्या से परे परमतत्त्व है)॥ २॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥ ३॥

यह प्रकाश स्वरूप परमात्मा सृष्टि काल में इस जगत् क्षेत्र में एक-एक जाल (कर्मफल बन्धन) को अनेक प्रकार से विभक्त कर स्थापित करता हुआ प्रलयकाल में उसका संहार कर देता है। वह परमेश्वर (कल्पान्तर के आरम्भ में) प्रजापतियों की सृष्टि करके उन सब पर अपना आधिपत्य रखता है॥ ३॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः॥ ४॥

जिस प्रकार सूर्यदेव अकेले ही ऊपर-नीचे और इधर-उधर की सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुए देदीप्यमान होते हैं, उसी प्रकार वह परम पुरुष भगवान् प्रकाशस्वरूप और वरणीय होकर अकेले ही समस्त उत्पत्तिकारक शक्तियों पर अपना आधिपत्य रखता है॥ ४॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः॥ ५॥

जो परमात्मा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारणभूत है, जो समस्त तत्त्वों के स्वभाव को परिपक्व करता है, जो समस्त पकाये गये (अथवा परिवर्तनशील) पदार्थों को विविध रूपों में परिणत करता है, जो सम्पूर्ण गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) को उनके अनुरूप कार्यों में नियुक्त करता है, जो सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है (वह परब्रह्म है)॥ ५॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥ ६॥

वह परमात्मा वेदों के गुह्य सारभूत उपनिषदों में निहित है, वेद के उत्पन्नकर्ता उस परमात्मा को ब्रह्मा जानते थे। जो पुरातन देवगण और ऋषिगण उसे (परमात्मतत्त्व को) जानते थे, वे निश्चित ही उसमें तन्मय होकर अमृतस्वरूप हो गये थे॥ ६॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव न चोपभोक्ता।

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥ ७॥

जो गुणों से युक्त, फलप्राप्ति के उद्देश्य से कर्म करने वाला और अपने किये गये कर्म के फल का उपभोग करने वाला जीवात्मा है, वह विभिन्न रूपों को धारण करता हुआ तीन गुणों (सत्, रज, तम) से युक्त होकर तीन मार्गों (देवयान, पितृयान तथा लौकिक योनियों या धर्म, अधर्म तथा ज्ञान मार्ग) से गमन करता है। वह प्राणों का अधिपति जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में गमन करता है॥ ७॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः॥ ८॥

जो अंगुष्ठ मात्र परिमाणवाला, सूर्य सदृश प्रकाशस्वरूप और सङ्कल्प तथा अहङ्कार से युक्त है, जो बुद्धि और आत्मा के विशिष्ट गुणों से युक्त है, यह आरे (लकड़ी चीरने का यन्त्र) की नोंक सदृश सूक्ष्म, परमात्मा से भिन्न अस्तित्व वाला (जीवात्मा) योगियों द्वारा देखा गया है॥ ८॥

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ ९॥

एक बाल की नोंक के सौवें भाग के पुनः सौ भागों में विभक्त करने पर, जो कल्पित भाग होता है, जीव का स्वरूप उसी के बराबर (अतिसूक्ष्म) समझना चाहिए, परन्तु वही अनन्त रूपों में विस्तृत भी हो जाता है॥ ९॥

[चेतना की सूक्ष्म इकाई की सूक्ष्मता का अनुमान कराने के लिए ऋषि ने यह उदाहरण दिया है।]

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥ १०॥

यह जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक है। यह जिस - जिस शरीर को ग्रहण करता है, उसी-उसी से सम्बद्ध हो जाता है॥ १०॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासांबुवृष्ट्यात्मविवृद्धिजन्म।

कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥ ११॥

अन्न और जल के सेवन से जिस प्रकार शरीर परिपुष्ट होता है (उसकी वृद्धि होती है), उसी प्रकार सङ्कल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह से जीवात्मा का जन्म और विस्तार (अनेक योनियों में) होता है। जीवात्मा अपने किये हुए कर्मों के फल के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न शारीरिक रूपों को बार-बार धारण करता है॥ ११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।

क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥ १२॥

जीवात्मा अपने आन्तरिक गुणों (ममता, अहंता, आकांक्षा आदि) के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म बहुत से रूप धारण करता है। अपने क्रियात्मक गुणों (संस्कारों) तथा चेतनात्मक गुणों (चिन्तन, मनन, सङ्कल्प आदि) के अनुरूप शरीर धारण कराने वाला हेतु कोई दूसरा (परमपिता परमात्मा) भी देखा (जाना) गया है॥ १२॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

इस घोर संसार (भवसागर) में उस अनादि, अनन्त, विश्व सृजेता, अनेक रूपों वाले, सम्पूर्ण विश्व को अकेले ही अपनी सत्ता से आवृत करने वाले (परमात्म) देव को जानकर साधक समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्। कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥

श्रद्धा भाव से प्राप्त होने वाले अशरीरी सृष्टि (भाव) एवं प्रलय (अभाव) करने वाले, कल्याणकारी स्वरूप वाले, कलाओं की रचना करने वाले, उस देव (परमात्मा) को जो साधक जान लेता है, वह शरीर बन्धन (आवागमन चक्र) को त्यागकर मुक्त हो जाता है॥ १४॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा नु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

कुछ विद्वान् मनुष्य के स्वभाव को जन्म चक्र का कारण बताते हैं, दूसरे कुछ लोग काल को इसका कारण बताते हैं, परन्तु ये लोग यथार्थता से बहुत दूर मोहग्रस्त स्थिति में हैं। वास्तव में यह परमात्म देव की ही महिमा है, जिसके द्वारा इस लोक में यह ब्रह्मरूप (सृष्टि)चक्र घुमाया जाता है॥ १॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥

जिसके द्वारा यह समस्त जगत् सदैव व्याप्त रहता है, जो ज्ञानस्वरूप, काल का भी काल, सर्वगुणसम्पन्न और सर्वज्ञ है, उसके ही अनुशासन में यह सम्पूर्ण कर्म चक्र घूम रहा है। पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश- इन पञ्च तत्त्वों का चक्र भी उसी के हाथ में है- ऐसा चिन्तन करते रहना चाहिए॥ २॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥ ३॥

उस परमात्मा ने कर्म चक्र चला कर, उसका अवलोकन कर आगे चेतन तत्त्व से जड़ तत्त्व का संयोग कराके जगत् की रचना की, अथवा एक (अविद्या), दो (धर्म और अधर्म), तीन (सत्, रज, तम गुण), आठ (मन, बुद्धि, अहंकार सहित पञ्चतत्त्वों) प्राकृतिक भेदों से तथा काल एवं सूक्ष्म आन्तरिक गुणों (ममता, अहन्ता, इच्छा, आसक्ति आदि) के संयोग से इस जगत् की रचना की॥ ३॥

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ ४॥

जो साधक तीनों गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके उन्हें तथा उनके भावों को परमात्मा को अर्पित कर देता है, (ऐसा करने से) उन कर्मों का अभाव हो जाता है तथा पूर्वकृत कर्मों का भी नाश हो जाता है। ऐसा होने पर जीवात्मा जड़-जगत् से भिन्न सत्ता (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥ ५॥

वह आदि पुरुष परमात्मा, (प्रकृति का जीव से)संयोग कराने वाले निमित्त के रूप में जाना (देखा) गया है। यह तीनों कालों तथा सोलह कलाओं से परे है। अपने अन्तःकरण में अधिष्ठित उस सर्वरूप और संसार रूप में प्रकट तथा स्तुत्य पुरातन परमात्म देव की उपासना करनी चाहिए॥ ५॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम॥ ६॥

जिससे यह जगत् प्रपञ्च में प्रवृत्त होता है, वह (परमात्मा)जगत् वृक्ष (चक्र), काल तथा आकार से परे तथा उससे भिन्न है। धर्म के विस्तारक, पाप का नाश करने वाले, उस ऐश्वर्य के स्वामी को जानकर साधक आत्मा में स्थित उस विश्वाधार विराट् परमात्मा तथा उसके अमृतस्वरूप को प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ ७॥

ईश्वरों (प्रभुता-सम्पन्नों) के भी परम महेश्वर, देवताओं के परम देव, पतियों (पालकों) के भी परमपति, अव्यक्त (प्रकृति आदि) से भी परे, सम्पूर्ण लोक-ब्रह्माण्ड के अधिपति, स्तुति करने योग्य वह परमात्म देव सबसे परे हैं, (ऐसे) परमात्म देव को हम जानते हैं॥ ७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ ८॥

उस (निराकार परमेश्वर) के शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे बड़ा भी कोई नहीं है, उसकी पराशक्ति (अदृश्य-दिव्य शक्ति) विविध प्रकार की सुनी जाती है और वह स्वभाव जन्य ज्ञान क्रिया (सम्पूर्ण विषयों के ज्ञान की प्रवृत्ति) और बल क्रिया (अपने प्रभाव से सबको अभिभूत करने की शक्ति) वाला है॥ ८॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ ९॥

इस जगत् में कोई उसका स्वामी नहीं है, उसका कोई शासक नहीं है एवं उसका कोई लिंग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) भी नहीं है। वह सबका कारण है और इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवों का अधिपति है। उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न ही कोई अधिपति है॥ ९॥

यस्तूर्णपनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्॥ १०॥

तन्तुओं द्वारा मकड़ी के समान उस एक परमदेव (परमात्मा) ने स्वयं ही अपनी प्रधान शक्ति (प्रकृति) से (उत्पन्न अनन्त कार्यों से) अपने को आवृत कर लिया है। वह परमात्मा हमें अपने ब्रह्मस्वरूप से एकत्व प्रदान करे॥ १०॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ११॥

सम्पूर्ण प्राणियों में वह एक देव (परमात्मा) स्थित है। वह सर्वव्यापक, सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा, सबके कर्मों का अधीश्वर, सब प्राणियों में बसा हुआ (सबके अन्दर विद्यमान), सबका साक्षी, पूर्ण चैतन्य, विशुद्धरूप और निर्गुणरूप है॥ ११॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

जो अद्वितीय परमात्मा सबका अधीश्वर है, जो बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक रूपों में परिणत कर देता है, उस हृदय गुहा में अवस्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष (अनुभूतिजन्य दृष्टि से) देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं॥ १२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

जो परमेश्वर नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन है और एक अकेला ही सम्पूर्ण प्राणियों को उनके कर्मों का भोग प्रदान करता है, उस सांख्य एवं योग (ज्ञानयोग एवं कर्मयोग) द्वारा अनुभूतिगम्य, सबके कारणरूप देव- परमात्मा को जो साधक जान लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १४॥

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा अथवा तारों का समूह, न ये बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं, तो यह अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है। उस (परमात्मा) के प्रकाशित (विद्यमान) होने से ही (सूर्यादि) सभी प्रकाशित होते हैं। उसके प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित है॥ १४॥

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

इस लोक के मध्य में एक ही हंस (परमात्मा) है, वह जल में सन्निहित अग्नि के समान अगोचर है। उसे जानकर साधक मृत्युरूप बन्धनों को पार कर जाता है। इससे भिन्न मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है॥

[जल की उत्पत्ति अग्नि से होती है (अग्नेरापः) और अग्नि जल में समाविष्ट है 'बड़वानल' के रूप में, यह सिद्धान्त विज्ञान सम्मत है (हाइड्रोजन+ऑक्सीजन+ताप=पानी।)]

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६॥

जो ज्ञानस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का रचयिता, सर्वज्ञ, स्वयं ही जगत् की उत्पत्ति का केन्द्र, काल का भी काल, गुणों का समुच्चय और सर्वविद्यावान् है। वह पुरुष और प्रकृति का प्रमुख अधिपति, सम्पूर्ण गुणों का नियन्ता, संसार चक्र के बन्धन, स्थिति और मुक्ति का कारण है॥ १६॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय॥ १७॥

वह तन्मय (विश्वरूप अथवा सर्वप्रकाशक परमात्मा), अमृतस्वरूप ईश्वर (नियामक) रूप में स्थित, ज्ञानसम्पन्न, सर्वगत (सबमें चैतन्य रूप से स्थित) और इस लोक का रक्षक है, (वही) इस सम्पूर्ण जगत् का सर्वदा नियामक है; क्योंकि इस जगत् का नियन्त्रण करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है॥ १७॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ १८॥

जो परमात्मा सर्वप्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उन्हें वेदों का ज्ञान प्रदान करता है। मैं मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से बुद्धि को प्रकाशित करने वाले उन देव की शरण ग्रहण करता हूँ॥ १८॥

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।

अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ १९॥

जो कलाओं तथा क्रियाओं से रहित, सदा शान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृतत्व का श्रेष्ठ सेतुरूप, (धूम्ररहित) प्रदीप्त अग्नि के समान देदीप्यमान है (हम उसकी शरण ग्रहण करते हैं)॥ १९॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।

तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ २०॥

जब मनुष्यगण आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे (जब कि यह असम्भव है); तब उस देव (परमात्मा) को जाने बिना भी दुःखों का अन्त हो सकेगा (यह भी असम्भव है)॥ २०॥

[वस्तुतः दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति परमतत्त्व को जानकर ही हो सकती है।]

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।

अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्॥ २१॥

श्वेताश्वतर ऋषि ने तप के प्रभाव से और परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जाना तथा ऋषियों द्वारा सेवित उस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्व का उन्होंने आश्रम के सुपात्रों को उपदेश दिया॥ २१॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।

नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥ २२॥

उपनिषदों (वेदान्त) में इस परम गुह्य ब्रह्मविद्या का पूर्वकल्प में उपदेश किया गया था। जिसका अन्तःकरण रागादि से शान्त न हुआ हो, उस साधक को तथा जो अपना पुत्र या शिष्य न हो (अर्थात् आचार्य के प्रति श्रद्धाभाव न रखता हो), उसे यह गुह्य ज्ञान नहीं देना चाहिए॥ २२॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता

ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति॥ २३॥

जिस साधक की परमात्मा में अत्यन्त भक्ति है तथा जैसी परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में भी है, उस महान् आत्मा के हृदय में ही ये बताये गये गूढ़ ज्ञान प्रकाशित होते हैं, ऐसे महात्मा में ही (यह उपनिषद्) ज्ञान प्रकाशित होते हैं॥ २३॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.......इति। शान्तिः॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषत्समाप्ता ॥

परिशिष्ट-१

परिभाषा कोश-१०८ उपनिषद् (ज्ञानखण्ड)

१. **अक्षर ब्रह्म**— वेदान्त दर्शन में 'ब्रह्म' की अवधारणा उस परमसत्ता के रूप में है, जो सर्वातिशायी, सर्वसमर्थ, सर्वत्र विद्यमान रहने वाली सर्वोच्च शक्ति है। उस 'परब्रह्म' को अनेक नामों से अभिहित किया गया है- परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म, भूमा, परमचैतन्य, अक्षरब्रह्म (ओंकार) इत्यादि। परब्रह्म का अक्षरात्मक स्वरूप 'ओंकार' 'प्रणव' के रूप में उपनिषदादिक आर्ष ग्रन्थों में सर्वत्र प्राप्त होता है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो 'ब्रह्म' अक्षर ही है, **'न क्षरति इति अक्षरः'** जिसका क्षरण-विनाश नहीं होता है, वह 'अक्षर' है। इस दृष्टि से 'अक्षर' शब्द ब्रह्म की विशिष्टता का बोधक हुआ। वैसे अक्षरात्मक-वर्णात्मक ब्रह्म के रूप में 'ॐ' प्रणव को स्वीकार किया जाता है, जैसे- **अक्षरं परमं पदम्** (महाना० ११.१), **अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरंजनम्** (१ यो०शि० ३.१६), **अक्षरं ब्रह्मपरमं** (गी० ८.३), **अक्षरोऽहमोङ्कारोऽमरोऽभयोऽअमृतो ब्रह्माभयं हि वै** (गो० उ० ४०)। इन उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि अक्षर ब्रह्म-ओंकार-प्रणव-आत्मा आदि सभी एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं। अक्षर ब्रह्म का विशद विवेचन माण्डूक्य उपनिषद् तथा गौड़पादकृत माण्डूक्य कारिका में उपलब्ध है।

२. **अग्नि**— वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में देवतारूप में अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह तीनों लोकों में प्रमुखतः तीन रूपों में है- आकाश में सूर्य, अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथ्वी पर साधारण अग्नि। ऋग्वेद में सबसे अधिक सूक्त अग्नि देवता की स्तुति में ही संगृहीत हैं। अग्नि को गृहपति कहा गया है और परिवार के सभी सदस्यों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है (ऋ० २.१.९)। अग्नि को दिव्य पुरोहित भी कहा गया है- **अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋ० १.१.१)। अग्नि सर्वदर्शी है, वह मनुष्य के सब कर्मों को देखता है- (ऋ० १०.७९.५)। अग्नि को प्रमुख रूप से तीन रूपों में अभिहित किया गया है- १. गार्हपत्य २. दक्षिणाग्नि ३. आहवनीय। मीमांसा सूत्र में जैमिनि ने अग्नि के छः रूप वर्णित किये हैं- गार्हपत्य २. आहवनीय, ३. दक्षिणाग्नि ४. सभ्य ५. आवसथ्य और ६. औपासन। अग्नि और आदित्य दोनों को भर्ग भी कहा गया है-**अग्निर्वै भर्गः। आदित्यो वै भर्गः** (जैमि० ४.२८.२)।

३. **अङ्गिरस्** —द्र० - **अथर्वा**।

४. **अङ्गुष्ठमात्र**— मनुष्य की हृदय गुहा में वह परमात्मा आत्मा रूप में अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला या अँगूठे जैसा समाविष्ट है। यही तथ्य उपनिषद् से भी प्रमाणित होता है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः** (कठ० २.३.१७), **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति** (कठ० २.१.१२)। यह परमात्मा हृदय में अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाली धूमरहित ज्योति के रूप में है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** (कठ० २.१.१३)। यह ज्योति सूर्य के समान प्रकाशमय और सङ्कल्प तथा अहंकार से युक्त है-**अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकारसमन्वितो यः** (श्वेता० ५.८)।

५. **अज**— अज का शब्दार्थ है - जिसका जन्म न हो, जन्म के बन्धन से रहित। अजन्मा, स्वयंभू , ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वर और कामदेव को भी अज कहकर निरूपित किया जाता है। मानस में ब्रह्म को अज कहा गया है- ब्रह्म जो व्यापक विरज, अज, अकल, अनीह, अभेद (रा०मा० १.५०)। जीव तथा माया को भी 'अज' रूप में माना गया है। महाभारत में अज के विषय में कहा गया है-**नहि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन। क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः॥** (महा० शान्ति० ३४२. ७४) अर्थात् मैं न उत्पन्न हुआ हूँ, न होता हूँ और न होऊँगा। सब प्राणियों का मैं क्षेत्रज्ञ हूँ, इसीलिए लोग मुझे अज कहते हैं। अनादि प्रकृति को भी अज कहा गया है। उपनिषद् के अनुसार बहुत से प्राणियों को त्रिगुणात्मक रचने वाली लाल, कृष्ण, सफेद रंग की एक अजन्मा प्रकृति को एक अज (अज्ञानी जीव) आसक्त होकर भोगता है और दूसरा अज (ज्ञानी पुरुष)भुक्त प्रकृति को त्याग देता है-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ (श्वेता० ४.५)।

६. **अज्ञान** — द्र० - अविद्या ।

७. **अणु**— पदार्थ के अतिसूक्ष्म कण को अणु कहा गया है, यह पदार्थ का इन्द्रिय-अग्राह्य सूक्ष्मकण होता है, जो पदार्थ के मौलिक गुण को अपने में धारण किये रहता है। एक अणु, दो या अनेक परमाणुओं के संयोग से बनता है। अणु को विश्व प्रपंच का कारण मानने वाला सिद्धान्त अणुवाद कहलाया। वैशेषिक दर्शन का यह प्रमुख अङ्ग है। जैन मतानुसार अणु स्थूल या सूक्ष्म रूप में रह सकता है। जब यह सूक्ष्म रूप में रहता है, तो अगणित अणु एक स्थूल अणु को घेरे रहते हैं। अणु अपने अन्दर इतनी गति का विकास कर सकता है कि एक क्षण में वह विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सके। उपनिषद् में यह प्रतिपादन है कि आत्म तत्त्व के विषय में अन्य ज्ञानी पुरुष के उपदेश न करने पर मनुष्य का प्रवेश नहीं होता, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म अणु से भी अधिक सूक्ष्म है; अत: तर्क से परे है- **अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्** (कठ० १.२.८)। वह आत्मतत्त्व सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म और महान् से अति महान् है- **अणोरणीयान्महतो महीयान्** (कठ० १.२.२०)।

८. **अथर्वा-अङ्गिरा**— अथर्वा अथर्ववेद के द्रष्टा ऋषि हुए हैं। सम्भवत: इन्हीं के नाम से अथर्ववेद नाम एक वेद का पड़ा। ब्रह्माजी के प्रमुखत: दो पुत्र हुए हैं- एक अथर्वा, दूसरे अङ्गिरा। मुण्डकोपनिषद् के प्रथम श्लोक में देव ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में ये अभिप्रेत हैं। ब्रह्माजी ने सब विद्याओं में आधारभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश सर्वप्रथम अथर्वा को किया। अथर्वा ने इस विद्या का उपदेश अङ्गिर् ऋषि को किया- **अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्** (मुण्ड० १.१.२)। अथर्वा के गोत्रज अथर्वाण: या 'आथर्वण:' कहलाये और अङ्गिरा के गोत्रज 'आङ्गिरस' कहलाये। महाभारत में अथर्वा का उल्लेख अथर्वन् के रूप में मिलता है, जिन्होंने समुद्र में छिपे हुए अग्नि का पता लगाया था (महा०वनपर्व २२२)। अङ्गिरा का उल्लेख अङ्गिरस् नाम से ब्रह्मादेव के छ: मानस पुत्रों में से एक पुत्र के रूप में मिलता है (महा० आदिपर्व ६५.१०)। अथर्वा और अङ्गिरा का संयुक्तरूप से उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। अथर्ववेद के मन्त्र अथर्वा और अङ्गिरा द्वारा दृष्ट होने के कारण उन्हें 'अथर्वाङ्गिरस:' कहकर निरूपित किया गया है- **तस्य यजुरेव शिर:। अथर्वाङ्गिरस: पुच्छं प्रतिष्ठा** (तैत्ति०२.३.१)।

९. **अद्वैत**— वेदान्त दर्शन का प्रमुख सिद्धांत 'अद्वैत' है। आद्य शकराचार्य ने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। इसलिए यह उनके सिद्धांत का पर्याय बन गया है। शंकराचार्य ने एकमात्र सत्ता 'परब्रह्म' की स्वीकार की है। उनके अनुसार पारमार्थिकी (भूत-वर्तमान-भविष्यत्) सत्ता 'परब्रह्म' की है। वही नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला निर्गुण, अविकारी, कूटस्थ है, उसके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है। **एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म** (त्रि०म०३.३, पैंग० १.१), **एकमेव परं ब्रह्म विभाति** (ब्रह्म० २), **एकमेवाद्वितीयम्** (छान्दो० ६.२.१) जैसे श्रुति वचन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व स्वीकार करता है, इसलिए उसे 'द्वैत' दर्शन कहते हैं। कोई-कोई ईश्वर, जीव, प्रकृति तीन तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे त्रैत दर्शन कहलाते हैं। शंकराचार्य ने एक तत्त्व को ही स्वीकार किया-**न द्वैत: इति अद्वैत:**, जहाँ दो तत्त्व नहीं हैं, वह अद्वैत है। शंकराचार्य जी का कहना है कि वही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला एक परमतत्त्व-परब्रह्म, माया विशिष्ट होकर सगुण ब्रह्म-अपरब्रह्म बन जाता है और जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण बनता है। दूसरे शब्दों में 'ब्रह्म' तो एक ही है, परन्तु माया की उपाधि से कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म -दो हो जाता है। कार्य ब्रह्म की केवल प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता केवल कारण ब्रह्म की है। इसी एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर यह सिद्धांत 'अद्वैत' कहलाता है।

१०. **अधिष्ठान**— अधिष्ठान शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- वासस्थान, रहने का स्थान, स्थिति, मुकाम, आधार, अधिकार आदि। अधिष्ठान से सम्बद्ध अधिष्ठाता शब्द बना है, जिसका अर्थ है- अधिकारी, अध्यक्ष, मुखिया, नियन्ता, देखभाल करने वाला। अधिष्ठान शब्द की व्युत्पत्ति अधि+स्था-अधिकरणे ल्युट् की गयी है। इसके पर्याय हलायुधकोश में नगर, चक्र, प्रभाव, अध्यासन, अवस्थान आदि दिये गये हैं। उपनिषद् के अनुसार पाँच रूपों के त्यागने और अपने स्वरूप में स्थित होने से जो सत्ता (अधिष्ठान) शेष रहती है, उसे परम तत्त्व कहते हैं- **पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणत:। अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत्** (बह्व० ६)।

११. **अनन्त**— उस व्यापक-विराट् सृष्टि की रचना करने वाले परमात्मा को अनन्त कहा गया है। यह समूची सृष्टि अन्तहीन, अपरिमित, अप्रमेय या अनन्त है, इसकी रचना करने वाला परमात्मा भी अनन्त ही है। उपनिषद् में यह

तथ्य प्रतिपादित है कि उसे अनन्त इसलिए कहा जाता है कि उसका उच्चारण करते समय नीचे, ऊपर और तिर्यक् कहीं भी अन्त देखने में नहीं आता-**यस्मादुच्चार्यमाण एवाद्यन्तं नोपलभ्यते तिर्यगूर्ध्वमधस्तात् तस्मादुच्यते अनन्तः** (अ०शिर० ४८)। दिशा को तथा साम को अनन्त कहकर निरूपित किया गया है-**अनन्ता हि दिशः** (बृह० ४.१.५)। **अनन्तं साम** (जैमि० १.३५.८)। वह अनन्त परमात्मा व्यक्त-अव्यक्त सृष्टि प्रपञ्च में पूर्ण व्यापक और चैतन्यरूप है-**अव्यक्तादि सृष्टिप्रपञ्चेषु पूर्णं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते** (स०सा० १२)।

१२. **अन्तःकरण चतुष्टय**— शरीर के अंग-अवयव जिस शक्ति से अपना कार्य-व्यापार सम्पन्न करते हैं, उसे 'इन्द्रियशक्ति' कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शरीरस्थ चैतन्य अंश (जीवात्मा) जिनके माध्यम से कर्त्ता-भोक्ता की भूमिका सम्पन्न करता है, वे इन्द्रियाँ (करण)-साधन कहलाते हैं। ये मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं-१. अन्तरिन्द्रिय, २. बाह्येन्द्रिय। अन्तरिन्द्रिय, जो शरीर के अन्दर सक्रिय होती है, बाहर से उसका कुछ भी स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। इनकी संख्या ४ मानी गयी है। दूसरे शब्दों में इन्हें अन्तःकरण (अन्तरिन्द्रिय) चतुष्टय कहा जाता है। वे हैं- मन, बुद्धि,चित्त और अहंकार। आचार्य शंकर ने अपने विवेक चूड़ामणि में लिखा है- **निगद्यतेऽन्तःकरणं मनो धीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः** (वि० चू० ९५)। अर्थात् अपनी वृत्तियों के कारण अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-इन चार नामों से कहा जाता है। वस्तुतः अन्तःकरण-अन्तरिन्द्रिय एक ही है-मन, वह अपनी वृत्तियों-कार्यों के आधार पर चार रूपों वाला हो जाता है। संकल्प-विकल्प के कारण मन, पदार्थ का विवेकपूर्वक निश्चय करने के कारण बुद्धि, अपना इष्ट चिन्तन करने के कारण चित्त तथा अहं-अहं (मैं-मैं) ऐसा स्वानुभूतिजन्य अभिमान करने के कारण अहंकार कहलाता है-**मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः॥ अत्राभिमानादहमित्यहंकृतिः स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम्॥** (वि० चू० ९६)।

बाह्येन्द्रिय वह होती है, जिसका स्वरूप बाहर से भी प्रकट होता है। यह पुनः दो प्रकार की होती है-१. ज्ञान प्राप्ति की हेतुभूता, २. कर्म सम्पादन की हेतुभूता। ज्ञान प्राप्ति की कारणभूता इन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय कहलाती है। इसकी संख्या पाँच है-श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा। कर्म सम्पादन समर्था इन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय कहलाती है, इसकी संख्या भी पाँच है-वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ। इन दसों इन्द्रियों का आचार्य शंकर ने इस प्रकार उल्लेख किया है-**बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि, घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात्। वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थः कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु॥** (वि० चू० ९४)अर्थात् श्रवण (सुनने की शक्ति), त्वचा (स्पर्शज्ञान की शक्ति), नेत्र (देखने की शक्ति), घ्राण (सूँघने की शक्ति) और जिह्वा (स्वादानुभूति की शक्ति)-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनसे विषय का ज्ञान होता है तथा वाक् (वाणी),पाणि(हाथ),पाद (पैर),गुदा (मल विसर्जन अंग) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)-ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनका कर्मों की ओर झुकाव होता है। इस प्रकार कुल इन्द्रियाँ (मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय मिलकर) ग्यारह हो जाती हैं।

१३. **अन्तर्मुख-बहिर्मुख**— जिस साधक की वृत्ति आन्तरिक हो, अर्थात् अन्तःकरण की ओर प्रवृत्त होती हो, जो अपने ही विचारों और भावनाओं में तल्लीन रहता हो, वह अन्तर्मुख या आत्मरत कहा जाता है। अन्तर्मुख पुरुष अपनी इन्द्रियों और मन को हठात् आन्तरिक उत्थान में नियोजित कर आत्मशक्ति संचय करता और आत्म उत्कर्ष में लगा रहता है। अन्त में आत्मा में ही विराट् परमात्म चेतना से सम्बद्ध हो जाता है। बहिर्मुख व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और शब्द के सुखों में लगाता हुआ आन्तरिक शक्ति और मानसिक शक्ति को खोता चला जाता है। आत्मज्ञानी साधक बाह्य व्यवहार करता हुआ भी अन्तर्मुख रहता है और सदा थके हुए के समान सोता सा दिखाई देता है-**अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन्। परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते** (अक्षि० २.३६)। वह सुषुप्त अथवा बुद्ध अवस्था में भी अन्तर्मुख रहता है-**अन्तर्मुखतया नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन्पठन्** ॥ (अ०पू० १.३४)

१४. **अन्तर्यामी-साक्षी**— उस व्यापक परमात्मा के विभिन्न विशेषणों का निरूपण किया जाता है। वह व्यापक देव घट-घट व्यापी होने से अन्तर्यामी कहा गया है। वह सब कुछ देखने और जानने वाला होने से साक्षी भी कहा गया है। अन्तः-स्थित चैतन्य पुरुष को ही कूटस्थ, क्षेत्रज्ञ, अन्तर्यामी और साक्षी कहते हैं। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से परे रहने वाला जो नित्य

साक्षी-चैतन्य है, वही तुरीय चैतन्य है-**अवस्थात्रयभावाभाव साक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा तदा तत्तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते** (स०सा० ४)। ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की उत्पत्ति तथा लय को जानने वाला, फिर भी स्वयं उत्पत्ति और लय से रहित आत्मा साक्षी कहलाता है- **ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमाविर्भावतिरोभावरहित: स्वयंज्योति: साक्षीत्युच्यते** (स०सा० ९)। इन कूटस्थ आदि उपाधि के भेदों में से स्वरूप लाभ के लिए जो आत्मा समस्त शरीर से माला के धागे की तरह पिरोया हुआ है, वह अन्तर्यामी कहलाता है-**कूटस्थोपहितभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणे सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा काश्यते आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते** (स०सा० ११)। जो साधक मोहरहित होकर साक्षी के समान जीवन व्यतीत करता है और बिना किसी फल की इच्छा से कर्म करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है (महो० १.५१)।

१५. **अपराविद्या— द्र०- पराविद्या।**

१६. **अपरिग्रह—** अनिवार्य आवश्यकता से अधिक का त्याग अपरिग्रह कहलाता है। योगदर्शन में यम के पाँच भेद वर्णित हैं- १. सत्य, २. अहिंसा, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह। जैन शास्त्र के अनुसार मोह का त्याग अपरिग्रह है। विषय वस्तुओं को अस्वीकार करना भी अपरिग्रह माना जाता है। महर्षि व्यास ने कहा है कि विषयों के उपभोग में विविध दोष देखकर उन्हें ग्रहण न करने का नाम अपरिग्रह है- **विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोष दर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह:** (साङ्ख्ययोगदर्शन-व्यास भाष्य)। स्वामी रामतीर्थ यति ने लिखा है कि समाधि के अनुष्ठान में अनुपयुक्त वस्तु का संग्रह न करना अपरिग्रह है। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि अपरिग्रह के स्थिर हो जाने पर साधक को जन्म-जन्मान्तरों के विषय में सम्यक् बोध हो जाता है- **अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोध:**। (यो० द० २.३९)

१७. **अप्सरा—** अप्सराओं की उत्पत्ति जल (अप्) से मानी जाती है। **'अप्सु जायन्ते इति अप्सरा:'** - इस व्युत्पत्ति के आधार पर अप्सरा शब्द से जल में या जल से उत्पन्न वनस्पतियों का बोध होता है। वनस्पतियाँ ही प्रारम्भिक तौर पर प्राणदायिनी, सुख-सुविधा (वस्त्र, आवास, भोजन आदि) प्रदान करने वाली थीं। आगे चलकर इन्हीं विशेषताओं से युक्त देवलोक की सुन्दरियों को अप्सरा कहा जाने लगा। अत्यधिक आनन्ददायी होने के कारण कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को आत्मज्ञान के बदले अप्सराएँ प्रदान करने की पेशकश की थी, परन्तु नचिकेता ने किसी भी प्रकार इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि जिस प्रकार दुनिया के हर सुख-आनन्द नश्वर हैं, उसी प्रकार देवलोक की इन अप्सराओं से प्राप्त होने वाला सुख और आनन्द भी नश्वर होगा। अत: मुझे अप्सरा नहीं आत्मज्ञान चाहिए। कठोपनिषद् में यह कथा बड़े विस्तार से व्याख्यायित है।

कहा जाता है कि देवराज इन्द्र इन अप्सराओं के माध्यम से उन लोगों को पथभ्रष्ट कर देते हैं, जो जप-तप द्वारा इन्द्रपद का अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते हैं। देवलोक की प्रमुख अप्सराओं के नाम हैं- मेनका, रम्भा, उर्वशी, घृताची, तिलोत्तमा आदि।

१८. **अभ्युदय-नि:श्रेयस—** अध्यात्म मार्ग लोगों द्वारा प्राय: पलायनवादी मार्ग माना जाता है। अधिकांश लोगों का मानना है कि 'धर्म-अध्यात्म' घर-द्वार छोड़कर अपनाया जा सकता है अथवा धर्म-अध्यात्म मार्ग पर चलने वालों के घर-द्वार छूट जाते हैं, व्यक्ति एकाकी-अकिंचन स्थिति में रह जाता है, जबकि यथार्थता इससे भिन्न है। इसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास की समस्त सम्भावनाएँ सन्निहित हैं। वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा बताई है- **यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:** (वै०द०१.१.२) अर्थात् धर्म वह है, जो अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) तथा नि:श्रेयस (परम कल्याण-आध्यात्मिक उन्नति) को सिद्ध करने वाला है। ऋषियों की थाती वेदज्ञान के रूप में विद्यमान है। वेदों में ज्ञान (आध्यात्मिक) और विज्ञान (भौतिक) दोनों विद्यमान हैं। उसमें ज्ञान के अन्तर्गत दर्शन, मनोविज्ञान, रहस्यवाद आदि गूढ़ विषय तो हैं ही, उसके साथ ही विज्ञान भी है। विज्ञान के अन्तर्गत तन्त्र प्रयोग, खगोल विज्ञान, ज्योतिष् विज्ञान, औषधि एवं चिकित्सा विज्ञान जैसे विषय समाहित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय धर्म-अध्यात्म में अभ्युदय-भौतिक उन्नति एवं नि:श्रेयस-आध्यात्मिक उन्नति दोनों तत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। जीवन की सार्थकता एवं सर्वतोमुखी विकास के लिए दोनों की उपयोगिता सुनिश्चित रूप से है।

१९. **अमृत-मृत्यु**— ईशावास्योपनिषद् में विद्या और अविद्या दोनों की महत्ता इस तरह प्रतिपादित है कि अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके (रहस्य जानकर) विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति की जा सकती है-**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते** (ईश०११)। उपनिषद् में मृत्यु से अमृत (अमरत्व) की ओर ले चलने का भाव अभिव्यक्त हुआ है-**मृत्योर्माऽमृतं गमय** (बृह०१.३.२८)। इसी मन्त्र में असत् और तमस् को मृत्यु का प्रतीक और सत् और ज्योति को अमृत का प्रतीक निरूपित किया गया है। ब्रह्म को ही अमृत स्वरूप माना गया है-**यद्ब्रह्म तदमृतम्** (जैमि० १.२५.१०)। कठोपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य के हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं, तो मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है (कठ०२.३.१४-१५)। गीता में भगवान् कहते हैं कि सुख-दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये ऐन्द्रिय विषय व्याकुल नहीं करते, वह अमृतत्व का अधिकारी होता है-**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते** (गी०२.१५)। उपनिषद् के अनुसार बालबुद्धि ही बाह्य भोगों का अनुगमन कर मृत्यु के भयंकर पाशों में फँसते हैं, किन्तु विवेकवान् पुरुष अमरता को अटल जानकर जगत् के अनित्य पदार्थों की कामना नहीं करते-**पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते** (कठ०२.१.२)। मृत्यु इस जगत् का अटल नियम है। गीता में कहा गया है-जन्मने वाले की मृत्यु सुनिश्चित है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है-**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गी०२.२७)।

२०. **अर्वा** —द्र० - अश्व ।

२१. **अवधूत**— द्र० - संन्यासी।

२२. **अविद्या,माया,अज्ञान**—'अविद्या' को समझने के लिए विद्या को समझना आवश्यक है। 'विद्या' वह शक्तिधारा है, जिसके द्वारा यथार्थ (जो जैसा है, उसको वैसा ही जानना) का बोध (स्वानुभूति) हो। 'अविद्या' विद्या का विरोधी भाव है-**अविद्या तत्त्वविद्या विरोधिनी** (वाच०)। 'अविद्या' द्वारा यथार्थ का बोध नहीं हो पाता। झाड़ी को भूत, रस्सी को साँप और सीपी को चाँदी की प्रतीति कराने वाली अविद्या ही है। वेदान्त दर्शन में इसके अनेक पर्याय मिलते हैं, यथा-अज्ञान, माया, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, अव्याकृत प्रधान, प्रकृति, अध्यास, शक्ति, उपाधि आदि। आचार्य शंकर ने इसे माया कहते हुए, इसके गुणों को प्रकट करते हुए लिखा है-**अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया, यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते** (वि०चू० ११०)।

वस्तुतः माया और अविद्या में थोड़ा सा अन्तर है, वह यह कि 'अविद्या' चैतन्य तत्त्व को अपने वशवर्ती बना कर रखती है। इस प्रकार अविद्योपहित चैतन्य 'जीव' कहलाता है, किन्तु जब यही चैतन्य के वशवर्ती होकर उसकी आज्ञानुवर्ती बन जाती है, तो 'माया' कहलाती है और माया को वशवर्ती बनाने वाला चैतन्य 'ईश्वर' कहा जाता है। अविद्या ही चैतन्य-आत्मतत्त्व को अपने प्रभाव से आवृत कर लेती है (**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**- श्वेता० १.३) और उसे कर्म-बन्धनों में आबद्ध संसारी जीव की स्थिति प्रदान कर देती है, जबकि वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चैतन्य (परमात्मा) रूप है। इसके इसी विशेष प्रभाव के कारण इसे 'अनिर्वचनीय' संज्ञा प्रदान की गई है। यह सत् भी है, असत् भी है। इसके द्वारा रस्सी में सर्प का भान होता है, ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। ज्ञान होने पर सर्प के स्थान पर रस्सी तथा जगत् के स्थान पर ब्रह्म का बोध होने से यह अस्तित्वहीन (असत्) हो जाती है। इसकी इसी विचित्रता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं-**सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो। सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा** (वि० चू० १११)। इसी माया के प्रभाव से सभी प्राणी संसार सागर में डूबते-उतराते रहते हैं, इस सागर से पार नहीं जा पाते, तभी तो महात्मा कबीर ने कहा था- **माया महाठगिनी मैं जानी**। शास्त्र कहते हैं कि समर्पण भाव से परमात्मा के प्रति भक्ति भाव रखने वाले पर इस माया का प्रभाव नहीं हो पाता। वे परमात्मा को सब कुछ समर्पित करके कर्त्ता-भोक्ता भाव से मुक्त होकर इस माया पर विजय पा लेते हैं, अर्थात् भवसागर-भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं-**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते** (गी० ७.१४)।

२३. **अश्व**— पशुओं में पराक्रमवान्, बलिष्ठ और गतिमान् पशु अश्व है। इसके पर्यायवाची शब्दों में अर्वन्, अर्वा, हय, वाजी इत्यादि शब्द हैं। अश्व शक्ति, बलिष्ठता, चंचलता और गतिशीलता का भी प्रतीक माना गया है। बलिष्ठता के

लिए यह विशेष प्रसिद्ध है- **अश्वः पशूनामोजिष्ठो बलिष्ठः** (तै० ब्रा० ३.८.७.१), **तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः** (ऐत० ब्रा० ५.१)। चंचल तथा अग्रगामी ज्वालाओं से अग्नि को भी अश्व कहकर निरूपित किया गया है- **अग्निर्वा अश्वः श्वेतः** (शत० ब्रा० ३.६.२.५)। **सोऽग्निरश्वो भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय** (गो० ब्रा० २.४.११)। यज्ञ की चञ्चल अग्नि को यज्ञाश्व संज्ञा से निरूपित किया जाता है। विराट् यज्ञ की कल्पना भी अश्वरूप में बृहदारण्यक उपनिषद् में की गयी है- **उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः** (बृह० १.१.१)। यह अश्व हय होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्यों को वहन करता है-**हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्** (बृह० १.१.२)। इन्द्रियों का वश में न रह पाना दुष्ट अश्वों की भाँति माना गया है-**तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः** (कठ०१.३.५)।

२४. **अश्वमेध** — अश्वमेध यज्ञ एक विशिष्ट वैदिक यज्ञ है। इसका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र में सांस्कृतिक एकता स्थापित करना था। इसका अन्य उद्देश्य था- राष्ट्र के पराक्रम को मेधा बुद्धि से संयुक्त करना, जिससे कि अश्व रूपी पाशविक या चञ्चल प्रवृत्तियों का मेध (मर्दन) हो सके। मध्य युग में राजनैतिक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से अश्व छोड़कर यह विशिष्ट यज्ञानुष्ठान प्रारंभ किया जाता था। अश्वमेध को सभी यज्ञों का राजा कहा गया है- **राजा वाऽएष यज्ञानां यदश्वमेधः** (शत० ब्रा० १३.२.२.१)। अश्वमेध सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए राष्ट्र के पराक्रम, मेधा, सम्पदा और राष्ट्रीयता के विस्तार के उद्देश्य से ही सम्पन्न किया जाता था, अतः ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है- **राष्ट्रं वा अश्वमेधः** (तै० ब्रा० ३.८.९.४)। सूर्य तपता है और उसी से पराक्रम, सामर्थ्य और मेधा क्षरित होती है, अतः सूर्य को भी अश्वमेध संज्ञा से निरूपित किया गया है-**एष ह वा अश्वमेधो य एष (सूर्यः) तपति** (बृह० १.२.७)।

२५. **असम्भूति-सम्भूति** — ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति और असम्भूति शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है-**सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः, तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या**। सम्भवन (उत्पन्न होने) का नाम सम्भूति है, वह जिसके कार्य का धर्म है, उसे 'सम्भूति' कहते हैं। उससे अन्य असम्भूति-प्रकृति-कारण अथवा अव्याकृत नाम की अविद्या है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मूल प्रकृति जो दृश्यमान जगत् की आदि कारण है, 'असम्भूति' है और यह दृश्यमान जगत् 'सम्भूति' है। यह दिखायी देने वाला विश्व ब्रह्माण्ड जिसे दर्शन की भाषा में कार्य ब्रह्म भी कहा जाता है- सम्भूति है और इस ब्रह्माण्ड का आदि कारण अव्याकृत - अप्रकट रूप में विद्यमान जिसे दर्शन की भाषा में 'प्रकृति' कहा जाता है- असम्भूति है।

ब्रह्माण्ड की तरह पिण्ड में 'सम्भूति-असम्भूति' की स्थिति है। पिण्ड (शरीर) में भी दो स्वरूप का अनुभव होता है -एक तो हाथ-पैर आदि अंग-अवयवों से शारीरिक कार्य करता हुआ-मन मस्तिष्क से सोच-विचार करता हुआ, दूसरा उसका कारण स्वरूप जो दृश्यमान नहीं होता, किन्तु दृश्यमान का कारण अवश्य है। दर्शन की भाषा में दृश्यमान को स्थूल-सूक्ष्म शरीर तथा अदृश्य को कारण शरीर कहा जाता है। यही कारण शरीर 'असम्भूति' तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर 'सम्भूति' की श्रेणी में आता है। उपनिषद् का मानना है कि 'मूल प्रकृति' को-कारण शरीर को - असम्भूति को सब कुछ मानकर उपासना करने वाला तथा दृश्यमान जगत् को स्थूल-सूक्ष्म शरीर को-सम्भूति को सब कुछ मानकर उपासना करने वाला घोर अन्धकार में पड़ने की तरह कल्याण की प्राप्ति नहीं कर पाता, क्योंकि ये दोनों अतिवादी दृष्टिकोण हैं। वस्तुतः मनुष्य को करना क्या चाहिए- इसका स्पष्ट निर्देश उपनिषद्कार ने ईशावास्योपनिषद् के चौदहवें मन्त्र में दिया है-**सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयःसह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥**'जो व्यक्ति सम्भूति (दृश्यमान जगत्) और विनाश (नाशरहित मूलकारण-प्रकृति)को साथ-साथ जानता है (उपासना करता है),वह विनाश-अव्याकृत प्रकृति से मृत्यु को पार करके, सम्भूति-दृश्यमान जगत्-कार्यब्रह्म-से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। समन्वयवादी दृष्टिकोण यही है।

२६. **असुर-राक्षस**—शास्त्रों में मनुष्य मात्र को पाँच वर्गों में रखा गया है। चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पंचम निषाद। उसी प्रकार सूक्ष्म लोक या अन्तरिक्ष लोक में पाँच वर्ग या श्रेणियों का वर्णन मिलता है- गन्धर्व, पितर, देवगण, असुर और राक्षस। यज्ञ की सामग्री भी यही ग्रहण करते हैं। इसकी पुष्टि निरुक्त शास्त्र में होती है- **पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् । गन्धर्वाःपितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः** (निरु० ३.८)। असुरों को दैत्यों, दानवों या राक्षसों की श्रेणी में गिना जाता है। इन्हें पवित्र यज्ञादि

कार्यों में विघ्नकारी तथा कुमार्गगामी माना गया है। राक्षसों को कुबेर के धनकोश का रक्षक भी माना गया है। असु का अर्थ प्राण होने से असुर शब्द प्राणवान् या शक्तिमान् का भी बोधक है। असुरों के गुरु भृगुपुत्र शुक्राचार्य माने गये हैं। देवों, मनुष्यों एवं असुरों तीनों को प्रजापति की संतान कहकर स्वीकार किया गया है- **त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः** (बृह० ५.२.१)।

२७. **आकाश** — पृथ्वी से ऊपर-नीचे विस्तृत अनंत आकाश (रिक्त स्थान) है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व के सब पदार्थ ग्रह-उपग्रह, नक्षत्र, तारे, चन्द्र, सूर्य आदि स्थित हैं, आकाश कहलाता है। पृथ्वी के निकटवर्त्ती आकाश का वह भाग, जिसमें वायु और मेघ होते हैं, अन्तरिक्ष लोक कहा जाने लगा। पञ्चतत्त्वों में से एक तत्त्व आकाश है, जिसका गुण 'शब्द' है और उससे श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति मानी गयी है। द्यौः, द्यु, अभ्र, व्योम, पुष्कर, अम्बर, गगन, नभ, अनन्त, स्वर्ग, खं आदि आकाश के पर्यायवाची शब्द हैं। पृथ्वी के ऊपर के आकाश (स्वर्ग) में तथा नीचे के आकाश (पाताल) में सात-सात लोकों के अस्तित्व का उल्लेख भी मिलता है। याज्ञवल्क्य ने गार्गी से आकाश के विस्तार का वर्णन किया है- जो द्युलोक से ऊपर , पृथ्वी से नीचे और जो द्युलोक एवं पृथ्वी के मध्य में है और द्युलोक एवं पृथ्वी तथा भूत,वर्तमान, भविष्यत्- ये सब आकाश में ओत-प्रोत हैं- **यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतञ्च प्रोतञ्चेति** (बृह० ३.८.४)। यह सम्पूर्ण विश्व आकाश में ही है- **सर्वमित्याकाशे** (तैत्ति० ३.१०.३)।

२८. **आत्मा-जीवात्मा**— वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' ही है। वेदान्त ग्रन्थों में 'आत्मा' के दो स्वरूप परिलक्षित होते हैं- एक शुद्ध-बुद्ध-निर्विकार स्वरूप, जिस पर अविद्या-अज्ञान का, कषाय-कल्मष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, इसीलिए इसे 'परमात्मा' के समकक्ष माना जाता है- **अयमात्मा ब्रह्म** (नृ०उ० १.२, रा० उ० २.९), **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** (ऐत० १.१.१), **आत्मैवेदं सर्वम्** (नृ०उ० ७.४) इत्यादि औपनिषदिक वचन इसके प्रमाण हैं। आत्मा का दूसरा रूप वह है, जो अविद्या-अज्ञान आदि से आवृत होता है, इसे जीव की - जीवात्मा की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसी का संसार में बारम्बार आवागमन होता है-**अतति सन्ततभावेन जाग्रदादिसर्वावस्थासु अनुवर्त्तते। अत् सातत्यगमने+मनिन्=जीवः** (हला०को०)। हलायुध कोश के इस निर्वचन से स्पष्ट है कि जो निरन्तर गतिमान् रहता है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में शरीर का अनुवर्तन करता है, वह जीव है-**एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥** (ब्र०बि० १२) **एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु** (ब्र०बि० ११), **वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥** (कठो० २.२.१०) इत्यादि उपनिषद् वाक्य इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त का मानना है कि इस 'आत्मतत्त्व' का आनुभूतिक ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति (जीव) आवागमन से मुक्त हो जाता है- दु:खों से-शोक से मुक्त होकर परमशान्ति का अधिकारी बन जाता है- **एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥** (कठ० २.२.१२)

वेदान्त के महान् तत्त्वज्ञ महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी उद्देश्य से अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी को आत्मानुसन्धान का निर्देश दिया था- **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्** (बृह० २.४.५) अर्थात् हे मैत्रेयि! आत्मा ही दर्शन करने, श्रवण करने, मनन करने एवं निदिध्यासन (अनुभव) करने योग्य है। आत्मतत्त्व के दर्शन (साक्षात्कार) से, श्रवण से तथा बुद्धि द्वारा विशेष रूप से जानने (अनुभव करने) से सब कुछ ज्ञान हो जाता है। आत्मज्ञान के अभाव में मुक्ति प्राप्ति सम्भव नहीं- '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' । अतएव समय रहते जीवन के चरम लक्ष्य-आत्मज्ञान की प्राप्ति का परम पुरुषार्थ करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेना मानव जीवन का उद्देश्य कहा गया है।

२९. **आदेश**— आदेश शब्द के पर्याय आज्ञा, उपदेश, संकेत, विवरण, भविष्य कथन, विधिवाक्य आदि बताये गये हैं। उस मनोमय पुरुष का सिर यजुर्वेद है। ऋक् तथा साम क्रमशः दक्षिण और उत्तर भाग है। आदेश (विधि वचन) आत्मा (शरीर का मुख्य केन्द्र) है-**तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा** (तैत्ति० २.३.१)। यह उस परम पुरुष का आदेश (संकेत) है, जो बिजली का चमकना है, वह उसके नेत्रों के झपकने के समान है- **तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा३ इतीन्न्यमीमिषदा३इत्यधिदैवतम्** (केन०४.४)।

३०. **आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक** — सम्पूर्ण विषयों या ज्ञान को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है- १. आधिभौतिक २. आधिदैविक ३. आध्यात्मिक। अन्यान्य प्राणियों के शरीरों अथवा स्थूल भौतिक तत्त्वों से सम्बन्धित विषय आधिभौतिक कहलाते हैं। दैवीय गुणों या देव सम्बन्धी विषयों को आधिदैविक कहा गया है। मन अथवा आत्म तत्त्व से सम्बन्धित विषय आध्यात्मिक कहलाते हैं। केनोपनिषद् में आध्यात्मिक तथ्य (उदाहरण) इस प्रकार है कि हमारा मन ब्रह्म के समीप जाता हुआ प्रतीत होता है, उस ब्रह्म का निरन्तर तीव्रता से स्मरण करता है, इसी मन के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का संकल्प लेता है- **अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णः सङ्कल्पः** (केन० ४.५)।

३१. **आनन्द-परमानन्द** —आनन्द का शाब्दिक अर्थ है- सम्यक् रूप से प्रसन्नता (आ+नन्द)। यह आत्मा अथवा परमात्मा के तीन अनिवार्य गुणों (सत्+चित्+आनन्द) में से एक है। अतः यह आत्मतत्त्व से सम्बन्धित है। आत्मा पञ्चकोशों के आवरण में आबद्ध है- जिनमें अन्तिम पंचमकोश आनन्दमय कोश है। यह विशिष्ट आध्यात्मिक सुख है। उपनिषद् के अनुसार आनन्द से ही सभी भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं- **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति** (तैत्ति० ३.६)। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आत्मा के आनन्दस्वरूप होने का उल्लेख मिलता है- **आनन्दरूपममृतं यद्विभाति** (मुण्ड०२.२.७), **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** (तैत्ति० ३.६.१), **आनन्द आत्मा** (तैत्ति०२.५.१)। आत्मा को परमानन्द स्वरूप भी कहा गया है। इसका तात्पर्य निरतिशय सुखस्वरूप अथवा सर्वोच्च आनन्द स्वरूप से है। ब्रह्म की आनन्दरूपता को '**रसो वै सः**' (तैत्ति० २. ७) के द्वारा भी प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म अपार अथवा अनन्त आनंद का सागर है।

३२. **आपः**— आपः शब्द विशेषतया 'जल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए बादल के लिए आपधर और समुद्र के लिए आपनिधि शब्द प्रयुक्त हुआ है। जल के प्रवाह या आकाश के लिए भी आपः शब्द का उपयोग किया जाता है। आकाश में सतत संचरणशील प्रवाह या आकाशीय ईथर तत्त्व से भी इसकी संगति बिठाई गयी है। संभवतः प्राणरूप होने के कारण आपः की तुलना अन्न से की गयी है- **आपो वा अन्नम्** (तैत्ति० ३.८.१)। आपः (जल) में तेज प्रतिष्ठित है और तेज में आपः-**अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः** (तैति०३.८.१)। वैदिक संहिताओं में आपः देवता की कई सूक्तों में स्तुति की गयी है, यहाँ इसका भावार्थ प्रायः सूक्ष्म आकाशीय तत्त्वों (सृष्टि संरचना की मूलभूत इकाई) के रूप में लिया गया है। आपः को प्राणरूप में भी निरूपित किया गया है- **प्राणो ह्यापः** (जैमि० ३.१०. ९)। वरुणदेव जल में प्रतिष्ठित हैं- **स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। अप्स्विति** (बृह०३.९.२२)। सम्पूर्ण देवगणों को भी आपः से सम्बद्ध बताया गया है-**आपो वै सर्वा देवताः** (ना०प०३.७९)।

३३. **आयतन**— आयतन शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- स्थान, मंदिर, विश्रामालय आदि। पुराणों में पवित्र स्थान , मंदिर आदि अर्थ में आयतन शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसे- देवायतन, शिवायतन आदि। विष्णु भगवान् को मङ्गल का आयतन कहकर निरूपित किया गया है- **मङ्गलं भगवान् विष्णुः मङ्गलं गरुडध्वजः। मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः॥** छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन मिलता है कि जो आयतन को जानता है, वह अपने बन्धु-बान्धवों का आयतन (आश्रय) होता है। निश्चय ही मन (सम्पूर्ण इन्द्रियों का) आयतन है- **यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम्** (छान्दो० ५.१.५)। प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन- यह चतुष्कल पाद ब्रह्म का आयतनवान् नाम वाला है-**प्राणः कला। चक्षुः कला। श्रोत्रं कला। मनः कला। एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम** (छान्दो० ४.८.३)।

३४. **आवागमन-चक्र** — बार-बार जन्म लेना और मरना, भूतल पर आना और जाना, जीवात्मा का विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करना आवागमन-चक्र कहलाता है। सभी हिन्दू दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि जब तक जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं होता, वह आवागमन-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। अच्छे-बुरे कर्मों के आधार पर उसे ८४ लाख योनियों में से किस योनि में पुनर्जन्म होगा, इसका निर्धारण होता है। आवागमन-चक्र को भव-बन्धन , संसार चक्र या जन्म-मरण चक्र भी कहते हैं। गीता में कहा गया है कि प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला और पापों को धो डालने वाला अनेक जन्मों के बाद सिद्ध होकर फिर परमगति (मुक्ति) को प्राप्त करता है-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (गी० ६.४५) जो आकाश में स्थित निष्कल तत्त्व का ध्यान करता है, वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है-**नभस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात्** (ब्र०बि०२०)।

३५. **आशा**— किसी अप्राप्त के पाने की इच्छा को आशा कहते हैं। अभिलषित वस्तुओं के लिए भी आशा शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋषि कहते हैं, पितृगण के लिए स्वधा, मनुष्यों के लिए आशा (इष्ट वस्तुएँ), पशुओं के लिए तृण और जल का आगान करूँ-**आशां मनुष्येभ्यः (आगायानि)** (छान्दो० २.२२.२)। देवगण निश्चय ही सम्पूर्ण विश्व की आशाओं का प्रतिरक्षण करते हैं- **एता ह वै देवता विश्वा आशाः प्रतिरक्षन्ति** (जैमि० १.३४.११)। जगत् में सर्वप्रथम आशा ही थी, भविष्य में भी वही है, तब सर्वप्रथम अप् तत्त्व संव्याप्त हुआ-**आशा वा इदमग्र आसीद् भविष्यदेव। तदभवत्। ता आपोऽभवन्** (जैमि० ४. २२. १)। उपनिषद् में आशा को पिशाचिनी कहा गया है, जो अन्तःकरण में पाये जाने वाले आनन्द के आश्रय में रहती है-**आनन्दमंतर्निजमाश्रयन्तमाशापिशाचीमवमानयन्तम्** (मैत्रे० १.१२)। मनुष्य अपनी पत्नी की तरह सम्पूर्ण जीवन भर 'आशा' की पूर्ति के लिए अपनी शक्तियों का व्यय करता रहता है, अतः उपनिषद् में निर्देश है कि आशारूप पत्नी को त्यागने वाला तत्काल ही मुक्ति को प्राप्त होता है- **आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः** (मैत्रे० २.१२)।

३६. **आसक्ति** —द्र०- मोह।

३७. **आस्तिकता** — वेद, परमेश्वर और परलोक इत्यादि में विश्वास करने वाला अथवा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने वाला अथवा ईश्वर की सर्वव्यापकता और न्यायकारिता का अनुभव करने वाला आस्तिक और उनका यह गुण आस्तिकता कहलाता है। दर्शन ग्रन्थों में ईश्वर या वेद के प्रति विश्वास दृष्टिगोचर होता है। ईश्वर सर्वव्यापी और न्यायकारी है, ईश्वर की इस सत्ता पर विश्वास ही आस्तिकता है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष और वेद में श्रद्धा रखना ही आस्तिकता है। मनुस्मृति में भगवान् मनु ने कहा है-**नास्तिको वेद निन्दकः** अर्थात् वेद का निन्दक ही नास्तिक है। विद्वानों ने नास्तिक की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या इस प्रकार की है-**नास्ति (परलोक) इति मतिर्यस्य स नास्तिकः** (अष्टा० ४.४.६० की वृत्ति) 'जिसकी मति परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं रखती, वह नास्तिक है'।

३८. **इन्द्रिय दमन** — शरीर के वे अंग जिनकी शक्ति हमें विषयों का ज्ञान या बोध कराती है 'इन्द्रियाँ' कहे जाते हैं। संस्कारों के प्रभाववश मनुष्य प्रायः इन्द्रियों के माध्यम से अपनी जीवनीशक्ति विषयभोग और कायिक लिप्साओं में गँवाता जाता है। इन्द्रियों की तुष्टि के लिए वह प्रायः फुलझड़ी की तरह अपना बहुमूल्य जीवन रस जलाता रहता है। साधक को योग पथ पर सर्वप्रथम इन्द्रियों को दबाना या बलपूर्वक शान्त करना पड़ता है। इन्द्रियों के नियंत्रण या निरोध की इस प्रक्रिया को इन्द्रिय दमन या इन्द्रिय निग्रह कहते हैं। इसी के द्वारा साधक शक्ति संचय करता हुआ ईश्वर या ब्रह्म से योग प्राप्त करने की स्थिति में हो पाता है। गीता के अनुसार जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है-**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** (गी०२.६१)। उपनिषद् में इन्द्रिय निग्रह को ही शौच (शुचिता) कहकर निरूपित किया गया है-**शौचम् इन्द्रियनिग्रहः** (मैत्रे०२.३)। प्रजापति ने देवों को उपदेश किया था-हे भोग प्रधान देवो! इन्द्रियों का दमन करो (बृह०५.२.३)।

३९. **इन्द्रियाँ** —द्र० - अन्तःकरण चतुष्टय।

४०. **इष्टापूर्त** — वेद का पठन-पाठन, अग्निहोत्र और अतिथि सत्कार इष्ट कहलाते हैं और कुआँ, तालाब खुदवाना, देवमंदिर बनवाना, बगीचा लगाना आदि कर्म पूर्त कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में यज्ञ-यागादि अदृश्य फल वाले कर्मों को इष्ट कहते हैं और लोकहितकारी दृश्य फल वाले कर्मों को पूर्त कहते हैं अर्थात् लोक-परलोक के हितकारी सभी कर्मों को इष्टापूर्त कहते हैं। आत्मज्ञान को प्रधान मानने वाली उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि इष्टापूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले विमूढ़ लोग उससे भिन्न यथार्थ श्रेय को नहीं जानते-**इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः** (मुण्ड० १.२.१०)। कठोपनिषद् में वर्णन है कि ब्राह्मण का सत्कार न करने वाले के उत्तमवाणी के फल और इष्टापूर्त कर्मों के फल का नाश हो जाता है (कठ०१.१.८)। मनुष्यों में जो लोग इष्टापूर्त कर्मों को ही करने योग्य कर्म मानकर उनकी उपासना करते हैं, वे चन्द्रमा के लोक को ही जीतते हैं- **तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते** (प्रश्न०१.९)।

४१. **ईश्वर-जीव** — अद्वैत वेदान्त में '**एकमेवाद्वितीयम्**' जैसे श्रुति वचनों द्वारा जिस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, कूटस्थ, निष्क्रिय, अविकारी आदि विशेषणों से विभूषित परम चैतन्य का प्रतिपादन है, उसी को 'ब्रह्म' कहा गया है। 'ब्रह्म' के दो रूपों की परिकल्पना वेदान्त ग्रन्थों में प्राप्त होती है-प्रथम-परब्रह्म, द्वितीय-अपरब्रह्म। 'परब्रह्म' वह है, जो **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**.......अर्थात् शब्दस्पर्शादिरहित, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला है। यह अविकारी और कूटस्थ है। यही 'ब्रह्म' जब सृष्टि-सृजन हेतु संकल्पवान् होता है, तो माया की शक्ति से समन्वित हो जाता है, इसे 'अपरब्रह्म' या 'सगुणब्रह्म' कहते हैं। इसी अपरब्रह्म को 'ईश्वर' भी कहा जाता है। 'माया' से परिच्छिन्न होने पर ही ब्रह्म का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगत् कारणत्व आदि सिद्ध होता है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामी ने लिखा है- **तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्** (पंच०३.४०)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि माया की उपाधि से अवच्छिन्न (संयुक्त) ब्रह्म ही ईश्वर है। माया ईश्वर के अधीन होती है और जब माया (अविद्या) चैतन्य को अपने वशीभूत कर लेती है, तो वह अविद्याग्रस्त चैतन्य 'जीव' कहा जाता है। माया से संयुक्त, किन्तु माया को अपना वशवर्ती बनाने वाला चैतन्य ईश्वर और माया का वशवर्ती बना चैतन्य 'जीव' कहा जाता है, वस्तुतः ये दोनों उस परब्रह्म के ही रूप हैं।

'ईश्वर' को जगत् का निमित्त कारण माना जाता है। जैसे कुम्भकार घड़ा बनाता है, तो घड़े का निमित्त कारण कुम्भकार हुआ, किन्तु घड़ा बनता है मिट्टी से, इसलिए मिट्टी 'उपादान' कारण है, परन्तु जगत् के निर्माण में ईश्वर निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी, क्योंकि वही विविध नाम रूपात्मक जगत् के रूप में परिणत हो जाता है, जैसे मकड़ी जाला बनाती है, तो जाला बनाने की योग्यता के कारण वह निमित्त कारण होती है और जाला बनाने का पदार्थ भी अपने भीतर शरीर से ही निःसृत करती है, इसलिए वही उपादान कारण भी होती है। आवरण और विक्षेप शक्ति के आधार पर ईश्वर की उपादान कारणता सिद्ध होती है। जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति। आवरण शक्ति से 'रस्सी' का स्वरूप ढँक जाता है और विक्षेप शक्ति से 'रस्सी' के स्थान पर सर्प की प्रतीति होने लगती है। इसी तरह से आवरण शक्ति से ईश्वर का स्वरूप ढँक जाता है और विक्षेप द्वारा ईश्वर जगत् के रूप में दिखने लगता है। इस प्रकार 'ईश्वर' जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। जैसा कि डॉ० राधाकृष्णन् जी ने लिखा है-'ईश्वर' बिना साधनों से सृष्टि रचना करता है। अपनी महान् शक्तियों के द्वारा वह अपने को अनेक कार्यरूपों में परिणत कर लेने में समर्थ है।

४२. **उद्गीथ**— उद्गीथ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- उद्+गै+थक्। अमरकोश के अनुसार इसका अर्थ है- **प्रणवः सामवेद ध्वनिः इत्यरुणः** (५.१९ वृत्ति)। उद्गीथ एक प्रकार का सामगान है। प्रणव अथवा ओंकार को भी उद्गीथ कहा गया है। ॐ यह अक्षर उद्गीथ का प्रतीक है- **ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः** (छान्दो०१.१.५)। साम के भेद या विभाग इस प्रकार किये गये हैं- हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। यहाँ प्राण को उद्गीथ रूप वर्णित किया गया है- **मन एव हिंकारो वाक् प्रस्तावः प्राण उद्गीथः** (जैमि०१.३३.३)। उद्गीथ को देवों के लिए अमृत कहा गया है-**उद्गीथं देवेभ्योऽमृतम्** (जैमि० १.११.८)। जो उद्गीथ है, वही प्रणव अक्षर है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। विचरणशील सूर्य भी उद्गीथ ही है- **अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथः** (छान्दो०१.५.१)। वाणी का रस ऋचा है, ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है- **वाचः ऋग्रसः ऋचः सामरसः साम्नः उद्गीथो रसः** (छान्दो०१.१.२)।

४३. **उपनिषद्** — 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति में सद् '**षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु**' धातु के पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्त में 'क्विप्' प्रत्यय लगता है। जिसका भावार्थ है-गुरु के निकट गूढ़ धर्म एवं रहस्यमय ज्ञान प्राप्ति के लिए बैठना। अमरकोश में उपनिषद् शब्द का अर्थ (**धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्**) गूढ़ धर्म एवं रहस्य लिया गया है। उपनिषद् में जीवन और जगत् के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन, निरूपण तथा विवेचन है।

वैदिक साहित्य के चार भाग किये गये हैं-१. संहिता, २. ब्राह्मण, ३. आरण्यक तथा ४. उपनिषद्। वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् का प्रमुख विषय ब्रह्म का निरूपण होने से इन्हें ब्रह्मविद्या भी कहा गया है। उपनिषदों में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है- १. परा और २. अपरा। पराविद्या ब्रह्मविद्या है, जिसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। अपरा विद्या के अन्तर्गत संहिताओं, ब्राह्मणों तथा

वेदाङ्गों का विवेचन दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों को कालक्रम के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-१. प्राचीन उपनिषद्, २. परवर्ती उपनिषद्। प्राचीन उपनिषद् वैदिक शाखाओं पर आधारित हैं। परवर्ती उपनिषद् मध्ययुग के धार्मिक सम्प्रदायों की देन हैं। उस ब्रह्म विषयक (ब्राह्मी) उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) का विवरण केनोपनिषद् में मिलता है। उस ब्रह्मविद्या के तीन आधार हैं- तप, दमन (इन्द्रिय-निग्रह) और निष्काम कर्म। सम्पूर्ण वेद उसी के अङ्ग हैं और सत्यरूप परमात्मा ही उसका अधिष्ठाता है-**ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति। तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्** (केन०४.७-८)। साधक यथार्थ तत्त्व को प्रकट करने वाली (उपनिषद्) विद्या के द्वारा जो कुछ भी श्रद्धापूर्वक करता है, वही अधिकाधिक सामर्थ्ययुक्त होता है- **यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति** (छान्दो०१.१.१०)।

४४. **उपप्राण**— द्र० - प्राण।

४५. **उपाधि**—जो वस्तु जिस विशेष रूप में दिखाई देती है, उस विशेष रूप को उस वस्तु की उपाधि कहते हैं अथवा जिसके संयोग से कोई वस्तु किसी विशेष रूप में दिखाई देती है, उसे उस वस्तु की उपाधि कहते हैं। जैसे साधारण वस्त्र जब किसी रंग विशेष में रँग दिया जाता है, तो वह उसी रंग का-लाल, नीला हो जाता है। यह लाल, नीला रंग उस वस्त्र की उपाधि कहलाता है। वेदान्त दर्शन में माया के संयोग या असंयोग से ब्रह्म के दो भेद निरूपित किये गये हैं- सोपाधि ब्रह्म (जीव) और निरुपाधि ब्रह्म। सोपाधि ब्रह्म को ब्रह्म का सगुणरूप तथा निरुपाधि ब्रह्म को ब्रह्म का निर्गुण रूप स्वीकार किया गया है। वह परब्रह्म त्वं और तत् आदि उपाधियों से भी परे है। मन आदि सूक्ष्म तत्त्वों की उपाधि जो आत्मा के साथ संयुक्त रहती है, उसे लिङ्ग शरीर कहते हैं।

४६. **उपासना**— जीव अपने इष्ट से एकाकार होने का अभ्यास जिस प्रक्रिया से करता है, उसे उपासना कहते हैं। इसमें भक्त भगवान् के प्रति समर्पण का अभ्यास करता है और शनैः-शनैः तद्रूप होने लगता है। उपासना का अर्थ पास बैठना (उप=समीप+आसन=बैठना) अथवा सेवा के रूप में विशेष रूप से लिया जाता है। कहीं-कहीं इसका अर्थ उपवास करना भी लिया गया है। उपनिषद् में कहा गया है जो केवल अविद्या (पदार्थपरक विद्या) की उपासना करते हैं, वे घोर अंधकार में फँस जाते हैं और जो केवल विद्या (चेतनापरक) की उपासना करते हैं, वे भी घोर अंधकार में फँस जाते हैं (ईश०९)। उपासना को ब्रह्म साक्षात्कार का साधन स्वीकार किया गया है। उपासना से साधक का चित्त एकाग्र हो जाता है। यह चित्त की एकाग्रता निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार कराने में समर्थ है- **सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्य द्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः** (वे०परि०)।

४७. **ऋत-सत्य**— प्रिय भाषण या सत्य वचन के अर्थ में सामान्यतः ऋत शब्द का प्रयोग होता है। इसके अन्य पर्यायवाची शब्द हैं- मोक्ष, जल, कर्मफल, यज्ञ, सूर्य, ब्रह्म, प्राकृतिक नियम, ईश्वरीय नियम, अनुकूल वचन। ऋत शब्द का प्रयोग अनुकूल वचन के अर्थ में इस प्रकार हुआ है- **ऋतं वदिष्यामि** (तै०आ०७.१.१)। **ऋतं च सत्यं च वदत** (तै०सं०३.२.७.१)। यज्ञ को भी ऋत कहा गया है- **एष वा ऋतस्य पन्था यद्यज्ञः** (मै०ब्रा०४.८.२), **यज्ञो वाऽ ऋतस्य योनिः** (शत०ब्रा०१.३.४.१६)। ॐ तथा ब्रह्म को भी ऋत से सम्बद्ध किया गया है- **ओमित्येतदेवाक्षरममृतम्** (जैमि०३.३६.५), **ब्रह्म वा ऋतम्** (शत०ब्रा०४.१.४.१०)। मन को भी ऋत कहकर निरूपित किया गया है-**मनो वा ऋतम्** (जैमि०३.३६.५)।

वस्तुतः शाश्वत अटल नियम को ऋत कहते हैं और देश, काल के अनुसार बदल जाने वाले नियम को 'सत्य' कहते हैं। जल का नीचे की ओर प्रवाहित होना, अग्नि की लपटों का ऊपर की ओर उठना, सूर्य का उदय पूर्व दिशा में होना इत्यादि शाश्वत नियमों को 'ऋत' कहेंगे और ठण्डक के दिनों में भारत में दिन का छोटा होना, रात्रि का बड़ा होना, गर्मी में दिन का बड़ा होना, रात्रि का छोटा होना जैसे नियम देश, काल के अनुसार बदलते हैं, सर्दी-गर्मी का मौसम बदलता रहता है। यह सत्य है, किन्तु ऋत नहीं।

४८. **ऋत्विज्**— यज्ञ कराने वाले-याज्ञिक को ऋत्विज् कहा गया है। ऋत्विजों में चार प्रमुख होते हैं-ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता और उद्गाता। कहीं-कहीं प्रमुख ऋत्विजों की संख्या सात मानी गई है- होता, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। ब्रह्मा यज्ञ की देखरेख मौन रहकर करता था। अध्वर्यु यज्ञ में व्यावहारिक कार्य-निर्देश एवं व्याख्या करता था। होता ऋचाओं का-यज्ञमंत्रों का उच्चारण तथा देवस्तुति करता था। उद्गाता का सम्बन्ध यज्ञ में

गायन (सामगान आदि) से होता था। बड़े यज्ञों में इन चारों ऋत्विजों के तीन तीन अन्य सहयोगी भी होते थे। इस प्रकार यज्ञ में सोलह ऋत्विज् वरण किये जाते थे-**षोडशर्त्विजो ब्रह्मोद्गातृ होत्रध्वर्यु......** (का०श्रौ० ७.१.७)। **चत्वारस्त्रिपुरुषाः। तस्य तस्योत्तरे त्रयः** (आ०श्रौ०४.१.४-५)। ब्रह्मा के सहयोगी ऋत्विज्-ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता, अध्वर्यु के सहयोगी ऋत्विज्-प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता, होता के सहयोगी ऋत्विज्-मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत् एवं उद्गाता के सहयोगी ऋत्विज्-प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य होते थे।

४९. ऋद्धि-सिद्धि —ऋद्धि भौतिक समृद्धि का द्योतक है और सिद्धि आध्यात्मिक विभूति या सफलता आदि का द्योतक है। दूसरे शब्दों में ऋद्धि-सिद्धि समृद्धि और सफलता का बोधक है। ऋद्धि को लौकिक सुख-सम्पदा से तथा सिद्धि को अलौकिक शक्ति या विभूति से सम्बद्ध किया जाता है। योग की अष्टसिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं- अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। भगवान् ने गीता में कहा है कि मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ तू सिद्धि को प्राप्त होगा-**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि** (गी० १२.१०)।

५०. ऋषि— वेद मन्त्रों का द्रष्टा या उनका साक्षात्कार करने वाला या आध्यात्मिक तत्त्वों का द्रष्टा और प्रयोक्ता ऋषि कहलाता है। वेद मन्त्रों का अनुभूतिजन्य तत्त्वदर्शन समझने वाले, त्रिकालज्ञ, दिव्यदृष्टि सम्पन्न परोक्ष द्रष्टा को भी ऋषि कहते हैं। रत्नकोष के अनुसार ऋषि सात प्रकार के हैं-ब्रह्मर्षि, देवर्षि, महर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि। भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों में भिन्न-भिन्न ऋषि हुए हैं। इस वैवस्वत मन्वन्तर के सप्तर्षि ये हैं-कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज। अपाला, विश्ववारा, घोषा, सूर्या आदि महिलाओं ने भी वैदिक काल में ऋषित्व को प्राप्त किया था। उपनिषद् में वर्णन है कि ऋषिगण जो आसक्ति से परे विशुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त और परम शान्त हो जाते हैं- **संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः** (मुंड० ३.२.५)। गीता में भी वर्णन मिलता है कि निष्पाप, छल, कपटरहित संयत आत्मा वाले सब प्राणियों के हित में रत रहने वाले, ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं-**लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः** (गी० ५.२५)।

५१. एकत्व-ऐक्य— उपनिषदों में जीव और ब्रह्म में-आत्मा और परमात्मा में एकत्व-ऐक्य (एक होने का भाव) प्रतिपादित किया गया है। **जीवो ब्रह्मैव नापरः; एकमेवाऽद्वितीयम्** (छान्दो० ६.२.१)। ब्रह्म ही अज्ञान की उपाधि से संयुक्त होकर जीव कहलाता है। एक ही ईश्वर (इन्द्र) माया से संयुक्त होकर विविध रूपों को प्राप्त होता है-**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (ऋ० ६.४७.१८)। एक ही परमात्मा प्रत्येक प्राणी में अवस्थित होकर उसी प्रकार विविध रूपों में दिखाई दे रहा है, जैसे चन्द्रमा एक होते हुए विभिन्न जलों में विविध रूपों में दिखाई देता है- **एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥** (ब्र० बि० ११) गीता में श्रीकृष्ण का कथन है कि कुछ ज्ञानयज्ञ द्वारा एकत्व (अद्वैत) भाव से और पृथकत्व (द्वैत) भाव से विराट् पुरुष की उपासना करते हैं-**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्** (गी० ९.१५)।

५२. एकर्षि अग्नि— मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है कि जो निष्काम कर्मनिष्ठ, श्रुतिज्ञान के ज्ञाता और ब्रह्म के उपासक एकर्षि नामक अग्नि में श्रद्धापूर्वक हविष्यान्न अर्पित करते हैं, उन्हीं को विधिपूर्वक ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिए-**क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्** (मुण्ड० ३.२.१०)। एकर्षि अग्नि का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। कुछ विद्वज्जन एकर्षि अग्नि की संगति आत्मज्योति रूप अग्नि से बिठाते हैं। कहीं इसे प्राणाग्नि अथवा आत्माग्नि के रूप में स्वीकार किया गया है। कुछ विद्वानों ने एकर्षि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है-**एक एव ऋषति गच्छति** अर्थात् जो एक (अकेला) गतिमान् रहता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सभी देवताओं में जो अग्नि विद्यमान रहती है, उसी अग्नि में ही वे सभी आहुतियों को ग्रहण या धारण करते हैं, उसे ही एकर्षि अग्नि कहा जाता है।

५३. एकादशद्वार-एकादश अक्ष— मनुष्य शरीर को एकादश द्वारों वाला अथवा एकादश अक्ष कहा गया है। यह शरीर दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और उपस्थ इन ग्यारह द्वारों वाला है। वह विशुद्ध अजन्मा परमेश्वर एकादश द्वारों वाले मनुष्य शरीर में रहता है, उसका ध्यान-अनुष्ठान करके मनुष्य कभी शोक नहीं करता और जीवनमुक्त होकर बन्धनों से मुक्त हो जाता है- **पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।**

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते (कठ० २.२.१)। उपनिषद् में ही मनुष्य शरीर को नवद्वार (दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा, एक उपस्थ) वाला भी स्वीकार किया गया है-**नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहिः** (श्वेता० ३.१८)।

५४. **एषणा त्रय**— एषणा का शाब्दिक अर्थ इच्छा, चाह, प्रार्थना, याचना आदि है। सामान्य मनुष्य त्रय एषणा के बन्धन में फँसा होता है। ये एषणाएँ हैं-पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। उपनिषद् में वर्णन है कि त्यागी पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊँचे उठकर भिक्षाचर्या करते थे- **ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति** (बृह० ४.४.२२)। ब्राह्मण पुरुष भी आत्मा को जानकर त्रय एषणाओं से ऊँचे उठ जाते हैं (बृह०३.५.१)। परिव्राजक के लिए तीनों एषणाओं, तीनों वासनाओं, ममता एवं अहंकार का परित्याग करने का निर्देश है-**एषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्** (प०प० २)।

५५. **ओङ्कार**— ओङ्कार अथवा प्रणव परमात्मा का ही नाम अथवा प्रतीक है। ॐकार-यह अकार, उकार तथा मकार तीन वर्णों से बना हुआ है। ये तीनों अक्षर तीन शक्तियों-त्रिदेवों का बोध कराते हैं-**अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः। मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥** इस प्रकार ॐ को ही ब्रह्म और सब कुछ स्वीकार किया गया है-**ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्** (तैत्ति० १.८.१)। ओम् ही सभी मुमुक्षुओं का ध्येय है- **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वं मुमुक्षुभिः** (ध्या०बि० ९)। ओम् ही उपास्य है, यही अपरिमित तेजरूप अग्नि आदित्य और प्राण है-**तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताऽपरिमितं तेजः। तत् त्रेधाऽभिहितमग्नावादित्ये प्राणे** (मैत्रा० ६.३७)। तीन अक्षरों के प्रणव के उच्चारण से योगी संसार के जन्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं-.....**त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्** (आ०बो०१)। ॐ अक्षर को जानकर जो जैसा चाहता है, वह वैसा पाता है-**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्** (कठ०१.२.१६)।

५६. **कर्म**— कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया अथवा गति से है। दर्शन में इसे आध्यात्मिक तत्त्व कहा गया है, जिसे आत्मा संसार में वहन करता है। संसार में कर्मचक्र सुनिश्चित तथ्य है। निखिल ब्रह्माण्ड में देव, ग्रह, नक्षत्र तथा सभी चराचर अपने-अपने कर्म के कारण स्थित और गतिमान् हैं। उपनिषद् में इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो 'मैं करता हूँ', इस प्रकार की अध्यात्म निष्ठा से किया गया हो-**कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म** (निरा० ११)। गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के कहे गये हैं-सात्त्विक, राजसी, तामसी। वेदों में तीन प्रकार के कर्मों का विधान है-नित्य, नैमित्तिक और काम्य। गीता के अनुसार सभी प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अनुसार वशीभूत हुए कर्म करते हैं- **कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः** (गी० ३.५)। गीता में नियत कर्म करने का आदेश है, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है-**नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः** (गी० ३.८)। यज्ञ के लिए किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों से यह लोक कर्म बन्धन में फँसता है, अतः आसक्ति रहित होकर यज्ञ के लिए कर्म करने का निर्देश आगे है-**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर** (गी० ३.९)। कर्म की गति अत्यन्त गूढ़ है-**गहना कर्मणो गतिः** (गी०४.१७)। उपनिषद् कर्म करते हुए सौ वर्ष जीवित रहने की बात कहते हैं और यह भी कहते हैं कि इसके अतिरिक्त मनुष्य के कल्याण का और कोई मार्ग भी नहीं है- **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे** (ईशा०२)।

५७. **कर्मफल**— मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु कर्मफल भोगने में पराधीन है। उसे किये हुए कर्मों का फल अवश्य मिलता है। **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्** (ना०पु० ३१.७०)। पिछले जन्मों का कर्मफल ही हमारा भाग्य या प्रारब्ध कहलाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- कर्म करने में आपका अधिकार है, फल प्राप्ति में कभी नहीं। कर्मों के फल की इच्छा मत करो, कर्म न करने में भी आसक्ति न रखो-**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (गी० २.४७)। कर्मफल को त्यागकर युक्त पुरुष निष्ठा से भरी शान्ति को प्राप्त होता है- **युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्** (गी० ५.१२)। ध्यान से भी कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, त्याग से शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है, जैसा कि भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है-**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्** (गी० १२.१२)।

५८. कवि-मनीषी— कवि शब्द के अर्थ कोश ग्रन्थों में सर्वज्ञ, विचारवान् , प्रतिभाशाली, प्रशंसनीय, दूरदर्शी विद्वान्, त्रिकालज्ञ पुरुष, मनीषी आदि दिये गये हैं। मनीषी शब्द के अर्थ पंडित, विद्वान्, बुद्धिमान्, मेधावी, स्तोता आदि दिये गये हैं। उपनिषदों में उस परब्रह्म परमात्मा को ही कवि-मनीषी कहकर प्रतिपादित किया गया है- **कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतो** (ईश० ८)। गीता में कहा गया है कि क्या कर्म है और क्या अकर्म, इसमें कविगण (बुद्धिमान्) भी मोहित हो जाते हैं- **किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः** (गी० ४.१६)। गीता ८.९ में परमेश्वर को कवि कहा गया है। कवि त्रिकालदर्शी एवं सर्वज्ञ होता है। परमेश्वर कवि है, तो सृष्टि उसकी कविता, निर्माता होने के कारण भी उसे कवि कहते हैं। उस पुराण पुरुष, सर्वेश्वर, सब देवों के उपास्य देव को कवि कहकर उपन्यस्त किया गया है-**कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्** (महो० ४.७१)।

५९. कामधेनु— यह मान्यता है कि समुद्र मंथन के चौदह रत्नों में एक रत्न कामधेनु भी थी, जिससे जो माँगा जाय, उसकी पूर्ति हो जाती थी। सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाली इस धेनु (गाय) को कामधेनु कहा गया। वसिष्ठ ऋषि के पास भी ऐसी ही एक कामधेनु थी, जिसे शबला या नंदिनी नाम से जाना जाता था। जमदग्नि ऋषि के पास भी एक कामधेनु थी, जिसके बल पर उन्होंने हैहयराज का भव्य स्वागत किया था।

६०. कूटस्थ— 'कूटस्थ' शब्द के अर्थ हैं- सर्वोच्च स्थित, गूढ़ स्थित अथवा गुप्त रूप में स्थित, अन्तर्व्याप्त, अन्तर्यामी, परमेश्वर, जीवात्मा, सर्वोपरि स्थित, अचल, अविनाशी। न्याय दर्शन में परमेश्वर को कूटस्थ कहा गया है, जो जन्म-गुण से रहित है। सांख्य दर्शन की मान्यता के अनुसार कूटस्थ आत्मा-पुरुष है, जो परिमाणरहित है तथा जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक समान है, निर्लिप्त और द्रष्टा मात्र है। शाक्त परम्परा के अनुसार सर्वोच्च अन्तिम अवस्था में विष्णु या शिव एक ही परमात्मा है। केवल सृष्टिकाल में ये भिन्न होते हैं। कूटस्थ पुरुष जीवात्माओं का समष्टिगत रूप है। अव्यक्त पुरुष को भी कूटस्थ कहा गया है। जड़ प्रकृति के संसर्ग से परे अपने स्वरूप में स्थित मुक्त आत्मा कूटस्थ है। गीता के अनुसार इस लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार के पुरुष हैं। सब प्राणियों के शरीर तो क्षर हैं और कूटस्थ (आत्मा-पुरुष) अक्षर कहा जाता है-**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते** (गी० १५.१६)। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब प्राणियों की बुद्धि में रहने वाला और उनके स्थूल-सूक्ष्म आदि देहों का नाश होने पर जो शेष रहा दिखाई देता है, वह कूटस्थ कहा जाता है-**ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिष्वविशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते** (स०सा० १०)।

६१. क्रतु— क्रतु शब्द के पर्याय कोश ग्रन्थों में यज्ञ, अश्वमेध, विवेक, प्रज्ञा, संकल्प, इच्छा आदि मिलते हैं। वह परम पुरुष क्रतुमय (संकल्पमय) ही है- **अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः** (छान्दो० ३.१४.१)। उपनिषद् में लिखा है- छन्द, यज्ञ, क्रतु, (अग्निष्टोम आदि विशिष्ट यज्ञ कर्म), व्रत जो भी वेद वर्णित हैं, उनका अधिष्ठाता वह मायावी पुरुष है- **छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः** (श्वेता० ४.९)। वह परम पुरुष सम्पूर्ण क्रतुओं द्वारा यजन किया जाता है-
स सर्वैः क्रतुभिर्यजते (अव्यक्तो० ७.१)।

६२. क्षेत्रज्ञ— शरीर रूपी क्षेत्र का ज्ञाता, सर्वसाक्षी अथवा जीवात्मा के अर्थ में क्षेत्रज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। शरीर के अधिष्ठाता, आत्मा अथवा परमात्मा के पर्याय रूप में भी क्षेत्रज्ञ प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् के अनुसार शरीर में जो प्रकाशमान चैतन्य स्वरूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है- **तत्र यत् प्रकाशते चैतन्यं स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते** (स०सा० ८) उस परमात्मा का अंश ही सब चेतन, प्राणियों में जीवात्मा बना है। वही प्रत्येक शरीर में क्षेत्रज्ञ रूप में विद्यमान है- **अस्यांशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः** (मैत्रा० २.५)। यही क्षेत्रज्ञ लिङ्ग शरीर में संकल्प, अभिमान तथा अध्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित है। यह विशुद्ध, नित्य, मुक्त, असंग तथा प्रजापति रूप है। गीता में भगवान् कहते हैं- यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है, इसे जानने वाले को तत्त्वज्ञाता, विद्वान्, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब क्षेत्रों का मुझे ही क्षेत्रज्ञ जान। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के भेद का जो ज्ञान है, वही यथार्थ ज्ञान है-**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम** (गी० १३.१-२)। शरीर रूपी क्षेत्र का पूरा-पूरा ज्ञान रखने वाला तथा इसका अधिकारी ही क्षेत्रज्ञ है।

६३. **गन्धर्व—** देवों के एक भेद अथवा अर्धदेवों के रूप में गन्धर्वों को स्वीकार किया गया है। निरुक्त के अनुसार 'गा' या 'गो' को धारण करने वाला होने से इन्हें गन्धर्व कहा गया है। यहाँ 'गा' या 'गो' का भावार्थ पृथ्वी, किरण, वाणी इत्यादि ग्रहण किया जाता है। ऐसी मान्यता है कि ये देवों के पास गाने वाले हैं, अतः वाणी या कण्ठ को धारण करने वाले हैं। वेदों में दो प्रकार के गन्धर्वों का उल्लेख हुआ है- एक द्युस्थानीय, दूसरे अन्तरिक्ष स्थानीय। द्युस्थानीय गन्धर्वों को दिव्य गन्धर्व कहा गया है। ये सोम के रक्षक, रोगों के चिकित्सक, सूर्य अश्वों के वाहक तथा स्वर्गीय ज्ञान प्रकाशक माने गये हैं। अन्तरिक्ष स्थानीय गन्धर्व नक्षत्रों के प्रवर्तक और सोम के रक्षक माने गये हैं। उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में गन्धर्वों के दो भेद उल्लिखित हैं- देव गन्धर्व और मनुष्य गन्धर्व। शब्दार्थ चिन्तामणि में गन्धर्वों के दो भेद-दिव्य तथा मर्त्य वर्णित हुए हैं। अग्निपुराण में गन्धर्वों के बारह गण माने गये हैं- अभ्राज्य, अंघारि, रंभारि, सूर्यवर्चा, कृधु, हस्त, सुहस्त, स्वन्, मूर्धवान्, महामना, विश्वावसु और कृशानु। गंधर्वों का लोक गुह्यक लोक के ऊपर और विद्याधर लोक के नीचे वर्णित हुआ है।

६४. **गायत्री—** उपनिषद् के अनुसार **तत्प्राणाःस्तत्रे तद्यद्गयाःस्तत्रे तस्माद्गायत्री** (बृह० ५.१४.४); अर्थात् इसने प्राणों का त्राण किया, इसी से यह गायत्री है। '**गयान् (प्राणान्) त्रायते इति गायत्री**' व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणों का त्राण करने वाली शक्ति को गायत्री कहा गया है। इसीलिए गायत्री को प्राणोपासना भी कहा गया है। गायत्री को प्राणरूप में स्वीकार किया गया है- **गायत्री वै प्राणः** (शत०ब्रा० १.३.५.१५)। गायत्री को अग्नि,तेज और ब्रह्मवर्चस भी कहकर उपन्यस्त किया गया है- **गायत्री वाऽग्निः** (शत०ब्रा० १.८.२.१३), **तेजो वै गायत्री** (तै०सं० ३.२.९.३), **गायत्री ब्रह्मवर्चसम्** (मै०ब्रा० ४.३.१)। आठ-आठ अक्षरों के तीन पदों वाले छन्द को गायत्री छन्द कहा गया है। गायत्री को छन्दों में सर्वोत्तम माना गया है- **गायत्री वै छन्दसामग्रं ज्यैष्ठ्यम्** (जै०ब्रा० २.२२७)। त्रिकाल संध्या में इसी मंत्र के जप का विधान रहा है। गायत्री को ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों शक्तियों का रूप कहकर प्रतिपादित किया गया है- **गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः। गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः** (स्कं० पु०काशी खं०पू०४.९.५८)। उपनिषद् का वर्णन है कि यह जो भी कुछ है, वस्तुतः वह गायत्री ही है- **गायत्री वा इदः सर्वं भूतं यदिदं किंच** (छान्दो० ३.१२.१) यह सम्पूर्ण पृथ्वी भी गायत्री ही है, जिसमें समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं- **या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिवी। अस्याः हीदः सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम्** (छान्दो० ३.१२.२)। गायत्री को वेदमाता, देवमाता तथा विश्वमाता कहा गया है। इनकी उपासना से व्यक्ति आयु, प्राण, प्रजा (सन्तान), पशु, कीर्ति, धन एवं ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है-

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् (अथर्व॰ १९.७१.१)।

६५. **गुरु-शिष्य—** गायत्री मंत्र का उपदेष्टा गुरु कहलाता है। अध्यात्म विद्या या ब्रह्म विद्या प्रदान करने वाले आचार्य भी गुरु कहलाते हैं। गुरु जिस पुरुष को गायत्री या अन्य मन्त्र की दीक्षा देता है, वह शिष्य कहा जाता है। गुरु शिष्य परम्परा भारतवर्ष में अनादि काल से रही है। जिसका कोई गुरु नहीं होता था, उसे 'निगुरा' कहकर तिरस्कृत किया जाता था। गुरु सामान्य मनुष्यों के गृहस्थान से बहुत दूर एकान्त स्थान में जहाँ विद्यार्थियों को पढ़ाते थे- वह स्थान गुरुकुल कहा जाता था। गुरु तप-तितिक्षा द्वारा अपने व्यक्तित्व में प्रखरता-भारीपन या गुरुता के कारण यह प्रतिष्ठा पाता था। मनुस्मृति के अनुसार जो विप्र निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों को यथाविधि कराता है और अन्न से पोषण करता है, वह गुरु कहलाता है- **निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।** (म०स्मृ०२.१४२) इस परिभाषा से माता-पिता पहले गुरु हैं, फिर पुरोहित आदि। युक्तिकल्पतरु में अच्छे गुरु के अनेक लक्षण वर्णित हैं। चाणक्यनीति के अनुसार द्विजातियों के गुरु अग्नि, वर्णों के गुरु ब्राह्मण, स्त्रियों के गुरु पति और अतिथि सबके गुरु हैं- **गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।**

पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वेषामतिथिर्गुरुः (चा०नी०)। एक शिष्य के अन्दर सच्चे गुरु की प्राप्ति की जितनी उत्कंठा होती है, उससे कहीं अधिक एक गुरु के अन्दर सच्चे शिष्य की तलाश की व्याकुलता रहती है। अतः शिष्य को निरन्तर अपनी पात्रता के विकास का उद्यम करते रहना चाहिए। गुरु ग्रन्थ साहिब के अनुसार चाहे सौ चाँद चढ़ आयें, चाहे सहस्र सूर्यों का उदय हो जाये, तो भी गुरु के बिना अँधेरा ही रहता है। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार समस्त

शरीरों में स्थित चैतन्य ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला गुरु ही उपास्य है और विद्या प्राप्त कर संसार के प्रपञ्चों का नाश होकर गम्भीर ज्ञानरूप जो ब्रह्म (अन्तर) में शेष रहे, वह शिष्य है- **सर्व शरीरस्थ चैतन्यब्रह्म प्रापको गुरुरुपास्यः। शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपञ्चावगाहित ज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः** (निरा० ३०-३१)

६६. **गृह्यसूत्र**— गृह्य का शाब्दिक अर्थ है- गृह संबंधी या गृहस्थी से संबंधित। अत्यन्त थोड़े अक्षर वाले, सारगर्भित, व्यापक, अस्तोभ तथा अनवद्य (वाक्य या वाक्यांश) सूत्र कहे जाते हैं- **स्वल्पाक्षरमसंदिग्ध सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोभनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥** गृह्यसूत्र वैदिक पद्धति के वे शास्त्र हैं, जिनमें गृहस्थों के लिए मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि षोडश संस्कारों के नियम-निर्देश और यज्ञादि कार्यों का वर्णन है-**गृह्यन्ते संगृह्यन्ते वेदविहितानि कर्मकाण्डानि यत्र।** गृह्यसूत्रों में प्रसिद्ध गृह्यसूत्र निम्न हैं-१. आश्वलायन, २. पारस्कर, ३. शांखायन, ४. मानव और ५. गोभिल। इनमें प्रतिपाद्य विषयों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-प्रथम भाग में छोटे पारिवारिक यज्ञों का वर्णन है। दूसरे में षोडश संस्कारों की विधि-व्यवस्था तथा तीसरे में श्राद्ध, पितृयज्ञ तथा गृहनिर्माण आदि का वर्णन है। वैदिक शाखाओं के उपलब्ध गृह्यसूत्रों का वर्णन इस प्रकार है-ऋक् सम्बन्धी- १. शाङ्खायन, २. शाम्बव्य, ३. आश्वलायन, साम सम्बन्धी- ४. गोभिल, ५. खादिर, ६. जैमिनि; शुक्ल यजुर्वेद सम्बन्धी- ७. पारस्कर; कृष्णयजुर्वेद सम्बन्धी- ८. आपस्तम्ब, ९. हिरण्यकेशी, १०. बौधायन, ११. भारद्वाज, १२. मानव, १३ वैखानस, १४. काठक, १५. वाराह; अथर्ववेद सम्बन्धी-१६. कौशिक।

६७. **ग्रह-नक्षत्र**— आकाशमण्डल के तारे जो अपने सौरमण्डल में सूर्य की परिक्रमा करते हैं, ग्रह कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में किसी निर्धारित कक्षा में किसी सूर्य की परिक्रमा लगाने वाले तारे ग्रह कहे जाते हैं। फलित ज्योतिष् के अनुसार अपने सौरमण्डल में नौ ग्रह हैं- सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। किसी-किसी बड़े ग्रह के साथ उपग्रह भी हैं, जो अपनी कक्षा में अपने ग्रह की परिक्रमा करते हैं।

नक्षत्र तारों के वे समूह या गुच्छक हैं, जो चन्द्रमा के पथ में (चन्द्रमा के सापेक्ष) किन्तु अपने सौरमण्डल से बहुत दूर दिखाई देते हैं। चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा २७-२८ दिनों में करता है, इस रीति से चन्द्रमा का पथ २७ नक्षत्रों में विभाजित किया गया है। चन्द्रमा के पथ की तरह सूर्य पथ को १२ राशियों में विभक्त किया गया है। नक्षत्र या तारे ग्रहों की तरह छोटे-छोटे पिण्ड नहीं हैं, वे बड़े-बड़े सूर्य हैं, जो हमारे सूर्य से बहुत दूरी पर हैं।

६८. **चतुराश्रम**— ऋषियों ने मनुष्य जीवन के लिए चार आश्रम निर्धारित किये थे- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। मनुष्य के जीवनकाल को लगभग १०० वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम की अवधि २५ वर्ष रखी गयी थी। उपनयन के अनंतर २५ वर्ष आयु तक की अवधि बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरुकुल में वास करता था। यह अवधि वेद, वेदाङ्ग आदि सम्पूर्ण ज्ञान संचय और शक्ति संचय के लिए थी। गुरुकुल में ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करने पर घर में उसे गृहस्थ आश्रम में प्रवेश दिया जाता था। यह अवधि प्राप्त हुए ज्ञान का समाज में व्यावहारिक प्रयोग हेतु और सेवा-सत्कार द्वारा पुण्य संचय के लिए थी। तदनन्तर वानप्रस्थ आश्रम में, वनों में रहकर इन्द्रिय निग्रह तथा मानसिक पुरुषार्थ किया जाता था। यह अवधि कठोर आत्म साधना के लिए थी। वानप्रस्थ के २५ वर्ष पूरा करने के बाद व्यक्ति घर और स्वजनों को छोड़कर परिव्रज्या के लिए निकल पड़ता था। यह अवधि आत्म उत्कर्ष और मोक्ष प्राप्ति के प्रयासों के लिए थी और जीवन के व्यावहारिक अनुभवजन्य ज्ञान के द्वारा गृहस्थों के मार्गदर्शन के लिए थी। ये चारों आश्रम जीवन की चारों अवस्थाओं-बाल्यावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था से सम्बद्ध थे। आश्रमों का सम्बन्ध जीवन के चार उद्देश्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भी था। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध धर्म से था। गृहस्थ का अर्थ और काम से, वानप्रस्थ का उपराम और मोक्ष की तैयारी से और संन्यास का सम्बन्ध मोक्ष से था। आश्रमोपनिषद् में ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के चार-चार निम्न भेद वर्णित हैं- ब्रह्मचारी-गायत्री, ब्राह्मण, प्राजापत्य तथा बृहन्। गृहस्थ-वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। वानप्रस्थ-वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य और फेनप तथा संन्यासी-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस।

६९. **चतुर्युग**—सृष्टि के कालचक्र को चार युगों में विभक्त किया गया है- कृतयुग या सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग। इसमें कलियुग ४,३२०००, द्वापरयुग ८,६४,०००, त्रेतायुग १२,९६,००० एवं सतयुग १७,२८,००० वर्षों का माना जाता है। चारों युगों को मिलाकर ४३,२०,००० वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। एक हजार चतुर्युगी का

ब्रह्मा का एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात होती है। एक मान्यता यह भी है कि कलियुग १२०० वर्ष, द्वापरयुग २४०० वर्ष, त्रेतायुग ३६०० वर्ष और सतयुग ४८०० वर्षों का होता है। एक चतुर्युगी १२००० वर्षों की होती है। ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर तथा १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। सतयुग में धर्म का प्रायः पूर्णांश, त्रेतायुग में त्रिगुण चतुर्थांश, द्वापर युग में अर्धांश तथा कलियुग में चतुर्थांश ही रह जाता है। सतयुग में सत्त्वगुण की प्रधानता तथा कलियुग में तमोगुण की प्रधानता होती है। महाभारत के अनुसार कृतयुग में नारायण का वर्ण श्वेत होता है, त्रेता में पीत वर्ण, द्वापर में रक्तवर्ण तथा कलियुग में कृष्णवर्ण होता है।

७०. **चतुर्वर्ण**— मनुष्य मात्र को कर्म के अनुसार चार विभागों में बाँटा गया- १. समाज में ज्ञान बाँटने वाले- ब्राह्मण, २. समाज की रक्षा करने वाले-क्षत्रिय, ३. समाज में द्रव्य साधन की पूर्ति करने वाले-वैश्य, ४. समाज में अपनी शारीरिक सेवा देने वाले-शूद्र। इस विभाजन को वर्ण व्यवस्था कहा गया। शतपथ ब्राह्मण में भी इस तथ्य की पुष्टि होती है- **चत्वारो वै वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः** (शत०ब्रा० ५.५.४.९)। महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन है कि वर्णों में कोई ऊँच-नीच का भेद नहीं है, क्योंकि यह सारा संसार ब्रह्ममय है। ब्रह्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की और फिर कर्मों के अनुसार वर्ण बनते गये- **न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्** (१८८.१०)। गीता में भगवान् ने कहा है कि गुण-कर्म के विभाग के अनुसार मैंने चार वर्ण बनाये हैं- **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः** (गी०४.१३)।

७१. **चतुर्व्यूह**— चार पदार्थों या मनुष्यों का समूह चतुर्व्यूह कहलाता है। जैसे- १. राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न एवं २. कृष्ण, बलदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। पुराणों में वर्णन है कि ब्रह्मा ने सृष्टि कार्य हेतु वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इन चार रूपों में अवतार लिया था; अतः उन्हें चतुर्व्यूह कहते हैं। मुद्गलोपनिषद् में तीन मन्त्रों द्वारा चतुर्व्यूह भगवान् के स्वरूप का वर्णन है- **एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः** (मुद्०१.४)।

७२. **चमस**— चमस सोमपान करने या सोम वितरण करने का एक यज्ञपात्र होता था, जो चम्मच के आकार का तथा पलाश, उदुम्बर, खदिर आदि लकड़ी का बनता था। यह घृताहुति देने में भी प्रयुक्त होता था। वाचस्पत्यम् में चमस को सोमपान पात्र के रूप में स्वीकार किया गया है- **पलाशादिकाष्ठ जाते यज्ञीयपात्रभेदे तल्लक्षणभेदादिकं यज्ञपार्श्वे। सोमपानपात्रभेदे च** (वाच०)। अच्छावाक्, उद्गाता तथा अध्वर्यु द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले चमस क्रमशः अच्छावाक् चमस, उद्गातृ चमस तथा चमसाध्वर्यु कहलाते हैं।

७३. **चातुर्मास्य-आग्रयण**— चार मासों में पूरा किया जाने वाला एक विशेष श्रौत याग चातुर्मास्य कहलाता था। वसन्त और शरद् ऋतुओं में नवीन अन्न की इष्टि की जाती है, यह आग्रयण यज्ञ कहलाता है। वैदिक कल्प के अनुसार चार मास के प्रमुख तीन मौसमों के आरम्भ में चातुर्मास्य यज्ञ किया जाता था। प्रथम वैश्वदेव फाल्गुनी पूर्णिमा को, द्वितीय वरुण प्रघास आषाढ़ी पूर्णिमा को तथा तृतीय साकमेध कार्त्तिकी पूर्णिमा को होता था। वर्ष भर सभी संधियों में यज्ञ द्वारा संधिकाल को ठीक किया जाता था। रात-दिन की संधियों में अग्निहोत्र, पूर्णमासी तथा अमावस्या की संधियों में दर्श-पूर्णमास और ऋतु के आरंभ की संधियों में चातुर्मास्य यज्ञ किया जाता था (शत०ब्रा०१.६.३.३६)। जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है, उसका पुण्य कभी नाश नहीं होता- **अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति** (शत० ब्रा०२.६.३.१)। जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है, वह परमधाम और परमगति को प्राप्त होता है- **स परममेव स्थानं परमां गतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजी** (शत०ब्रा०२.६.४.९)।

७४. **चित्त**— अन्तःकरण की चार वृत्तियों- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार में से एक वृत्ति, जो अनुसंधानात्मक कही गयी है, चित्त कहलाती है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार मन, बुद्धि और अहंकार तीनों से मिलकर चित्त बनता है। योग दर्शन के अनुसार चित्त की पाँच वृत्तियाँ होती हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ मानी गयी हैं- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध एवं एकाग्र। योग के लिए निरुद्ध एवं एकाग्रचित्त होना चाहिए। चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। मैत्रेय्युपनिषद् में चित्त की महत्ता वर्णित है कि चित्त ही संसार है, अतः उसे प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है, वह वैसा ही बन जाता है, यह सनातन रहस्य है। चित्त के शांत होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। चित्त जितना इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, उतना यदि परमेश्वर में हो जाय, तो बन्धन से कौन मुक्त न हो जाय (मैत्रा०४.३-५)। चित्त वृत्तियों के विनष्ट होने

पर चित्त अपने उत्पत्ति स्थान में स्वयमेव ही शान्त हो जाता है (मैत्रा०४.१)। बुद्धि विषय ग्रहण करने से, चित्त चेतना से, अहन्ता अहंकार से अद्भुत (विशिष्ट) है- **बुद्ध्या बुद्ध्यति। चित्तेन चेतयति। अहंकारेणाहंकरोति** (ना०प०६.३)। उपनिषद् में चित्तशुद्धि के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि राग-द्वेष आदि से युक्त चित्त ही संसाररूप है, उसकें दोषों से मुक्त हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है- **चित्तमेव ही संसारो रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते** (महो० ४. ६६)।

७५. **छन्द**— अक्षरों की गणना के अनुसार वैदिक वाक्यों का जो भेद किया गया है, वह छन्द कहलाता है। ऋषियों के अन्त:करण में प्रस्फुटित मन्त्रों को मूर्त रूप देने का कार्य जिन वर्ण समूहों द्वारा सम्पन्न हुआ, वह छन्द कहलाया। वर्ण समूहों का यह निश्चित परिमाण ही छन्द है। इसके मुख्य सात भेद हैं- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। इनमें प्रत्येक के आठ-आठ भेद नियत किये गये हैं-आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची और ब्राह्मी। यजुर्वेद की कण्डिकाओं में सात मुख्य छन्द के अतिरिक्त भी कुछ छन्दों की परिगणना की गयी है- अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति और उत्कृति। इन वैदिक छन्दों का निर्धारण वर्ण गणना के आधार पर ही हुआ है, इसमें मात्रा अर्थात् लघु-गुरु का विचार नहीं किया गया है। आगे चलकर काव्य में प्रत्येक पाद में मात्राओं के आधार पर छन्दों की व्युत्पत्ति भी हुई है। इन भेदों के आधार पर संस्कृत और हिन्दी भाषा के अनेक छन्दों के अनेक भेदों का वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार एक समय देवताओं ने मृत्यु के भय से तीनों वेदों में प्रवेश किया और भिन्न-भिन्न छन्दों से अपने को आच्छादित किया। अत: जो आच्छादन करे, वही छन्द है, यही 'छन्दस्' शब्द की व्युत्पत्ति है- **देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्रविशंस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्** (छान्दो० १.४.२)।

७६. **जगत्**—परमात्मा की बनायी यह दुनिया अथवा यह संसार जगत् कहलाता है। यह दृश्य जगत् है, इससे परे अदृश्य जगत् उससे अनन्त गुना व्यापक है। परमात्मा को जगत् ईश, जगत् पति या जगत् पिता भी कहते हैं। जगत् का कारण भी वह ब्रह्म ही है। सूर्य को इस जगत् की आत्मा कहकर निरूपित किया गया है- **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (साम०६२९)। यह सब (जड़-चेतन) की आत्मा (शरीर) जगत् है- **सर्वं वा इदमात्मा जगत्** (शत०ब्रा०४.५.९.८)। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह जगत् मिथ्या और मायावी है- **ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या।** जब तक मनुष्य संसार में लिप्त है, तब तक संसार की सत्ता है। जब मोह नष्ट हो जाता है, तब संसार भी नष्ट हो जाता है। आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म का शरीर यह जगत् ही है। ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है। जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं है। दर्शन ग्रन्थ के अनुसार यह जगत् तीन गुणों (सत्, रज, तम) के संयोग का परिणाम है। इस जगत् को अग्निषोमात्मक (अग्नि तथा सोम के संयोग से उत्पन्न) माना गया है- **अग्नीषोमात्मकं जगत्** (बृ०जा०२.७)। यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म है, इनसे भिन्न कुछ भी नहीं है- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन** (निरा० ९)।

७७. **जड़-चेतन**— जगत् में हलचल और वृद्धि करने वाले प्राणियों, जीवों आदि को चेतन कहा गया है। निर्जीव तथा निश्चेष्ट पड़े रहने वाले पदार्थों को अचेतन या जड़ कहा गया है। पञ्च भौतिक तत्त्वों से बनी इस सृष्टि को जड़ जगत् कहते हैं। जड़ पदार्थ चेतना विहीन होते हैं। वह परम पुरुष-परमात्मा चेतन है, उसके अंश आत्मा या जीवात्मा भी चेतन हैं। चैतन्यता इसका गुण है। भोजनादि की चेष्टा करने वाले चेतन प्राणियों को 'साशन' और जड़ को 'अनशन' कहा गया है। इन्हें ही जङ्गम और स्थावर कहा जाता है। अचल तथा अपने स्थान पर स्थित रहने वाले पदार्थ स्थावर कहे जाते हैं। इसका विपरीतार्थक जङ्गम है। जड़-चेतन को ही अचर और चर कहा जाता है। जड़ या अचर पदार्थों का एक गुण जड़त्व है, जिसके कारण वे जहाँ के तहाँ पड़े रहते हैं, हिल-डुल नहीं पाते।

७८. **जरा**— मनुष्य के जन्म के बाद शैशव अवस्था और यौवन अवस्था प्राप्त होती है। यौवन बीतने पर जरा (जीर्णता-शिथिलता) आने लगती है। तत्पश्चात् अन्त में मृत्यु के रूप में शरीर समाप्त होता है- **देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा** (गी०२.१३)। गीता में भगवान् कहते हैं कि जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि ये जीव के चार दु:ख हैं, इनका तथा अपने दोषों का अनुदर्शन मनुष्य को करना चाहिए- **जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम्** (गी०१३.८)।

जब मनुष्य के बाल सफेद होने लगते हैं, तो उसे जराबोध होने लगता है, परन्तु पुण्य कर्मों (यज्ञादिकों) के परिणाम स्वरूप प्राप्त स्वर्गलोक में किञ्चित् मात्र भी भय नहीं है, वहाँ मृत्यु या जरा का भय नहीं रहता – **स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति** (कठ०१.१.१२)।

७९. **जाग्रत्,स्वप्न,सुषुप्ति**— व्यक्ति का जीवन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति- इन तीन अवस्थाओं में होता हुआ व्यतीत होता है। व्यक्ति का अधिकांश समय जाग्रत् अवस्था में विविधविध कार्यों को सम्पन्न करते हुए व्यतीत होता है। वह जब जागरूक स्थिति में ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान आदि), कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर आदि) से कार्य करता हुआ, सुख-दु:ख, कर्त्ता-भोक्ता की अनुभूति करता है, तो यही जाग्रत् अवस्था कहलाती है।

जाग्रत् अवस्था में कार्य करते हुए जब व्यक्ति थककर सो जाता है, उस स्थिति में बाह्य जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता; किन्तु अचेतन मन की सक्रियता से वह 'स्वप्न' लोक में विचरण करता है, तरह-तरह के स्वप्न देखता है- यह 'स्वप्नावस्था' है। स्वप्नावस्था में देखे गये दृश्य आदि की स्थिति जगने के बाद समाप्त हो जाती है। इस स्थिति में स्थूल शरीर सक्रिय नहीं होता; किन्तु सूक्ष्म शरीर सक्रिय रहता है, वही स्वप्नावस्था के भय-शोक-आनन्द आदि की अनुभूति करता है।

तीसरी अवस्था दोनों से भिन्न होती है। स्थूल शरीर की सक्रियता तो होती ही नहीं, सूक्ष्म शरीर भी सक्रिय नहीं होता-स्वप्न का अभाव होता है, उस स्थिति में प्रगाढ़ निद्रा रहती है, जिसमें स्वप्न आदि भी नहीं आते, परन्तु उठने के बाद तृप्ति की अनुभूति होती है, व्यक्ति की सहज अभिव्यक्ति होती है-आज खूब सोया, खूब आनन्द आया, कुछ भी ज्ञात न हुआ। कुछ न ज्ञात होने के बावजूद जो तृप्ति-आनन्द की अनुभूति होती है, यही 'सुषुप्ति' अवस्था है। इस समय कारण शरीर को आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की सक्रियता की स्थिति ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था है।

८०. **जातवेदा**—यह अग्नि का ही पर्याय है। कहीं-कहीं सूर्य के पर्याय में भी जातवेदा शब्द का प्रयोग हुआ है। अरणियों में जातवेदा अग्नि सन्निहित है- **अरण्योर्निहितो जातवेदाः** (कठो०२.१.८)। केनोपनिषद् में अग्निदेव को ही जातवेदा सम्बोधन प्रदान किया गया है-

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति (केन०३.३)।

८१. **जीवन्मुक्त**—भारतीय दर्शन जगत् में 'मोक्ष' को मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) माना गया है। वेदान्त दर्शन 'मोक्ष' को ज्ञान साध्य मानता है। ज्ञान (आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान) के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती- **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** । जीव द्वारा यथार्थरूप से अपने स्वरूप को जान लेना ही मोक्ष है। जब तक जीव माया-अविद्या की (आवरण-विक्षेप) शक्तियों से बँधकर अपने को संसारी समझता रहता है, तब तक इस भवसागर-संसार में इधर-उधर भटकता रहता है। जब श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा अपने आत्म स्वरूप-ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। ज्ञान के उदय और अज्ञान के विनाश का ही दूसरा नाम मोक्ष है।

वस्तुत: जीव (आत्मा) स्वभाव से ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप वाला होता है। मुक्ति की न उत्पत्ति होती है, न प्राप्ति। जब कोई सद्गुरु मिल जाता है और ज्ञान का उपदेश करता है, तो साधक का भ्रमात्मक अज्ञान दूर हो जाता है और विवेक-ज्ञान का उदय हो जाता है, यही मुक्ति की अवस्था है। वेदान्त ग्रन्थ में इसे **'ग्रैवेयकन्याय'** द्वारा समझाया गया है। गले में पड़ी सुवर्ण-जंजीर को भ्रमवश बाहर ढूँढ़-ढूँढ़कर परेशान हुए व्यक्ति को जब कोई बुद्धिमान् गले में होने का संकेत करता है, तो उसे ध्यान आता है और सुवर्ण-जंजीर पाकर बड़ा प्रसन्न होता है।

इस प्रकार 'मुक्ति' के आनन्द में डूबा हुआ साधक सांसारिक हर्ष-विषाद से ऊपर उठकर प्रसन्नतापूर्वक जीवन -यापन करता है, यही 'जीवन्मुक्त' की स्थिति है। दूसरों के देखने में वह सामान्य व्यक्तियों जैसा आचरण करता दिखता है; परन्तु वस्तुस्थिति उससे भिन्न होती है। वह कर्त्ता-भोक्ता के भाव से ऊपर उठ जाता है, उसके कर्म का पाप-पुण्य के रूप में कोई प्रतिफल नहीं होता, जो प्रारब्ध कर्म हैं, उन्हीं के अनुसार जीवनक्रम चलता रहता है। दग्ध बीज की तरह उनसे नये कर्म का अंकुरण नहीं होता। कुलाल चक्र (कुम्हार के चक्र) की तरह जीवन क्रम, पहले की गतिशीलता के क्रम में गतिशील रहता है। प्रारब्ध कर्मों के क्षीण हो जाने पर उसका हाड़-

मांस का शरीर अपने पंचतत्त्वों में विलीन हो जाता है और फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि पुनर्जन्म में जिस कर्म बीज की अनिवार्यता होती है, वह ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गया होता है।

इस प्रकार वह पूर्ण मुक्त होकर परब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है-यह अवस्था 'विदेह-मुक्त' कहलाती है। इस प्रकार मोक्ष (मुक्ति) के दो रूप होते हैं-१. जीवन-मुक्त तथा २. विदेह मुक्त।

८२. **ज्ञान,भक्ति और कर्मयोग**—गीता में प्रमुखत: योग को तीन भागों में विभक्त किया है- १. ज्ञानयोग, २. भक्तियोग और ३. कर्मयोग। इस व्यापक, प्रकाशक, प्रेरक परमात्मा को पा लेना ही योग है। ज्ञान, भक्ति और कर्म ये योग के विविध साधन हैं। परमात्मा को न्यायकारी और सर्वव्यापी अनुभव करना ज्ञानयोग है। परमात्मा के प्रति श्रद्धा-विश्वास तथा प्रेम-आत्मीयता के सूत्रों से जुड़ना भक्तियोग है। फलाकांक्षा को त्यागकर परमात्मा की प्रसन्नता के निमित्त प्रत्येक कर्म को करते रहना कर्मयोग है। कर्मयोग की महत्ता गीता में इस प्रकार दी गई है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों नि:श्रेयस प्रदान करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में कर्म-संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है- **संन्यास: कर्मयोगश्च नि:श्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥** (गी०५.२)

कुछ विद्वान् कर्म को बन्धन का कारण मानते हैं, परन्तु जो कर्म ज्ञानपूर्वक, भक्तिभाव पूर्वक तथा आसक्ति से रहित होकर किया जाता है, उसे बन्धन रूप नहीं माना गया है, वह तो मुक्ति का आधार स्वरूप है। श्रुति कहती है- **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ꣳ समा:। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।** (यजु०४०.२)

८३. **ज्ञान-विज्ञान**— मनुष्य में अनेक अपूर्णताएँ होती हैं, इन्द्रिय लिप्सा-लालसा, विषय-विकार आदि होते हैं, ज्ञान से विकारों, लालसाओं से निवृत्ति और पूर्णता की प्राप्ति होती है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। (**ऋते ज्ञानान्नमुक्ति:**)। गुरु के प्रति श्रद्धा भाव और सेवा से तथा स्वयं के अध्यवसाय से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु कोई नहीं है, यह गीता का निर्देश है- **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** (गी० ४.३८)। सांसारिक वस्तुओं से सम्पन्न होने वाले यज्ञ से ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकार से श्रेष्ठ है- **श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परंतप** (गी०४.३३)। ज्ञान की नौका द्वारा सारे पापों को पार किया जा सकता है- **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि** (गी०४.३६)। ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है- **ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा** (गी०४.३७)। तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष श्रद्धावान् होकर ज्ञान को प्राप्त करता है-**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्पर: संयतेन्द्रिय:। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** (गी० ४.३९)।

विज्ञान से तात्पर्य विशिष्ट ज्ञान से है। किसी विशिष्ट विषय के तत्त्वों या सिद्धान्तों का क्रमबद्ध संगृहीत ज्ञान, विज्ञान कहलाता है। विषय ग्रहण के कारण को विज्ञान कहा गया है -**गृह्णन्ति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते।** आज जिसे हम 'विज्ञान' के नाम से जानते हैं, वह हमें विविधि विषयों का क्रमबद्ध कार्य- कारणता से युक्त ज्ञान कराता है, इसलिए 'विज्ञान' कहा जाता है। तर्क, तथ्य, प्रमाण की कसौटी पर खरा उतरने वाला ज्ञान 'विज्ञान' है।

८४. **तद्वन**—वेदान्त दर्शन का यह शब्द 'ब्रह्म और उसके प्रति कर्त्तव्य भाव' को प्रकट करता है। केनोपनिषद् खण्ड चार के छठें मन्त्र में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। आचार्य शंकर ने इस शब्द का भाष्य करते हुए लिखा है- **तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वनं वननीयं संभजनीयम्।** अर्थात् वह 'ब्रह्म' निश्चय ही 'तद्वन' नाम वाला है। उसका वन-तद्वन, यह उस प्राणि-समूह का प्रत्यगात्मस्वरूप होने के कारण वन- वननीय- है, भजनीय है। वस्तुत: जहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसके पूर्व यह बतलाया गया है कि साधारण लोग जिस ब्रह्म की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है, इससे लोग यह न समझें कि ब्रह्म की उपासना हो ही नहीं सकती; इस कारण ऋषि इस स्थल पर यह दिखलाते हैं कि उस परमब्रह्म परमात्मा को 'वन' रूप में समझा जाए अर्थात् वह ब्रह्म ऐसा है कि जिसका सम्यक् रूप से अच्छी तरह से भजन (अनुभव) किया जा सकता है। परमशान्ति देने वाला अर्थात् वननीय वही है।

'वन' का एक अर्थ जल भी है। जो गर्मी को - ताप को शान्त करता है, हृदय को शान्ति देता है- वह जल है, रस है- **'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'** (गी०७.८) अर्थात् जल में जो रस है, वह मैं हूँ। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म को रस रूप कहा गया है- **रसो वै स:। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** (तैत्ति० २.७)। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि उसी (दिव्य) रस को -आनन्द को-'वन' अर्थात् प्राप्त होने योग्य वस्तु रूप में कहा गया है

८५. **तप**—विषयों से, राग से शरीर और मन को दृढ़ता पूर्वक मुक्तकर योग की स्थिति के लिए तैयार करना ही तप है। शरीर तथा मन की विविध विषयों में प्रयुक्त होने वाली शक्ति को संयमित करना और उनकी शक्ति को उद्दीप्त करना भी तप कहलाता है। तप के द्वारा मनुष्य असाधारण तेज सम्पन्न होता है। साधन की दृष्टि से तप को तीन प्रकार का माना गया है-१. शारीरिक, २. वाचिक, ३. मानसिक। महापुरुषों, देवगणों आदि की पूजा आराधना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा को शारीरिक तप माना गया है वेद पठन, सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलना वाचिक तप है। मनो निग्रह, वासनाओं का निरोध, मौन और भावशुद्धि को मानसिक तप कहा गया है।

फलाकांक्षा से रहित होकर श्रद्धापूर्वक किये गये ये तीनों तप सात्त्विक तप कहे गये हैं। भावों की दृष्टि से इस प्रकार भी तप के तीन भेद किये गये हैं- १. सात्त्विक, २. राजस और ३. तामस। तप से विद्या, योग, मन्त्र आदि की इष्ट सिद्धि मिलती है। उपनिषद् में तप और स्वाध्याय तथा उपदेश को मनुष्य के कर्त्तव्यों में अभिहित किया गया है- **तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च** (तैत्ति० १.९)। तप से ही ब्रह्म वृद्धि-विस्तार को प्राप्त होता है- **तपसा चीयते ब्रह्म** (मुण्ड० १.१.८)। तप से ही ब्रह्म को जानने की तीव्र इच्छा करें, तप ही ब्रह्म है- **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति** (तैत्ति०३.२)। तप के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने से 'मन' वश में आता है। मन वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा की प्राप्ति होने पर संसार से मुक्ति मिल जाती है-**तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः। मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तत इति** (मैत्रा० ४.३)। तप के प्रति एकनिष्ठ रहने वाले को तपोनिष्ठ तथा तप की विपुल पूँजी संचय करने वाले को तपोनिधि कहा गया है।

८६. **तुरीय-तुरीयातीत**— वेदान्त में प्राणियों की चार अवस्थाएँ वर्णित हैं- जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। तुरीय (चतुर्थ अवस्था) को मोक्ष की अवस्था भी कहा गया है। उक्त तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति- लय से परे रहने वाला जो नित्य साक्षी चैतन्य है- वह तुरीय चैतन्य है और यह अवस्था तुरीय है- **अवस्थात्रयभावाभावसाक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा-तदा तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते** (स० सा०४)। जाग्रत् अवस्था में वैश्वानर संज्ञक आत्मा नेत्र में रहता है, स्वप्नावस्था में तैजस आत्मा कण्ठ में रहता है, सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ संज्ञक आत्मा हृदय में रहता है और तुरीय (चतुर्थ- तीन अवस्थाओं से परे की) अवस्था का आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में रहता है-**नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्** (ना०प० ५.१)। तुरीय अवस्था को विजित करने वाले संन्यासियों की एक श्रेणी तुरीयातीत कहलाती है। उस जन्म-मरण, धर्म और मोक्ष की तुरीय अवस्था से परे उस विशुद्ध परमात्मा या परब्रह्म को भी तुरीयातीत कहा गया है।

उपनिषद् में सूर्य को भी तुरीय या दर्शत पद कहा गया है। जो (आदित्य) तपता है, जो चतुर्थ होता है, वही तुरीय या दर्शत पद है- **य (आदित्य) एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति** (बृह० ५.१४.३)। यह तुरीय दर्शत पद या परोरजा (सभी लोकों से परे) किसी के द्वारा प्राप्य नहीं है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कैसे कर सकता है- **एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात्** (बृह० ५.१४.६) यह निर्गुण ब्रह्म ही तुरीयातीत तत्त्व है, इसमें अवस्था-भेद नहीं है- **अवस्थाः न त्वेवं तुरीयातीतस्य निर्गुणस्य** (ना०प० ६.१)।

८७. **तैंतीस देवता**—निरुक्तकार यास्कमुनि के अनुसार देव शब्द की व्युत्पत्ति दान, दीपन, द्योतन आदि अर्थों में की गयी है। वास्तव में देव शब्द विश्व की प्रकाशक और कल्याणकारी शक्तियों का प्रतीक है। इन्हें तैंतीस कोटि (करोड़) या श्रेणियों का माना गया है। तैंतीस संख्यक देवों में अष्टवसु, एकादशरुद्र, द्वादश आदित्य, पृथ्वी और द्यौ को परिगणित किया गया है। इसकी पुष्टि शतपथ ब्राह्मण में होती है- **अष्टौ वसवः। एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमेऽएव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिꣳश्यौ त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः** (शत० ब्रा० ४.५.७.२)। निरुक्त (३.७.४) के अनुसार ये सब देवता एक ही अद्वय आत्मा के प्रत्यंगरूप हैं- **एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।**

८८. **तैजस**— यह वेदान्तदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। सृष्टि विकास क्रम में कारण रूप ईश्वर से उनकी इच्छानुसार सृष्टि सृजन के संकल्प के साथ ही सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसी क्रम में सूक्ष्म तन्मात्राएँ, पंचभूत, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चप्राणादिकों के प्रादुर्भाव का क्रम सम्पन्न होता है। पंचीकरण एवं त्रिवृत्करण सिद्धान्तों के आधार

पर सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयवों वाला है-पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण तथा मन और बुद्धि। दूसरे शब्दों में इसे विज्ञानमय कोश (पंचज्ञानेन्द्रियाँ तथा बुद्धि),मनोमय कोश (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन) तथा प्राणमय कोश (पंचकर्मेन्द्रियाँ तथा पंच प्राण) का समुच्चय कहा जा सकता है।

सूक्ष्म शरीर की दो स्थितियाँ होती हैं- एक समष्टिगत, दूसरी व्यष्टिगत। सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को 'हिरण्यगर्भ' तथा व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहा गया है। समष्टिभूत 'चैतन्य' हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त सूत्रात्मा प्राण, प्रजापति तथा ब्रह्मा आदि संज्ञाओं से भी अभिहित किया गया है। व्यष्टिभूत चैतन्य 'तैजस' है। दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि समष्टिभूत चैतन्य अपरिच्छिन्न (अनावृत-असीम) होता है और व्यष्टिभूत चैतन्य 'परिच्छिन्न' (आवृत-ससीम) होता है। यह सूक्ष्म देहाभिमानी 'तैजस' सूक्ष्मतर विषयों का ही आहार ग्रहण करने वाला होता है। यह स्थिति 'स्वप्नावस्था' में आती है। वेदान्त की मान्यतानुसार वन और वृक्ष की तरह हिरण्यगर्भ (वन) और तैजस (वृक्ष) में अभेद है।

८९. **त्रयताप-त्रिविध दु:ख**—'दर्शन' जगत् में यह शब्द अति प्रसिद्ध है। दर्शन का एक प्रयोजन तीनों तापों-तीनों दु:खों से मुक्ति दिलाना माना गया है। सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल ने मानव जीवन का परम पुरुषार्थ त्रिविध दु:खों का अत्यन्ताभाव माना है-**अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थ:** (सां० १.१)। सभी प्राणी जिन अनेकानेक दु:खों-कष्टों से विनिवृत्ति चाहते हैं, उन्हें तीन वर्गों में बाँटा गया है १. आध्यात्मिक २. आधिभौतिक ३. आधिदैविक। जो दु:ख शरीर मन से जुड़े होते हैं, उन्हें आध्यात्मिक दु:ख कहा जाता है, जैसे- रोग, शोक, लोभ- मोह, ईर्ष्या द्वेष, आदि। जो दु:ख अन्यान्य प्राणियों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं, उन्हें आधिभौतिक-दु:ख कहा जाता है, जैसे-सर्प-बिच्छू, सिंह आदि हिंस्र जन्तुओं तथा मनुष्यों के लड़ाई-झगड़े से उत्पन्न दु:ख। जो दु:ख दैवी आपदाओं के रूप में प्राप्त होते हैं, उन्हें आधिदैविक दु:ख कहा जाता है। जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, विद्युत्पात आदि। दर्शन का प्रयोजन मुख्यत: इन्हीं त्रय तापों से मुक्ति प्रदान करने का है। इसी उद्देश्य से इनके अध्ययन, चिन्तन, मनन, की आवश्यकता होती है। त्रयतापों की निवृत्ति के बाद ही परमानन्द प्राप्ति का पथ-प्रशस्त होता है।

९०. **त्रय-शरीर** —शास्त्रों में मनुष्य शरीर के तीन भेद किये गये हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। दृश्यमान अंग-अवयवों या पञ्चभूतों से निर्मित शरीर स्थूल शरीर कहलाता है। स्थूल का शब्दार्थ भौतिक, मूर्त, अन्न तथा भोग्य से लिया जाता है। सूक्ष्म से तात्पर्य अभौतिक, अमूर्त, अग्नि, भोक्ता तथा अदृश्य से लिया जाता है। पञ्च तन्मात्राओं, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्चकर्मेन्द्रियों, मन, बुद्धि-इन सत्रह के समूह को सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर कहते हैं। भावनाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं से सम्बद्ध आन्तरिक शरीर को कारण शरीर कहा जाता है। ऐसा भी वर्णन आता है कि स्थूल शरीर स्वयं से विराट् सूक्ष्म शरीर में तथा सूक्ष्म शरीर स्वयं से विराट् कारण शरीर में समाया हुआ है। इन तीनों शरीरों को प्रेरित करने वाला वह परम पुरुष अर्थात् आत्मा इनसे भिन्न है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोश, सूक्ष्म शरीर को प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश तथा कारण शरीर को आनन्दमय कोश से सम्बद्ध माना जाता है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ईश्वर है. उनके साथ सब अवस्थाओं में एक ही साक्षी (ब्रह्म) स्थित है- **स्थूल सूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञेश्वरै: सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते** (ना०प० ६.१)।

९१. **दक्षिणा** —यज्ञ करने वाले पुरोहितों को दिये गये दान को दक्षिणा कहते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर शिष्य अपने आचार्य को गुरु दक्षिणा देता था। गृह्यसूत्रों में इसका विधान वर्णित है। प्रत्येक धार्मिक या माङ्गलिक कार्य की समाप्ति पर पुरोहितों, ऋत्विजों को दक्षिणा देना आवश्यक समझा जाता था। इसके बिना शुभ कार्य का सुफल नहीं मिल पाता। श्रुति के अनुसार दक्षिणादाता स्वर्ग में उच्चस्थ पदों पर प्रतिष्ठित होते हैं- **उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये** (ऋ० १०.१०७.२)। छान्दोग्य० के अनुसार जो तप,दान,आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन हैं- ये आत्मयज्ञ की दक्षिणारूप हैं -**यत्तपो दानमार्जवमहिं सा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा:** (छान्दो०३.१७.४)। याज्ञवल्क्य और शाकल्य संवाद में वर्णित है कि यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? दक्षिणा में। दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित् है ? श्रद्धा में; क्योंकि पुरुष में जब श्रद्धा होती है, तभी दक्षिणा देता है- **कस्मिन्नु यज्ञ: प्रतिष्ठत इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठित इति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति** (बृह०३.९.२१)।

१२. दमन — इन्द्रियों को वश में रखना और चित्त को दुष्प्रवृत्तियों से बचाना-यह दमन कहलाता है। दबाने अथवा रोकने की क्रिया को भी दमन कहा गया है। उपनिषद् के अनुसार प्रजापति के अनुशासन की दैवी वाणी मेघगर्जना के सदृश गूँजती रहती है- द,द,द। देवों के लिए दमन करो, मनुष्यों के लिए दान करो, असुरों के लिए दया करो। अतः दम, दान और दया इन तीनों को सीखें-**तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत्त्रयःशिक्षेद् दमं दानं दयामिति** (बृह० ५.२.३)। उपनिषद् में शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के साथ दमन को भी कर्त्तव्य निरूपित किया गया है- **दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च** (तैत्ति० १.९.१)।

१३. दर्श-पूर्णमास — अमावस्या-पूर्णिमा के दिन यज्ञ आदि द्वारा देवों का विशिष्ट पूजन किया जाता है। शास्त्रों में इसका माहात्म्य मिलता है कि जो विद्वान् दर्शपूर्णमास (अमावस्या-पूर्णिमा) में यजन करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है- **य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते परमामेव काष्ठां गच्छति** (तैत्ति०सं० १.६.९.३)। इसकी तुलना देवयान मार्ग से की गई है। जो विद्वान् इसका पूजन करता है, वह देवयान मार्ग पर आरोहण करता है-
एष वै देवयानः पन्था यद् दर्शपूर्णमासौ य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते य एव देवयानः पन्थास्तः समारोहति (तैत्ति०सं०२.५.६.२)।

१४. दुःख-सुख — अप्रिय अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में जो मन में वेदना होती है, उसे दुःख कहा जाता है। इसके विपरीत अनुकूल परिस्थितियों में मन में उत्पन्न आह्लाद की अवस्था को सुख कहते हैं। इसके दो भेद माने गये हैं। स्वकीय और परकीय। सांख्य दर्शन में तीन प्रकार के दुःखों का वर्णन किया गया है-आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। इन्हें ही त्रयताप कहा गया है। इन्द्रियभोग ही दुःख-सुख के हेतु कहे गये हैं- **सुखदुःखबुद्ध्या श्रेयोऽन्तः कर्त्ता यदा तदा इष्टविषये बुद्धिः सुख बुद्धिरनिष्ट विषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सुखदुःखहेतवः** (स०सा०६)। इन्द्रियों के संयम में सुख तथा असंयम में दुःख भरा है। उपनिषदों में कहा गया है, जो अनित्य और नश्वर है, वह सब दुःख ही है, केवल नित्य और शाश्वत ही सुख स्वरूप है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान भाव से ग्रहण करना चाहिए- **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ** (गी० २.३८)। सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप बोध से जो आनन्द युक्त स्थिति होती है, उसे उपनिषद् में सुख कहा गया है और अनात्म रूप विषयों के सङ्कल्प की स्थिति को दुःख कहा गया है- **सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्। दुःखमिति अनात्मरूप विषय सङ्कल्प एव दुःखम्** (निरा० १५)।

१५. देवता—'देवता' शब्द देव का ही वाचक स्त्रीलिङ्ग है, हिन्दी में पुलिंग में प्रयुक्त होता है। तीन देवता प्रधान माने गये हैं- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार के नियामक देव हैं। मूलतः ३३ देवता माने गये हैं-१२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, द्यावा और पृथिवी। इन देवों को परिवार क्रम से तीन भागों में विभाजित किया गया- १. द्वादश आदित्य, २. एकादश रुद्र, ३. अष्टवसु। आगे देवमण्डल का विस्तार ३३ करोड़ भी माना गया है। इन्हें स्थानक्रम से तीन भागों में विभाजित किया गया है- द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और पृथ्वी स्थानीय। यास्क प्रणीत निरुक्त में देव शब्द की व्युत्पत्ति दान, दीपन अथवा द्योतन आदि अर्थों में की गयी है। देव शब्द जगत् की प्रकाशमान और कल्याणकारी शक्तियों का प्रतीक है। निरुक्त (७.१.४) के अनुसार सभी देवताओं की उत्पत्ति आत्मा से ही मानी गयी है- **एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति** अर्थात् एक आत्मा के ही सब देवता प्रत्यङ्ग रूप हैं। एक ही परम देव सभी प्राणियों में व्याप्त हैं, सभी प्राणियों के अन्तरात्मा रूप हैं -**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेता०६.११)।

१६. देवयान-पितृयान मार्ग— जीवात्मा के शरीर से उत्क्रमण के बाद परलोक गमन के दो मार्गों में से एक मार्ग, जिससे वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, वह देवयान मार्ग और जिससे वह चन्द्रमा को प्राप्त होता है, वह पितृयान मार्ग कहलाता है। अन्य मतानुसार वह मार्ग जिससे जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होता है, देवयान मार्ग और वह मार्ग जिससे जाकर जीवात्मा स्वर्गादि सुख भोगकर पुनः संसार में लौटता है, पितृयान मार्ग कहलाता है। देवयान का सम्बन्ध उत्तरायण से और पितृयान का सम्बन्ध दक्षिणायन से है, इसीलिए उत्तरायण में मरना मोक्षदायक समझा जाता है। देवयान मार्ग में जाने वाले सर्वप्रथम अर्चि को पाते हैं। अर्चि से अह्न, अह्न से शुक्ल पक्ष, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण

के षण्मास, उत्तरायण से संवत्सर, संवत्सर से आदित्य, आदित्य से विद्युत् को प्राप्त होते हैं। पितृयान मार्ग से जाने वाले मनुष्य इसी प्रकार धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के षण्मास, फिर पितृलोक और वहाँ से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। स्वर्ग सुख भोगने के अनन्तर किसी योनि में पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। उपनिषद् के अनुसार जो पितृयान मार्ग है, वही यह रयि है- **एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः** (प्र०१.९)। देवयान मार्ग सत्य से परिपूर्ण है, जिससे आप्तकाम ऋषिगण गमन करते हैं, जहाँ उस सत्यस्वरूप परमेश्वर का परमधाम है- **सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्थाविततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्** (मुण्ड०३.१.६)।

९७. **धर्म-अधर्म**—धर्म शब्द 'धृ' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- धारण करना। दर्शन शास्त्र के अनुसार जिससे जीवन में अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, वह धर्म है-**यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (वै०द०१.१.२)। मीमांसा दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि के अनुसार 'वेदों द्वारा निर्दिष्ट कर्म ही व्यक्ति का धर्म है'- (मी०द०१.१.२)। न्यायदर्शन में २४ गुणों मे से एक गुण धर्म भी वर्णित है। गीता में चारों वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न धर्म निर्धारित हैं। धर्म के चार वर्गीकरण इस प्रकार भी प्रतिपादित हैं- नित्य, नैमित्तिक, काम्य और आपद् धर्म। स्मृति ग्रन्थ में धर्म के दस अङ्गों का वर्णन मिलता है- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। उपनिषद् में धर्म का आचरण करने और उसमें प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया है- **धर्मं चर। धर्मान्न प्रमदितव्यम्** (तैत्ति०१.११.१)। गीता में कहा गया है कि धर्म का थोड़ा आचरण भी महान् भय से मुक्त कर देता है- **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** (गी०२.४०)। धर्म ही प्रजा को धारण करता है-**'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः'** (महा०कर्ण० ६९.५८)। इस प्रकार धर्म का जो प्रतिपादन हुआ, उससे विपरीत अधर्म है। व्यास जी ने संक्षेप में धर्म (पुण्य) और अधर्म (पाप) की परिभाषा बताते हुए लिखा है- **अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।** परोपकार ही धर्म है, परपीड़ा (दूसरों को कष्ट देना) अधर्म है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है-

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

९८. **धर्मसूत्र**— वेदाङ्ग में 'कल्प' के अन्तर्गत सूत्र ग्रन्थ चार प्रकार के हैं- श्रौत, गृह्य, धर्म और ऐन्द्रजालिक (रचना सम्बन्धी)। ये मनुष्य के व्यावहारिक तथा धार्मिक जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्व के हैं। धर्मसूत्र वे ग्रन्थ हैं, जिनमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों, मर्यादाओं तथा आचरण, व्यवहार आदि का निर्देश है। ये धर्मसूत्र प्रमुख रूप से पाँच हैं- १.आपस्तम्ब, २. हिरण्यकेशी, ३.बौधायन, ४. गौतम और ५. वसिष्ठ। इनमें अपराध आदि के दण्डों के विधान तथा प्रायश्चित्त भी वर्णित हैं।

९९. **धाता**— द्र० - विधाता।

१००. **धारणा**— चित्तवृत्तियों को चारों ओर से हटाकर किसी एक स्थान या विषय में लगाना धारणा है। मन के विचारों-संकल्पों को आत्मा में लय करते रहना और आत्मा या परमात्मा के चिन्तन में स्थित रहना धारणा कहलाता है। मन की वह स्थिति जिसमें ब्रह्म चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई भाव या विचार नहीं ठहरता, धारणा कहलाती है। इसमें मन में वासना नहीं रह जाती। उपनिषद् के अनुसार मन को संकल्पात्मक मानकर उसे आत्मा में लय करते हुए उसे परमात्म चिन्तन में धारण करना 'धारणा' की स्थिति है- **मनः संकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्। धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता** (अमृ०१६)। योगसूत्र के अनुसार चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है- **देशबन्धः चित्तस्य धारणा** (यो०द०३.१)। प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोषों को तथा धारणा के द्वारा पापों को जलाते हैं-**प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्। किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत्** (अमृ०८)।

१०१. **ध्यान**— चित्त को चारों ओर से हटाकर किसी एक विषय पर सतत स्थिर करना ध्यान कहलाता है। बाह्य इन्द्रियों के बिना केवल मन में किसी विषय या व्यक्ति को लाना या बिठाना भी ध्यान है। ध्यान में ध्याता अपने चित्त को ध्येय में स्थिर या एकाग्र करता रहता है। यही ध्यान जब चरमावस्था को पहुँचता है, तब समाधि कहलाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार चित्त का राग से विमुक्त होना ही ध्यान है- **रागोपहितिर्ध्यानम्** (सां०द०३.३०)। इसी तथ्य को उपनिषद् कहता है कि मन का विषयों से मुक्त होना ही ध्यान है- **ध्यानं निर्विषयं मनः** (मैत्रे०२.३)। गीता में कहा

गया है कि कितने ही पुरुष ध्यान के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण से अपने में ही परमात्मा को देखते हैं- **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना** (गी०१३.२४)। ज्ञान से ध्यान की महत्ता अधिक मानी जाती है- **श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते** (गी० १२.१२)।

१०२. ध्रुव— ध्रुव शब्द के पर्याय इस प्रकार हैं- स्थिर, अचल, निश्चित, अटल, नित्य, शाश्वत। अनश्वर पदार्थों के लिए ध्रुव शब्द प्रयुक्त होता है। कहीं-कहीं परमात्मा के पर्याय रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। स्थिरता का प्रतीक होने के कारण हिन्दू विवाह के अवसर पर दाम्पत्य जीवन की स्थिरता के लिए वधू को ध्रुव (तारे) का दर्शन कराया जाता है। कठोपनिषद् का प्रतिपादन है कि कर्मफल रूपनिधि अनित्य है, क्योंकि अनित्य पदार्थों से ध्रुव (नित्य-परमात्मा) तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती- **जानाम्यह ँ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्** (कठ०१.२.१०)। ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार जो स्थिर है, जो प्रतिष्ठित (आकाश में) है, वही ध्रुव है- **यद्वै स्थिरं यत्प्रतिष्ठितं तद् ध्रुवम्** (शत०ब्रा०८.२.१.४)।

१०३. नाचिकेताग्नि— कठोपनिषद् की यम-नचिकेता की कथा विख्यात है। उस कथा में 'नचिकेता' ने यमराज से द्वितीय वर के रूप में उस अग्निविद्या को माँगा है, जो समस्त दुःखों को दूर करके स्वर्ग (परमसुख) प्रदान करने वाली है- **स त्वमग्निः स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वः श्रद्दधानाय मह्यम्**- हे मृत्यो! आप स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को जानते हैं, सो मुझ श्रद्धालु के प्रति उसका वर्णन कीजिए (कठ०१.१.१३)।

यमराज ने विस्तारपूर्वक अग्निविद्या का रहस्य नचिकेता को बताया, तदुपरान्त नचिकेता ने यमराज द्वारा बताई गई अग्निविद्या को-उसकी इष्टिकाओं, उसके चयन की प्रक्रिया आदि को- यथावत् सुना दिया। उससे प्रसन्न होकर यमराज ने उस अग्निविद्या का नामकरण नचिकेता के नाम पर ही कर दिया-**तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भवतायमग्निः** ....(कठ० १.१.१६)। इस प्रकार वह अग्निविद्या 'नाचिकेताग्नि' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। यमराज ने इस नाचिकेताग्नि के चयन की फलश्रुति बताते हुए आगे कहा- **त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाः शान्तिमत्यन्तमेति** (कठ० १.१.१७)। अर्थात्- त्रिणाचिकेत अग्नि (तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाला अथवा ज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला) का तीन बार चयन करने वाला मनुष्य (माता-पिता और आचार्य-इन) तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त करके जन्म और मृत्यु को पार कर लेता है तथा ब्रह्म से उत्पन्न हुए ज्ञानवान् और स्तुति योग्य देवों को जानकर-साक्षात्कार करके परमशान्ति प्राप्त करता है।

१०४. नाद— नाद का सामान्य अर्थ है- शब्द या ध्वनि। संगीत शास्त्र के अनुसार आकाशस्थ अग्नि और मरुत् (वायु) के संयोग से नाद उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण जगत् नाद से भरा हुआ है। इसे 'नाद ब्रह्म' कहा गया है। नाद दो प्रकार का माना गया है- आहत और अनाहत। योगी योग साधना से ब्रह्म में अनवरत गुञ्जायमान अनाहत नाद का श्रवण करते और उसकी मस्ती में लीन रहते हैं। प्राणाग्नि के आघात से शरीर के अन्दर ध्यान स्थिर करने पर एक नाद सुनाई देता है। इसमें विविध ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। अभ्यास के प्रारम्भ में नाद बहुत जोर से और नानाविध सुनाई पड़ता है। अभ्यास के बढ़ जाने पर वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप में सुनायी पड़ता है- **श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्। वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः** (ना०बि० ३३)। जिस प्रकार पुष्परस का पान करता हुआ भ्रमर पुष्पगन्ध की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार नाद में सदा आसक्त रहने वाला चित्त विषयों की आकांक्षा नहीं करता **मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा। नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति** (ना०बि० ४२)। नाद मनरूपी मृग के बाँधने में जाल का कार्य करता है तथा मनरूपी तरङ्ग को रोकने में तट का काम करता है-**नियामन समर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः। नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते** (ना० बि०४५)।

१०५. नारायण— अनंत सृष्टि की स्थिति, स्थापक तथा पोषण कर्त्ता के रूप में नारायण भगवान् का स्मरण किया जाता है। पुरुष सूक्त में उसी विराट् नारायण पुरुष की महिमा का प्रतिपादन है। मुद्गलोपनिषद् में भी उनकी महिमा अभिव्यक्त हुई है। नारायण पुरुष तीनों कालों में अवस्थित रहते हैं। वे सभी महिमावानों से श्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे इन सब प्राणियों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाले हैं- **पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चासीत्। स च सर्वस्मान् महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान्** (मुद्ग० २.३)।

नारायण से ही समष्टिगत प्राण उत्पन्न हुआ है, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भी उन्हीं से प्रकट हुईं । आकाश, वायु, तेज, जल तथा सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति भी उन्हीं से हुई । ब्रह्मा और रुद्र भी नारायण से ही उत्पन्न होते हैं- **नारायणात्प्राणो जायते। मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। नारायणाद्ब्रह्मा जायते। नारायणाद्रुद्रो जायते** (नारा० १)। नारायण देव ही एकमात्र निष्कलङ्क, निरञ्जन, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय एवं विशुद्ध हैं, उनके सिवा दूसरा कोई नहीं है- **निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्** (नारा०२)। महोपनिषद् में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि आदि में एकमात्र नारायण ही थे, न ब्रह्मा, न रुद्र-**एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो** (महो०१.१)। आदि पुरुष भगवान् नारायण के नामोच्चारण मात्र से मनुष्य कलि के सब दोषों का नाश करता है- **भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवतीति** (कलिसं० १)।

१०६. निःश्रेयस —द्र०- अभ्युदय।

१०७. निःस्पृह—स्पृहा का तात्पर्य है - इच्छा, कामना, लालसा, अभिलाषा। जो कोई भी लौकिक इच्छा, कामना न रखता हो, उसे निःस्पृह कहते हैं। निःस्पृह व्यक्ति ही एकमात्र आध्यात्मिक उत्कर्ष की महत्त्वाकांक्षा को रखते और महिमावान् बनते हैं। ऐसे महामना अपने कर्त्तव्य पथ पर अविचल खड़े रहते हैं और प्रतिष्ठा एवं देव कृपा के सुयोग को पाते हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि रजोगुण के बढ़ने पर लोभ प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा (विषय भोगों की इच्छा)- ये सब बढ़ते हैं- **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ** (गी० १४.१२)। बन्धु-बान्धवों आदि को बढ़ाने की स्पृहा से दीनता के दोष की वृद्धि होती है- **दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा** (महो० ३.३६)। सब कामनाओं से निःस्पृह चित्त ही युक्त (नियंत्रित) कहा जाता है- **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा** (गी० ६.१८)।

१०८ ध्रुवा— कोश ग्रन्थों में ध्रुवा-नित्या का पर्याय पार्वती, मनसा देवी, एक शक्ति बताया गया है। नित्या का एक अर्थ ध्रुवा अर्थात् स्थिर है। ब्राह्मणग्रन्थों में पृथ्वी, आत्मा आदि को ध्रुवा कहकर उपन्यस्त किया गया है- **पृथिवी ध्रुवा** (तै० ब्रा० ३.३.९.२), **आत्मा ध्रुवा** (तै०ब्रा० ३.३.९.५)। ब्रह्माण्ड पुराण (४.१९.५९) में अविनाशी देवियों के एक समूह को नित्या कहा गया है। उपनिषद् में वर्णित है कि आहारशुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल (स्थिर) स्मृति प्राप्त होती है- **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः** (छान्दो० ७.२६.२)।

१०९. निर्गुण-सगुण— परब्रह्म के दो रूप माने गये हैं। निर्गुण और सगुण। उसके सगुण रूप से दृश्य जगत् की उत्पत्ति हुई है। अनन्त सृष्टि की रचना करने वाला वह परमेश्वर वास्तव में अनन्त और निर्गुण ही है। निर्गुण का तात्पर्य है- गुण रहित। परमात्मा की बनायी सृष्टि सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से युक्त है, लेकिन परमात्मा स्वयं इन तीनों गुणों से परे होने से निर्गुण कहा जाता है। निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त और केवल ज्ञान गम्य है। सगुण व्यक्त तथा गुणों से संयुक्त है। गीता के कथनानुसार निर्गुण की उपासना क्लिष्ट है और सगुणोपासना सरल है। आदि शंकराचार्य ने ब्रह्म को निराकार, निर्गुण, समस्त भेदों से रहित, सर्वोपाधि विनिर्मुक्त और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला स्वीकार किया है। उपनिषद् में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उस ब्रह्म को शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से रहित नित्य तथा अविनाशी स्वरूप वाला वर्णित किया गया है-**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्** (कठ० १.३.१५)। ब्रह्म के निराकार, निर्गुण स्वरूप को मुण्डकोपनिषद् में उपन्यस्त किया गया है। वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण तथा चक्षुः, श्रोत्र और हाथ-पैरों से रहित है-**यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्** (मुण्ड०१.१.६)। ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप अनिर्वचनीय है, अतः उपनिषदों में उसका निरूपण करते हुए **'नेति-नेति'** (बृह० २.३.६) कहा गया है। सगुण ब्रह्म को माया की उपाधि से युक्त माना गया है। सगुण उपासना में अवतारों की प्रधानता है। ईश्वर ही जब मायोपहित देह के द्वारा आविर्भूत होते हैं, तो उसे अवतार कहते हैं। यह दृश्यमान जगत् भी सगुण ब्रह्म का रूप माना जाता है।

११०. निर्विकल्पक — द्र०-समाधि।

१११. निष्काम कर्म — शास्त्रों में निष्काम कर्म की महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित हुई है। निष्काम कर्म का तात्पर्य

है- कामना रहित कर्म। श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्म का आदेश है। इसमें फल की इच्छा के बिना कर्म किया जाता है। अपने कर्म को अपने उपास्य के चरणों में अर्पित कर दिया जाता है। निष्काम कर्म करने वाले के हृदय में परमात्मा प्रवेश करता है तथा उसे भक्ति एवं मोक्ष प्रदान करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा होता है, पुरुष के ऊपर कर्म का आरोप मिथ्या है। जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता। मनुस्मृति के अनुसार संसार में कहीं भी कामना के बिना कोई क्रिया नहीं दिखाई देती। मनुष्य कामनाओं की प्रेरणा से ही कर्म करता है (मनु०स्मृ०२.४); परन्तु कामनाओं के पथ पर भटकते मनुष्य भगवत्प्राप्ति जैसे दिव्य उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर पाते, उसके लिए तो निष्काम कर्म ही प्रतिपादित किया गया है।

११२. पञ्चकोश— वेदान्त में मनुष्य शरीर के पाँच कोशों का वर्णन किया गया है- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश। स्थूल शरीर में अन्नमय कोश, सूक्ष्म शरीर में प्राणमय कोश, मनोमय एवं विज्ञानमय तथा कारण शरीर में आनन्दमयकोश अवस्थित है। मन के साथ पंच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से मनोमय कोश तथा बुद्धि के साथ पंच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से विज्ञानमय कोश बनता है। पाँच प्राणों तथा कर्मेन्द्रियों के मेल से प्राणमयकोश बनता है। प्राणमय कोश क्रियाशक्ति से सम्पन्न तथा कर्मरूप है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से सम्पन्न और कारण रूप है। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से सम्पन्न और कर्त्तृरूप है। आनन्दमयकोश में मनुष्य समाधि का अभ्यास करके अपने मूल स्वरूप में आ जाता है। सर्वसारोपनिषद् के अनुसार अन्न से बनने वाले कोशों के समूहरूपी शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। प्राण आदि चौदह प्रकार की वायु इस अन्नमय कोश में संचार करते हैं, तब उसे प्राणमय कोश कहते हैं। इन दो कोशों के भीतर मन आदि चौदह इन्द्रियों द्वारा जब आत्मा शब्दादि विषयों का विचार करता है, तब उसे मनोमय कोश कहते हैं। आत्मा इन तीनों कोशों के साथ संयुक्त होकर बुद्धि द्वारा जो कुछ जानता है, उसका बुद्धियुक्त स्वरूप विज्ञानमय कोश है। इन चारों कोशों के साथ आत्मा बरगद के बीज के वृक्ष की भाँति अपने कारण स्वरूप अज्ञान में रहता है, उसे आनन्दमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश को विकसित करने के उपाय १. उपवास, २. आसन, ३. तत्त्व शुद्धि और ४. तपश्चर्या मुख्य हैं। प्राणमय कोश के लिए १. बन्ध, २.मुद्रा तथा ३. प्राणायाम किया जाता है। मनोमय कोश की साधना हेतु १. ध्यान, २. त्राटक, ३. जप और ४. तन्मात्रा की साधना करते हैं। विज्ञानमय कोश की पुष्टि के लिए १. सोऽहम् साधना २. आत्मानुभूति, ३. स्वर-संयम और ४. ग्रन्थि भेदन करते हैं। आनन्दमय कोश के विकास के लिए १. सहज समाधि, २. नाद साधना, ३. बिन्दु साधना तथा ४. किरण या कला साधना का प्रयोग करते हैं।

११३. पञ्चप्राण— द्र० - प्राण।

११४. पञ्चविध मुक्ति— जीवात्मा जब इष्ट देव या ब्रह्म के लोक, रूप, योग, निकटता या एकत्व को प्राप्त करता है, तो यह मुक्ति की अवस्था कही जाती है। यह मुक्ति पञ्चविध मान्य है- सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य और कैवल्य। मुक्त जीव जब इष्टदेव के साथ एक लोक में वास करता है, इसे सालोक्य मुक्ति कहा गया है। उपासक जब अपने उपास्य के रूप में रहते हुए उसी के रूप को प्राप्त कर लेता है, इस समान रूप होने के भाव या सरूपता को सारूप्य मुक्ति कहते हैं। मुक्त जीव जब भगवान् के पास वास करता है, तो उस मुक्ति को सामीप्य कहा गया है और जिसमें जीव परमात्मा में लीन हो जाता है या योग को प्राप्त करता है, तो यह मुक्ति सायुज्य कही जाती है। अविद्या, त्रिविध दु:खों तथा अहंकार आदि से निवृत्ति की विशुद्ध स्थिति को कैवल्य मुक्ति कहा गया है। मुक्तिकोपनिषद् में भगवान् श्रीराम का कथन है कि दुराचार में लगा हुआ व्यक्ति भी मेरा नाम स्मरण करने से सालोक्य मुक्ति को प्राप्त होता है, वहाँ से वह अन्य लोकों में नहीं जाता- **दुराचाररतो वापि मन्नामभजनात्कपे। सालोक्य मुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्** (मुक्ति० १.१८-१९)। पाप समूह के नष्ट होने पर वह मेरे सारूप्य-समान रूप को प्राप्त होता है-**निर्धूताशेषपापौघो मत्सारूप्यं भजत्ययम्** (मुक्ति० १.२१)। जो द्विज सदाचार में रत रहकर नित्य अनन्य भाव से मेरा ध्यान करता है और सर्वात्म भाव से मेरा भजन करता है, वह मेरे सामीप्य को प्राप्त होता है- **सदाचाररतो भूत्वा द्विजो नित्यमनन्य धीः। मयि सर्वात्मके भावो मत्सामीप्यं भजत्ययम्** (मुक्ति०१.२२-२३)। वह द्विज जब भ्रमरकीट के समान सम्यक् रूप से मेरे सायुज्य को प्राप्त होता है, तब वह कल्याणकारी और ब्रह्मानंद को प्रदान करने वाली सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होता है- **मत्सायुज्यं द्विजः सम्यग्भजेद्भ्रमरकीटवत्। सैव सायुज्यमुक्तिः**

स्याद् ब्रह्मानन्दकरी शिवा। (मुक्ति० १.२४-२५)। कैवल्य मुक्ति पारमार्थिक रूप वाली है- **कैवल्य मुक्तिरेकैव पारमार्थिकरूपिणी** (मुक्ति० १.१८)।

११५. पञ्चाग्नि— अन्वाहार्यपचन, गार्हपत्य, आहवनीय, आवसथ्य और सभ्य संज्ञक ये अग्नियाँ पञ्चाग्नि कहलाती हैं। इनसे सम्बन्धित तत्त्वज्ञान को पञ्चाग्नि विद्या कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सूर्य, बादल, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री संबन्धी तात्त्विक ज्ञान पञ्चाग्नि विद्या है। वायु पुराण (१०६.४१-४२) के अनुसार दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य-ये पाँच अग्नियाँ हैं। मत्स्य पुराण (३५.१६) के अनुसार महाराजा ययाति ने पंच अग्नियों के बीच एक वर्ष तक तपस्या की थी। कठोपनिषद् (१.३.१) में पञ्चाग्नि सम्पन्न पुरुषों को 'पञ्चाग्नयः' कहकर सम्बोधित किया गया है। वह प्रसिद्ध तत्पुरुष वायुमंडल से संवृत, पञ्च अग्नियों से वेष्टित तथा मन्त्रशक्ति का नियामक है- **पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम्** (पं० ब्र० १०)।

११६. परब्रह्म —द्र०-ब्रह्म।

११७. परमगति— जब साधक आत्म तत्त्व या आत्मा में अवस्थित परमात्म तत्त्व की अनुभूति कर उसी में स्थिर हो जाता है, तो साधक की वह अवस्था परम गति कहलाती है। इसे मोक्ष या मुक्ति की अवस्था भी कहते हैं। कठोपनिषद् के अनुसार जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परमगति कहते हैं- **यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्** (कठ० २.३.१०)।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है- **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्** (गी० ८.१३)।

११८. परमपद— परम पद का शाब्दिक अर्थ है- सबसे श्रेष्ठ पद या सर्वोत्कृष्ट स्थान। इसे मोक्ष या मुक्ति के अर्थ में भी लिया जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व (४७.३७) में श्री कृष्ण भगवान् को ही 'परमपद' कहकर निरूपित किया गया है। परब्रह्म का निवास जहाँ माना गया , उसे 'परमपद' कहा गया है। मनुष्यों के अन्दर हृदयाकाश में परमात्मा का निवास है, अतः वह भी परमपद है- **लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे** (कठ० १.३.१)। परम पद वह पद है, जहाँ से जीवात्मा पुनः लौटकर जन्म नहीं लेता। विवेकशील संयत मन वाला पवित्र साधक ही उस पद को प्राप्त करता है- **यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते** (कठ० १.३.८)। गीता में भगवान् उपदेश करते हैं कि जिसे वेदविद् अक्षर कहते हैं, जिसमें रागमुक्त यति प्रवेश करते हैं, जिसको चाहने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, मैं उस परमपद का वर्णन करूँगा-**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये** (गी० ८.११)।

निरालम्ब उपनिषद् के अनुसार प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से भिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप और नित्य मुक्त ब्रह्म का स्थान 'परमपद' कहलाता है- **प्राणेन्द्रियाद्यन्तः करणगुणादेः परतरं सच्चिदानन्दमयं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम्** (निरा० ३६)।

११९. परमात्मा—वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। वह नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य संकल्प वाला है। वह सम्पूर्ण सृष्टि को चलाने वाला परमात्मा एक है, जबकि जीवात्मा अगणित हैं। सर्वोपरि या विशुद्ध आत्माओं के समूह को परमात्मा स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन के अनुसार जो सबका द्रष्टा, भोक्ता, सबको जानने वाला और सबके सुख-दुःख विषयादि का अनुभव करने वाला है, वह परमात्मा है- **सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी परमात्मा।**

महाभारत में वर्णन मिलता है कि जब आत्मा प्रकृति (शरीर) में बद्ध रहता है, तब उसे जीवात्मा कहते हैं और वही प्राकृत गुणों या शारीरिक गुणों से मुक्त होने पर परमात्मा कहलाता है- **आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः** (महा०)। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, उत्तम पुरुष तो अन्य है, जो परमात्मा कहलाता है, वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में संव्याप्त होकर (लोकों का) भरण-पोषण करता है- **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः** (गी०१५.१७)।

वह श्रेष्ठ पुरुष इस शरीर में उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी है- **उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः** (गी०१३.२२)।

१२०. परा-अपरा विद्या— परा का सामान्य अर्थ है- जो सबसे परे हो या श्रेष्ठ, उत्तम। परा विद्या- वह विद्या है जो अव्यक्त अगोचर का ज्ञान कराती है। उपनिषद् विद्या को भी परा विद्या कहा गया है। ब्रह्मवेत्ता कहते आये हैं कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं- परा विद्या और अपरा विद्या-**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च** (मुण्ड० १.१.४)। ऋक्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प आदि अपरा विद्या है और अविनाशी ब्रह्म से सम्बन्धित विद्या परा विद्या है- **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः ... परा यया तदक्षरमधिगम्यते** (मुण्ड० १.१.५)।

१२१. परिभू —द्र०- **स्वयम्भू।**

१२२. परिव्रज्या-परिव्राजक— धर्म प्रचार, विद्या विस्तार तथा जन-जागरण के विराट् उद्देश्य से परिभ्रमण करना परिव्रज्या कहलाता है। परिव्रज्या करने वाला वानप्रस्थी या संन्यासी या त्यागी पुरुष परिव्राजक या परिव्राट् कहलाता है। यह अपना समय ध्यान, चिन्तन, तप-तितिक्षा एवं लोक कल्याण में ही लगाता है। सादा जीवन और उच्च विचार इनका प्रमुख सिद्धांत रहा है। नारद को सब परिव्राजकों में श्रेष्ठ माना गया है, जो सब लोकों में भ्रमण करते थे- **अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचारं कुर्वन्** (ना०प० १.१)। परिव्रज्या का एक अर्थ संन्यास भी लिया जाता है। उपनिषद् में निर्देश है कि ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थी होना चाहिए; गृहस्थी होकर वानप्रस्थी होना चाहिए। वानप्रस्थी होकर परिव्राजक (संन्यासी) होना चाहिए; परन्तु अन्य प्रकार से (वैराग्य होने पर) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ किसी से भी परिव्राजक होना चाहिए- **ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा** (जाबा०४.१)। परिव्राजक चार प्रकार के होते हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस-**परिव्राजका अपि चतुर्विधा भवन्ति-कुटीचका बहूदका हंसाः परमहंसाश्चेति** (आश्र०४)।

१२३. पर्जन्य— सामान्यतया पर्जन्य का अर्थ मेघ, बादल या वर्षा से लिया जाता है। कहीं-कहीं इन्द्रदेव, सूर्यदेव या विष्णुदेव के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। पर्जन्य देव को वैदिक देवताओं में परिगणित किया गया है। ये एक अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं। पर्जन्य वर्षण की सभी लोग कामना करते हैं- **निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु** (तै०सं०७.५.१८.१)। पर्जन्य को अग्नि भी कहा गया है- **पर्जन्यो वा अग्निः** (शत०ब्रा०१४.९.१.१३)। प्रजापति ही पर्जन्य होकर प्रजाओं के पिता (पोषक) बने- **पर्जन्यो भूत्वा (प्रजापतिः) प्रजानां जनित्रमभवत्** (जै०ब्रा०१.३१४)।

१२४. पवमान— पवमान शब्द 'पवित्रकारक' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सोम 'पवित्रकारक' होने से 'पवमान' विशेषण से प्रायः निरूपित किया गया है। स्तोत्रादि का भी विशिष्ट अंश 'पवमान स्तोत्र' कहलाता है। प्रवाहित होने या प्रवहमान अर्थ में भी यह प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि प्रवहमान वायु को भी पवमान कहा गया है- **अयं वाव यः (वायुः) पवते स पवमानः** (काठ० सं०२२.१०), **अयं वायुः पवमानः** (शत०ब्रा०२.५.१.५)। अग्नि, वायु, आदित्य, सोम, प्राण और यज्ञ ये सब पवित्रकारक होने से पवमान कहे गये हैं- **त्रयो ह वा एते समुद्रायत् पवमानाः अग्निर्वायुरसावादित्यः** (जैमि०ब्रा०१.२७४), **सोमो वै पवमानः** (शत०ब्रा०२.२.३.२२), **प्राणो वै पवमानः** (शत०ब्रा०२.२.१.६), **पवमानो वाव यज्ञः** (जै०ब्रा०१.११९)।

१२५. पाप-पुण्य— किसी कर्म में अनिष्ट साधनों या भावनाओं का प्रयोग करना पाप कहलाता है। दूसरे शब्दों में बुरा या अशुभ कृत्य, जिससे मनुष्य बुरी गति को प्राप्त होता है, पाप कहलाता है। इसका विपर्याय पुण्य है। झूठ, पाप, तमस् और उन्माद- ये जीव को अमृत से दूर मृत्यु की ओर ले जाते हैं- पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति और पाप से नरक की प्राप्ति की मान्यता है। उपनिषद् के अनुसार सत्पुरुषों का संसर्ग स्वर्ग (पुण्यदायी) और असत् सांसारिक विषयों एवं संसारी जनों का संसर्ग ही नरक (पापदायी) है- **स्वर्ग इति च सत्संसर्गः स्वर्गः। नरक इति च असत्संसारविषयजनसंसर्ग एव नरकः** (निरा०१६-१७)। सतोगुणी कर्मों से पुण्य तथा तमोगुणी कर्मों से पाप की प्राप्ति होती है अथवा धर्म से पुण्य तथा अधर्म से पाप की प्राप्ति होती है। पाप-पुण्य की सरल परिभाषा निम्नांकित श्लोक में है, जिसमें कहा गया है कि परोपकार करना, दूसरों की भलाई करना, पुण्य है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाना-दुःखी करना पाप है- **अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥**

१२६. पितर— द्र०-पूर्वज।

१२७. पुत्रैषणा—द्र०- एषणा त्रय।

१२८. पुनर्जन्म— मृत्यु के बाद पुन: शरीर धारण करने को पुनर्जन्म कहा जाता है। गीता में कहा गया है कि जन्मने वाले की मृत्यु सुनिश्चित है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है- **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गी०२.२७)। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही देहधारी (आत्मा) पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को पाता है- **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही** (गी०२.२२)। कर्मफल एवं आसक्ति के अनुसार जीवात्मा को विविध योनियों में बार-बार जन्म-मरण चक्र में फँसना पड़ता है। विविध लोकों में कर्मफल को भोगकर फिर उसे इसी लोक में पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। गीता में भगवान् ने कहा है-हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक सारे लोक पुनरावृत्ति वाले हैं, परंतु मुझको पाकर पुनर्जन्म नहीं होता- **आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते** (गी०८.१६)।

१२९. पुराण— पुराण शब्द का सामान्य अर्थ है- पुरातन या प्राचीन। पुराणकालीन महात्माओं, राजाओं, देवों, पुरुषों के वृत्तान्त जो परम्परागत रूप में चले आते हों; उन्हें भी पुराण कहते हैं। पुराण अट्ठारह हैं। पुराणों के नामों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है- **मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक्** (दे०भा०१.३.२)। अर्थात् मद्वय (मत्स्य, मार्कण्डेय), भद्वय (भागवत, भविष्य), ब्रत्रय (ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड), वचतुष्टय (वाराह, विष्णु, वामन, वायु), अनापलिंगकूस्क (अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म और स्कन्द) अट्ठारह पुराण कहे गये हैं। अट्ठारह उपपुराण भी प्रसिद्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं - सनत्कुमार, नृसिंह, बृहन्नारदीय, शिव, दुर्वासा, कापिल, मानव, औशनस, वारुण, कालिका, साम्ब, नन्दिकेश्वर, सौर, पाराशर, आदित्य, ब्रह्माण्ड, माहेश्वर, देवीभागवत। पुराणों के पाँच लक्षण माने गये हैं- **सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्** (ब्र० वै० पु० श्री कृष्ण जन्म० ४.१.३.७)। शिवपुराण के रेवा माहात्म्य में वर्णन है कि अट्ठारह पुराणों के वक्ता सत्यवती व्यासदेव हैं । पुराण और स्मृति ग्रन्थ दोनों ही अठारह प्रसिद्ध हैं- **वायुपुत्र महाबाहो किं तत्त्वं ब्रह्मवादिनाम्। पुराणेष्वष्टादशसु स्मृतिष्वष्टादशस्वपि** (रा०र० १.२)। परमात्मा को सबसे प्राचीन होने के कारण पुराण पुरुष कहा गया है, वह सबकी हृदय गुहा में संव्याप्त होकर छिपा हुआ है- **तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्** (कठ० १.२.१२)।

१३०. पुरुष-परम पुरुष— 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति '**पुरि शेते इति**' (पुर अर्थात् शरीर में शयन करता है) की गयी है। इस अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति पुरुष है, वह चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष। वह दिव्य पुरुष-परम पुरुष प्राणियों की देह के मध्य भाग में अवस्थित रहता है। वह अङ्गुष्ठमात्र परिमाण का पुरुष धूम्ररहित ज्योतिरूप में स्थित रहता है- **अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक:** (कठ०२.१.१२-१३)। अव्यक्त शक्ति (प्रकृति) से श्रेष्ठ वह परम पुरुष अत्यन्त व्यापक और आकाररहित है, जिसे जानकर जीव बन्धनमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त करता है- **अव्यक्तात्तु पर: पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति** (कठ०२.३.८)। वही परम पुरुष तीन रूपों में प्रकट हुआ-आत्मा, अन्तरात्मा (जीवात्मा) और परमात्मा कहलाता है- **त्रिविध: पुरुषोऽजायता ऽऽत्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति** (आत्मो०१)। वह विराट् स्वरूप आदित्य के सदृश प्रकाशस्वरूप है- **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस: परस्तात्** (श्वेता०३.८)। वह पुरुष सोलह कलाओं से युक्त है- **षोडशकल: सोम्य पुरुष:** (छान्दो०६.७.१)। वह दिव्य पुरुष यज्ञरूप है, संकल्परूप है- **पुरुषो वाव यज्ञ:** (छान्दो०३.१६.१), **अथ खलु क्रतुमय: पुरुष:** (छान्दो०३.१४.१)। वह पुरुष अविनाशी और अमृतस्वरूप आत्मारूप है- **यत्रामृत: स पुरुषो ह्यव्ययात्मा** (मुण्ड०१.२.११)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०.९०) में आदि पुरुष की कल्पना विराट् पुरुष अथवा विश्वपुरुष के रूप में की गयी है।

१३१. पुरुषसूक्त— ऋग्वेद के दसवें मण्डल के नब्बेवें सूक्त को अथवा यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय के १६ मन्त्रों के समूह को जिसका प्रारम्भ '**सहस्रशीर्षा**' से होता है, पुरुष सूक्त कहते हैं। इसमें विराट् नारायण पुरुष की स्तुति की

गयी है। मुद्गलोपनिषद् के प्रथम खण्ड में पुरुषसूक्त द्वारा प्रतिपादित अर्थ निर्णय का विवेचन किया गया है- **पुरुषसूक्तार्थ निर्णयं व्याख्यास्यामः** (मुद्र०१.१)। व्याख्या के अन्त में निरूपण है कि पुरुषसूक्त का ज्ञाता मुक्ति अवश्य प्राप्त करता है- **य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति।** (मुद्र० १.९)

१३२. पुरोनुवाक्या— यज्ञों में तीन प्रकार की आहुतियों में से एक पुरोनुवाक्या आहुति दी जाती है। यह आहुति जिस ऋचा को पढ़कर दी जाती है, उस ऋचा को भी पुरोनुवाक्या कहकर स्वीकार किया गया है। इन ऋचाओं को पृथ्वी, प्राण और भ्रातृव्य देवता से सम्बद्ध किया गया है- **पृथिवीलोकमेव पुरोऽनुवाक्यया** (शत० ब्रा० १४.६.१.९), **प्राण एव पुरोऽनुवाक्या** (बृह० ३.१.१०), **भ्रातृव्यदेवत्या वै पुरोनुवाक्या** (तै०सं० १.६.१०.४)।

१३३. पूर्वज-गोत्रज— पूर्वकाल में उत्पन्न पुरुषों को पूर्वज कहा जाता है। बाप, दादा, परदादा आदि ऊपर की पीढ़ियों में उत्पन्न पुरुषों को पूर्वज या पितर कहते हैं। अपने ही गोत्र या वंश में उत्पन्न पुरुषों को गोत्रज या वंशज कहा गया है। सभी मनुष्य मान्य ऋषियों की संतान-परम्परा के हैं। अपने कुल या वंश के आदिपुरुष- ऋषि के नाम से वंशसंज्ञा को गोत्र कहा गया है। सभी के गोत्र प्रवर्तक कोई न कोई ऋषि ही हैं। कभी-कभी शिष्य अपने गुरु के गोत्र को ही अपना गोत्र स्वीकार करता है। पूर्वजों या पितरों के नाम पर श्राद्ध (स्वधा) या जलदान तर्पण किया जाता है- **स्वधां पितृभ्यः** (छान्दो० २.२२.२)। उपनिषद् का कथन है कि जो मनुष्यों के सौ आनन्द हैं, वे पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों का एक आनन्द है- **अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः। स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः** (बृह० ४.३.३३)।

१३४. प्रकृति-पुरुष— सांख्य दर्शन में प्रमुख रूप से पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व माने गये हैं। प्रकृति अव्यक्त है, वही व्यक्त होने पर जगत् का रूप ले लेती है। प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति का क्रम निम्न प्रकार प्रतिपादित है- प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि), महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्चतन्मात्रा से एकादश इन्द्रिय और उनसे फिर पञ्चमहाभूत। इन चौबीसों तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति हुई। इसी क्रम से सारा जगत् फिर नष्ट होकर अपने मूल प्रकृति रूप में आ जाता है। प्रकृति की उत्पत्ति उस अविनाशी पुरुष से ही होती है। उपनिषद् के अनुसार जैसे मकड़ी तन्तु-जाल को उत्पन्न करती है और अपने में ही समेट लेती है, जैसे पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर पुरुष से यह विश्व उत्पन्न होता है- **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्** (मुण्ड० १.१.७)।

प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। प्रकृति और पुरुष पृथक्-पृथक् होकर कर्म नहीं कर सकते। पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृतिजन्य गुणों का उपभोग करता है-**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्** (गी० १३.२१)। गीता में भगवान् ने कहा है कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनादि हैं और प्रकृति से ही समस्त गुण और विकार उत्पन्न हुए हैं- **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥** (गी० १३.१९) प्रकृति सत्, रज और तम तीनों गुणों की साम्यावस्था है- **साम्यावस्था प्रकृतिः** (सां०द० १.६१)। प्रकृति को पुरुष की ही महाशक्ति माना गया है। मूल सूक्ष्म प्रकृति ही घनीभूत होकर स्थूल हो जाती है और सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों की रचना करती है। गीता के अनुसार भगवान् की प्रकृति आठ भेदों में विभाजित है- **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा** (गी० ७.४)। प्रकृति क्रियाशील और पुरुष निष्क्रिय द्रष्टा है। इस सम्पर्क से पुरुष में जो भ्रम उत्पन्न होता है, उसके कारण पुरुष प्रकृति के कार्यों का अपने ऊपर आरोपण कर लेता है और इससे उनके परिणामों से उत्पन्न सुख-दुःख भोगता है।

१३५. प्रज्ञा-प्रज्ञान— प्रज्ञा का सामान्य अर्थ है- प्रकृष्ट ज्ञान या श्रेष्ठ बुद्धि। विवेकवान्, विद्वान् या चैतन्य पुरुष को प्रज्ञान कहा गया है। अन्तर्दृष्टि या अनुभूति के द्वारा आत्मा या परमात्मा के सम्बन्ध में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे भी प्रज्ञा या प्रज्ञान कहते हैं। बुद्धि का परिष्कृत रूप जिसमें दूरदर्शिता तथा विवेकशीलता भी समाविष्ट है, 'प्रज्ञा' रूप में मान्य है। उपनिषद् के अनुसार जिससे बौद्धिक वृत्तियों को, ज्ञातव्य विषयों को, कामनाओं को ग्रहण करते हैं, उसे प्रज्ञा कहते हैं- **केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति। प्रज्ञयेति ब्रूयात्** (कौ० ब्रा० १.७)। प्रज्ञा को निर्विकल्प और चिन्मात्रा वृत्ति से सम्बद्ध किया गया है-**निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते** (अध्या० ४४)। प्राण को भी प्रज्ञा से सम्बद्ध किया गया है। **यो वै प्राणः सा प्रज्ञा** (कौ० ब्रा० ३.३)। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में

'प्रज्ञा' के कार्य व्यवहार को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। प्रज्ञा से मनुष्य सत्य और संकल्प शक्ति को धारण करता है- **प्रज्ञया सत्यं संकल्पम्** (कौ० ब्रा० ३.२)। प्रकृष्ट ज्ञान को प्रज्ञान कहते हैं। प्रकृष्ट ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है, क्योंकि ब्रह्म की ही त्रैकालिकी सत्ता है और वही ज्ञान का परमलक्ष्य है। उपनिषद् ग्रन्थों में इसीलिए प्रज्ञान को ब्रह्म का पर्याय माना गया है- **प्रज्ञानं ब्रह्म** (शु०र० २.१, आ०बो० १.१)।

१३६. **प्रतिष्ठा**—प्रतिष्ठा शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- स्थापना, स्थान, गौरव, कीर्ति, आदर, निवास, आधार आदि। उपनिषद् में वर्णित है कि जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह इस लोक और परलोक में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है- **यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च। चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा** (छान्दो० ५.१.३)। जब साधक उस परमात्मा की अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय, अनाश्रित, अभय, प्रतिष्ठा (स्थिति) को प्राप्त करता है, तब वह सर्वदा निर्भय पद को प्राप्त होता है- **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति** (तैत्ति० २.७.१)। चारों दिशाओं के सदृश प्रतिष्ठा भी चार प्रकार की मानी गयी है- **अथ याश्चतस्रः प्रतिष्ठा इमा एव ताश्चतस्रो दिशः** (जै० उ० १.२१.२)।

१३७. **प्रत्यगात्मा**— प्रत्यगात्मा शब्द दो शब्दों के मेल से बना है- प्रत्यक् +आत्मा। वह पुरुष जिसकी चित्तवृत्ति निर्मल हो चुकी हो, जो अपना स्वरूप समझने लगा हो, जिसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी हो, उसे प्रत्यगात्मा कहा गया है। यह शब्द विशुद्ध अन्तरात्मा या परमेश्वर के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् का कथन है कि कोई विरला धीर पुरुष ही अमरत्व प्राप्ति की इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर अन्तरात्मा (प्रत्यगात्मा) को देख पाया है- **कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्** (कठ० २.१.१)। सर्वसारोपनिषद् में प्रश्न है- प्रत्यगात्मा, परमात्मा और माया ये तत्त्व क्या हैं ? प्रत्यगात्मा को जीवात्मा के आशय से **त्वं** पद से निरूपित किया गया है। प्रत्यगात्मा अज्ञान, माया और शक्ति का साक्षीरूप है। मैं ही एक ब्रह्मरूप हूँ, इस प्रकार का भाव चिन्तन करते हुए वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है- **प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम्। एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम्** (कठ०रु० १६)।

१३८. **प्रत्याहार**— योग के अन्तर्गत योग के आठ अङ्गों का निरूपण शास्त्रों में दृष्टिगोचर होता है- **यमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** (यो०द० २.२९)। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। प्रत्याहार में चित्तवृत्तियों को या इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर चित्त को हर स्थिति में शान्त रखा जाता है। अपने चिन्तन को अनात्म पदार्थों से हटाकर आत्मा में लगाये रहना प्रत्याहार है। इसी तथ्य की पुष्टि अमृतनादोपनिषद् में होती है- **शब्दादि विषयान् पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्। चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते** (अमृ० ५)। योगी कुम्भक में स्थित होकर (प्राणायाम द्वारा प्राण को भीतर धारण किये रहना) इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाए, यह प्रत्याहार कहा जाता है। उस समय नेत्रों से जो कुछ देखे, उसे आत्मभावना से ग्रहण करे- **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम्। योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते। यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्** (यो०त० ६८-६९)। इस प्रकार के अभ्यास से योगी की चित्त शक्ति बढ़ती जाएगी। प्रत्याहार से इन्द्रियों के सांसर्गिक दोषों को तथा ध्यान से अनीश्वरीय गुणों को नष्ट किया जाता है- **प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्** (अमृ० ८)।

१३९. **प्रमाद**— प्रमाद का सामान्य अर्थ मानसिक आलस्य, शिथिलता या अक्रियता के रूप में लिया जाता है। कहीं इसे उन्माद, लापरवाही या आन्तरिक दुर्बलता कहकर निरूपित किया गया है। ब्रह्मनिष्ठों के लिए प्रमाद करना अनुचित है और ब्रह्मवादिन् के लिए विद्या में प्रमाद मृत्यु के सदृश कहा जाता है- **प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्त्तव्यः कदाचन। प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः** (अध्या० १४)। गीता में भगवान् ने प्रमाद को तमस् का रूप बताया है, जो जीवात्मा को बाँधता है- **तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत** (गी०१४.८)। मनुष्य का तमोगुण ही उसके ज्ञान को ढककर उसे प्रमाद में लगाता है- **ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत** (गी० १४.९)। रामानुजाचार्य ने कहा है- ''कर्त्तव्य कर्म से भिन्न कर्म में प्रवृत्त करने वाली असावधानी का नाम प्रमाद है।'' अर्थात् प्रमाद से कर्त्तव्यशीलता नष्ट हो जाती है, जो व्यक्ति को कल्याण मार्ग से च्युत कर देती है।

१४०. प्राज्ञ— वेदान्त दर्शन की मान्यतानुसार 'प्राज्ञ' जीव की एक संज्ञा है। शंकराचार्य के अनुसार 'परब्रह्म' ही देहेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि की उपाधियों से परिच्छिन्न होकर शरीरधारी जीव कहा जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि परब्रह्म (शुद्ध चैतन्य) ही अविद्या की उपाधि से युक्त होकर शरीरेन्द्रिय से परिच्छिन्न होकर 'जीव' कहलाता है। कुछ विद्वान् घटावच्छिन्न आकाश की तरह शरीरचित्तावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। 'जीव' का सम्बन्ध तीनों शरीरों १. स्थूल २. सूक्ष्म ३. कारण से होता है। अन्नादि से परिपोषित चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाला शरीर 'स्थूल-शरीर' कहलाता है। इस स्थूल के अन्दर ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों-प्राण, मन एवं बुद्धि का एक तन्त्र कार्य करता हुआ अनुभव में आता है-यह सूक्ष्म-शरीर है। सूक्ष्म शरीर को भी सक्रिय-गतिमान् करने वाला अज्ञानोपहित चैतन्य जो अहंकार आदि का कारण है, 'कारण शरीर' कहलाता है।

उक्त तीनों शरीरों से सम्बद्ध चैतन्य को तीन संज्ञाएँ प्रदान की गई हैं। स्थूल शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'विश्व', सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'तैजस' तथा कारण शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'प्राज्ञ' संज्ञा है। 'प्राज्ञ' संज्ञक अज्ञानोपहित चैतन्य मलिन सत्त्व प्रधान होने से अधिक प्रकाशक नहीं होता। यह आनन्दमय कोश से समन्वित है। सभी प्रपञ्चों (सक्रियता) का इसमें उपराम होने से इसकी सुषुप्ति अवस्था होती है। आनन्द की अनुभूति करने वाला चैतन्य यही 'प्राज्ञ' है।

१४१. प्राण-पञ्चप्राण— सूक्ष्म जीवनवायु के पाँच प्रकारों- प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान में से एक प्राण है। व्यापक रूप में प्राण शब्द ज्ञानेन्द्रिय या चेतना को प्रकट करता है। कभी-कभी यह शब्द केवल श्वास का साधारण अर्थ बोध कराता है। जिस आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति द्वारा जीवात्मा का दृश्य जगत् में देह से सम्बन्ध होता है, उसे प्राणशक्ति कहते हैं। यह प्राणशक्ति ही स्थूल प्राण (ऊर्ध्वगमनशील), अपान (अधोगमनशील), व्यान (सम्पूर्ण शरीर में गमनशील), उदान (उद्गिरणशील-उगलने की प्रवृत्ति) एवं समान (समान वितरणशील-रस, रक्त आदि का समान वितरण) की सञ्चालिका है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और स्थिति के मूल में उस प्राणशक्ति का ही साम्राज्य है। प्राण को साक्षात् ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है- **प्राणो वै ब्रह्म** (जै०उ०३.३८.२)। प्राण ही प्राणियों की आयु है-**प्राणो हि भूतानामायुः** (तैत्ति०२.३.१)। **प्राणा वै यशो वीर्यम्** (बृह०१.२.६), **यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः** (कौ०ब्रा०३.३)। आदित्य प्राणरूप ही है, क्योंकि वे ही प्राण बरसाते हैं- **आदित्यो ह वै प्राणः** (प्रश्न०१.५)। रथ के पहिए की नाभि में लगे अरों की भाँति प्राण में ही सब प्रतिष्ठित हैं- **अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्** (प्रश्न०२.६)। प्राण को ही इन्द्र तथा रुद्र रूप में परिरक्षक कहा गया है **इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता** (प्रश्न०२.९)। नाग (डकार आना), कूर्म (पलक झपकना), कृकल (भूख लगना), धनञ्जय (समस्त शरीर का पोषण करना), देवदत्त (जँभाई आना)-ये पाँच उपप्राण कहलाते हैं।

१४२. प्रारब्ध— मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में नहीं। मनुष्य के सभी कर्म सञ्चित होते रहते हैं, जिसका फल उसे भविष्य में अवश्य भोगना पड़ता है। दूसरे कर्म वे हैं, जिसका फल वह वर्तमान में भोग रहा है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। जन्मभेद से कर्म के चार विभाग किये जाते हैं- सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण और भावी। प्रारब्ध कर्मों के फलभोग प्रारम्भ हो चुके होते हैं। इसे भाग्य या किस्मत भी कहते हैं। नादबिन्दूपनिषद् में वर्णन मिलता है कि जन्म-जन्मान्तरों के जो कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं- **कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्** (ना०बि०२३)। उपनिषद् का कथन है कि समस्त प्रारब्ध कर्मों को भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिए- **प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि** (ना०बि०२१)। तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध नहीं छोड़ता, किन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने से प्रारब्ध (ज्ञानी की दृष्टि में) नहीं रहता- **उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति। तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते** (ना०बि०२२)।

१४३. बन्धन— मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य का परम लक्ष्य है। इसके विपरीत मोक्ष प्राप्ति में बाधक सभी घटकों को बन्धन कहा गया है। सांसारिक विषयों, पदार्थों अथवा व्यक्तियों से अत्यधिक ममता या आसक्ति का होना बन्धन है। कामना से युक्त कर्मों को भी बन्धन रूप कहा गया है। विषय-विकारों तथा अहंभाव को बंधन माना गया है। निरालम्ब उपनिषद् में बन्धन रूप सभी तथ्यों को विस्तारपूर्वक उपन्यस्त किया गया है। अनादि अविद्या की वासना (संस्कार) द्वारा उत्पन्न इस प्रकार का विचार कि मैं हूँ (मैं ही जन्मता-मरता हूँ), यही बन्धन है। माता-पिता, भ्राता,

पुत्र, गृह, उद्यान तथा खेत आदि मेरे अपने हैं, इस प्रकार के सांसारिक आवरण स्वरूप विचार भी बन्धन रूप है। कर्त्तापन के अहंकार का संकल्प भी बन्धनरूप है। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त करने का सङ्कल्प भी बन्धन है। कामनापूर्ति के लिए सङ्कल्पपूर्वक की गयी उपासना भी बन्धन रूप है। यमादि अष्टाङ्ग योग का सङ्कल्प भी बन्धन ही है। वर्ण और आश्रम धर्म-कर्म के सङ्कल्प भी बन्धन स्वरूप हैं। आशा, भय, संशय आदि के सङ्कल्प भी बन्धन हैं। यज्ञ, व्रत, तप और दान के विधि-विधान तथा ज्ञान के सङ्कल्प भी बन्धन हैं। मोक्ष प्राप्ति का विचार करना भी बन्धन है। सङ्कल्प मात्र से जो कुछ सम्भव है, वह सभी बन्धनस्वरूप है (निरा०१८-२८)। गीता ३.९ में यज्ञार्थाय कर्म के अतिरिक्त अन्य सभी कर्मों को बन्धनस्वरूप माना गया है। उपनिषद् के अनुसार मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयों में आसक्त मन ही बन्धन का कारण है और विषय रहित मन मोक्ष का कारण है- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति** (मैत्रा०४.११)।

१४४. बलि— भूमि की उपज का वह अंश जो भूपति (कृषक) प्रतिवर्ष राजा को देता है, उसे बलि कहते हैं। उपहार या भेंट या देवता को दिया गया भोज्य पदार्थ भी बलि कहलाता है। पञ्च महायज्ञों में चौथा भूतयज्ञ भी बलि कहा जाता है। भूतबलि के अन्तर्गत पिपीलिका बलि, श्वानबलि, गो-बलि, काकबलि, देवबलि आदि हैं। श्राद्ध या पितरों को बलि देना पितृयज्ञ होता है। सम्पूर्ण प्रजा और सम्पूर्ण देवगण प्राणरूप ब्रह्म को बलि (भेंट) समर्पित करते हैं- **तुभ्यं प्राण: प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति य: प्राणै: प्रतितिष्ठसि** (प्र०२.७), **तथो एवास्मै (प्राणाय ब्रह्मणे) सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति** (कौ०ब्रा०२.१), **तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एता: सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति** (कौ०ब्रा०२.१)। पके हुए अन्न में से एक अंश अग्नि आदि देवों को अर्पित करना बलिवैश्व कहलाता है। भूतयज्ञ को बलिवैश्व देव भी कहते हैं।

१४५. बुद्धि-धी— मनुष्य की वह शक्ति, जिसके द्वारा वह उपस्थित विषय के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय या निश्चय करता है। इसी को धीष्णा, धी,मति आदि भी कहते हैं। इसी के परिष्कृत स्वरूप को मनीषा कहते हैं। इसी के उत्तरोत्तर विकास क्रम में प्रज्ञा, मेधा, भूमा और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। बुद्धि को चैतन्य आत्मा का गुण माना जाता है। मनस्, इन्द्रियाँ और अहंकार बुद्धि के लिए कार्य करते हैं। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में सवितादेव से यह प्रार्थना की गयी है कि हम उस सविता के वरणीय भर्ग (पापनाशक तेजस्) को धारण करते हैं, वह देव हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे (ऋ० ३.६२.१०)। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने बुद्धि के सात्त्विकी, राजसी और तामसी- ये तीन भेद बताये हैं । अन्त:करण चतुष्टय के अन्तर्गत मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। बुद्धि से मनुष्य समझता है। चित्त से चैतन्य होता है। अहंकार से अहंता का अनुभव करता है- **बुद्ध्या बुध्यति। चित्तेन चेतयति। अहंकारेणाहंकरोति** (ना०प०६.३)।

१४६. बोध-प्रतिबोध— ज्ञान, समझ या जानकारी के अर्थ में बोध शब्द प्रयुक्त होता है। सामान्यतया विशिष्ट अनुभूतिजन्य ज्ञान के अर्थ में भी बोध शब्द का प्रयोग होता है। आत्मबोध मनुष्य का परम लक्ष्य है। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार अहंभाव (सत्त्वभाव) और दयाभाव-यह ज्ञान की पराकाष्ठा है- **अहंभावो दयाभावो बोधस्य परमावधिः** (अध्या०४१)। वैराग्य का फल बोध होता है और बोध का फल चित्तशान्ति है-**वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्** (अध्या०२८)।

प्रतिबोध शब्द के पर्याय जागरण, ज्ञान, स्मरण आदि हैं। अन्त:प्रेरणा से प्राप्त बोध या अन्त:स्फुरणा से उत्पन्न ज्ञान के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं हुआ है। केनोपनिषद् में वर्णित है कि प्रतिबोध से उत्पन्न ज्ञान ही यथार्थ है,इसी से अमृतस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है- **प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते** (केन०२.४)।

१४७. ब्रह्म-परब्रह्म— वेदान्त दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति ही अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है- **बृंहति वर्द्धते निरतिशयमहत्त्वलक्षणवृद्धिमान् भवतीत्यर्थः** (शब्द०)। बृंह् धातु वर्धमान-वृद्धिमान् अर्थ में प्रयुक्त होती है, जो निरतिशय महत्त्व की दृष्टि से वृद्धिमान् है, वह ब्रह्म है, अर्थात् जो सत्ता सर्वत्र विद्यमान है-शाश्वत है-नित्य है-अपरिवर्तनशील है, वह 'ब्रह्म' है, इससे अतिरिक्त अन्य सभी नश्वर हैं- **ब्रह्मैव नित्यं वस्तु तदन्यदखिलमनित्यम्।**

ब्रह्म का स्वरूप प्रकट करने के क्रम में आचार्यों ने दो प्रकार के लक्षणों का उल्लेख किया है-१. स्वरूप लक्षण, २. तटस्थ लक्षण। जो लक्षण वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो और अन्यों से भेद करने वाला हो, वह स्वरूप लक्षण कहलाता है, जैसे- '**सच्चिदानन्दं ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' इत्यादि श्रुति वचनों में 'ब्रह्म' को सत्, चित्, आनन्द, सत्य, ज्ञानवान्, अनन्त तथा विज्ञानवान् (विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न) और आनन्दमय कहा गया है। ये विशेषताएँ ब्रह्म के अन्तर्गत हैं, अन्यत्र नहीं। अतः यह 'ब्रह्म' का स्वरूप लक्षण हुआ। जो लक्षण स्वरूप के अन्तर्गत न होने पर भी अन्य से भेद करने वाला हो, वह 'तटस्थ-लक्षण' कहलाता है, जैसे- '**जन्माद्यस्य यतः**। (ब्र० सू० १.१.२), **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म**' (तैत्ति० ३.१) इत्यादि श्रुति वचनों में 'ब्रह्म' को जन्म, स्थिति, प्रलय का निमित्त कारण कहा गया है, किन्तु वह स्वयं जन्म आदि से परे है और उसकी उक्त विशेषताएँ अन्यत्र कहीं हैं भी नहीं, अतएव यह (जन्मादि का निमित्त कारण होना) ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

इस प्रकार लक्षण के दोनों भेदों के आधार पर 'ब्रह्म' सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, सत्, चित्, आनन्द, जन्म, स्थिति, प्रलय का निमित्त कारण आदि विशिष्टताओं से मण्डित सिद्ध होता है। इस तथ्य का प्रतिपादन श्रुतिवचनों में प्रायः मिलता है, जैसे- कठोपनिषद् में कहा गया है कि वह (ब्रह्म) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रहित है, अनादि है, अनन्त है, उसका साक्षात्कार करने वाला मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है- **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते** (कठो०१.३.१५)। उस नित्य, शुद्ध, मुक्त, अजन्मा परमतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने से हृदय की ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं, परिणामतः वह मुक्त हो जाता है-**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** (मुण्ड०२.२.८, महो०४.८२)। छान्दोग्य उपनिषद् में उस ब्रह्म तत्त्व की उपासना करने का निर्देश इस तथ्य के साथ दिया गया है कि वही सब जगह है, उसी से सभी जन्म पाते हैं, उसी में स्थित रहते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं - **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत** (छान्दो०३.१४.१)।

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं- १. कार्य ब्रह्म, २. कारण ब्रह्म। कारण ब्रह्म को ही परब्रह्म कहा गया है। पुरुष सूक्त के अनुसार-''**त्रिपादूर्ध्वऽउदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः**''। ब्रह्म का तीन चौथाई अंश जो अनन्त अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, जिसका इस सृष्टि से- विश्व ब्रह्माण्ड से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं, वह परब्रह्म कहलाता है। उसी का एक चौथाई अंश जो प्रत्यक्ष विश्व ब्रह्माण्ड में सक्रिय है, उसे ब्रह्म के रूप में जाना जाता है।

१४८. ब्रह्मचर्य— चारों आश्रमों में से प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम कहलाता है। उपनयन के अनन्तर बालक के वेदाध्ययन तक के समय को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचारी की यह व्युत्पत्ति-**ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचारी** -दोनों भावों को प्रकट कर देती है, जो ब्रह्म (वेद-परब्रह्म) के चिन्तन-मनन में तल्लीन होता है, वह ब्रह्मचारी होता है। वीर्यरक्षा या अष्टविध मैथुन से बचने का व्रत भी ब्रह्मचर्य है। अथर्ववेद के एक सूक्त ११.५ में ब्रह्मचारी के लिए प्रशंसापरक प्रतिपादन है। इसके प्रथम मन्त्र में वर्णन है कि ब्रह्मचारी भूमि तथा आकाश दोनों को हिलाता हुआ चलता है। देवता उसके अनुकूल होते हैं। वह पृथ्वी तथा द्युलोक को थामे हुए है। वह अपने तप से आचार्य को पुष्ट करता है। उपनिषद् का कथन है कि उस ब्रह्म को चाहने वाले साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं- **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति** (कठ० १.२.१५)। छान्दोग्य उपनिषद् (८.५.१) में ब्रह्मचर्य के विषय में प्रतिपादन है कि जिसे यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञाता है, वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ही उसे (आत्मतत्त्व को) प्राप्त होता है। जिसे इष्ट कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा पूजन करके पुरुष आत्मा को प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा ही देवों ने मृत्यु को जीत लिया है-**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत** (अथर्व० ११.७.१९)।

१४९. ब्रह्मजज्ञ— ब्रह्मजज्ञ का भावार्थ ब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि या रचना को जानने वाला है। अग्निदेव सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त हैं और वही इस सृष्टि के ज्ञाता हैं। कठोपनिषद् का कथन है कि साधक सृष्टि को जानने वाले स्तुत्य अग्निदेव को जानकर उसका निष्काम भाव से चयन करके अनन्त शान्ति को प्राप्त होते हैं-
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाःशान्तिमत्यन्तमेति (कठ०१.१.१७)।

१५०. ब्रह्मनिष्ठ— द्र०-ब्रह्मविद्या।

१५१. ब्रह्मरन्ध्र— मस्तक या मूर्धा भाग के मध्य एक गुप्त छिद्र जिससे होकर प्राण निकलने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। योगियों के प्राण इसी छिद्र (रन्ध्र) से निकलते हैं। इसे मोक्ष द्वार कहा गया है, क्योंकि इसे बेधकर प्राण त्यागने से मुक्ति प्राप्त होती है। इसे सुषिर (छिद्रयुक्त, पोला) मण्डल भी कहा जाता है- **मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदु:** (अमृ० २६)। जिस साधक का प्राण इस मण्डल को भेदकर मूर्धा में पहुँच जाता है, वह जहाँ कहीं भी मृत्यु को प्राप्त होता है, पुन: जन्म नहीं लेता, अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र में नहीं फँसता- **यस्येदं मण्डलं भित्त्वा मारुतो याति मूर्धनि। यत्र-यत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते** (अमृ० ३९)।

१५२. ब्रह्मलोक— द्र०-देवयान।

१५३. ब्रह्मविद्या— उपनिषदों में मुख्यत: जिस विद्या का उल्लेख है, उसे ब्रह्मविद्या कहा जाता है। जिसका तात्पर्य है- ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या। ब्रह्म के जानने वाले को ब्रह्मविद् या ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। ब्रह्मविद्या के द्वारा 'हम सर्व हो जायेंगे', ऐसा मनुष्य मानते हैं- **तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते** (बृह०१.४.९)। ब्रह्मविद्या को सब विद्याओं की आधारभूता कहा गया है, जिसका उपदेश ब्रह्माजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को दिया- **स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह** (मुण्ड० १.१.१)। ब्रह्मविद्या के प्रति एकनिष्ठ पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है अथवा ब्राह्मणवृत्ति या ब्रह्मज्ञान से सुसम्पन्न पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं। अन्य विद्याओं का भली प्रकार प्राप्त हुआ ज्ञान भी नाशवान् है, किन्तु ब्रह्मविद्या का भली-भाँति ज्ञान स्थिर ब्रह्म को प्राप्त कराने में समर्थ है- **अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्। ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम्** (शु०र०)।

१५४. ब्रह्मवेत्ता— ब्रह्मवेत्ता का सामान्य अर्थ है- ब्रह्म को जानने या समझने वाला। ब्रह्म की सर्वत्र अनुभूति करने वाला। दूसरे अर्थ में वेदों के अर्थ के ज्ञाता को भी ब्रह्मवेत्ता कहा गया है। इन्हें ब्रह्मज्ञानी अथवा तत्त्वज्ञानी कहकर भी निरूपित किया जाता है, क्योंकि ये ब्रह्मतत्त्व के ज्ञाता होते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि स्थिर बुद्धि और मोह रहित ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित होते हैं- **स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित:** (गी०५.२०)। जो कर्मयोगी आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, उसी में रमण करता है, वह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहा गया है- **आत्मक्रीडा आत्मरति: क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ:** (मुण्ड० ३.१.४)।

१५५. ब्रह्मा— ब्रह्म के तीन सगुण रूप माने गये हैं- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्म के सगुण रूपों में से एक रूप जो सृष्टि की रचना के लिए नियत है, उन्हें ब्रह्मा कहा गया है। पुराणों में वेदों के भी प्रकटकर्त्ता इन्हें ही माना गया है। यज्ञ के एक ऋत्विज् जिन्हें यज्ञ के प्रत्यक्ष संरक्षणकर्त्ता के रूप में नियत किया जाता है, उन्हें भी ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा को ही विधाता, पितामह, प्रजापति तथा हिरण्यगर्भ आदि विशेषणों से भी निरूपित किया गया है। पुराणों के अनुसार विष्णुदेव की नाभि से ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुए, इसलिए ये स्वयंभू कहलाये। सम्पूर्ण कलाएँ, विद्याएँ और ब्रह्माण्ड इन्हीं से प्रकट माना गया है। ब्रह्मा की पत्नी 'ब्रह्माणी' के रूप में मान्य हैं। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार देव ब्रह्मा सम्पूर्ण जगत् की रचना करने वाले और लोकों के रक्षक हैं, वे देवों में सबसे पहले प्रकट हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया- **ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथम: सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह** (मुण्ड० १.१.१)।

१५६. ब्रह्माण्ड— धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थों में प्राय: चौदह भुवनों का उल्लेख मिलता है। हम लोग जहाँ विद्यमान हैं, वह 'भू' लोक है। यह तथा इसके ऊपर सात लोक हैं तथा इसके नीचे सात लोक हैं। ये चौदह लोक मिलकर ब्रह्माण्ड कहलाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक रामतीर्थ ने लिखा है कि ब्रह्माण्ड में जो चौदह लोक हैं, उन्हें लोकालोक नामक पर्वत आवृत किये हुए हैं। इस पर्वत के बाहर की ओर पृथिवी है और पृथिवी के चारों ओर उसे समुद्र घेरे हुए हैं। इस प्रकार लोकालोक पर्वत से घिरे चौदह भुवन जिनके अन्तर्गत पृथिवी और समुद्र हैं- ये सब मिलकर एक ब्रह्माण्ड बनता है- **एत एव स्वावरण भूतलोकालोक पर्वततद्बाह्य पृथिवी तद्बाह्य समुद्रै: सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते** (वे० १६ विद्वन्मनोरंजिनी)।

'**ब्रह्माण्ड**' का परिमाण अतिबृहद् है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार है- **यह लोक ३२ देवरथाह्न्य है**। इस लोक को पृथिवी और पृथिवी को समुद्र घेरे हुए है। देवरथाह्न्य का तात्पर्य है एक दिन में सूर्य

रथ की गति। सूर्यरथ एक मुहूर्त (४८ मिनट) में चौंतीस लाख आठ सौ योजन (१ योजन=४ कोस, १ कोस=२ मील या तीन किलोमीटर) पार करता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड अत्यधिक बृहदाकार सिद्ध होता है।

१५७. ब्राह्मण— ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण कहा गया है। ब्रह्म का एक अर्थ वेद भी है, अतः वेदाध्यायी को भी ब्राह्मण कहा जाता है। सामान्यतः चतुर्वर्णों में प्रथम वर्ण ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण को पृथ्वी का देवता (भूसुर) भी कहा गया है। मनुस्मृति में ब्राह्मण के छः कर्त्तव्य बताए गये हैं- **अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्** (मनु० १.८८)। याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि जो इस अक्षर (अविनाशी स्वरूप आत्मा) को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है- **अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति, स ब्राह्मणः** (बृह०३.८.१०)। ब्राह्मण आत्मा को जानकर तीनों ऐषणाओं को त्यागकर भिक्षाचर्या से विचरते हैं- **एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति** (बृह०३.५.१)। चारों वर्णों को उत्पन्न करने वाले ब्रह्म (परमात्मा) देवों में अग्निरूप से ब्रह्मा हुए, मनुष्यों में ब्राह्मण हुए- **तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु** (बृह०१.४.१५)।

१५८. भर्ग— सूर्य के तेज, ज्योति, दीप्ति को भर्ग कहा गया है। यह भूनने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः पापों या विकारों को भूनने के उद्देश्य से साधक सूर्य के भर्गस्वरूप की उपासना करते हैं। भगवान् शिव, त्र्यंबक के लिए अमरकोश में 'भर्ग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। मैत्रायण्युपनिषद् में 'भर्ग' शब्द की व्याख्या इस प्रकार वर्णित है-भर्ग वही है, जो सूर्य में स्थापित है। आँख की पुतली में भी भर्ग नाम से यही रहता है। इसकी कान्ति से मनुष्य गति कर सकता है, अतः यह भर्ग है अथवा यह सबको तपाता है, इसी से यह भर्ग है। यह रुलाने वाला रुद्र है अथवा प्राणियों का रञ्जन करता है, इसलिए भर्ग है अथवा यह प्राणियों में जाता है, अतः यह भर्ग है अथवा इस जगत् में यह आता और जाता है अथवा प्रजा का धारण-पोषण करने से यह भर्ग है (मैत्रा० ५.७)।

१५९. भवबन्धन— द्र०- **आवागमन -चक्र।**

१६०. भूत— उपनिषद् आदि में भूत शब्द प्राणी अथवा जीव के लिए प्रायः प्रयुक्त हुआ है। अतीत, विगत या बीते समय के लिए भी 'भूत' का प्रयोग होता है। स्थूल जगत् के निर्माण में अव्यक्त प्रकृति से घनीभूत हुए पञ्चतत्त्वों को भी पञ्चमहाभूत कहा जाता है। जो प्राणी मृत्यूपरान्त सूक्ष्म शरीरधारण कर प्रेतयोनि में जाते हैं, उन्हें भी भूत कहते हैं। गीता में भगवान् कहते हैं- हे भारत! सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त हैं, बीच में व्यक्त होते हैं और मृत्यूपरान्त अव्यक्त हो जाते हैं- **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना** (गी०२.२८) ईशोपनिषद् में कहा गया है- जिस साधक को सभी प्राणी आत्मरूप अनुभूत होते हैं, उस एकत्व की अनुभूति करने वाले साधक को मोह-शोक नहीं रहता- **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः** (ईश० ७)।

१६१. भोक्ता—भोक्ता का सामान्य अर्थ है- भोग करने वाला, भोगने वाला, भोजन करने वाला, शासन करने वाला, अनुभूत या सहन करने वाला। कहीं अनादि प्रकृति को भोग्या और जीव को भोक्ता कहकर निरूपित किया गया है। इन्द्रियों को घोड़ा और विषयों को घोड़े चरने के मार्ग एवं शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ रहने वाले जीवात्मा को मनीषीगण भोक्ता कहते हैं-**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः** (कठ० १.३.४)। गीता में भगवान् कहते हैं, सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ- **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च** (गीता० ९.२४)। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जो भोग, भोक्ता और भोग्य है, वह सदाशिव, चैतन्यस्वरूप और विलक्षण साक्षीरूप मैं ही हूँ-**त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः** (कै० १८)।

भोक्ता, भोग्य और प्रेरक परमात्मा-इन तीनों का ज्ञान होने पर सब कुछ जान लिया जाता है। यह ब्रह्म इन तीन भेदों में वर्णित है- **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्** (श्वेता० १.१२)।

१६२. मनस् — पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों के साथ मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है; परन्तु यह शरीर के भीतर रहने वाली इन्द्रिय अन्तरिन्द्रिय है। मन अन्तःकरण की वह वृत्ति है, जिसके द्वारा सङ्कल्प और विकल्प किया जाता

है। **मनस्यति अनेन इति मनः** अर्थात् जिससे मनन किया जाय, वह मन है। कुछ विद्वानों ने मन को एक ज्ञानेन्द्रिय माना है, जिसके द्वारा सुख-दुःख आदि का बोध होता है- **सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियम् मनः** (तर्क भाषा)। गीता में मन को छठी इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है- **मनः षष्ठानीन्द्रियाणि** (गीता)। जो मन मनन करता है, वह वाणी व्यक्त करती है- **तद्यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति** (जैमि० १.४०.५)। मन ही देखता है, मन ही सुनता है। काम, सङ्कल्प, श्रद्धा आदि सब में मन ही कारणभूत है- **मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति। कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव** (बृह० १.५.३)। मन ही बन्धन और मोक्ष का भी कारण है- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** (मैत्रा० ४.४-८)। शिवसङ्कल्पोपनिषद् के प्रत्येक मन्त्र में **'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु'** पद आया है, जिसका भाव है वह हमारा मन शिव-कल्याणकारी संकल्प से युक्त हो'। हमारा मन अनन्त सामर्थ्य से परिपूर्ण है- **अनन्तं वै मनः** (बृह०३.१.९)। सांख्य दर्शन के सिद्धान्तानुसार प्रकृति से महत् अथवा बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इससे पुनः अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। फिर अहङ्कार से मनस् की उत्पत्ति होती है। यह मनस् तत्त्व बुद्धि को बाह्यज्ञान की सूचना देता है, ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को बुद्धि तक पहुँचाता है।

१६३. मनीषी —द्र०- **कवि**।

१६४. मन्थ— **'मन्थ'** धातु मथने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में एक पेय पदार्थ जिसमें कई पदार्थ मथ दिये जाते थे, मन्थ कहते थे। शाङ्खायन आरण्यक (१२.८) में सभी प्रकार के मन्थों का उल्लेख मिलता है। कोश ग्रन्थों में मन्थ शब्द **'मथना या बिलोना'** अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिलाना, मलना, ध्वस्त करना, कम्पन आदि इसके पर्याय हैं। दूध मिला हुआ सत्तू का पेय प्रायःमन्थ के रूप में प्रयुक्त होता था। घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के यन्त्र मन्था को भी मन्थ कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में अग्नि में आहुति डालकर संस्रव (स्रुवा से लगे हुए घृत) को मन्थ में डालने का निर्देश कई बार हुआ है- **अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति** (बृह०६.३.३)।

१६५. मन्यु-क्रोध— मन्यु शब्द के पर्याय हैं- स्तोत्र, कर्म, शोक, याग, क्रोध (अनीति के प्रति क्रोध), साहस, अहंकार आदि। शिव और अग्नि को भी मन्यु कहा गया है। इन्द्रदेवता ने मन्यु के द्वारा वृत्र का हनन किया- **मन्युना वृत्रहा** (तै०.सं० ४.४.८.१)। मन्यु के द्वारा संयुक्त होकर इन्द्र ने असुरों को मिटाया- **मन्युना वै युजेन्द्रोऽसुरानबाबाधत** (मै०ब्रा० ४.६.३)। मन्यु के द्वारा ही पराक्रम प्रेरित होता है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है- **मन्युना वै वीर्यं क्रियते, इन्द्रियेण जयति** (मै०ब्रा०२.२.१२)। वराह के क्रोध को मन्यु कहकर निरूपित किया गया है- **पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः** (तै० ब्रा० १.७.९.४)। क्रोध के विषय में महर्षि वाल्मीकि कहते हैं- वे श्रेष्ठ और महात्मा लोग धन्य हैं जो उठते हुए क्रोध को विवेक से वैसे ही दबा देते हैं, जैसे जलती आग को जल से (वा० सु०का० ५५.४)। क्रोध लोभ से उत्पन्न होता है तथा पराये दोष देखने से भड़कता है। हे राजन्! क्षमा द्वारा वह रुकता है तथा क्षमा से ही शान्त हो जाता है (महा० शा०प० १६३.७)।

१६६. मर्त्य— मर्त्य का सामान्य अर्थ मरणधर्मा या मरणशील है। मरने वाला या नश्वर जगत् मर्त्य है। अनेक स्थानों पर मनुष्य के लिए मर्त्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः मनुष्य लोक या भूलोक को मर्त्यलोक भी कहा गया है। मनुष्य लोक का निवासी यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणशील (मर्त्य) है, इस तथ्य को जानने वाला अमर-अजर देवात्माओं (अथवा आत्मा) का सङ्ग पाकर वैसा ही होता है-**अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्** (कठ० १. १.२८)। यह मरणधर्मा मनुष्य धान्य की तरह पकता है और धान्य की तरह फिर उत्पन्न होता है- **सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः** (कठ० १. १.६)। जिस समय मनुष्य के हृदय में स्थित कामनाओं का नाश हो जाता है, उस समय मरणधर्मा मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है और यहीं उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है-**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति** (बृह०४.४.७)।

१६७. महात्मा— जिसकी आत्मा बहुत उच्च हो, जिसका स्वभाव, आचरण और विचार आदि बहुत उच्च हो, ऐसे महानुभाव को महात्मा कहा गया है। महादेव शिव के पर्याय के रूप में महात्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है। दर्शनशास्त्र में यह शब्द उच्च आत्मा, परमात्मा या विश्वात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। किसी सन्त या महापुरुष के लिए आदरवाचक अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। महात्मा यमराज ने नचिकेता की बुद्धि से प्रसन्न होकर वर दिया-

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः (कठ० १.१.१६)। महात्माजन दैवी प्रकृति के आश्रित होकर उस परमात्मा को भजते हैं- **महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः** (गी० ९.१३)।

१६८. महावाक्य— वेदान्त शास्त्र में जीव और ब्रह्म में ऐक्य प्रतिपादित करने वाले वाक्य महावाक्य कहलाते हैं। प्रमुख रूप से चार महावाक्य शुकरहस्योपनिषद् में वर्णित हुए हैं- **ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म** ॥ १ ॥ **ॐ अहं ब्रह्मास्मि** ॥ २ ॥ **ॐ तत्त्वमसि** ॥ ३ ॥ **ॐ अयमात्मा ब्रह्म** ॥ ४ ॥ इसमें भगवान् शिव ने शुकदेव मुनि को षडङ्गन्यास पूर्वक महावाक्यों का उपदेश किया है। इसमें नमः, स्वाहा, वषट्, हुम्, वौषट्, फट्- इन छः बीजाक्षरों के साथ षट् करन्यास तथा षट् अङ्गन्यास सहित महावाक्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन दृष्टिगोचर होता है। तत्त्वमसि- यह महावाक्य अभेदवाचक है, जो इसका जप करते हैं, वे भगवान् शिव की सायुज्य मुक्ति के भाजक होते हैं- **तत्त्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जपन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तिभाजो भवन्ति** (शु०र०)। महावाक्य पदों का उपदेश- आत्मस्वरूप सूर्य प्रकाश के सदृश निरूपित हुआ है। उपनिषद् का कथन है कि अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि के कारण मैं अज्ञान के अन्धेरे में पड़कर 'मैं' 'मेरे' की मोहात्मक स्थिति में पहुँच गया हूँ। गुरुदेव द्वारा महावाक्य पदों का उपदेश प्राप्त कर आत्मस्वरूप सूर्य के प्राकट्य से मेरी निद्रा भंग हो गई है-**अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्। स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः** (शु०र०)।

१६९. मातरिश्वा— अन्तरिक्ष में प्रवहमान वायु का एक नाम मातरिश्वा है। कहीं-कहीं अग्नि को भी मातरिश्वा संज्ञा प्रदान की गई है। इसे प्राणदाता पितारूप में स्वीकार किया गया है- **व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः** (प्रश्न० २.११)। मातरिश्वा अप् (सृष्टि का मूल घटक) को धारण किये रहता है- **तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति** (ईश०४)। केनोपनिषद् में यक्ष को वायुदेव कहते हैं- मैं ही वायु हूँ और मैं ही मातरिश्वा के नाम से प्रसिद्ध हूँ-**वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति** (केन० ३.८)।

१७०. माया— द्र०-अविद्या।

१७१. मीमांसा— षड्दर्शनों में अन्तिम युग्म "मीमांसा" के दो भाग हैं- पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। मीमांसा का शाब्दिक अर्थ है- किसी तत्त्व का विचार, निर्णय या विवेचन। पूर्व मीमांसा में यज्ञपरक वेद वचनों की व्याख्या है, इससे इसे 'यज्ञविद्या' भी कहते हैं। उत्तर मीमांसा उपनिषद् भाग से सम्बन्धित है, अतः इसे वेदान्त कहते हैं। पूर्व मीमांसा सूत्र के प्रणेता जैमिनि ऋषि हैं। इसकी व्याख्या के रूप में कुमारिल भट्ट ने तन्त्र वार्तिक और श्लोकवार्तिक की रचना की है। माधवाचार्य ने जैमिनीय न्यायमाला विस्तार नामक एक भाष्य की रचना की है। प्रभाकर भी इसी मत के प्रमुख प्रतिपादक थे। बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया रूप में इन वेदज्ञों ने अपने धर्म को सुव्यवस्थित किया। पूर्व मीमांसा को कर्म प्रधान और उत्तर मीमांसा को ज्ञान प्रधान माना गया है।

१७२. मुक्ति-मोक्ष— मुक्ति शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने से होती है, जिसका अर्थ है-छुटकारा पाना। संसार के जन्म-मरण-बन्धन से छुटकारा मिलने की अवस्था मुक्ति कहलाती है। वासना, तृष्णा और अहंता या लोभ, मोह, अहंकार के बन्धनों से छुटकारा पाने की अवस्था भी मुक्ति कहलाती है। इसका दूसरा अर्थ ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति या मोक्ष है। ज्ञान और विद्या से ही साधक को मुक्ति मिलती है। मीमांसक कर्म को और भक्तिमार्गीय उपासना को मुक्ति का कारण मानते हैं। श्रवण,मनन, निदिध्यासन और समाधि-ये चार मुक्ति के साधन के रूप में प्रतिपादित हुए हैं। उपनिषद् में वर्णन है कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है- **ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्** (तै०उ०२.१)। साधक उस ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है- **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (श्वेता०३.८)। कर्म को बन्धन का कारण और ज्ञान को मोक्ष का संसाधक माना गया है। गीता में कहा गया है कि ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है- **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** (गी०४.३७)। वस्तुतः मनुष्य के बन्धन और दुःख का कारण अविद्या है, उसी की निवृत्ति को मुक्ति कहा गया है। जीव ब्रह्म है-**अयमात्मा ब्रह्म**; परन्तु अविद्या के कारण जीव ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य को भुला देता है। उपनिषद् के अनुसार नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार द्वारा अनित्य संसार के दुःख-सुख देने वाले सम्पूर्ण विषयों पर से ममता रूप बन्धन को नष्ट कर देना मोक्ष है- **मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तु विचारादनित्यसंसारसुखदुःखविषयसमस्त क्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः** (निरा०२८-२९)।

१७३. मुहूर्त— दिन-रात का तीसवाँ भाग या १२ क्षण या १२० पल या दो दण्ड या दो घड़ी या ४८ मिनट के काल को मुहूर्त कहते हैं। फलित ज्योतिष के अनुसार गणना करके निकाला हुआ कोई समय, जिस पर शुभ कार्य प्रारम्भ किया जाता है, मुहूर्त कहलाता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने दिन और रात्रि के १५-१५ भागों या मुहूर्तों को लोकम्पृणों के रूप में देखा। ये (देवों द्वारा) निरन्तर रक्षित होते हैं, इसलिए इनका नाम मुहूर्त (मुहुः+त्रायन्ते) है- **स (प्रजापतिः) पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यदात्मनस्तन्वो मुहूर्ताँल्लोकम्पृणाः पञ्चदशैव रात्रेस्तद्यन्मुहुस्त्रायन्ते तस्मान्मुहूर्ताः** (शत०ब्रा०१०.४.२.१८)। एक दिन में ३० मुहूर्त होते हैं और एक संवत्सर या १२ मास में १०८०० मुहूर्त होते हैं।

१७४. मूढ़— नासमझ, जड़बुद्धि, अज्ञानी, मूर्ख व्यक्ति को मूढ़ कहा गया है। ऐसे व्यक्ति अपने हित या अनहित को नहीं समझ सकते। लोक प्रचलन जिस दिशा में हो, उसी दिशा में बह जाते हैं। कठोपनिषद् में वर्णित है कि अविद्या के भीतर रहकर भी अपने आपको बुद्धिमान् और विद्वान् मानने वाले मूढ़ लोग वैसे ही चारों ओर भटकते और ठोकर खाते रहते हैं, जैसे अन्धे के द्वारा ले जाये जाने वाला अन्धा व्यक्ति-**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः** (कठ०१.२.५)। कर्त्तापन आदि के अहंकार भाव पर आरूढ़ व्यक्ति मूढ़ है- **कर्त्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः** (निरा०३३)।

१७५. मृत्यु — द्र०-अमृत।

१७६. मेधा— 'धीर्धारणावती मेधा' इस कोश वाक्य के अनुसार धारणा शक्ति से सम्पन्न बुद्धि का नाम मेधा है। स्मरण रखने की मानसिक शक्ति, प्रज्ञा या धारणा या उत्कृष्ट बुद्धि को भी मेधा कहा गया है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर मेधा प्राप्ति की प्रार्थनाएँ की गयी हैं। उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा न प्रवचन से, न मेधा से, न बहुत सुनने (शास्त्रादि) से प्राप्त होती है- **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन** (कठ०१.२.२३)। इन्द्रदेव से मेधा बुद्धि से सम्पन्न करने की प्रार्थना उपनिषद् में है- **स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु** (तैत्ति०१.४.१)। ओङ्कार को मेधा से ढकी हुई ब्रह्म की निधि कहा गया है- **ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः** (तैत्ति० १.४.१)। उस प्रजापति पिता ने मेधा और तप के द्वारा सात प्रकार के अन्नों को उत्पन्न किया- **यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता** (बृह०१.५.२)।

१७७. मोक्ष— द्र०-मुक्ति।

१७८. मोह-ममता-आसक्ति— मोह-ममता और आसक्ति ये प्रवृत्तियाँ प्रायः एक ही भाव में ली जाती हैं। गीता में मोह को तामसिक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है- **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन** (गी०१४.१३)। भगवान् ने गीता में (गी०२.५२) मोह को कीचड़ रूप कहा है, इसमें बुद्धि फँस जाती है तो और अधिक फँसती जाती है। व्यक्तिपरक अथवा प्राणिपरक लगाव को ममता कहते हैं और पदार्थपरक आकर्षण या लगाव को आसक्ति कहते हैं। मोह प्राणी अथवा पदार्थपरक दोनों हो सकता है। गीता ३.१९ में भगवान् ने अर्जुन को अनासक्त होकर कर्म करने का निर्देश दिया है। जब साधक अपने आत्मतत्त्व को सब भूतों में प्रकट हुआ जान लेते हैं, तब मोह और शोक से मुक्ति पाते हैं - **यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः** (ईश०७)। ममता होने में जीव रहता है। ममता के छूट जाने पर वह कैवल्यस्वरूप हो जाता है- **ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः** (यो०चू०८४)। यह कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय असार हैं, इनमें आसक्त हुआ भूतात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं याद रखता- **शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्** (मैत्रा०४.२)।

१७९. यक्ष— यक्ष एक प्रकार की अर्ध देवयोनि है। ये एक प्रकार के देवता हैं, जो कुबेर के सेवक और उनकी निधियों के रक्षक हैं। यक्षों के राजा कुबेर हैं। पुराणों के अनुसार ये प्रचेता की संतान हैं। बड़ के वृक्ष को यक्षतरु कहते हैं, क्योंकि यक्षों को वटवृक्ष बहुत प्रिय होता है। केनोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि वह ब्रह्म देवताओं के अभिमान को नष्ट करने के लिए यक्ष रूप में उनके सामने प्रकट हुआ-**तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमेतद्यक्षमिति** (केन०३.२)। यक्ष लोक अन्तरिक्ष में है, क्योंकि अन्तरिक्ष को यक्षों, गन्धर्वों और अप्सराओं द्वारा सेवित माना गया है-**यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षम्** (नृ०पू०१.२)। गीता में भगवान् का कथन है कि

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजसी पुरुष यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं- **यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः** (गी०१७.४)।

१८०. यज्ञ-अग्निहोत्र— भारतीय संस्कृति का प्रमुख वैदिक कृत्य जिसमें अग्नि प्रज्वलित कर हव्य पदार्थों की आहुति देते और इष्ट देवों की प्रार्थनाएँ किया करते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त संस्कारों की परम्परा के साथ हवन-यज्ञ किया करते हैं। इसके पर्यायवाची शब्दों में अध्वर, क्रतु, इष्टि, सवन, हवन, होम, अग्निहोत्र आदि हैं। यज्ञ की व्यवस्था करने वाले यजमान तथा यज्ञ कराने वाले ऋत्विज् कहलाते हैं। यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख हुआ है- सोमयाग, अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ, ऋतुयाज, अग्निष्टोम, अतिरात्र, दशरात्र, दर्शपूर्णमास, पवित्रेष्टि, पुत्रकामेष्टि, चातुर्मास्य, सौत्रामणि, पुरुषमेध आदि। ये यज्ञ तीन प्रकार के माने जाते हैं- **१. पाक यज्ञ**- औपासन होम, वैश्वदेव, अष्टका आदि, **२. हविर्यज्ञ**- अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्य आदि, **३. सोमयज्ञ**- अग्निष्टोम, वाजपेय, अतिरात्र आदि। निरुक्त के अनुसार यजन कर्म यज्ञ है- **यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याञ्च्यो भवतीति वा** (निरु०३.१९)। निरुक्त के अनुसार यज्ञ के १५ नाम हैं- यज्ञ, वेन, अध्वर, मेध इत्यादि। सम्पूर्ण यज्ञ कर्म अग्निहोत्र में सम्पन्न होते हैं- **अग्निहोत्रे वै सर्वे यज्ञक्रतवः** (मै०ब्रा०१.८.६)। सम्पूर्ण लोक यज्ञ की धुरी या यज्ञ के आधार पर अवलम्बित है। अतः यज्ञ को इस लोक का केन्द्र कहा गया है- **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः** (यजु०२३.६२)। यज्ञ को देवों की आत्मा कहकर स्वीकार किया गया है- **यज्ञो वै देवानामात्मा** (शत०ब्रा०९.३.२.७)। श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ की संज्ञा से निरूपित किया गया है- **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** (शत०ब्रा०१.७.१.५)। अग्निहोत्र की महत्ता छान्दोग्य में वर्णित है, जिस प्रकार क्षुधित बालक माता की यथायोग्य उपासना करते हैं, उसी प्रकार सभी प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं- **यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्य्युपासते। एवंःसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते** (छान्दो० ५.२४.५)। गीता में कहा गया है कि वह सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है- **तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्** (गी०३.१५)।

१८१. यज्ञोपवीत-उपनयन— यज्ञोपवीत का सामान्य शब्दार्थ-यज्ञ का उपवीत (वस्त्र) है। यह यज्ञार्थक जीवन का एक प्रतीक है। यह एक संस्कार परम्परा द्वारा पहनाया जाता है। बालक को गुरुकुल में ले जाने के समय यज्ञोपवीत संस्कार कराया जाता था। ऐसी मान्यता है कि इससे बालक का दूसरा जन्म होता है, इसके बाद वह सूक्ष्म ज्ञान और संस्कार को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। याज्ञ० स्मृति के अनुसार बालक के ज्ञान, शौच और आचार का विकास कराना-यह उपनयन का उद्देश्य है- **उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्। वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्** (या०स्मृ०१.१५)। आचार्य महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री मंत्र के उच्चारण के द्वारा शिष्य का उपनयन करता है। गायत्री मंत्र में नौ शब्द हैं। यज्ञोपवीत की तीन लड़ों में तीन-तीन धागे होते हैं, इस प्रकार नौ सूत्रों से यज्ञोपवीत बन..ा है। इसे व्रतबन्ध भी कहते हैं। उपवीतधारी को नौ गुणों या व्रतों के बन्धन से बाँधते हैं। उपनयन न होने से व्यक्ति व्रात्य अर्थात् पतित और समाज से बहिष्कृत माना जाता था। यह सूत्र योगी, योग-वेत्ता और तत्त्वदर्शियों को धारण करना चाहिए-**तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान्** (ब्रह्म० ८)। जो इस सूत्र को ब्रह्म भाव से धारण करता है, वही चैतन्य है- **ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः** (ब्रह्म० ८)। ज्ञानरूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुरुषों के हृदय में ब्रह्मरूप सूत्र रहता है- **सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्** (ब्रह्म० १०)।

१८२. यति — **द्र०- संन्यासी।**

१८३. याज्या-शस्या-शस्त्र— यज्ञ संबंधी सूक्त ऋचा अथवा मंत्र को याज्या कहते हैं और वेद की ऋचा को शस्या कहते हैं। परवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है- **इयं (पृथिवी) हि याज्या** (शत० ब्रा० १.४.२.१९)। **अन्नं वै याज्या** (गो०ब्रा० २.३.२२)। होता जिन मंत्रों से स्तुति करता है, उसे शस्त्र कहते हैं। उद्गाता द्वारा उच्चारित मन्त्र स्तोत्र कहे गये हैं। साम को देवरूप और शस्त्र को प्रजारूप मानकर निरूपण किया गया है-**साम वै देवाः प्रजाः शस्त्राणि** (जै०ब्रा० १.२७७)। कहीं वाणी को ही शस्त्र स्वीकार किया गया है-**वाग्घि शस्त्रम्** (ऐ० ब्रा० ३.४४)

१८४. योग— योग के पर्यायवाची शब्द हैं- जोड़ना, मिलाना, संयोग, संबंध, संगति, ध्यान, युक्ति, चित्तवृत्ति का निरोध आदि। योग के व्यवहारतः विविध भेद हैं; जैसे- मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि- **योगो हि बहुधा**

ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः (यो०त० १९)। योग के आठ अंग माने गये हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हें अष्टांग योग कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन की रचना की। इन्होंने योग दर्शन को चार भागों या पादों- समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य में विभाजित किया। जो साधक योग का अभ्यास करते हैं, उन्हें अनेकों विलक्षण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें विभूति या सिद्धि कहते हैं। विज्ञान भिक्षु का **'योगसार संग्रह'** योग का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। गीता में भगवान् ने योग को कर्म का कौशल कहकर निरूपित किया है- **तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्** (गी० २.५०)। योग को शरीर, मन और अन्तःकरण इन तीन साधनों के द्वारा क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग- इन तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है। कठोपनिषद् का कथन है कि इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है- **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्** (कठ० २.३.११)। गीता के अनुसार असंयत आत्मा (मन) वाले को योग प्राप्त करना कठिन है- **असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः** (गी० ६.३६) । जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा के योग में लगे हुए संयतचित्त योगी की स्थिति कही गयी है-**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः** (गी० ६.१९)। योग युक्त आत्मा सबको समभाव से देखने वाला अपने को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में देखता है- **सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः** (गी० ६.२९)।

१८५. **योग-क्षेम—** 'योग-क्षेम' शब्द दर्शन जगत् का बड़ा ही प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय शब्द है। सामान्य आध्यात्मिक जीवन की प्रवृत्ति वाला मनुष्य अपने जीवन में योग-क्षेम की ही आकांक्षा रखता है। योग-क्षेम का तात्पर्य है 'प्राप्त भोग पदार्थ सुरक्षित बने रहें तथा जो अप्राप्त हैं, वे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों। योग-क्षेम की शास्त्रीय परिभाषा है- **'अप्राप्तस्य प्रापणं योगः,' 'प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः'** अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति 'योग' है और प्राप्त की रक्षा क्षेम है। सामान्य जीवनचर्या के लिए यह आवश्यक है, परन्तु जो सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक जीवन के पथिक हैं, वे इस योग-क्षेम की तुलना में ब्रह्मज्ञान- आत्मज्ञान की प्राप्ति अभीष्ट मानते हैं; क्योंकि यही मुक्ति का आधार है। **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** - यह उक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। ज्ञान (ब्रह्मज्ञान-आत्मज्ञान) के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। कठोपनिषद् में यह तथ्य बड़े स्पष्ट शब्दों में व्याख्यायित हुआ है कि सामान्यजन (मन्द व्यक्ति) योग-क्षेम का आधार होने से 'प्रेय' मार्ग का वरण कर लेते हैं, जबकि यह नश्वर है। भौतिक सुख-सुविधा के साधन अनित्य ही हैं। इसलिए परमकल्याण (मोक्ष) पथ के पथिक इसकी चाह नहीं करते, वे श्रेय मार्ग- आत्मसाक्षात्कार-ब्रह्मसाक्षात्कार का मार्ग अपनाते हैं, भले ही कष्ट साध्य जीवन क्यों न जीना पड़े। इस प्रकार योग-क्षेम सामान्य जनों का आकांक्षणीय है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि जो अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, उसका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। उसे अपने योगक्षेम की चिन्ता नहीं करनी चाहिए-**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्** (गी० ९.२२)।

१८६. **योनि—** योनि शब्द सामान्यतय उद्गम या उत्पत्ति स्थान अथवा उत्पादक कारण के रूप में प्रयुक्त होता है। जीवात्मा के ८४ लाख योनियों में परिभ्रमण की मान्यता भी प्रसिद्ध है। प्राणियों के ये विभाग या वर्ग प्रधानतः चार हैं- अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज। कुछ विद्वानों के मत से ये चारों इक्कीस-इक्कीस लाख हैं। इन सबमें मनुष्य योनि को श्रेष्ठ-सर्वोत्तम और दुर्लभ कहा गया है। योनि और रेतस् की संगति गायत्री और रथन्तर से की गयी है- **रेतो वै गायत्र्यै रथन्तरं, योनिर्वै रथन्तरस्य गायत्री** (जै०ब्रा० ३.२९२)। पृथिवी को भी योनि कहकर निरूपित किया गया है-**योनिर् वा इयं (पृथिवी)** (शत०ब्रा० १२.४.१.७)। सभी प्राणी संवत्सर (काल) से उत्पन्न होते हैं, अतः संवत्सर को सम्पूर्ण प्राणियों की योनि कहा गया है- **संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां योनिः** (शत०ब्रा०८.४.१.१८)। उपनिषद् में वर्णन है कि प्रजापति ने मुख रूप योनि (केन्द्र) से दोनों हाथों द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया- **स (प्रजापतिः) मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत** (बृह०१.४.६)।

१८७. **राग-द्वेष—** किसी इष्ट वस्तु या सुख आदि को प्राप्त करने की अभिलाषा या उसके प्रति आकर्षण या अनुराग आसक्ति का भाव राग कहलाता है। पतंजलि ने पाँच प्रकार के क्लेशों में से एक क्लेश राग को माना है। उनके अनुसार जब कोई व्यक्ति सुख भोगता है, तो उसकी प्रवृत्ति और अधिक सुख पाने की होती है, इसी प्रवृत्ति को

उन्होंने राग कहा है। महर्षि पतंजलि ने राग का मूल अविद्या और परिणाम क्लेश बताया है। द्वेष इसका विपरीतार्थक शब्द है। चित्त को अप्रिय लगने वाली वस्तु, व्यक्ति या प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं। योग दर्शन के अनुसार सुख-भोग के अन्दर अन्तःकरण में रहने वाली जो अभिलाषा विशेष है, वह राग है-**सुखानुशयीरागः** (यो० द० २.७)। न्याय दर्शन में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इन सबको रागपक्ष या राग कहकर निरूपित किया गया है- **रागपक्षः कामो मत्सरः, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इति।** प्रशस्तपाद भाष्य में द्वेष के पाँच भेद किये गये हैं- द्रोह, क्रोध, मन्यु, अक्षम, अमर्ष। योग दर्शन के अनुसार दुःख में बसने वाली अन्तःकरण की प्रवृत्ति द्वेष है- **दुःखानुशयी द्वेषः** (यो०द० २.८)। राग-द्वेष रजोगुण का विकार है। गीता में निर्देश है कि रजोगुण को रागात्मक तृष्णा तथा आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान-**रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्** (गी० १४.७)। उपनिषद् में इन विकारों की तुलना राक्षसों से की गयी है। द्वेष चाणूर मल्ल है। मत्सर दुर्जय मुष्टिक है-**द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः**। (कृष्णो० १४)। गीता में भी इन दोनों विकारों को जीव का शत्रु कहा गया है- **इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ** (गी० ३.३४)।

१८८. रयि— रयि शब्द कोश ग्रन्थ में जल, सोम रूप अन्न भोजन या सम्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आदित्य को प्राण स्वरूप और रयि को चन्द्रस्वरूप प्रतिपादित किया गया है। स्थूल और सूक्ष्म (मूर्त और अमूर्त) प्रकृति के सभी घटकों को रयि माना गया है- **रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च** (प्रश्न० १.५)। पितृयान मार्ग जो चन्द्रलोक होकर जाता है, उसे रयि कहा है- **एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः** (प्रश्न. १.९)। मनुष्यगण रयिरूपी लौकिक सम्पदा की अभिलाषा सदैव करते रहते हैं। उपनिषद् में वर्णित है कि उस विराट् पुरुष को सभी अपनी अभिलाषा के अनुरूप समझते हैं। देवता उसे अमृतरूप में अपनाते हैं। मनुष्यगण उसे रयि (लौकिक सम्पदा) के रूप में मानते हैं- **ऊर्गिति देवाः । रयिरिति मनुष्याः** (मुद्ग० ३.२)। पितृयान मार्ग का सम्बन्ध दक्षिणायन तथा कृष्णपक्ष से है, अतः दक्षिणायन या कृष्णपक्ष को भी रयि कहा गया है।

१८९. लिङ्ग— लिङ्ग का सामान्य अर्थ है- लक्षण , प्रतीक, चिह्न, निशान, जिससे किसी का बोध हो। जैसे पुल्लिंग से पुरुष का बोध होता है और शिवलिंग से शिव का बोध होता है; अतः लिङ्ग 'बोधक' अर्थ में प्रयुक्त होता है। धूम्र अग्नि का लिङ्ग है। उस परम पुरुष का बोध अन्य किसी भी तत्त्व से नहीं हो सकता, अतः उसे अलिङ्ग भी कहा गया है। लिङ्ग पुराण में शिव के दो रूप वर्णित हैं- १. निर्गुण शिव, उन्हें अलिङ्ग कहा गया है, २. जगत्कारण रूप शिव, जिनका बोधक शिवलिङ्ग है। कहीं लिङ्ग को अव्यक्त अथवा अमूर्त सत्ता का स्थूल प्रतीक कहा गया है। कहीं इसे प्रकृति बोधक भी माना गया है। उपनिषद् में उस विराट् परम पुरुष को निराकार रूप होने के कारण अलिङ्ग कहा गया है-**अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च** (कठ० २.३.८)।

१९०. लोक,परलोक,सप्तलोक— हमारे पुराशास्त्रों में सात लोकों का प्रायः उल्लेख मिलता है। वस्तुतः धरती और इसके ऊपर सात लोक हैं तथा धरती से नीचे भी सात लोक हैं। इस प्रकार कुल चौदह लोक हो जाते हैं। चूँकि ऊपर-नीचे सात-सात लोक हैं, इसलिए उपलक्षण में सात लोक ही कहे जाते हैं। ऊर्ध्व सप्तलोक हैं- **भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः,** और **सत्यम्** तथा अधः लोक हैं- **अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल** (पद्मपु०)।

यहाँ उपनिषदों के परिप्रेक्ष्य में इनका दार्शनिक स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। दार्शनिक मान्यता के अनुसार शीर्षस्थ इन्द्रियों के जो स्थान हैं (२ आँख , २ कान, २ नाक एवं १ जिह्वा), वे ही सप्त लोक हैं, क्योंकि प्राण इन्हीं स्थानों में विशेष रूप से संचरित होते हैं। इस प्रकार ये इन्द्रिय गोलक 'लोक' कहे जा सकते हैं, चूँकि इनकी संख्या सात है, इसलिए ये सप्तलोक कहे जाते हैं। उपनिषदों में प्रायः दो लोकों का उल्लेख मिलता है- इह लोक और परलोक। दूसरे शब्दों में इसे ही 'अयं लोक' और 'असौ लोक' कहा गया है। निरुक्त में तीन लोकों का उल्लेख मिलता है- पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। सुश्रुत में दो लोक हैं- स्थावर और जङ्गम।

१९१. वरदान — किसी देवी-देवता या महापुरुषों से माँगा हुआ मनोरथ वरदान कहलाता है। वह कथन जिसके लिए देवों से प्रार्थना की जाय या उनसे प्राप्त हुआ फल भी वरदान कहलाता है। वर का एक अर्थ-श्रेष्ठ या सर्वोत्तम भी है। कठोपनिषद् का कथन है कि उठो! जागो! और श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर उस आत्म तत्त्व को जान लो-

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (कठ० १.३.१४)। आत्मा को वर कहा गया है- **आत्मा हि वरः** (काठ० सं० २८.५)। परमात्मा की सम्पूर्ण रचना श्रेष्ठतम है- **सर्वं वै वरः** (शत०ब्रा०२.२.१.४)। नचिकेता ने महात्मा यमराज से तीन वरदान प्राप्त किये थे- **तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीस्व** (कठ० १.१.९)।

वस्तुतः देवशक्तियाँ 'वरदान' (वर=श्रेष्ठ, दान) देती हैं, जबकि मनुष्य अपनी इच्छानुसार माँगता है। इसलिए दोनों का क्रम ठीक न बैठने से बात बनती नहीं।

१९२. वषट्कार-हन्तकार— देवों के निमित्त किया हुआ यज्ञ विशेष वषट्कार कहलाता है। कहीं-कहीं यह स्वाहाकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसे यज्ञ की प्रतिष्ठा कहकर निरूपित किया गया है-**वषट्कारो वै यज्ञस्य प्रतिष्ठा** (तैत्ति० सं० ७.५.५.३)। इसे वैश्वानर (अग्नि) और सूर्य से भी सम्बद्ध किया गया है- **वैश्वानरो वषट्कारः** (मै०ब्रा०४.६.७)। **एष एव वषट्कारो य एष** (सूर्यः) **तपति** (शत०ब्रा०१.७.२.११)। अतिथि या संन्यासी आदि के लिए गृहस्थ भोजन का अल्प अंश निकाला करते थे, यह अंश पुष्कल का चौगुना या मोर के सोलह अण्डों के बराबर होता था, इसे हन्तकार कहा जाता था। मनुष्यों (अतिथियों) के लिए जो भेंट निकाली जाती है, वह हन्तकार है- **निवीती हन्तकारेण मनुष्यांस्तर्पयेदथ।**

१९३. वाजी— द्र०-अश्व।

१९४. वानप्रस्थ— द्र०-चतुराश्रम।

१९५. विकार— किसी वस्तु , व्यक्ति या क्षेत्र की मूल वृत्तियों में बदलाव आ जाना विकार कहलाता है। विकृति, खराबी, अवगुण या दोष को भी विकार कहते हैं। व्यक्ति में प्रायः काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, निराशा, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष आदि मानसिक विकार पाये जाते हैं। गीता में कहा गया है कि विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का ध्यान-चिन्तन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, कामना से क्रोध उत्पन्न होता है- **ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते** (गी०२.६२)। काम, क्रोध, लोभ इन तीन विकारों को नरक का द्वार कहा गया है, ये आत्मा का नाश करने वाले हैं, इन तीनों का त्याग करना चाहिए- **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्** (गी०१६.२१)। धीर प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव बताते हुए कहा गया है कि विकार (काम, क्रोध आदि) की स्थिति आने पर भी जिनके चित्त में विकार नहीं उत्पन्न होता, वे वास्तव में धीर (धैर्यवान्) हैं- **विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः** (कु०सं० १.५९)।

१९६. विद्या,ज्ञान — **विद्यते अनया सा विद्या** अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, वह विद्या है। नित्यानित्य वस्तु का विवेक प्रदान करने वाली शक्तिधारा 'विद्या' कही जाती है। परमात्मसत्ता नित्य है। सदैव विद्यमान रहती है, जबकि उससे भिन्न जो कुछ भी है, वह अनित्य है, नश्वर है, परिवर्तनशील है- इस तथ्य का बोध (स्वानुभूति) होते ही व्यक्ति भवबन्धनों से मुक्त हो जाता है। जैसा कि आचार्य शंकर ने लिखा है- **सा विद्या या विमुक्तये** (जो सांसारिक बन्धनों से जीवात्मा को मुक्त कर दे, वही विद्या है।) इसी को अमृतत्व की प्राप्ति कहा जाता है- **विद्ययाऽमृतमश्नुते** (ईश०११; मैत्रा०७.९), **विद्यया विन्दतेऽमृतम्** (केन० २.४)।'अविद्या' अन्धकार की स्थिति है, चैतन्यस्वरूप आत्मा पर आवरण डाल देती है, जबकि विद्या प्रकाश की स्थिति है, चैतन्य स्वरूप पर पड़े आवरण को दूर करके उसका बोध-साक्षात्कार करा देती है- **विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते** (१ संन्या०२.८३)। संन्यासोपनिषद् में इसीलिए कहा गया है कि जो विद्या के अभ्यास (साधना) में प्रमाद (आलस्य) करता है, वह दिन में सोये रहने के समान है, अर्थात् दिन के बहुमूल्य समय को सोने में व्यर्थ गँवा देने के समान है- **विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवा स्वाप उच्यते** (१ संन्या० २.८४)। अतएव समय रहते '**विद्या**' की प्राप्ति का परमपुरुषार्थ करके आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त कर लेना चाहिए- **विद्यया साधयेत** (संहि० ३.४)।

१९७. विद्वान् — विद्वान् का शाब्दिक अर्थ है- ज्ञाता, जानकार, बुद्धिमान्, विद्यायुक्त। यह शब्द वेद-उपनिषद् में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। अग्निदेव हमारे सम्पूर्ण कर्मों को जानने वाले हैं, अतः उन्हें विद्वान् कहा गया है- **विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्** (ईश० १८)। उपनिषद् के अनुसार विद्वान् नाम-रूप से मुक्त होकर उत्तमोत्तम दिव्य पुरुष को

प्राप्त होता है-**तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्** (मुण्ड०३.२.८)। सबके भीतर रहने वाले आत्मा के स्वरूप का बोध करने वाला विद्वान् है-**सर्वान्तरस्थ स्व संविद्रूपविद्विद्वान्** (निरा०३२)।

१९८. विधाता-धाता— विधान करने वाला, रचने वाला, बनाने वाला, उत्पन्न करने वाला, सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्मा या ईश्वर को विधाता कहा गया है। इसे धाता भी कहा गया है; जिसका अर्थ है, पालन करने वाला, धारण करने वाला या रक्षा करने वाला। ऋग्वेद में आदित्य देव को विश्वकर्मा, धाता और विधाता कहा गया है- **विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्** (ऋ० ८.३.१७)। निरुक्त की दुर्गवृत्ति में सब भूतों को उत्पन्न करने वाले को धाता तथा आजीविका आदि कर्मों में प्रवृत्त करने वाले को विधाता कहा गया है- **धाता उत्पादयिता सर्वभूतानाम्.....विधाता जीवनस्य जीवतां च साध्वसाधुषु कर्मसु प्रवर्तमानानां** (निरु० दुर्गवृत्ति १०.२६)। आगे निरुक्त में वर्णित है कि धाता ही सबका विधाता है-**धाता सर्वस्य विधाता** (निरु० ११.१०)। वह परमेश्वर ही विष्णु,नारायण,अर्क, सविता,धाता,विधाता और इन्द्र है- **विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इति** (मैत्रा० ५.८)।

१९९. विराट् पुरुष— सार्वभौम शक्ति सम्पन्न परम पुरुष को विराट् पुरुष कहा गया है। दृश्य-अदृश्य अनन्त सृष्टि की रचना करने वाले उस विराट् पुरुष को सहस्रों नामों से पुकारा जाता है-**सहस्राक्षरा वै परमा विराट्** (तां० म० २५. ९.४)। यह स्थूल जगत् उसी विराट् पुरुष का शरीर है। वह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने पर भी उससे दस अंगुल ऊपर अवस्थित है। सम्पूर्ण विश्व जो व्यक्त हुआ है, वह तो उसका एक पाद ही है, शेष तीन पाद तो अभी अव्यक्त हैं (पुरुषसूक्त)। भगवद्गीता के अनुसार भगवान् ने जो अपना विराट् रूप दिखाया था, उसमें सभी लोक, पर्वत, समुद्र,नदी, देवता आदि दिखाई पड़े थे।

२००. विवस्वान्-वैवस्वत— बारह आदित्यों में से एक विवस्वान् है। भागवत पुराण के अनुसार ये आदित्य विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शुक्र तथा उरुक्रम हैं। इनकी पत्नी का नाम संज्ञा है। विवस्वान् के पुत्र का नाम श्राद्धदेव मनु था। संज्ञा पत्नी से इन्हें यम, यमी आदि संतति हुई (भा०पु० ६.६-४१)। वर्तमान काल के मनु वैवस्वत इन्हीं के पुत्र हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार मनु वैवस्वत के दस पुत्र थे- इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नाभाग और कवि (ब्रह्मा० पु० २.३८)। इनकी विदुषी पुत्री इला मैत्रावरुण याग से उत्पन्न हुई थी। (भा०पु०९.१.१५)।

२०१. विषय-भोग— इन्द्रियजन्य सुख को विषय कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द), इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं। विषयों से जिस सुख-दुःख की अनुभूति होती है, उसे भोग कहते हैं। गीता में कहा गया है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की आसक्ति विषयों में हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामना की पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है-**ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते** (गी० २.६२)। मनुष्य के चारों ओर विषयों की अनन्त लहरें उठती रहती हैं, उनमें घिरा हुआ मनुष्य अपना लक्ष्य नहीं देख पाता। जो इन्द्रिय निग्रह नहीं कर पाते, उनकी इन्द्रियाँ, आत्मा, परमात्मा और परमार्थ तत्त्व को छोड़कर विषयों की ओर दौड़ती हैं, उन्हें विषयों में रमण का अभ्यास पड़ जाता है। गीता में भगवान् कृष्ण कुन्तीपुत्र अर्जुन से कहते हैं- जो इन्द्रियों तथा विषयों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे निःसन्देह दुःख की योनियाँ हैं, वे आदि और अन्त वाले (नश्वर) हैं, उनमें बुद्धिमान् नहीं रमते - **ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः** (गी० ५.२२) विषयों में अनासक्त रहने वाला पुरुष अन्तःकरण का सुख पाता है- **बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्** (गी० ५.२१)।

२०२. वीर्यम्— वीर्य के पर्याय शुक्र, तेज, रेतस्, बीज, पराक्रम, पुंसत्व, कांति, साहस आदि हैं। शरीर के सप्तधातुओं में से एक धातु वीर्य है, जिसका निर्माण अन्त में होता है। जिसके कारण शरीर में बल और कांति आती है। आत्मन् (प्रकृति या सूर्य या अग्नि) से वीर्य की प्राप्ति होती है- **आत्मना विन्दते वीर्यं** (केन० २.४)। बृहस्पति रूप के द्वारा उद्गीथ रूप, पितर स्वधा के द्वारा प्रतिहाररूप और इन्द्र वीर्य (पराक्रम) के द्वारा निधनरूप है- **रूपेण बृहस्पतिरुद्गीथं स्वधया पितरः प्रतिहारं वीर्येणेन्द्र निधनम्** (जैमि० १.२१.७)। वीर्य का एक अर्थ पराक्रम है। यक्ष ने अग्नि से पूछा- तुझमें क्या सामर्थ्य है- **तस्मिः स्त्वयि किं वीर्यमिति** (केन० ३.५)।

२०३. वेद-वेदान्त— वेद का अर्थ- 'वास्तविक ज्ञान' से लगाया जाता है; किसी तथ्य को जानने के अर्थ में भी वेद शब्द प्रयुक्त होता है। भारतीय आर्य संस्कृति के चार धार्मिक ग्रन्थ जो सर्वप्रधान और सर्वमान्य हैं, 'वेद' कहलाते हैं। ये ब्रह्मा के चारों मुखों से नि:सृत माने गये हैं। वेदों के भी चार भाग माने गये हैं- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। प्रत्येक वेद की कई- कई शाखाएँ भी प्रचलित हुई हैं। प्रत्येक वेद के स्वतंत्र उपवेद भी व्यवहार में विकसित हुए। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद ये छः वेदों के अंग या वेदाङ्ग कहलाते हैं। ऐसी मान्यता है कि वेदों का वर्तमान रूप में संग्रह और संकलन महर्षि व्यास ने किया है, इसलिए वे वेदव्यास कहे जाते हैं। विष्णु और वायु पुराण में वर्णित है कि स्वयं विष्णु भगवान् ने वेदव्यास का रूप धारण करके वेद के चार भाग किये और ऋक्, यजुः, साम और अथर्व को क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमंत इन चार शिष्यों- ऋषियों को दिया। वेद का अन्तिम ध्येय ब्रह्म और आत्म तत्त्व का प्रतिपादन करना है- **वेदाः ब्रह्मात्मविषयाः** (भा०पु० ११.२१.३५)। वेदों का अन्तिम भाग वेदान्त के रूप में प्रसिद्ध हुआ- **वेदानामन्तः इति वेदान्तः**। वेदान्त सार के अनुसार प्रामाणिक उपनिषदें ही वेदान्त हैं- **वेदान्तो नामोपनिषत् प्रमाणम्** (वे०सा०खण्ड ३)। उपनिषद् के अनुसार पूर्वकल्प में परम गुह्यज्ञान वेदान्त (उपनिषद्) में वर्णित हुआ है- **वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्** (श्वेता० ६.२२)। गीता में भगवान् ने कहा है- वेदान्तकर्त्ता और वेदविद् मैं ही हूँ और वेदों में मैं ही जानने योग्य हूँ- **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्** (गी० १५.१५)।

२०४. वेदाङ्ग —द्र.-वेद-वेदान्त।

२०५. वेदान्त —द्र.- वेद-वेदान्त।

२०६. वैकुण्ठ— भगवान् विष्णु का धाम या स्थान वैकुण्ठ कहलाता है। पुराणानुसार यह धाम सत्यलोक के ऊपर सर्वश्रेष्ठ लोक है। भगवान् विष्णु जिन्हें मोक्ष देते हैं, वे इसी धाम में निवास करते हैं। यहाँ के निवासी अजर-अमर रहते हैं। भगवान् अवतार रूप में स्वर्गवासियों को और सारे वैकुण्ठधाम को भूतल पर उतार लेते हैं- **भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्** (कृष्णो० २५)। उपनिषद् के अनुसार जो साधक '**ॐ नमो नारायणाय**' मन्त्र की उपासना करता है, वह वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है। यह वैकुण्ठधाम विज्ञानघन पुण्डरीक (कमल) है। इसका स्वरूप विद्युत् के समान परम प्रकाशमय है- **ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति। तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभमात्रम्** (नारा० ४)।

२०७. वैराग्य— वह मानसिक वृत्ति जिसमें सम्पूर्ण सांसारिक विषय-भोग तुच्छ प्रतीत होते हैं और मनुष्य सांसारिक प्रपञ्चों से निकलकर एकान्त में आत्म उत्थान तथा प्रभु भक्ति में लगता है, वैराग्य कहलाता है। प्राचीन काल में लोग किसी भी आश्रम अवस्था में वैराग्य होने पर संसार से विरक्त होकर वन में विचरण करते हुए आत्म साधना में संलग्न हो जाते थे। वैराग्य (संसार से विराग)की स्थिति में ही संन्यास ग्रहण किया जाता था। ईश्वर या गुरु या इष्ट देव के प्रति अति विशिष्ट राग (स्नेह संबंध) हो जाने की स्थिति को भी वैराग्य कहा जाता है। उपनिषद् के अनुसार जब भोगने लायक पदार्थों के ऊपर कोई वासना न जाग्रत् हो, तब वह वैराग्य की अवधि (स्थिति) जाननी चाहिए- **वासनाऽनुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः** (अध्या० ४१)। वैराग्य का फल बोध है, बोध का फल उपरति-चित्तवृत्तियों की विश्रांति या विषय भोग से विरक्ति है। उपरति का फल आत्मानन्द के अनुभव से उत्पन्न होने वाली शान्ति है- **वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्** (अध्या० २८)। गीता में भगवान् का कथन है कि मन अत्यन्त चञ्चल और कठिनाई से वश में आने वाला है; किन्तु अभ्यास और वैराग्य से यह वश में आ जाता है-**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते** (गी० ६.३५)।

२०८. वैश्वानर— वैश्वानर शब्द का सामान्य अर्थ 'अग्नि' है। यजन कार्यों में प्रयुक्त अग्नि को '**वैश्वानर**' कहते हैं- **वैश्वानरो विसर्गे तु ....** (गोभिलपुत्रकृत संग्रह)। आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर के अन्दर परमात्म चेतना का वह अंश वैश्वानर कहलाता है,जो भोजन आदि के पाचन में योगदान देता है-**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्** (गी० १५.१४)। वेदान्तदर्शन की मान्यतानुसार 'वैश्वानर' वह चैतन्यांश

है, जो चतुर्विध शरीरधारी (जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज) प्राणियों का समष्टिगत अधिष्ठाता है। वहाँ इसके लिए सुन्दर उदाहरण दिया गया है-जलाशय तथा वन का। जलाशय 'जलबिन्दुओं' का तथा 'वन' वृक्षों का समष्टिगत रूप है। इस तरह चतुर्विध स्थूल शरीरों का समष्टि उपहित चैतन्य- **सर्वनराभिमानित्वात्**-वैश्वानर कहलाता है। विविध रूपों में विराजमान होने के कारण-**विविधं राजमानत्वात्**- यह 'विराट्' भी कहलाता है। 'वैश्वानर' के रूप में स्थूल शरीर की इस समष्टि को 'अन्नमयकोश' तथा जाग्रत् भी कहा जाता है। स्थूल शरीरों के इस समष्टि रूप के विपरीत जो व्यष्टि उपहित चैतन्य है, उसे 'वेदान्त' के अनुसार 'विश्व' संज्ञा प्रदान की गई है। जैसे जलाशय का व्यष्टि रूप जल विन्दु और वन का व्यष्टि रूप वृक्ष होता है, उसी तरह वैश्वानर का व्यष्टि रूप विश्व है। रामतीर्थ ने इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है-**सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद् विश्व इत्युक्तं भवति** (वे०सा० टीका खण्ड १७) 'यह समस्त शरीरों में प्रवेश करने में समर्थ है'। यह सूक्ष्म शरीर(५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ प्राण, मन और बुद्धि) का परित्याग किए बिना ही अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर में प्रवेश करता है। यही अन्नमय कोश कहलाता है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि उपाधि से युक्त होने के कारण इसे जाग्रत् भी कहा जाता है।

२०९.व्यष्टि-समष्टि— समूह या समाज में से अलग किया हुआ प्रत्येक पदार्थ या मनुष्य व्यष्टि कहा जाता है। समूह से छिन्न व्यक्ति या जिसमें सामूहिकता का अभाव हो, वह व्यष्टि रूप में मान्य है। वह सिद्धान्त जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता तथा उसके अधिकार को प्रमुखतया मान्यता मिलती है, व्यष्टिवाद कहलाता है। इसका विपरीतार्थक शब्द समष्टि है। सबके समूह को समष्टि कहते हैं। इसका अन्य पर्याय 'संयुक्त अधिकार' भी है। उपनिषद् में कहीं-कहीं व्यष्टि का अर्थ सर्वव्यापकता भी लिया गया है- **तां (ब्रह्मणः) व्यष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद** (कौ० ब्रा० १.७) अर्थात् वह उस ब्रह्म की सर्वव्यापकता को प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता है। वायु को व्यष्टि और समष्टि रूप दोनों माना गया है, चूँकि वायु शब्द एक का बोधक भी है और कई गैसों का समूह भी है- **तस्माद् वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः** (बृह०३.३.२)। वृक्ष-व्यष्टि है, वन-समष्टि है। जल बिन्दु-व्यष्टि है, जलाशय-समष्टि है।

२१०. व्याहृति—व्याहृति का अर्थ है- कथन, उक्ति, वचन या उच्चारण। इनकी संख्या सात मानी गई है- भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्। इनमें प्रारंभिक तीन महाव्याहृति कही गयी हैं। पौराणिक स्तर पर ये सविता और पृश्नि की कन्या मानी जाती हैं। उपनिषद् ग्रन्थों में व्याहृतियों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है- **भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः** (तैत्ति० १.५.१), **ता एता व्याहृतयः। प्रेत्येति वाग् इति भूर्भुवःस्वरिति (उदिति)** (जैमि० २.९.३)। त्रयी विद्या (तीनों वेदों) के निचोड़ से सारभूत रस अभिस्रवित हुआ। यही सार तीन व्याहृतियाँ भूः, भुवः, स्वः हुईं- **स त्रयीं विद्यामभ्यपीळयत्। तस्या अभिपीळितायै रसः प्राणेदत्। ता एवैता व्याहृतयोऽभवन् भूर्भुवः स्वरिति** (जैमि० १.२३.६)। तीनों व्याहृतियों के निचोड़ से ॐ अक्षर अभिस्रवित हुआ।

२११. व्योम—व्योम आकाश, अन्तरिक्ष या आसमान का सूचक है। मेघ या जल के पर्याय में भी व्योम शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् विष्णु को भी व्योम कहा गया है। भगवान् शिव का एक नाम व्योमकेश है। व्योम को लोक भी कहा गया है- **इमे वै लोकाः परमं व्योम** (शत० ब्रा० ७.५.२.१८)। ब्राह्मण ग्रन्थ में अन्न को भी व्योम कहा गया है-**अन्नं वै व्योम** (तैत्ति०सं० ५.३.३.२)। ब्रह्मविद् की तुलना ब्रह्म से उसी प्रकार की गयी है, जैसे घट के नष्ट होने पर घटाकाश ही महाकाश बन जाता है-**घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्। तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम्** (आत्मो० २२-२३)।

२१२. व्रात्य— व्रात्य का साधारण अर्थ 'व्रत सम्बन्धी' है। व्रात्य शब्द परमेश्वर का भी बोधक है। अथर्ववेद में व्रात्य की महिमा बहुत अधिक गायी गयी है। परवर्ती काल में यह शब्द व्रतों से च्युत, संस्कारभ्रष्ट, पतित और निकृष्ट व्यक्ति का बोधक हो गया है। जिसके दस संस्कार या उपनयन संस्कार न हुआ हो, उसे भी व्रात्य माना जाने लगा। जैमिनीय ब्राह्मण में व्रात्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो सम्भवतः व्रात्य के पर्याय तथा व्रतों के नियम, उपनियम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है- **मुह्यन्तीव वा एते ये व्रात्यां धावयन्ति** (जै०ब्रा० २.२२१)। **ब्रह्मणो वा एते व्यृद्ध्यन्ते ये व्रात्यां धावयन्ति** (जै०ब्रा० २.२२३)। प्रश्नोपनिषद् में 'व्रात्य' शब्द प्राण के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ व्रात्य शब्द 'शुद्ध या पवित्र' भाव से प्रयुक्त हुआ है। प्राण ही व्रात्य है, का तात्पर्य प्राण में संस्कार का प्रयोग नहीं है, वह स्वभावगत शुद्ध और पवित्र है। सबसे पहले शुद्ध रूप में उत्पन्न हुआ है।

२१३. शस्त्र—**द्र०- याज्या।**

२१४. शान्ति— वह स्थिति जिसमें किसी प्रकार की क्रिया, वेग, क्षोभ, उद्विग्नता आदि न हो। चित्त की चंचलता, वासना, तृष्णा आदि का क्षय हो। इसके अन्य पर्याय हैं- स्तब्धता, चैन, आराम, रागादि से निवृत्ति, मृत्यु, अमंगल या अनिष्ट का निवारण। गीता में भगवान् ने कहा है कि जितेन्द्रिय तत्पर श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को पाकर वह परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है-**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** (गी० ४.३९)। आत्मिक (आन्तरिक) आनन्द की अनुभूति से जो शान्ति मिलती है, यह उपरति (विषयभोग से निवृत्ति) का फल है- **स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्** (अध्या०२८)। भावना रहित को शान्ति नहीं मिलती और शान्ति के बिना सुख कहाँ- **न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्** (गी० २.६६)।

२१५. शास्त्र — प्राचीन ऋषियों और मुनियों द्वारा विरचित वे ग्रन्थ, जिसमें उन्होंने जन सामान्य के लिए कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, मर्यादा, व्रत, अनुशासन एवं हितकारी शिक्षण दिया है, शास्त्र कहलाते हैं। इनकी संख्या १८ मानी गयी है- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, और अर्थशास्त्र। आगे सभी धार्मिक ग्रन्थों को शास्त्र की श्रेणी में रखा जाने लगा। गीता में भगवान् का निर्देश है कि जो शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से व्यवहार करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख और परमगति को-**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्** (गी० १६.२३)। आगे उन्होंने अर्जुन को आदेश दिया है कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिए शास्त्र प्रमाण है। अतः शास्त्र विधान को समझकर ही कर्म करना उचित है-**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि** (गी० १६.२४)।

शास्त्रों की निधि जिस ताले में है, उसकी कुञ्जियाँ दो हैं- स्वाध्याय और सत्संग। मनुष्य तथा समाज के नीति, सदाचार, व्यवहार सम्बन्धी प्रामाणिक नियम धर्मशास्त्रों में उल्लिखित हैं। स्मृति ग्रन्थों को भी धर्मशास्त्र माना गया है। उपनिषद् में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से सचेत भी किया गया है कि निकृष्ट शास्त्रों के जाल में फँसकर ज्ञानियों की बुद्धि मोहित हो जाती है-**पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः** (यो०त० ६)।

२१६. शुद्धि-शुचि-पवित्रता— उपनिषद् में शारीरिक पवित्रता को नहीं, चित्त वृत्तियों की पवित्रता को तथा वासनादि के क्षय को विशेष महत्त्व दिया गया है- **चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशकम्। ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनात् शौचमुच्यते** (मैत्रे० २.१०)। अर्थात् ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्य रूपी जल से धोने के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है। मल, मूत्रादि, दुर्गन्ध युक्त शरीर की शुद्धि तो मिट्टी एवं जल से होती है, लेकिन वह सब तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक शुद्धि तो मैं और मेरा के अहंभाव का परित्याग करना ही है- **अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम्। शुद्ध शौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्** (मैत्रे० २.९)। इन्द्रियनिग्रह ही शुचिता है- **शौचम् इन्द्रियनिग्रहः** (मैत्रे०२.३)।

२१७. शोक —**द्र०-हर्षशोक।**

२१८. श्रद्धा— श्रद्धा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है-श्रत्+धा-सत्य की धारणा। सामान्यतया श्रद्धा का अर्थ - प्रेम और भक्तिपूर्ण पूज्य भाव अथवा भावनात्मक (भावना से परिपूर्ण) विश्वास लिया जाता है। पितरों के प्रति श्रद्धा-भाव पूर्वक अर्पित जल अथवा भोज्य पदार्थ को श्राद्ध कहा जाता है। उपनिषद् में श्रद्धा को हृदय की वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है-**कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति** (बृह०३.९.२१)। गीता में श्रद्धा को तीन प्रकार की कहा गया है-सात्त्विकी, राजसी और तामसी-**त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु** (गी० १७.२)। बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और किया हुआ कर्म असत् है-**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह** (गी०१७.२८)। मनुस्मृति के अनुसार धर्म तभी निश्चय फल देता है, जब वह श्रद्धापूर्वक किया गया हो-**श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः** (म०स्मृ०४.२२६)। तुलसीदास ने पार्वती और शंकर को श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप माना है, जिसके बिना सिद्धजन भी अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते -**भवानी शंकरौ**

वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् (रा०मा० बालकाण्ड श्लोक २)। गीता में भगवान् ने कहा है कि सबकी श्रद्धा अपने अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय ही है। जो जैसी श्रद्धा वाला होता है, वह वैसा ही होता है- **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः** (गी०१७.३)। जो-जो भक्त जिस-जिस स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, भगवान् उस-उस भक्त की उस रूप के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता है- **यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्** (गी०७.२१)। देवगण भी श्रद्धा की उपासना करते हैं, श्रद्धा से परम ऐश्वर्य मिलता है-**श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां.... श्रद्धया विन्दते वसु** (ऋ०१०.१५१.४)।

२१९.श्राद्ध— पितरों की तुष्टि तथा शान्ति के लिए श्रद्धापूर्वक अन्न,जल,भोग पदार्थों आदि का दान करना श्राद्ध कहलाता है। शास्त्र विहित पितृ कर्म या लोकविधि के अनुसार पितरों के क्रिया कर्म को भी श्राद्ध कहते हैं। दूसरे शब्दों में- पितरों की तृप्ति के लिए शास्त्रविधि से श्रद्धापूर्वक किया गया धार्मिक कृत्य श्राद्ध कहलाता है। मनु के अनुसार श्राद्ध पाँच प्रकार का है-**नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं तथैव च। पार्वणञ्चेति मनुना श्राद्धं पञ्चविधं स्मृतम्॥** भविष्य पुराण में बारह प्रकार के श्राद्ध वर्णित हैं। श्राद्ध प्रक्रिया प्रारम्भ करने का श्रेय इक्ष्वाकुपुत्र निमि को दिया जाता है। इन्होंने अपने पुत्र श्रीमत की असामयिक मृत्यु के एक वर्ष बाद श्राद्ध किया था। आश्विन कृष्णपक्ष में पितरों के निमित्त विशेष रूप से तर्पण, पिण्डदान आदि किया जाता है, यह श्राद्धकाल या श्राद्धपक्ष कहलाता है।

२२०. श्रेय-प्रेय मार्ग— श्रेय और प्रेय मार्ग की चर्चा अध्यात्म शास्त्र में प्रायः होती रहती है, परन्तु कठोपनिषद् में इसका विशेष रूप से वर्णन पाया जाता है। यम-नचिकेता के प्रसिद्ध संवाद में जब यमराज से 'आत्मविद्या' के तृतोयवर की याचना नचिकेता ने की, तो यमराज ने उसे दीर्घ आयु, स्वर्गिक आनन्द, हाथी, घोड़ा, रथ तथा अन्यान्य वैभव व एक छत्र राज्य माँग लेने को कहा तथा 'आत्मविद्या' का वर माँगने का हठ न करने को कहा, परन्तु नचिकेता की दृढ़ प्रतिज्ञ स्थिति और उसके अधिकारी स्वरूप की परीक्षा कर लेने के बाद यमराज स्वयमेव उन दोनों मार्गों को स्पष्ट करते हैं। प्रथम **श्रेय मार्ग**, जो आनन्द स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है तथा दूसरा **प्रेय मार्ग**, जो इस लोक एवं स्वर्गलोक के सुख-भोग की सामग्रियों की प्राप्ति का साधन है। यमराज इसी प्रकरण में यह भी कहते हैं कि धीर पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय मार्ग का ही वरण करते हैं, जबकि मन्दबुद्धि व्यक्ति सांसारिक सुखों वाले प्रेय मार्ग का वरण करते हैं-**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते** (कठ०१.२.२)। इसी तथ्य को गीता (१८.३७-३८) में सात्त्विक एवं राजस सुख के रूप में प्रतिपादित किया गया है। प्रारम्भ में दुःखद एवं बाद में अमृतोपम लगने वाले सुख को सात्त्विक तथा प्रारम्भ में सुखद एवं परिणाम में दुःखद लगने वाले सुख को राजस कहा गया है। यही स्थिति श्रेय और प्रेय की है। श्रेय मार्ग प्रारम्भ में सुखद नहीं लगता, परन्तु परिणाम में कल्याणकारी होता है, जबकि प्रेय मार्ग प्रारम्भ में बड़ा ही आकर्षक-आनन्ददायी लगता है, परिणाम में भले ही दुःखदायी हो।

२२१. श्रोत्रिय— जो वेद-वेदाङ्गों में पारंगत हो, वह वेदज्ञ-वेदविद् श्रोत्रिय कहलाता है। इसका अन्य पर्याय सभ्य, सुसंस्कृत, ब्राह्मण विशेष है। वेद का एक पर्याय श्रुति है, अतः श्रुति (ज्ञान) से सुसम्पन्न पुरुष को श्रोत्रिय कहा जाता था। उपनिषद् में वर्णन है कि अन्न के प्राण को जानने वाले श्रोत्रिय भोजन करने से पूर्व आचमन करते हैं तथा भोजनोपरान्त आचमन करते हैं- **तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्ति** (बृह०६.१.१४)। काल सम्पूर्ण प्राणियों और महात्माओं को भी समाहित कर लेता है और जो काल को भी नियंत्रण में करना जानता है, वह वेदविद् (श्रोत्रिय) है- **कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मनि। यस्मिंस्तु पच्यते कालो यस्तं वेद स वेदवित्** (मैत्रा०६.१५)। जो देवों के सौ आनन्द हैं, वह इन्द्रदेव का एक आनन्द है और ऐसा श्रोत्रिय जो इन्द्र के (वैभव के) भोगों की कामना से रहित है, उसे वह सहज प्राप्त है-**ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य** (तैत्ति०२.८)।

२२२. षड्रिपु-षड्वर्ग— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन्हें षड्रिपु कहा गया है। इन्हें मुद्गलोपनिषद् में षड्वर्ग भी कहा गया है-**कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यरिषड्वर्गः** (मुद्ग०४.४)। इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करने वाला काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से अबाधित रहता है। गीता में भगवान् ने भी इन्हें वैरी

और अधिक खाने वाला महापापी कहा है, ये रजोगुण से उत्पन्न होने वाले हैं-**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्** (गी०३.३७)। काम का आशय कामना या इच्छा है। रजोगुण से उत्पन्न विषय-वासना और तृष्णा ही काम है। गीता के अनुसार विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्यों की उसमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम, काम से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। काम, क्रोध, लोभ ये तीनों आत्मा का नाश करने वाले हैं, अतः इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए-**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्** (गी०१६.२१)। जो पुरुष सब कामनाओं को त्यागकर निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार (लोभ, मोह, मद रहित) होकर विचरता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है-**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति** (गी०२.७१)। अहंकार, अज्ञान, उन्माद आदि के पर्याय रूप में 'मद' शब्द प्रयुक्त होता है। मत्सर का आशय किसी के वैभव-विलास को देखकर जलन या डाह करना है। कृष्णोपनिषद् में द्वेष और मत्सर की संगति राक्षसों से बिठायी गयी है- **द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः** (कृष्णो०१४)।

२२३. षोडशकला— चन्द्रमा के सोलह भाग जो एक-एक क्रम से शुक्ल पक्ष में बढ़ते और कृष्ण पक्ष में क्षीण होते हैं। मनुष्य के सोलह विशिष्ट गुणों या शक्तियों को भी षोडशकला कहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि ब्राह्मण ग्रन्थों से होती है- **षोडशकलो वै चन्द्रमाः** (ष०ब्रा० ४.६), **षोडशकलो वै पुरुषः** (शत०ब्रा० ११.१.६.३६)। उस पूर्ण ब्रह्म को भी षोडशकला कहकर वर्णित किया गया है- **षोडशकलं वै ब्रह्म** (जै०उ०३.३८.८)। इस सम्पूर्ण जगत् को भी षोडशकलाओं से युक्त माना गया है- **षोडशकलं वा इदं सर्वम्** (शत०ब्रा० १३.२.२.१३)। यहाँ षोडश संख्या पूर्णता का बोधक है और षोडश कला पूर्ण शक्तियों से भरी रचना। कला शब्द का अर्थ शास्त्रों में इस प्रकार भी दिया गया है- **कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते यया, सा कला।** अर्थात् जिसके द्वारा क (ब्रह्म) लीन-आच्छादित होता है, उसे कला कहते हैं। ब्रह्म की सोलह कलाएँ निम्न हैं- प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। वस्तुतः परात्पर ब्रह्म की ६४ कलाएँ मानी जाती हैं। चूँकि ब्रह्म के ३ चरण ऊर्ध्व में विद्यमान हैं और एक चरण ही इस विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में है। इसका संकेत पुरुष सूक्त में प्राप्त है- **त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः** (यजु० ३१.४), इसलिए ६४ का चतुर्थांश १६ ही हुआ।

२२४. संवत्सर— संवत्सर शब्द प्रायः वर्ष या साल के लिए प्रयुक्त होता है। प्रत्येक साठ वर्षों को ५-५ वर्ष के १२ युगों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक युग का प्रथम वर्ष संवत्सर कहलाता है। ये संवत्सर साठ माने गये हैं। संवत्सर का आरंभ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है। जिस दिन मत्स्यावतार हुआ और सृष्टि का पुनः आरम्भ हुआ, उसी दिन से संवत्सर का आरंभ माना जाता है। आदित्य को संवत् और चन्द्रमा को सर कहकर निरूपित किया गया है- **आदित्य एव संवच्चन्द्रमाः सरः** (जै० ब्रा० २.६०)। एक संवत्सर में बारह मास या चौबीस अर्धमास होते हैं- **द्वादश मासाः संवत्सरः** (मैत्रा०ब्रा० १.१०.५) **चतुर्विंशत्यर्धमासो वै संवत्सरः** (ऐत० ब्रा० ८.४)। अग्नि तथा प्रजापति को भी संवत्सर से सम्बद्ध किया गया है- **अग्निः संवत्सरः** (तां०म० १७.१३.१७)। **स वै संवत्सर एव प्रजापतिः** (शत०ब्रा० १.६.३.३५)।

२२५. संस्कार— संस्कार का आशय है-सुधार, परिष्कार अथवा मनोवृत्ति या स्वभाव का परिशोधन। शिक्षा, उपदेश या संगति से मनुष्य के अचेतन मन पर एक गहरा प्रभाव पड़ता है, जिसके प्रभाव में उसके क्रियाकलाप सहज ही प्रेरित होते हैं, संस्कार कहलाता है। ऋषियों ने जन्म से पूर्व तथा मृत्युपर्यन्त तक के जीवन क्रम में यज्ञीय कर्मकाण्ड परक षोडश संस्कारों की परम्परा प्रचलित की, जिससे मनुष्य का विचारात्मक तथा भावनात्मक परिशोधन होते रहने का क्रम जीवन भर सम्पादित होता रहे। संस्कार योग्यता वृद्धि की विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसके सम्पन्न होने से व्यक्ति या पदार्थ किसी विशेष प्रयोजन के योग्य बन जाते हैं-**संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य** (जैमि०सूत्र० ३.१.३ शबर भाष्य),**योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते** (तंत्रवार्तिक)।

२२६. सङ्कल्प — सङ्कल्प शब्द सामान्यतः दृढ़ निश्चय, पक्का इरादा या विचार, तीव्र इच्छा अथवा उद्देश्य के अर्थ में लिया जाता है। हमारा मन ही सभी संकल्पों का अयन (आश्रय) है-**सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनम्**

(बृ०२.४.११)। शिवसङ्कल्पोपनिषद् के प्रत्येक श्लोक में मन के शिव अथवा कल्याणकारी संकल्प से युक्त होने की कामना की गई है। जो हमारा मन प्रकृष्ट ज्ञान का साधनभूत है, जो स्मरण और धारण शक्ति से युक्त है, जो ज्योति की भाँति अन्त: को प्रकाशित करता है, जो सभी कर्मों का सम्पादक है, वह हमारा मन शिव संकल्प से युक्त हो- यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (१ शि०सं० ३)। कामनाएँ संकल्प से उत्पन्न होती हैं। गीता (६.२४) में संकल्प से उत्पन्न सब कामनाओं को छोड़ने की बात कही गयी है। उपनिषद् में कहा गया है कि संकल्प ही मन का स्वरूप है, अतः सङ्कल्प को ही मन समझना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् न कर सका। सभी संकल्पों के विनष्ट होने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है-सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित्। सङ्कल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते (महो० ४.५३)।

२२७. **संन्यास**— द्र०- चतुराश्रम।

२२८. **संन्यासी-यति**— जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका हो और संसार के सभी आकर्षणों से वैराग्य लेकर मोक्ष प्राप्ति का प्रयास कर रहा हो, इन्हें परिव्राजक,यति, अवधूत, हंस, योगी आदि कहते हैं। संन्यासी को सभी प्रकार की आसक्ति का त्याग करना चाहिए। एक जगह पर अधिक समय नहीं रहना चाहिए। उसके अन्दर आत्मज्ञान का प्रकाश होना चाहिए। सर्वत्र समबुद्धि रखने वाला, हिंसा तथा ममता से रहित, क्रोध एवं अहंभाव से विमुक्त संन्यासी कहलाता है। उपनिषद् के अनुसार सब कर्मों को छोड़कर अहंता और ममता को त्यागकर ब्रह्म की शरण में जाना और तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म आदि महावाक्यों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में रहना और स्वतंत्र यति के रूप में व्यवहार करना, ऐसा पुरुष संन्यासी है, मुक्त है, वही पूज्य योगी, परमहंस, अवधूत और वही ब्राह्मण है (निरा०३९)। संसार से विरक्त होकर केवल ब्रह्म प्राप्ति का यत्न करते हुए स्वतंत्र विचरण करने वाले यति कहलाते हैं। संन्यासियों के छ: भेद प्रमुख रूप से वर्णित हैं- कुटीचक,बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। कर्मों को छोड़ देना या मैं संन्यासी हूँ, ऐसा कह देने से कोई संन्यासी नहीं हो जाता। समाधि अवस्था में जीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव होना ही संन्यास है। (मैत्रा० २.१७)।

२२९. **सकाम-निष्काम कर्म**— फल प्राप्ति की कामना से किया गया कर्म सकाम कर्म कहलाता है। इसके विपरीत कर्म में फल की इच्छा न करना निष्काम कर्म कहलाता है। निष्काम कर्म करने से पुरुष कर्म के बन्धन में बँधता नहीं है। गीता में कर्मफल की इच्छा न करने का निर्देश है, क्योंकि मनुष्य का अधिकार कर्म करने तक है, फल में नहीं-कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि (गी०२.४७)। जो कर्मफल की आसक्ति (सकाम कर्म) को छोड़कर नित्य तृप्त और आश्रय रहित है, वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता अर्थात् कर्म बन्धन में नहीं पड़ता- त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः (गी०४.२०)। योगी पुरुष कर्मफल को त्यागकर (निष्काम कर्म द्वारा) निष्ठा से परम शान्ति को प्राप्त होता है- युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् (गी०५.१२)। ध्यान से कर्मफल का त्याग (निष्कामकर्म) श्रेष्ठ है,त्याग से शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है-ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् (गी०१२.१२)।

२३०. **सच्चिदानन्द**— आत्मा अथवा परमात्मा को सच्चिदानन्द कहा गया है, क्योंकि वह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। शंकराचार्यजी ने तत्त्वबोध में लिखा है, जो तीनों कालों में विद्यमान रहता है, वह सत् है-कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्। आत्मा का सत्‌रूप होने का तात्पर्य उसका अमर, नित्य, शाश्वत, अजन्मा आदि होना है- अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे (कठ०१.२.१८)। जिसकी सत्ता सदैव स्थापित रही है, वही सत् है। वह आत्मा चिद्‌रूप है। चित् का तात्पर्य है चैतन्यता (ज्ञानयुक्त होना)। वह ज्ञानस्वरूप होने से प्रकाशस्वरूप भी है। उसी का प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है- तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (कठ०२.२.१५)। वह आनन्द रूप है-निरतिशय अथवा सम्यक् सुखस्वरूप है। शंकराचार्य ने लिखा है- आनन्दमय आत्मा ही ब्रह्म है-आनन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते (ब्र०सू०-शांकर भा०१.१.१२)।

२३१. **सत्-असत्**— सत् शब्द के पर्याय कोश ग्रन्थों में इस प्रकार हैं- ब्रह्म, अस्तित्व, सत्ता, सत्य, शाश्वत, सद्गुणी व्यक्ति, सज्जन, नित्य, स्थायी, श्रेष्ठ, पवित्र, अच्छा, सत्य धर्म। इसके विपरीत मिथ्या, अस्तित्वविहीन, सत्तारहित,

बुरा, असाधु, असत्य आदि असत् के पर्यायवाची शब्द हैं। सत्य की ही सदैव जय होती है- **सत्येनैव जयति** (मै०ब्रा०४.३.८)। सत्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए-**सत्यान्न प्रमदितव्यम्** (तैत्ति०१.११.१)। इस लोक में सत् ही परमेश्वर है। सत् के आधार पर ही सृष्टि और धर्म का अस्तित्व है। गीता में कहा है कि असत् का कोई अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है- **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** (गी०२.१६)। यज्ञ, तप और दान की स्थिति सत् है- **यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते** (गी०१७.२७)। सद्भाव और सज्जनता में 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है-**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते** (गी०१७.२६)। मुण्डकोपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य, जो सत्य के विजयी होने और असत्य के पराभूत होने का संकेत करता है, को भारत सरकार ने अपने राजचिह्न में स्वीकार किया है- **सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः** (मुण्ड०३.१.६)।

२३२. **सत्त्व-रज-तम**— सांख्य दर्शन के अनुसार समूची सृष्टि त्रिगुणात्मक है। ये तीन गुण हैं- सत्त्व, रज और तम। सत्त्व सबसे उत्तम है, इसके लक्षण हैं-ज्ञान, शान्ति, विवेक, सत्प्रवृत्ति आदि। यह आत्म तत्त्व, मूल तत्त्व तथा चेतन तत्त्व का भी बोधक है। वह परम पुरुष परमात्मा इन तीनों गुणों से परे है, अतः उसे त्रिगुणातीत भी कहा गया है। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, ये अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं-**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्** (गी०१४.५)। जब तक तीनों गुण समान रूप से विद्यमान रहते हैं, तब तक प्रकृति में हलचल-परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति मूलरूप में विद्यमान रहती है-**साम्यावस्था प्रकृतिः** (सां०सू० १.६१)। गीता में ही आगे भगवान् ने वर्णन किया है कि सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्म में और तमोगुण ज्ञान को ढँककर प्रमाद में लगाता है-**सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत** (गी०१४.९)। सत्त्व से ज्ञान, रज से लोभ तथा तम से प्रमाद,मोह,अज्ञान उत्पन्न होता है-**सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च** (गी०१४.१७)।

२३३. **सप्तचक्र**— योग साधना ग्रन्थों में 'षट्चक्र वेधन' प्रक्रिया का प्रायः उल्लेख पाया जाता है। मान्यता है कि षट्चक्र वेधन प्रक्रिया द्वारा कुण्डलिनी जागरण की क्रिया सम्पन्न होती है और वह जाग्रत् कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमन करती हुई सहस्रार स्थित शिवतत्त्व से जब मिल जाती है, तो योग (शिव-शक्तियोग) सिद्ध हो जाता है। साधक में अनेकानेक चमत्कारिक शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं और अन्त में वह मुक्ति का अधिकारी भी हो जाता है- **षट्चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम्** (यो०शि०६.७४,यो०कु०३.९,१२), **षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पञ्चकम्। स्व देहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्** (यो०चू०३)। योग साधना ग्रन्थों में जिन षट्चक्रों की प्रसिद्धि है, वे इस प्रकार हैं-१.मूलाधार,२.स्वाधिष्ठान,३.मणिपूर, ४.अनाहत,५.विशुद्धाख्य, ६.आज्ञाचक्र। इन षट्चक्रों के वेधन की प्रक्रिया सम्पन्न होने के बाद इससे परे सातवें चक्र तक कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वगमन होता है, तो साधक पूर्णता की स्थिति में पहुँच जाता है। वह सातवाँ चक्र 'सहस्रार चक्र' है, जिसमें सहस्र दल कमल होने की बात कही जाती है। इन सप्तचक्रों का विशद वर्णन तन्त्रसार, हठयोग प्रदीपिका जैसे योग साधना के ग्रन्थों में मिलता है।

२३४. **सप्त जिह्वाएँ**— यज्ञीय विधि -विधान के अन्तर्गत जहाँ अग्नि, समिधा, आज्य आदि का वर्णन पाया जाता है, वहीं 'अग्नि' का मानवीकरण (आधिदैविक) रूप भी प्राप्त होता है। 'अग्नि' जो उष्णता, ऊर्जा एवं प्रकाश आदि गुण विशिष्ट पदार्थ के रूप में देखा जाता है, वहीं 'अग्निदेव' के रूप में भी प्रतिष्ठित है। सामान्य प्राणी जिस प्रकार मुख-जिह्वा आदि अंगावयवों से युक्त हो भोजन आदि क्रियाएँ सम्पन्न करता है, उसी प्रकार अग्निदेव अपनी जिह्वाओं से आज्य आदि हव्य सामग्रियों को ग्रहण करते हैं- ऐसी प्रसिद्धि है। यह अग्नि का आधिदैविक-आलंकारिक स्वरूप है। 'अग्नि' की लपटें ही उसकी जिह्वाएँ हैं। पौराणिक ग्रन्थों के साथ ही उपनिषदों में भी अग्नि की सात जिह्वाओं (ज्वालाओं) का वर्णन मिलता है। मुण्डकोपनिषद् (१.२.४) में कहा गया है- **काली कराली च मनोजवा च, सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः**॥ अर्थात् काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुची-ये उस (अग्नि) की लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं। वस्तुतः ये जिह्वाएँ ही अग्नि की लपटें-ज्वालाएँ हैं। इनके नामों से लगता है कि ये लाल, धुएँ युक्त, चिनगारी युक्त आदि गुण विशिष्ट अग्नि की लपटें हैं। इन्हें अग्निदेव की सात जिह्वाएँ कहा गया है। इसी को आगे सात दीप्तियाँ भी कहा गया है- **सप्तार्चिषः** (मुण्ड०२.१.८)।

२३५. सप्तयज्ञ— भारतीय संस्कृति में यज्ञ का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों-स्मृतियों में इसका विशद वर्णन प्राप्त होता है। इसी आधार पर यज्ञ के प्रमुखतः दो विभाग हैं-१. श्रौत यज्ञ, २. स्मार्त यज्ञ। इन दोनों विभागों के अन्तर्गत अनेकानेक प्रकार के यज्ञ आते हैं। यहाँ जिन सात यज्ञों का उल्लेख है, वे प्रायः दार्शनिक स्तर के हैं। मुण्डकोपनिषद् (२.१.८) में यह प्रकरण व्याख्यायित है- **सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः**। सप्तहोम (यज्ञ) का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए शंकराचार्यजी लिखते हैं- **सप्त होमास्तद्विषयविज्ञानानि 'यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति** (महानारायण० २५.१) **इति श्रुत्यन्तरात्'** अर्थात् सात होम यानी अपने विषयों के विज्ञान, जैसा कि 'इसका जो विज्ञान है, उसी को हवन करता है', इस अन्य श्रुति से सिद्ध होता है। यहाँ 'विषयों के विज्ञान' का तात्पर्य 'सप्तप्राण' (शीर्षस्थ इन्द्रियवर्ग) के विषयों का विशिष्ट ज्ञान है। इस विशिष्ट ज्ञान को जब आत्मलाभ-आत्मदर्शन के उद्देश्य से साधक होमता है-समर्पण करता है-त्यागता है, तो इसे ही सप्तयज्ञ या सप्तहोम कहा जाता है। यह दार्शनिक पहलू हुआ। इसका व्यावहारिक पहलू सात स्थूल यज्ञ वाला है- २ प्रातः-सायं का यज्ञ, १ दर्श (अमावस्या), १ पौर्णमास, १ चातुर्मास्य, १ आग्रयण, १ सांवत्सरिक- इस प्रकार कुल सात यज्ञ हुए।

२३६. सप्तलोक— द्र०-लोक।

२३७. सप्त समिधाएँ— यज्ञ में अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए समिधाओं की आवश्यकता पड़ती है। यज्ञीय प्रयोग शास्त्रों में विशिष्ट समिधाओं का उल्लेख मिलता है, यथा- आम्र, पलाश, खदिर, उदुम्बर (गूलर) आदि। उपनिषदों में ऐसे उल्लेख प्रायः दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ही पाये जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् (२.१.८) में 'इन्द्रियों के विषय' के लिए 'समिधा' शब्द का प्रयोग है और इस प्रयोग का कारण बताया गया है कि 'इन्द्रिय वर्ग' अपने विषयों से ही समिद्ध-प्रदीप्त हुआ करते हैं। वस्तुतः यह प्रकरण सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत आया है, जिसमें कहा गया है कि उस (विराट्) पुरुष (ब्रह्म) से ही सात प्राण (शीर्षस्थ सात इन्द्रियाँ- २ नेत्र, २ श्रवण, २ घ्राण और १ रसना) उत्पन्न हुए हैं। उसी से सात किरणें (दीप्तियाँ), सात समिधा, सात होम और जिनमें वे संचार करते हैं, वे सात स्थान प्रकट हुए हैं- **सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥** आचार्य शंकर ने 'सप्त समिधः' का भाष्य करते हुए लिखा है-**सप्त समिधः सप्त विषयाः, विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः** अर्थात् सप्त समिधा-सात शीर्षस्थ इन्द्रियों-प्राणों के विषय हैं, क्योंकि इन विषयों से ही प्राण-इन्द्रिय वर्ग समिद्ध-प्रदीप्त-सक्रिय होते हैं। इस प्रकार 'सप्त समिधा' यहाँ दार्शनिक परिप्रेक्ष्य (नेत्र, श्रोत्र, घ्राण एवं रसना के विषय रूप, शब्द, गन्ध एवं रस के अर्थ) में प्रयुक्त है।

२३८. समाधि— सामान्यतः चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। चित्तवृत्तियाँ जब विकारों से रहित विशुद्ध अवस्था को प्राप्त होती हैं, यह समाधि योग तभी लगता है। ऐसी अवस्था में चित्त विक्षेपरहित हो जाता है और लक्ष्य विशेष में समाहित और स्थिर हो जाता है। ध्यान की पराकाष्ठा को भी समाधि कहा गया है। योग के आठ अंगों में अन्तिम अंग समाधि है। इसे योग का चरम फल भी कहते हैं। इसमें साधक अपने चित्त को बाह्य जगत् से मोड़कर आत्मा में स्थित कर लेता है, ऐसी अवस्था में वह विविध शक्तियों को धारण करता है और अन्त में कैवल्य पद को प्राप्त होता है। योग दर्शन में समाधि के चार भेद बताये गये हैं- १. सम्प्रज्ञात, २. सवितर्क, ३. सविचार और ४. सानंद समाधि। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जैसे नमक जल में मिलने पर जल के समान हो जाता है, उसी प्रकार चित्त आत्मा के साथ मिलकर आत्मरूप हो जाता है। यह समाधि की पराकाष्ठा है- **सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते** (ह०प्र०४.५)। समाधि के प्रायः दो भेदों का निरूपण किया जाता है- १. सविकल्पक और २.निर्विकल्पक। जब साधक की चित्तवृत्ति अद्वितीय ब्रह्म में स्थिर हो जाती है, तब उसे कुछ काल के लिए अपने विषय में, ब्रह्म के विषय में तथा ज्ञान के विषय में बोध बना रहता है। जब तक ध्याता, ध्यान और ध्येय के विषय में पृथक् प्रतीति होती रहती है, उसे सविकल्पक समाधि कहते हैं और जब साधक समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध कर एकीभाव (अद्वैत भाव) से ध्येय में अवस्थित हो जाता है, उसे निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। उपनिषद् के अनुसार जो **'अहं ब्रह्मास्मि'** का निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में लीन रहकर परम स्वतंत्र और यति स्वरूप होता है, वह पुरुष संन्यासी, वही मुक्त कहलाता है- **ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः** (निरा०३९)।

२३९. सम्भूति —द्र०-असम्भूति।

२४०. सर्ग-प्रतिसर्ग— सर्ग का सामान्य अर्थ सृष्टि या संसार से लिया जाता है। जगत् की उत्पत्ति या मूल-उद्‌गम को भी सर्ग कहा गया है। इसके विपरीतार्थक रूप में जगत् के प्रलय को प्रतिसर्ग कहते हैं। पुराणों में सृष्टि और प्रलय अर्थात् सर्ग-प्रतिसर्ग का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। महाभारत में विष्णु और शिव भगवान् के सहस्रनाम में सर्ग नाम उल्लिखित है। श्रीमद्भागवत पुराण (३.१०.१४-२६) में सर्ग का विस्तृत विवरण मिलता है। सृष्टि या कल्प के अर्थ में मनुस्मृति में भी सर्ग शब्द उपन्यस्त है-**हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्** (मनु०स्मृ०१.२९)। पुराणों के पाँच लक्षण, विषय या प्रकरण माने गये हैं- १. सर्ग (सृष्टि), २. प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, प्रलय और पुनः सृष्टि, ३. सृष्टि की आदि वंशावली, ४. मन्वन्तर और ५. वंशानुचरित। जगत् रचना के अन्तर्गत सृष्टि और प्रलय की सतत चलते रहने वाली परम्परा सर्ग-प्रतिसर्ग के रूप में वर्णित हुई है। उस ब्रह्म के संकोच से प्रलय तथा विकास से सृष्टि की रचना होती है- **यत्संकोच विकासाभ्यां जगत्प्रलय सृष्टयः** (महो०२.१०)।

२४१. सविता— सूर्य, आदित्य, दिवाकर को ही सविता कहा गया है। इन्हें जगत् के रचयिता, उत्पादक या स्रष्टा भी कहा गया है। वैदिक साहित्य में ये देवता रूप में प्रख्यात हैं। सूर्य के उदय होने वाले रूप को सविता कहते हैं। सविता सबके उत्पत्ति कर्त्ता होने के रूप में प्रख्यात हैं-**सवितारमाह सर्वस्य प्रसवितारम्** (निरु०८.३१)। अमरकोश में सविता के पर्याय इस प्रकार हैं-**भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः** (अ०को०१.३.३१)। सविता द्युलोक में स्थित हैं। आदित्य ही सविता और द्युलोक सावित्री है-**आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री** (सावि०६)। सविता को देवों के भी उत्पत्तिकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया गया है-**सविता वै देवानां प्रसविता** (जैमि०३.१८.३)। यही प्रजा का भरण-पोषण करने से 'भर्ग' कहलाता है। शत्रुओं का नाश करने से 'सूर्य', सबको उत्पन्न करने से सविता, सबको प्रकाश देने से 'आदित्य', सबको पवित्र करने से 'पवमान' और सबका अयन(आश्रय स्थान) होने से आदित्य कहलाता है-**इमाः प्रजास्तस्माद्भरगत्वाद्भर्गः। शश्वत्सूयमानत्वात्सूर्यःसवनात्सविताऽऽदानादादित्यः पवनात्पावमानोऽथायनादादित्यः** (मैत्रा० ५.७)।

२४२. साक्षात्कार— साक्षात्कार शब्द के पर्याय ज्ञान, अनुभूति, मिलन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि उल्लिखित हैं। आत्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म साक्षात्कार के दिव्य लक्ष्य को पाने के अभीप्सु साधक उपासना, यज्ञ, दान आदि कर्म में निरत रहते हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्यों का चिन्तन करते हुए अनुभूति की अवस्था से होकर साधक ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार करता है। वह अनुभव करने लगता है कि मैं ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव अद्वयरूप ब्रह्म हूँ।

२४३. साक्षी— द्र- **अन्तर्यामी।**

२४४. सांख्य — छः दर्शनों में एक दर्शन सांख्य दर्शन है, जिसके रचयिता महर्षि कपिल हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त निरूपित है। यह सृष्टि त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज, तम के योग से) विनिर्मित है। जगत् की उत्पत्ति का मूल यह प्रकृति ही है। पाँचों तत्त्व और ग्यारह इन्द्रियाँ- ये प्रकृति हैं। सृष्टि के चार प्रमुख विधान हैं- प्रकृति-विकृति, विकृति-प्रकृति और अनुभव। आत्मा को पुरुष कहा गया है। इसमें ईश्वर की सत्ता न मानकर पुरुष और प्रकृति दो तत्त्वों को ही प्रधान माना गया है। पुरुष जगत् से अनासक्त होते हुए भी प्रकृति के कार्यों में बँधा हुआ प्रतीत होता है, जब वह ज्ञान से इस बन्धन को दूर करके यथार्थ अनुभव प्राप्त कर लेता है, तो यही मोक्ष कहलाता है। गीता में विवेचित है कि कितने ही पुरुष ध्यान योग के द्वारा परमात्मा को अपने अन्तःकरण में देखते हैं, दूसरे सांख्य योग द्वारा और कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं- **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे** (गी० १३.२४)।

२४५. साम— चारों वेदों में से एक वेद जिसका सम्बन्ध गायन से है, सामवेद कहलाया। मान्यता यह है कि वेद के पद्यबद्ध मन्त्रों को जब गायन विद्या से अनुप्राणित किया गया तो "सामवेद" बन गया। इसमें पद्य मन्त्रों को गान विद्या से जोड़ने से ज्ञान और भावना का सर्वोत्कृष्ट संयोग हुआ है। सामवेद के मन्त्रों को भी साम कहा गया है। साम की महत्ता गीता में भी प्रतिपादित हुई है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- **वेदानां सामवेदोऽस्मि।** वेद है ज्ञान,

साम है गान। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है- **गायन्ति हि साम** (शत०ब्रा०४.४.५.६)। वाणी को साम की प्रतिष्ठा कहकर निरूपित किया गया है-**वाग्वाव साम्नः प्रतिष्ठा** (जैमि० १.३९.३)। छान्दोग्योपनिषद् में साम की पञ्चविध उपासना का निर्देश है। ये पाँच प्रकार हैं- १. हिंकार, २. प्रस्ताव, ३.उद्‌गीथ, ४. प्रतिहार और ५. निधन- **लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिंकारः। अग्निः प्रस्तावः। अन्तरिक्षमुद्‌गीथः। आदित्यः प्रतिहारः। द्यौर्निधनम्** (छान्दो०२.२.१)।

२४६. सालोक्य— द्र०-पञ्चविध मुक्ति।

२४७. सावित्री— गायत्री की लौकिक शक्ति 'सावित्री' कहलाती है, जिसका सम्बन्ध स्थूल जगत् की शक्तियों से है। पारलौकिक शक्ति या ब्रह्मविद्या को गायत्री और वर्चस् या तेजस् को सावित्री माना गया है। आदित्य सविता है, तो प्रकाशमान द्यौ सावित्री है- **आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री** (सावि० ६)। अग्नि सविता है, तो पृथिवी सावित्री है-**अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री** (सावि० १)। वरुण सविता है, तो आपः सावित्री है-**वरुण एव सविता ऽऽपः सावित्री** (सावि० २)। सावित्री को जानने वाला मृत्यु बन्धन से तर जाता है और उसी लोक को प्राप्त होता है-**यो वा एतां सावित्रीमेवं वेदाऽप पुनर्मृत्युं तरति सावित्र्या एव सलोकतां जयति** (जैमि०४.२८.६)। ब्रह्म से वायु, वायु से ओंकार, ओंकार से सावित्री, सावित्री से गायत्री और गायत्री से लोकों की उत्पत्ति होती है-**ब्रह्मणो वायुः वायोरोंकारः ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति** (अ०शि०६)।

२४८. सिद्धि —द्र०-ऋद्धि।

२४९. सुषुप्ति —द्र०-जाग्रत्।

२५०. सुषुम्ना नाड़ी— उपनिषद् ज्ञान के अनुसार हृदयरूपी केन्द्र से सम्पूर्ण शरीर में नाड़ियों का जाल बिखरा हुआ है। हृदय देश में १०१ नाड़ियाँ हैं। हर नाड़ी की सौ-सौ शाखाएँ हैं और उनमें प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखाएँ हैं। इन सब नाड़ियों में व्यान वायु संचार करता है। इसे ही विज्ञानी नाड़ी संस्थान कहते हैं। हठयोग के अनुसार शरीर की तीन प्रधान नाड़ियों (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना) में से एक सुषुम्ना नाड़ी है। नासिका के वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिंगला और मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। इसे त्रिगुणमयी अर्थात् सूर्य, चन्द्र और अग्निस्वरूपिणी माना गया है। वैद्यक के अनुसार चौदह प्रधान नाड़ियों में से एक सुषुम्ना नाड़ी है, जो नाभि के मध्य स्थित है, जिससे अन्य सब नाड़ियाँ सम्बन्धित हैं। क्षुरिकोपनिषद् में सुषुम्ना नाड़ी का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। सुषुम्ना परम तत्त्व में लीन है और विरजा (विशुद्ध) ब्रह्मरूपिणी है। वाम नाड़ी इड़ा और दक्षिण नाड़ी पिंगला के बीच जो उत्तम स्थान है, उसे (सुषुम्ना को) जो जानता है, वह वेदविद् कहा जाता है-**सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु। तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्** (क्षुरि०१६-१७)। ध्यानयोग से सब नाड़ियाँ छेदी जाती हैं, परन्तु एक सुषुम्ना नहीं छेदी जाती-**छिद्यन्ते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते** (क्षुरि०१८)। योग दर्शन में इस ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी को कुण्डलिनी नाड़ी भी कहते हैं।

२५१. सूक्ष्मद्रष्टा— अत्यन्त छोटी-छोटी बातें समझ लेने वाला, विशिष्ट बुद्धिमान्, ऋषि, परमेश्वर, शिव आदि को सूक्ष्मद्रष्टा कहा गया है। तीव्र या बेधक दृष्टि रखने वाले, सूक्ष्म विषय को समझने वाले, कुशाग्र बुद्धि वाले सूक्ष्मद्रष्टा रूप में मान्य हैं। वह आत्मा समस्त प्राणियों में छिपा होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्मदर्शियों के द्वारा अतिसूक्ष्म बेधक दृष्टि से देखा जाता है-**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः** (कठ०१.३.१२)। वह परमात्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, हृदयगुहा के गुह्यस्थान में स्थित है और वही सम्पूर्ण विश्व की रचना करने वाला तथा अनेक रूप धारण करने वाला है-**सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्** (श्वेता०४.१४)।

२५२. सृष्टि-अतिसृष्टि— जगत् का आविर्भाव या संसार की उत्पत्ति को सृष्टि कहा जाता है। इस शब्द के अन्य पर्यायवाची शब्द हैं-उत्पत्ति, निर्माण, प्रकृति, उदारता, त्याग आदि। सृष्टि के आरम्भ में एक ही चेतन तत्त्व था, उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ-**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय** (छान्दो०६.२.३)। वह ब्रह्म (परमेश्वर) ही जगत् का कारण है। वह सर्वज्ञ और सर्वविद् ईश्वर जिसका तप ज्ञानमय है, उसी से हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, नाम, रूप और अन्न आदि उत्पन्न होते हैं- **यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं**

च जायते (मुण्ड०१.१.९)। उपनिषद् का कथन है कि जिससे ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति** (तैत्ति०३.१.१)। वह ब्रह्म जगत् की रचना कर उसमें अनुप्रविष्ट हो गया-**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** (तैत्ति०२.६.१)। कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् ने अपनी योगमाया से सृष्टि की रचना की। कुछ इसे जड़-चेतन के संयोग या पुरुष-प्रकृति के संयोग से उद्भूत मानते हैं। उत्कृष्ट सृष्टि या उत्कृष्ट रचना को अतिसृष्टि कहा गया है।

२५३. **सोऽहं**— जीव और ब्रह्म की एकता या अभेदता को प्रदर्शित करने वाले अनेक वाक्य वेदान्त शास्त्र में दृष्टिगोचर होते हैं। जीव अज्ञान भाव से ग्रसित होकर अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। **सोऽहं, शिवोऽहं, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि** प्रभृति वाक्यों के उपदेश वेदान्त शिक्षा में मिलते हैं। ये भाव अनुभूति के स्तर पर आने से ही इनसे अज्ञान तिमिर का नाश होता है। सोऽहं साधना से साधक को '**जीवो ब्रह्मैव नापरः**' तथ्य का बोध हो जाता है। वह चैतन्य ईश्वर 'सोऽहं' स्वरूप में एक होने पर भी शरीरों की भिन्नता के कारण वह 'जीव' बहुविध बन जाता है- **सोऽहमेकोऽपि देहारम्भक भेदवशाद्बहुजीवः** (निरा०५)। यह देह ही देवालय है, उसमें जीव केवल शिव ही है। जब मनुष्य का अज्ञानरूप निर्माल्य दूर हो जाता है, तब 'सोऽहं' भाव से उसको पूजना चाहिए- **देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः। त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्** (स्क०१०)।

२५४. **स्तोम**— स्तोम शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं-स्तुति, गुणगान, यज्ञ, समूह, राशि। वैदिक संहिताओं में प्रायः देवों के प्रति स्तोम ही संगृहीत हैं। साम गान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्दों को स्तोम कहा गया है। इस तथ्य की पुष्टि निम्न प्रतिपादन से होती है-**यदृचि तद्वेत्था३ इति स्तोमो वा एष तस्य साम्नो यद्वयं सामोपास्मह इति** (जैमि०१.४३.६)। स्तोम को प्रतिहार और छन्द को निधनरूप माना गया है-**ऋचः प्रस्तावं सामान्युद्गीथं स्तोमं प्रतिहारं छन्दो निधनम्** (जैमि०१.१३.३)।

२५५. **स्थितता**— अपने ही हृदय की दिव्य भावनाओं में सन्तुष्ट एवं शान्त बने रहने वाले साधक की स्थिति को 'स्थितता' कहा जा सकता है। ऐसा साधक किसी भी भौतिक लिप्सा-लालसा से दूर रहता है और किसी भी बाह्य सुख की अपेक्षा नहीं करता। उपनिषद् में जनक-याज्ञवल्क्य संवाद में राजा जनक पूछते हैं-हे याज्ञवल्क्य! स्थितता क्या है? हे सम्राट्! हृदय ही स्थितता है-ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा (बृह०४.१.७)। स्थिर प्रज्ञा या बुद्धि वाले साधकों को गीता में स्थितप्रज्ञ या स्थितधी कहकर निरूपित किया गया है। गीता के अनुसार जब साधक मन में स्थित कामनाओं को त्याग देता है, तब आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है-**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः तदोच्यते** (गी०२.५५)।

२५६. **स्वधा**— द्र०-स्वाहा।

२५७. **स्वप्न**— निद्रावस्था में कुछ मूर्तियों, चित्रों, व्यक्तियों और विचारों आदि का सम्बद्ध या असम्बद्ध शृंखला का मन में आना या कोई घटना आदि दिखाई देना स्वप्न कहलाता है। ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में स्वप्न का उल्लेख हुआ है। ऋ०२.५८.१० में दुःस्वप्न का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (अ० ७७) में शुभाशुभ स्वप्नफल का विस्तृत वर्णन है। रात्रि में स्वप्नावस्था में पितृराज मनुष्यों में प्रविष्ट होते हैं-**अश्मसु सोमो राजा निशायां पितृराजः स्वप्ने मनुष्यान् प्रविशसि पयसा पशून्** (जैमि०४.५.२)। जाग्रत् अवस्था और उसके अधिष्ठाता की स्थिति नेत्र के भीतर है। स्वप्न और उसके अधिष्ठाता तैजस का कण्ठ में समावेश है। सुषुप्ति और उसके अधिष्ठाता प्राज्ञ हृदय में स्थित हैं और तुरीय परमात्मा मूर्धा (मस्तिष्क) में स्थित हैं- **नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्** (ना०प०५.२५)। जैसे स्वच्छ दर्पण में वस्तु स्पष्ट दीखती है, वैसे शुद्ध अन्तःकरण में परमात्मा के दर्शन होते हैं। जैसे स्वप्न में वस्तु अस्पष्ट दीखती है, वैसे ही पितृलोक में परमात्मा - **यथाऽऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके** (कठ०२.३.५)।

२५८. **स्वयम्भू-परिभू**— स्वयम्भू का शाब्दिक अर्थ है, जो स्वयं उत्पन्न हुआ हो-ब्रह्मा,विष्णु,शिव,बुद्ध,कामदेव आदि देवों को स्वयम्भू कहा गया है। यह शब्द ईश्वर के विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है। इसी रूप में 'परिभू' शब्द भी है, जिसका अर्थ है-जो चारों ओर से आच्छादित किये हो। प्रथम मनु को भी स्वयम्भू या स्वयम्भुव कहा गया है।

२५९. स्वर्ग्य अग्नि— स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाली अग्निविद्या को कठोपनिषद् में स्वर्ग्य अग्नि कहा गया है। यह अग्नि-विद्या यमराज ने नचिकेता को प्रदान की। नचिकेता ने दूसरे वर के रूप में यही माँगा था-**स त्वमग्निः स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वः श्रद्दधानाय मह्यम्** (१.१.१३)। यमराज ने इस स्वर्ग्य अग्नि को नाचिकेताग्नि नाम प्रदान किया। इसका तीन बार अनुष्ठान करने वाला ऋक्, यजु, साम तीनों से सम्बन्ध जोड़कर यज्ञ, दान, तप रूप त्रिकर्म करने वाला मनुष्य जन्म-मृत्यु से तर जाता है-**त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू** (कठ०१.१.१७)।

२६०. स्वस्ति— स्वस्ति शब्द के पर्याय कुशल-क्षेम, शुभकामना, कल्याण, आशीर्वाद आदि हैं। वैदिक संहिताओं में कई सूक्त माङ्गलिक पाठ या स्वस्ति पाठ के हैं, इन्हें स्वस्तिवाचन कहते हैं। सोम देवता से कल्याण करने की प्रार्थना की गई है-**सोमः स्वस्त्या** (तै०ब्रा०१.४.८.६)। ब्राह्मण से भी कल्याण की कामना की जाती है-**नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मे** (कठ०१.१.९)। उपनिषद् का निर्देश है कि परमात्मा का ओम् अक्षर के द्वारा स्मरण करो। अज्ञानमय अन्धकार से परे भवसागर के पार होने के लिए तुम्हारा कल्याण हो-**ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्** (मुण्ड०२.२.६)। संन्यासी सब जीवों का कल्याण हो, इस भाव से परमात्मा का अनन्य स्मरण करते हुए विचरण करे-**स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वाऽऽत्मानमनन्यं ध्यायन्** (क०रु०४)।

२६१. स्वाहा-स्वधा— स्वाहा का शाब्दिक अर्थ 'स्व+आ+हा' अपना सम्यक् रूप से त्याग या विसर्जन है। यज्ञ में याजक स्वाहा शब्द के उच्चारण के साथ आहुतियाँ देते हैं, हव्य पदार्थ विसर्जित करते हैं, इसे स्वाहाकार कहते हैं। पितरों को श्रद्धापूर्वक भोज्य पदार्थ पिंड या जल अर्पित करते समय स्वधा शब्द का उच्चारण करते हैं, इसे स्वधाकार कहते हैं। निरुक्तकार यास्क ने स्वाहा शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस प्रकार दिये हैं-**स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोति** ('स्वाहा' इस शब्द का सु=सुन्दर, आह=कथन तथा स्व=स्वत्व=आ=भली प्रकार, हा= समर्पण अर्थात् आहुति के रूप में सम्यक् समर्पण) (नि०८.२०)। पितर स्वधारूपी अन्न से ही आयु (जीवन) पाते हैं-**स्वधो वै पितॄणामन्नम्** (शत०ब्रा० १३.८.१.४), **पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधयायुष्मन्तः** (तै०सं०२.३.१०.४), **स्वधां पितृभ्यः (आगायानि)** (छान्दो० २.२२.२)। उपनिषद् में वाणी को धेनुरूप मानकर उसके चार स्तन स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार उपन्यस्त हैं- **वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः-स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति, स्वाहाकारं च वषट्कारञ्च। हन्तकारं मनुष्याः। स्वधाकारं पितरः** (बृह० ५.८.१)। पुराणों में स्वाहा और स्वधा को अग्निदेव की दो पत्नियाँ माना गया है। देवों तक आहुति पहुँचाने का कार्य 'स्वाहा' तथा पितरों तक 'स्वधा' करती हैं- ऐसी प्रसिद्धि है।

२६२. हंस-परमहंस— हंस झीलों में रहने वाला एक जल पक्षी है। मान्यता है कि यह दूध में से पानी अलग कर देता है। ब्रह्म, आत्मा तथा प्रकाश स्वरूप जीवात्मा को भी हंस कहकर निरूपित किया गया है। अपने परम आराध्य या इष्ट,महात्मा,गुरु को भी आदर भाव से परमहंस कहा जाता है। इसे अध्यात्म तथा साहित्य क्षेत्र में नीर-क्षीर विवेक का प्रतीक माना गया है। सबके जीवन आधार और सबके आश्रयरूप विस्तृत ब्रह्मचक्र (व्यवस्था) में हंस रूप जीवात्मा भ्रमण करता रहता है-**सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे** (श्वेता० १.६)। वह हंस रूप परमात्मा ज्योतिर्मय परमधाम में रहने वाला है-**हंसः शुचिषद्** (कठ० २.२.२)। उपनिषद् में परमात्मतत्त्व ही हंस के रूप में वर्णित है-जो इस हृदय में स्थित अनाहत ध्वनियुक्त प्रकाशयुक्त चिदानन्द हंस को जानता है, वह हंस ही कहा जाता है-**अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम्। स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते** (ब्र०बि० २०-२१)। आदित्य को भी हंस कहा गया है-**एष (आदित्यः) वै हंसः शुचिषद्** (ऐत० ब्रा०४.२०)। संन्यासियों की चार श्रेणियाँ मानी गई हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। हंस शब्द का आशय है-सद् और असद् के विवेक की शक्ति से परिपूर्ण आत्मा। जिस आत्मा का परम विकास हो गया हो, उसे परमहंस कहा गया है।

२६३. हन्तकार— द्र०- वषट्कार ।

२६४. हय— द्र०-अश्व।

२६५. हर्ष-शोक— प्रिय या इष्ट वस्तु या व्यक्ति से उत्पन्न होने वाला सुखात्मक भाव हर्ष कहलाता है। इसका पर्याय आनंद, प्रसन्नता, रोमांच, कामोत्तेजना आदि है। इसके विपरीत अर्थ में 'शोक' शब्द का प्रयोग होता है। साधक साधना पथ से परमात्मा के निकट बढ़ने पर हर्ष को और उससे दूर होने पर शोक को प्राप्त होता है। उस परमात्मा को विवेकवान् पुरुष अध्यात्म योग के द्वारा समझकर हर्षशोक को त्याग देता है- **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं**

मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति (कठ० १.२.१२)। किसी इष्ट वस्तु अथवा प्रिय व्यक्ति के वियोग अथवा मृत्यु से उत्पन्न भारी मानसिक व्यथा अथवा विषादजन्य स्थिति को शोक कहा जाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, जीवात्मा बार-बार जन्मने और मरने वाला है, सो उसका शोक करना उचित नहीं-**अथ चैनं नित्यजातं, नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि** (गी० २.२६)।

२६६. **हिरण्यगर्भ**— ऐसी मान्यता है कि इस सृष्टि में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ (स्वर्णिम या ज्योतिर्मय अण्ड या गर्भ) रूप प्रजापति ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उन्हीं से समस्त सृष्टि का विस्तार हुआ। कहीं-कहीं हिरण्यगर्भ शब्द भगवान् विष्णु और आत्मा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। सृष्टि संरचना की परिकल्पना करते हुए परमात्मा की एक शक्ति की कल्पना की गयी। सृजन करने वाली इस शक्ति को पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति और ब्रह्मा आदि की संज्ञाएँ दी गयीं। भागवत पुराण में वर्णन मिलता है कि सृष्टि के आदि में भगवान् नारायण की प्रेरणा से ब्रह्माण्ड स्वर्ण जैसा प्रकाशमान गोलाकार अण्ड रूप में प्रकट हुआ था। उसके ऊर्ध्व और अधः दो भाग हो गये । उसी के बीच से ब्रह्मा जी प्रकट हुए। सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि करने वाले, प्राणियों के ईश्वर रूप में यह मान्यता है-**एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृग्घिरण्यगर्भः** (मैत्रा० ५.८)। उस विराट् परमेश्वर ने सबसे पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था-**हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु** (श्वेता० ३.४)।

२६७. **हुत-प्रहुत**— हवनीय द्रव्य को हवि, हविष्य या हुत कहते हैं। हवनादि कृत्य के लिए प्रयुक्त खाद्यान्न तिल, चावल, जौ आदि तथा घृत ये हुत के पर्याय हैं। यह यज्ञीय पदार्थ देवों का अन्न या देवान्न कहलाता है। देवों के लिए ही भोज्य पदार्थ या बलि अर्पित करना प्रहुत कहलाता है। उपनिषद् का कथन है कि परमात्मा ने दो अन्न देवों को बाँटे-वे हुत और प्रहुत हैं, इसलिए लोग देवों के लिए आहुति और बलि अर्पित करते हैं- **द्वे (अन्ने) देवानभाजयदिति। हुतं च प्रहुतं च। तस्माद् देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वति** (बृह० १.५.२)।

२६८. **हृदय गुहा**— प्रत्येक जीव या मनुष्य की हृदय गुहा में परम पुरुष परमात्मा का निवास है, ऐसी प्रसिद्धि है। प्रजापति आदि सम्पूर्ण देवताओं का निवास हृदय में माना गया है- **एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्। एतद्ब्रह्म** (बृह० ५.३.१), **हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः** (अ०शि०४३)। देवी अदिति प्राणों के सहित हृदय गुहा में प्रवेश करके वहीं रहती है- **या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत** (कठ० २.१.७)। वह परमात्मा अन्नमय स्थूल शरीर में हृदयगुहा के आश्रय में प्रतिष्ठित है- **प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय** (मुण्ड०२.२.७), **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेता० ६.११)। वास्तविक धर्म का-ज्ञान का तत्त्व हृदय गुहा में स्थित माना जाता है- **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्** (महा०वनपर्व ३१३.११७)।

२६९. **हृदय ग्रन्थि**— हृदय ग्रन्थि का सामान्य अर्थ है- हृदय की गाँठ। द्वेष, कपट, कुटिलता के अर्थ में यह लिया जाता है। सम्मोह या अविद्या से उत्पन्न होने वाले आन्तरिक विकार जो गाँठों की तरह न सुलझने वाले होते हैं और अन्तर् में पीड़ा देते रहते हैं, ये हृदय ग्रन्थियाँ कहे जाते हैं। विषय-विकारों, वासनाओं, इच्छाओं, तृष्णाओं को बन्धनरूप माना गया है, सो इन्हें भी हृदय ग्रन्थियों के रूप में माना जाता है। कठोपनिषद् का कथन है कि जब हृदय की सब ग्रन्थियाँ भली-भाँति खुल जाती हैं, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है-**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्** (कठ० २.३.१५)। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जब परम तत्त्व (परब्रह्म) का साक्षात्कार हो जाता है, तो हृदयग्रन्थि खुल जाती है और सारे भ्रम-सन्देह दूर हो जाते हैं। समस्त प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं और अन्ततः वह (जीवात्मा) मुक्त हो जाता है-**भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** (मुण्ड० २.२.८)।

२७०. **होता**— यज्ञ कर्ता या यज्ञ कराने वाले पुरोहित को होता कहा गया है। यज्ञ में मन्त्रोच्चारण करने वाला ऋत्विक् 'होता' रूप में मान्य है। यज्ञ में प्रमुख चार ऋत्विकों में एक 'होता' है- ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता और उद्गाता-इन चारों ऋत्विकों के तीन-तीन सहयोगी मिलाने से कुल सोलह ऋत्विक् बड़े यज्ञों में होते थे। होता के तीन सहयोगी मैत्रावरुण,अच्छावाक् और ग्रावस्तुत् कहलाते हैं। अग्निदेव यज्ञ सम्पन्न करते हैं, सो उन्हें भी होता कहकर निरूपित किया गया है- **अग्निरेव होताऽऽसीत्** (जै०ब्रा० ३.३७४)। अमरकोश (२.७.१७) के अनुसार ऋग्वेदवेत्ता 'होता' कहा जाता है। यज्ञ में यह ऋग्वेद के मंत्रों का पाठ करता है तथा देवों की स्तुति और आवाहन करता है।

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
देवनामसि	प्रश्न० २.८
देवर्षयो ब्रह्माणं	शु०र० २
देवा: पितरो मनुष्या	बृह० १.५.६
देवा वै मृत्योर्बिभ्...	छान्दो० १.४.२
देवासुरा ह वै	छान्दो० १.२.१
देवैरत्रापि...किल	कठ० १.१.२२
देवैरत्रापि... पुरा	कठ० १.१.२१
देहादीनामसत्त्वात्तु	ना० बि० २३
देहो देवालय:	स्क० १०
द्यौरेवर्गादित्य:	छान्दो० १.६.३
द्यौरेवोदन्तरिक्षं	छान्दो० १.३.७
द्वया ह प्राजापत्या	बृह० १.३.१
द्वा सुपर्णा सयुजा	श्वेता० ४.६
द्वा सुपर्णा सयुजा	मुण्ड० ३.१.१
द्वितीयायां समुत्क्रान्तो	ना०बि० १३
द्विधा वा एष आत्मानम्	मैत्रा० ५.१
द्विसप्ततिसहस्राणि	प्रण० ११
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे	श्वेता० ५.१
द्वे वाव ब्रह्मणे रूपे	मैत्रा० ५.३
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे	बृह० २.३.१
द्वौ खण्डावुच्येते योऽयमुक्त:	मुद्ग० २.२
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं	मुण्ड० २.२.३
धाता विधाता पवन:	एका० ६
धियो योन:	गाय० ६.१
ध्यानक्रियाभ्याम्	मन्त्रि० ७
ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो	छान्दो० ७.६.१
ध्यानं-जीवत्वं सर्वभूतानां	शु०र० २६
ध्यानं- जीवो ब्रह्मेति	शु०र० २८
ध्यानं- ज्ञानं ज्ञेयं	शु०र० २४
ध्यानं- नित्यानन्दं	शु०र० २१
ध्यायतेध्यासिता	मन्त्रि० ४
न कंचन वसतौ	तैत्ति० ३.१०.१
नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमा:	छान्दो० १.६.४
न चक्षुषा गृह्यते	मुण्ड० ३.१.८
न जायते म्रियते	कठ० १.२.१८
न तत्र चक्षुर्गच्छति	केन० १.३
न तत्र रथा न रथयोगा	बृह० ४.३.१०
न तत्र सूर्यो	कठ० २.२.१५
न तत्र सूर्यो भाति	मुण्ड० २.२.१०
न तत्र सूर्यो भाति	श्वेता० ६.१४
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति	श्वेता० ६.९
न तस्य कार्यं करणम्	श्वेता० ६.८
न नरेणावरेण	कठ० १.२.८
न निजं निजवत्	स्क० २
न प्राणेन	कठ० २.२.५
न भिद्यते कर्मचारै:	ना० बि० ६
नम: शिवाय गुरवे	निरा० १
नम: शान्तात्मने	मैत्रा० ४.४ (ण)
न मानं नावमानं	ना०बि० ५४
नरक इति ....एव नरक:	निरा० १७
नवद्वारे पुरे देही	श्वेता० ३.१८
न वधेनास्य... मघ.	छान्दो० ८.१०.४
न वधेनास्य हन्यते	छान्दो० ८.१०.२
नवमी महती	ना०बि० ११
नवम्यां तु महर्लोकम्	ना०बि० १६
न वित्तेन तर्पणीयो	कठ० १.१.२७
न वै तत्र न निम्लोच	छान्दो० ३.११.२
न वै नूनं भगवन्तस्त	छान्दो० ६.१.७
न वै वाचो न चक्षू	छान्दो० ५.१.१५
न संदृशे	कठ० २.३.९
न संदृशे तिष्ठति	श्वेता० ४.२०
न सांपराय: प्रतिभाति	कठ० १.२.६
न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा	छान्दो० १.१०.४
न हवा अस्मा	छान्दो० ३.११.३
न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्	छान्दो० २.४.२
नाचिकेतमुपाख्यानं	कठ० १.३.१६
नान्त: प्रज्ञं न.	माण्डू० ७
नान्यस्मै कस्मैचन	छान्दो० ३.११.६
नाम वा ऋग्वेदो	छान्दो० ७.१.४
नायमात्मा प्रवचनेन	मुण्ड० ३.२.३
नायमात्मा प्रवचनेन	कठ० १.२.२३
नायमात्मा बलहीनेन	मुण्ड० ३.२.४
नाविरतो दुश्चरितवान्	कठ० १.२.२४
नासिकापुटमङ्गुल्या	अमृ० २०
नाहं कर्ता नैव भोक्ता	सर्व० १८
नाहं देहो जन्ममृत्यू	सर्व० २१
नाहं भवाम्यहं	सर्व० १६
नाहं मन्ये सुवेदेति	केन० २.२
नित्योऽनित्यानां	कठ० २.२.१३
नित्यो नित्यानाम्	श्वेता० ६.१३
निधनमिति त्र्यक्षरम्	छान्दो० २.१०.४
नियामनसमर्थोऽयम्	ना०बि ४५
निरञ्जने विलीयेते	ना०बि० ५०
निर्णिज्य कं: सं चमसं	छान्दो० ५.२.८